

२५०० वर्ष पूर्व

महावीर कालीन भारत



महावीर वाणी के आलोक में
हिन्दी का सन्त काव्य

गुलशन ग्रन्थ माला—2



गुलशन राय जैन

मुजफ्फरनगर

महावीर वाणी के आलोक में हिन्दी का सन्त काव्य

(मेरठ विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि
के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डॉ० पवन कुमार जैन
एम० ए०, पी-एच्० डी०, एल० एल० बी, डी० लिट्०

1988

पुखराज प्रकाशन
खतौली—251201

प्रथम संस्करण: 1988

प्रकाशक

कान्ता देवी जैन
पुखराज प्रकाशन
प्राध्यापक निवास
के० के० जैन डिग्री कालेज खतौली-251201

वितरक

राधा पब्लिकेशन्स
4378/4 बी , गली मुरारीलाल अन्सारी रोड
दरियागज, नई दिल्ली-110002
फोन 261839

मूल्य 251 00

मुद्रक
सगीता प्रिंटर्स
मौजपुर, दिल्ली-53

समर्पण

आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिराज
मुनि श्री सुशील कुमार जी
'पद्मश्री' स्वामी कल्याण देव जी

महामहिम श्री शकर दयाल शर्मा
उपराष्ट्रपति भारत

सम्पादक

आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी
श्री अक्षय कुमार जैन

परामर्श मण्डल

श्री आनन्द दीक्षित
श्री कन्हैयालाल नन्दन
श्री केदारनाथ कोमल
श्री चिरंजीत
डॉ० देवीशरण रस्तोगी
श्री मंगल जायसवाल
श्री यशपाल जैन
डॉ० योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण'
श्री राजेन्द्र अवस्थी
श्री विष्णु प्रभाकर
डॉ० वेदप्रताप वैदिक
डॉ० श्यामसिंह शशि

संस्तवन

वैदिक युग से लेकर अपने इस युग तक जितने भी लोकसंग्रही महापुरुष हुए हैं, सबने मानव-समाज के प्रबोधन, कल्याण और उसकी अभ्युन्नति के लिये जो भी नैतिक उपदेश दिए वे सब देशों और सब कालों में समान रूप से सर्वमान्य रहे। उपनिषद् में कहा गया है—गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्॥

(मैं यह अत्यन्त गोपनीय परम सत्य बता रहा हूँ कि मनुष्यत्व से बढ़कर संसार में कुछ नहीं है।) मनुष्यत्व का लक्षण ही यह है कि मनुष्य में धर्म की भावना हो। आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व भगवान् बादरायण व्यासजी से कुछ लोगों ने कहा कि आप धर्म-धर्म की बातें क्या करते हैं, अर्थ और काम की बात क्यों नहीं करते? इस पर व्यासजी ने अत्यन्त व्यथित होकर कहा—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(भले आदमियो! मैं हाथ उठा-उठाकर चिल्ला-चिल्लाकर कहे जा रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि भी होती है, फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं करते? किन्तु मेरी बात कोई सुन ही नहीं रहा है) जब उनसे पूछा गया कि आपके धर्म की परिभाषा क्या है? तब व्यासजी ने दो श्लोकों में यही बताया कि जिस काम या व्यवहार से दूसरों का कल्याण या हित होता हो और जिस के व्यवहार से किसी को कष्ट न पहुँचता हो या किसी की हिंसा न होती हो वही धर्म है—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति मे मतः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

किसी ने पूछा कि व्यासजी ने इतने बड़े-बड़े पुराण लिख डाले हैं, इन्हें कौन पढ़े और समझेगा? उसके उत्तर में उन्हें यही बताया गया—

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥"

(अट्ठारहों पुराणों में व्यासजी ने कुल दो ही बातें तो कही हैं—दूसरों का उपकार करना ही पुण्य या धर्म है और दूसरों को सताना ही पाप या अधर्म है।) गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी को एक अर्द्धाली में कह दिया है—

परहित-सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा-सम नहिं अधमाई॥

व्यासजी ने दो सूत्रों में जो मनुष्य का कर्तव्य निर्धारित किया उसे ही पीछे के धर्माचार्यों ने कुछ अधिक विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया। मनु भगवान् ने मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताते हुए कहा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

(सब अवस्थाओं में धैर्य धारण करना, कोई अपने प्रति अपकार भी करे उसे भी क्षमा करना, वासनाओं का दमन करना, बिना पूछे किसी की वस्तु न लेना, अपना मन, बुद्धि, शरीर, कर्म और वाणी पवित्र रखना अर्थात् मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध रहना, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, अपनी बुद्धि निर्मल करके विवेक से काम लेना, ईश्वर को प्राप्त करने वाली विद्या मन लगाकर सीखना, सदा सब से सत्य और निष्कपट व्यवहार करना, सदा हितकारी सत्य बोलना और किसी भी अवस्था में किसी पर कभी क्रोध न करना यही धर्म की पहचान है।)

श्रुति-प्रस्थान तैत्तिरीय उपनिषत् की शिक्षा-वल्ली के नवम् अनुवाक में वेदाध्ययन समाप्त कर चुकने वाले शिष्यों को गुरु उपदेश देते हैं—वेद पढ़ने-पढ़ाने के साथ-साथ सदाचार, सत्य व्यवहार, तप, इन्द्रियों का दमन, मन की शान्ति, अग्निहोत्र, अतिथियों की सेवा तथा सभी उचित लौकिक व्यवहार करते रहना और संतान उत्पन्न करके कुटम्ब का पालन करते रहना।' इसके आगे एकादश अनुवाक में यह आदेश है कि सदा सत्य बोलना, धर्म का (सबके कल्याण का) काम करते रहना, सदा स्वाध्याय करते रहना, सत्य और धर्म के काम में कभी चूक न करना, माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता मानकर उनका आदर करते रहना, केवल अच्छे कर्म ही करना, बुरे नहीं, और सदा श्रद्धा से ही दान देना, अश्रद्धा से नहीं, यहाँ तक कि अपनी स्थिति के अनुसार, दूसरों के संकोच से तथा भय से भी जो कुछ दिया जा सके दान देते रहना।" जहाँ किसी काम के कर्तव्याकर्तव्य में सन्देह हो वहाँ वैसा ही व्यवहार करना जैसा वहाँ के त्यागी और धर्मात्मा ब्राह्मण व्यवहार करते हों। यही आदेश है और यही उपदेश है।'

भगवान् बुद्ध ने अपने शिक्षावाद में भी इसी प्रकार के निम्नांकित दस आदेश दिये—किसी जीव को न मारना, चोरी न करना, मिथ्या न बोलना, मद्यपान न करना, अनियमित समय में भोजन न करना, सांसारिक आमोद-प्रमोद में मन न लगाना, विलास के पदार्थों का सेवन और व्यवहार न करना, सजे हुए पलंग पर न सोना और किसी से पैसा लेने की नीयत न रखना। इन दस शिक्षावादों में प्रथम पाँच को पंचशील भी कहते हैं। धम्मपद में एक स्थान पर उन्होंने कहा—

अत्त हेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छे न धनं रट्ठम् ।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो सीलवा पञ्ञवा धम्मिकोसिया ।।

(जो मनुष्य अपने या दूसरे के लिये पुत्र, धन या राज्य तक नहीं चाहता, न अधर्म से अपनी उन्नति चाहता वही पुरुष सदाचारी (शीलवान), बुद्धिमान् और धार्मिक है।) —पंडितवग्गो—9

आर्हत या जैन-दर्शन में मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय से बन्ध या

सांसारिक कष्ट होना माना गया है और सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र से मोक्ष होना माना गया है। इन्हीं तीन के अन्तर्गत सदाचार, शील और सद्व्यवहार सब आ जाते हैं।

याज्ञवल्क्य और पराशर आदि ने भी अपनी स्मृतियों में इसी प्रकार के धार्मिक या संयत जीवन को श्रेष्ठ बताते हुए उसीका व्यवहार करने का आदेश दिया है।

विभिन्न युगों और विभिन्न देशों में अरस्तू, सुकरात, अफलातून, ईसा, हजरत मूसा, हजरत मोहम्मद, लाओत्से, कनफूची, जरस्थुस आदि जितने भी धर्माचार्य, धर्मप्रवर्तक, सन्त और महात्मा हुए हैं, सबने अपने-अपने ढंग से ये ही बातें दुहराई हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि आठवीं शताब्दी के सन्त नामदेव से लेकर आज तक जितने भी लोकसंग्रही सन्त और महापुरुष हुए हैं सभी ने मानव-जीवन के नैतिक व्यवहार के लिये वे ही उपदेश दिए जो वैदिक ऋषि-मुनियों ने, बुद्ध और महावीर ने, अरस्तू और सुकरात ने, ईसा और मोहम्मद ने तथा लाओत्से और कनफूची आदि ने विभिन्न देशों और विभिन्न कालों में अपने-अपने देश की जनता के प्रबोधन और नैतिक व्यवहार के लिये दिए। शैली भले ही सबकी अलग-अलग रही हो किन्तु लक्ष्य सबका एक ही रहा।

सब ने सत्य-भाषण, निष्कपट व्यवहार, अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, किसी का कुछ लेने की नीयत न करना, मन, वचन तथा कर्म से किसी का न तो अहित करना न अहित करने की सोचना वरन् सदा सब प्राणियों का निरन्तर हित करते रहना, यही सबका उपदेश रहा है। जितना अपने शरीर से दूसरों का हित हो जाय उतनी ही तो मनुष्य-जीवन की सार्थकता है, शेष सब निष्प्रयोजन है।

डा० पवनकुमार जैन ने अपने "महावीर-वाणी के आलोक में हिन्दी का सन्त-काव्य" ग्रन्थ लिखकर यह अत्यन्त प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण कार्य किया है कि भगवान् महावीर की वाणी की शृंखला हिन्दी के सन्तकाव्य के साथ ला जोड़ी।

भगवान महावीर का प्रादुर्भाव आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था और उनकी जो वाणी परम्परा से कही और सुनी जा रही थी वह उनके निर्वाण के पाँच सौ वर्ष के उपरान्त लिपिबद्ध की गई। यही दशा हिन्दी के सन्त कवियों की भी हुई, जिनकी वाणियाँ उनके असंतगत होने के पश्चात् ही लिपिबद्ध हुई। भगवान् महावीर ने अपने युग की लोकभाषा अर्धमागधी में जो वाणी कही, जो उपदेश दिए वे सब स्वभावतः अर्ध मागधी में ही लिपिबद्ध किए गए। कबीर आदि सन्तों ने या तो जनसाधारण में प्रचलित बोलचाल की हिन्दी में या ब्रजभाषा में भी अपनी वाणी प्रचारित की क्योंकि उनका उद्देश्य तो लोकमंगल की कामना से जनता में नैतिक प्रचार करना ही था और उस प्रचार के द्वारा जनसाधारण को अस्पष्ट, असंयत और अनिर्दिष्ट जीवन-मार्ग से हटाकर सन्मार्ग या नैतिक मार्ग पर चलाना था।

विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में जहाँ आत्मा, जीव तथा सत्ता आदि पच्चीस

विषयों पर भगवान महावीर की वाणियों का हिन्दी के सन्त कवियों की वाणी के साथ तुलनात्मक विवेचन किया है, वहीं उन्होंने परिवार, स्त्री आदि सत्ताईस सामाजिक विषयों तथा राजनीतिक, आर्थिक विषयों की वाणी के साथ-साथ नैतिक वाणी का भी तुलनात्मक विवेचन किया है। यह कम आश्चर्य और प्रशंसा की बात नहीं है कि उन्होंने इस ग्रन्थ मे अत्यन्त अध्यवसाय और ढाई सौ से अधिक विषयों पर विस्तार से तुलनात्मक विचार किया है।

यद्यपि हिन्दी के सन्त कवियों का जैन आगमों मे विकीर्ण तीर्थंकर भगवान् महावीर की वाणियों से किसी प्रकार का कोई परिचय नहीं रहा, तथापि विचित्र संयोग यह है कि उनकी वाणी पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है मानो उनमें भगवान् महावीर का ही स्वर मुखरित हो रहा हो क्योंकि चाहे कोई महापुरुष पाँच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ हो या पाँच सहस्र वर्ष पश्चात्; मनुष्य-मात्र को उद्‌बुद्ध, सद्‌बुद्ध और अभ्युन्नत करने का उसका नैतिक आधार सदा समान ही रहा। इसीलिये डा० जैन ने भगवान महावीर की वाणी और सन्तों की वाणी की तुलना करते हुए अनेक उदाहरणों-द्वारा उनका जो साम्य प्रदर्शित किया है वह स्वाभाविक ही है।

इस ग्रन्थ का महत्त्व इस तथ्य से और भी अधिक सन्दीप्त हो जाता है कि लेखक ने इस ग्रन्थ का प्रणयन हड़बड़ी में न करके बारह वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् किया है। अनेक पाद-टिप्पणियों में भगवान महावीर तथा सन्तों की मूल वाणियाँ देकर उन्होंने इस ग्रन्थ को और भी अधिक प्रामाणिक, महत्त्वशील, अध्ययनीय और उपदेशप्रद बना दिया है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में विपश्चित् लेखक ने अत्यन्त गम्भीरता और वैज्ञानिक शोध-प्रवृत्ति के साथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी और अंग्रेज़ी के ग्रन्थों का मन्थन करके अत्यन्त विशद रूप से भगवान महावीर के जीवन-चरित्र का विवेचन किया है। यहाँ तक कि बौद्ध साहित्य में भी महावीर चरित्र से सम्बद्ध जो सूत्र उपलब्ध हो पाए हैं उनका भी संग्रह करने में लेखक ने कृपणता नहीं की। इस प्रसग में भगवान महावीर के जीवन-चरित के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और कला-विषयक स्थितियों का भी स्पष्ट विवेचन कर दिया गया है क्योंकि उनके बिना उनकी वाणी का महत्त्व सरलता से बुद्धिगम्य नहीं हो सकता था। हिन्दी के सन्त कवियों की वाणियों का अत्यन्त अनुसंधान वृत्ति से संकलन और वर्गीकरण करते हुए धीर लेखक ने मुद्रित और अमुद्रित सभी सामग्रियों का विवेकपूर्वक संचयन और विश्लेषण तो किया ही, साथ ही भगवान महावीर के दार्शनिक विचारों का वर्गीकरण करके एक-एक विषय पर उनकी विस्तृत व्याख्या के साथ सन्त कवियों की वाणी का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। इस प्रकार उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक वाणियों को भी अत्यन्त उदात्त, विद्वता-पूर्ण तथा गम्भीर शैली में सन्तों की वाणी से श्लाघनीय तुलना करके यह सिद्ध कर

दिया गया है कि जिन-जिन लोक-कल्याण के विषयों पर भगवान महावीर ने समाज का पथप्रदर्शन किया उन्हीं का अनुसरण करते हुए हिन्दी के सन्त कवियों ने भी अपने भक्तों के साथ-साथ जन-सामान्य को सन्मार्ग पर लाने की प्रेरणा दी।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि डा० पवनकुमार जैन ने घोर परिश्रम, अपरिमित अध्यवसाय, विवेकपूर्ण और निष्पक्ष तुलना, अप्रतिम विदग्धता तथा वैदुष्यपूर्ण शैली में इस महाग्रन्थ की रचना की है। अभी तक किसी भी विद्वान ने ऐसा सत्प्रयास नहीं किया कि हिन्दी के सन्त काव्य में भी भगवान महावीर की कल्याणी वाणी की प्रति-ध्वनि सुन सके और उसे ऐसी प्रगल्भता से लोक-संजीवन के लिये अभिव्यक्त कर सके। हिन्दी-साहित्य को डा० पवनकुमार जैन की यह उदात्त भेंट निश्चय ही अत्यन्त बहुमूल्य और परम श्लाघनीय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य-संसार इस महाग्रन्थ का समुचित समादर करेगा। ऐसे अद्वितीय, परम उपादेय और विद्वत्तापूर्ण महाग्रन्थ की रचना के लिए मैं अपनी ओर से और हिन्दी संसार की ओर से डा० जैन को हार्दिक साधुवाद देता हूँ और मंगल कामना करता हूँ कि भगवान महावीर इन्हें चिर कीर्ति और दीर्घ आयुष्य प्रदान करें। ऐसे विद्वत्तापूर्ण महाग्रन्थ पर डा० जैन को डी० लिट्० की उपाधि से समलंकृत करने के लिए मेरठ विश्वविद्यालय भी अत्यन्त साधुवाद का पात्र है।

9, जनपथ,
नई दिल्ली

कमलापति त्रिपाठी
भू० पू० अध्यक्ष कांग्रेस (ई)
एवं
रेल मन्त्री, भारत सरकार

प्राक्कथन एवं आभार

तीर्थंकर महावीर निर्वाण महोत्सव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने का ऐतिहासिक निर्णय अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् द्वारा सहारनपुर में स० 1969 में लिया गया था। निर्णय को कार्य रूप में परिणित करने के उद्देश्य से तीनों सम्प्रदायों — दिगम्बर, श्वेताम्बर तथा तेरापंथी के मुनियों की एक बैठक दिल्ली में आयोजित की गई और कुछ ऐतिहासिक महत्व के प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय लेने के उपरान्त महोत्सव की योजना का कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ हो गया।

सं० 1971 में मुनि सुशील कुमार जी ने मुझे महोत्सव की रूप रेखा बनाने का आदेश दिया। आदेश प्राप्त होते ही मैं रुड़की विश्वविद्यालय से लम्बा अवकाश लेकर दिल्ली मुनि श्री के चरणों में जा पहुँचा। एक दिन उनकी प्रेरणा से महावीर वाणी और कुरान का तुलनात्मक अध्ययन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। मुनि श्री ने मेरा परिचय इस सम्बन्ध में "भारत में अंग्रेजी राज्य" के लेखक पं० सुन्दरलाल के अतिरिक्त संत कृपाल सिंह जी से भी करा दिया। स्व० श्रीमती इन्दिरा गाँधी (प्रधानमंत्री भारत सरकार) से भेंट इस सम्बन्ध में उनकी कृपा से ही हुई थी।

उक्त ग्रन्थ की पांडुलिपि पर मुनि विद्यानन्द जी से भी समय-समय पर परामर्श हुआ। एक दिन मुझे भ्रमवश मुनि श्री को एक रूखा पत्र लिखना पड़ा, जिसका कोई उत्तर मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इस पत्र के लिखने का मुझे उस समय बड़ा पछतावा हुआ जब कई वर्षों के बाद दिल्ली में मुनि श्री के चरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। मैंने अपने पत्र के सम्बन्ध में पूछा, सुनकर एक-दो पल तो वे मौन रहे, मैं उनके मुख पर भावों के उतार चढ़ाव को निश्चलक देखता रहा फिर निर्णयात्मक स्थिति में आकर उन्होंने कहा "हाँ, मिला था।" उस दिन उनके चरणों में बैठे हुए ही 'महावीर वाणी के आलोक में हिन्दी का संत काव्य" शोध विषय का विचार सूझा।

"महावीर और मौहम्मद" की पांडुलिपि मुनि श्री सुशील कुमार जी के चरणों में समर्पित कर तथा इस विषय पर एक आध लेख लिख कर आत्म तुष्टि प्राप्त को और महावीर वाणी के आलोक में संत काव्य के शोध में प्रवृत हो गया।

यह शोध विषय स० 1974 में मेरठ विश्वविद्यालय में स्वीकृत हुआ था। किन्तु कुछ विरोधी परिस्थितियों के कारण इस शोध कार्य की प्रगति में उपसर्ग उपस्थित हो गया। यह सोचकर अपने आप को संबोधित किया कि तीर्थंकर महावीर, नामदेव, कबीर, रविदास, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास तथा नानक का जीवन तप और साधना का जीवन था अनेकों उपसर्गो और परिषयों का सामना उन्होंने शान्ति के साथ किया था। अतः उन पर शोध करने वाले के मार्ग में बाधायें उपस्थित होना स्वाभाविक ही है। यह कार्य फूलों की सेज तो था ही नहीं। इस विचार

ने मुझे पुनः उत्तेजित कर दिया और मानव निर्मित उपसर्ग, वरदान तुल्य सिद्ध हुए। उक्त विषय का पुनः पंजीकरण सं० 1976 में कराया और काम में जुट गया।

निराशा के क्षणों में यदि परम आदरणीय पं० सीताराम चतुर्वेदी जी का आशीर्वाद प्राप्त न होता तो सम्भवतः यह शोध प्रबन्ध विश्वविद्यालय की देहलीज तक पहुँच ही न पाता। अतः यह शोध प्रबन्ध मुनि सुशील कुमार जी, मुनि विद्यानंद जी, बाल ब्रह्मचारिणी बहन कौशल जी तथा पं० सीताराम चतुर्वेदी जी एवं भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव के वातावरण की देन है। इस प्रकार यह शोध प्रबन्ध सं० 1970 से 1983 तक की 13 वर्षों की साधना का परिणाम है।

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में महावीर एवं उनकी वाणी का परिचय कराया गया है। महावीर का चरित्र एक महासागर के तुल्य है। उसे चन्द कोरे पृष्ठों पर अंकित करना महासागर को मुट्ठी में भरने के समान असफल प्रयास है। सागर की कुछ बून्दें मुट्ठी में सिमट तो जाती हैं, किन्तु तुरन्त जल अंगुलियों की संधि से बह निकलता है। आगम युग से आज तक महावीर चरित्र विभिन्न जैन सम्प्रदायों की हठधर्मी का शिकार होकर विकृत-सा हुआ है। उनके विवाह आदि की घटनाओं को लेकर अनेक भ्रम व्याप्त हुए हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि इस अध्याय में वर्णित महावीर चरित्र एवं वाणी भी पूर्ण नहीं, किन्तु इस दृष्टि से इसे पूर्ण समझा जा सकता है क्योंकि इसमें सभी सम्प्रदाओं के मतों का समावेश हो गया हैं। महावीर के जन्म, जन्म-स्थान, मोक्ष, मोक्ष-स्थान तथा विवाह आदि का निर्धारण करने के लिये आधुनिकतम मतों का उपयोग किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे संत काव्य की पृष्ठ भूमि की चर्चा करते हुए इसके उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा संत कवि नामदेव, कबीर, रैदास, दादू-दयाल, सुन्दरदास, मलूकदास एवं नानक के जीवन तथा उनकी वाणी का परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में तीर्थंकर महावीर की दार्शनिक वाणी के आलोक में उक्त संतों की वाणियों का अध्ययन किया गया है। चतुर्थ अध्याय तीर्थंकर महावीर की सामाजिक वाणी से सम्बन्धित है जिसके साथ आलोच्य संतों की वाणी की परख की गई है। पंचम अध्याय में तीर्थंकर महावीर की वाणी में बिखरे राजनैतिक विचारों के परिप्रेक्ष्त में संत कवियों के विचारों का अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में दोनों की आर्थिक वाणी पर विचार किया गया है। इस शृंखला में नैतिक वाणी का अध्ययन सप्तम अध्याय में किया गया है। अष्टम अध्याय में तीर्थंकर वाणी की हिन्दी के संत काव्य को देन का मूल्यांकन किया गया है। शोध प्रबन्ध के अन्त में उक्त अध्यायों से सम्बन्धित परिशिष्ट एवं चित्र-वीथि दी गई है।

शोध प्रबन्ध : समस्यायें-समाधान—महावीर और हिन्दी के आलोच्य संत कवियों की वाणी का मूल स्वर दार्शनिक है। अतः सामाजिक, राजनैतिक एवं

आर्थिक वाणियों में भी यही स्वर सर्वोपरि रहा है। जिसके कारण इनकी वाणी का स्पष्ट वर्गीकरण सम्भव नहीं हो सकता। जो वर्गीकरण किया भी गया है, वह अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किया गया है।

महावीर वाणी बूंद-बूंद आगम साहित्य में बिखरी पड़ी हैं। जिसे ऐच्छिक विषयों के अन्तर्गत संगृहीत करना अपने आप में एक पृथक् शोध विषय है। इस शोध प्रबन्ध में सभी उपलब्ध सामग्री का प्रयोग करने का प्रयास किया गया है।

हिन्दी के समस्त आलोच्य संतों की सटीक वाणियां उपलब्ध न होने के कारण अर्थ ग्रहण करने के लिए स्वविवेक एवं विद्वानों से विचार विमर्श का आश्रय लिया गया है।

शोध प्रबन्ध की मौलिकता—

1. हिन्दी संत वाणी का प्रारम्भ नामदेव से माना जाता है। इस शोध प्रबन्ध ने इसे खींच कर लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व हुए महावीर से जोड़ दिया है।
2. भारतीय संस्कृति भिन्न होते हुए भी एक है। इस शोध प्रबन्ध के द्वारा इस तथ्य को बल प्राप्त हुआ है।
3. इस शोध प्रबन्ध में पहली बार महावीर वाणी के आलोक में हिन्दी के कतिपय संत कवियों की वाणी को देखने का प्रयत्न किया गया है।
4. प्राय: सभी हिन्दी के संत आस्तिक दर्शन में विश्वास रखने वाले रहे हैं और महावीर का दर्शन नास्तिक दर्शन कहा जाता है। इस विरोध के होते हुए भी इस शोध प्रबन्ध में विवेचित अधिकांश विषयों पर महावीर एवं संत कवि एक मत हैं।
5. इस शोध प्रबन्ध की पाद टिप्पणियों में तीर्थंकर महावीर एवं संतों की मूल वाणियों का संकलन विषय अनुसार हो गया है।
6. परिशिष्ट 4 में 106 संतों का विवरण दिया गया है।
7. चित्र वीथि में दुर्लभ चित्र दिये गये हैं।

मुनि राकेश जी तथा दादू पंथी स्वामी धर्मवीर जी (ऋषिकेश) ने अपने सुझाव देकर अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। डा० भगीरथ मिश्र (सागर), डा० विष्णुदत्त राकेश (हरिद्वार), डा० गोकुल चन्द जैन (बनारस), डा० ओमप्रकाश शर्मा (दिल्ली) तथा स्वर्गीय श्री अगरचन्द नाहटा (बीकानेर), श्री अक्षय कुमार जैन (दिल्ली) निराशा के क्षणों में मुझे प्रेरित करते रहे हैं।

आदरणीय डा० विश्वनाथ मिश्र (भू०पू० प्राचार्य एस०डी० कालेज मुजफ्फर नगर) ने विषय की रूप रेखा को अन्तिम रूप देने में मुझे अपना सहयोग दिया। डा० बी०पी० शर्मा (चंडीगढ़) ने रविदास के दार्शनिक विचारों पर एक भेंटवार्ता का समय प्रदान किया तथा गुरुनानक वाणी की फोटोस्टेट कापी मुझे भेजकर सहयोग

दिया। प्रो० बी० एन० प्रकाश वर्मा (अध्यक्ष चित्रकला विभाग, के०के० जैन डिग्री कालिज, खतौली) तथा श्री राजेन्द्र प्रसाद राजन (मेरठ) ने चित्र वीथि बनाने में योगदान दिया। प्रो० जयन्ती प्रसाद जैन (भू०पू० अध्यक्ष संस्कृत विभाग, के०के० जैन डिग्री कालिज खतौली) ने जैन दर्शन की शब्दावली को समझने में मुझे सहयोग दिया। गुरूवर डा० छविनाथ त्रिपाठी (कुरुक्षेत्र), डा० कृष्णचन्द गुप्त (मुजफ्फरनगर) प्रो० वेद प्रकाश (मुजफ्फर नगर), श्री केदार नाथ कोमल (दिल्ली), श्री ओ०पी० शर्मा (रूड़की), डा० सुरेन्द्र कुमार शर्मा (रूड़की), डा० पन्ना लाल जैन (सागर), डा० एन० सिंह (सहारनपुर) ने भी किसी न किसी रूप में मेरा मनोबल बढ़ाया है। सहयोग प्राप्त हुआ है।

स्वर्गीय डा० हरिकृष्ण भार्गव (प्राचार्य), (के०के० जैन डिग्री कालिज खतौली) डा० सुरेन्द्र शर्मा पंकज, हिन्दी विभागाध्यक्ष (के०के० जैन डिग्री कालिज खतौली) का स्नेह शुष्क शोधकार्य में सरसता प्रदान करता रहा। श्री ओंकार मिश्र (मुजफ्फरनगर) तथा श्री विनोद कुमार श्री प्रदीप कुमार जैन (मुजफ्फरनगर) डा० ओमपाल सिंह (शामली) का भी हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है।

शोध प्रबन्ध को पुस्तक आकार प्रदान करने में प्रबन्ध की प्रत्येक पंक्ति का मोह मेरे आड़े आ रहा था। किसे काटूं किसे नहीं की समस्या का हल सम्पाक एवं परामर्श मण्डल ने कर के, मुझ पर बड़ा उपकार किया, उनके प्रति 'आभार' के शब्द लघु प्रतीत होते हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग दिल्ली ने तीन हजार रुपये का लघु अनुदान प्रदान करके इस शोध कार्य में आर्थिक सहयोग प्रदान किया तथा मेरे पुत्र (संदीप, संजीव, आकाश, विकास) ने अपनी गोलक का धन इस शोध प्रबन्ध के टंकण आदि के लिये देकर आर्थिक राहत प्रदान की।

मेरी जीवन संगनि श्रीमती कान्ता जैन ने इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन का भार अपने कंधों पर लेकर इसे पाठकों तक पहुँचा कर जो सहयोग दिया, इसके लिए आभार प्रकट करना, अपने आप पर भारित होना लगता है।

इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन में श्री गुलशन राय जैन (मुजफ्फरनगर) सेठ डालचन्द जैन (सागर), श्री० जे०पी० जैन (रूड़की) तथा श्री कुसुम चन्द जैन (मुजफ्फर नगर) ने विशेष योगदान दिया उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है।

अनेक विद्वानो के ग्रन्थों एवं विचारोंतथा चित्रों का उपयोग मैंने इस शोधप्रबंध में किया है। अतः मैं सभी के प्रति नतमस्तक होकर आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में मैं अपने जीवन के 13 वर्ष इस शोध प्रबन्ध की साधना में लगाने मात्र से ही आत्मतुष्ट हूँ।

'संस्तवन' लिखकर भू पू० रेल मंत्री एवं अध्यक्ष कांग्रेस (ई) श्री पंडित कमलापति त्रिपाठी ने जो आशीर्वाद मुझे प्रदान किया, वह मेरे जीवन की बहुमूल्य निधि है।

डा० पवन कुमार जैन

हम इनके भी आभारी हैं

(साध्वी) अर्चना जी—168 सधना सदन, वैद्यवाड़ी बम्बई-2 ।
अजय कपिल—331, पच्छमी अम्बरतालाब, रुड़की ।
अर्जुन पुलेनी—स्टेशन रोड, खतौली ।
अनिलकुमार जैन--ग्राम तितावरी, मुजफ्फरनगर ।
अब्दुल हकीम (पटवारी)—स्टेशन रोड, खतौली ।
अरविन्द हैण्डलूम फैक्ट्री—मोहल्ला तारनी, सरधना ।
अरुण जैन—हलेक्ट्रा, परतापुर, मेरठ ।
अशोक कुमार जैन (कपड़ेवाले)—भगतसिंह मार्ग, मुजफ्फरनगर ।
अशोक कुमार जैन (एडवोकेट)—प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर ।
आदित्य कुमार जैन—58 सिविललाईन, रुड़की ।
आदीश कुमार जैन—74 ढोलकी मोहल्ला, सदरबाजार, मेरठ ।
आदीश कुमार जैन—रैनबो बिहार, मुजफ्फरनगर ।
आदीश्वर प्रसाद जैन—भगतसिंह मार्ग मुजफ्फरनगर ।
ओमप्रकाश शर्मा—37, आवास विकास कालोनी, रुड़की ।
ओमपाल सिंह—किसान इण्टर कालेज खरड (मु० नगर) ।
आशालता मलैया—गाँधी पंथ, सागर (म० प्र०) ।
कुंवर सैन जैन (एडवोकेट)—102 सुयराशाही, मुजफ्फरनगर ।
(डा०) के० जी० गोयल—रुड़कीरोड़, मुजफ्फरनगर ।
कैलाश चन्द माहेश्वरी—जी० टी० रोड, खतौली ।
गुणपाल जैन—कुन्दनपुरा (निकट प्रेमपुरी) मुजफ्फरनगर ।
गोकुलचन्द शीलचन्दजैन—जी० टी० रोड़, खतौली ।
जगदीश प्रसाद—16, पी० डब्लू० डी, कालोनी, रुड़की ।
जयन्ती प्रसाद नरेशचन्द जैन—आड़त मण्डी, सरधना ।
जनेश्वरदास जैन—घास मण्डी, मुजफ्फरनगर ।
जिन्दल एलेक्ट्रोनिक—रुड़की ।
जिनेन्द्र प्रेस—भगतसिंह मार्ग, मुजफ्फरनगर ।
तिलकराज बख्शी—रेलवे स्टेशन, खतौली ।
(चौ) तिलक राम जूनियर हाई स्कूल, खतौली ।
(सेठ) डाल चन्द जैन—संसद सदस्य, चमेली चौक, सागर (म० प्र०) ।
डी० के० जैन (एडवोकेट)—बी/16 नेहरू नगर, गाजियाबाद ।
दयाचन्द जैन—श्री महावीर आयल मिल्ज, जगराओं (पंजाब)
दिगम्बर जैन मन्दिर—शामली ।
दिनेशकुमार पदम सैन जैन (कपड़ा व्यापारी)—नयाबाजार, बड़ौत ।

देवेन्द्र टैक्सटाईल—कालन्दरोड, सरधना।
धनिराम शर्मा—धनकुटि, पटेलनगर, खतौली।
(डा) पवनकुमार जैन—हकीम फूलचन्द जैन का दवाखाना, रुड़की।
पवन कुमार जैन (कपडेवाले)—शिवचौक, मुजफ्फरनगर।
पद्मावती राजकुमार जैन—3 पारसी मीहामना, इन्दौर।
पारसनाथ स्टीलपाइप इन्डस्ट्री—मेरठ रोड, मुजफ्फरनगर।
प्रदीप कुमार जैन—46 बी, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर।
प्रवीन कुमार जैन—भगत सिंह मार्ग, मुजफ्फरनगर।
प्राचारिया—कबूल इन्टर कालेज, खतौली।
प्राचार्य—के०के० जैन डिग्री कालेज, खतौली।
प्राचार्य—बी०एस०एम० कालेज, रुड़की।
प्राचार्य—जनता इण्टर कालेज, गंगधाड़ी, खतौली।
प्राचार्य—वी०वी० (पी०जी०) कालेज, शामली।
प्राचार्य—सीतीशरण इण्टर कालेज, खतौली।
नन्हेमल जैन (कवाल वाले)—59 कृष्णापुरी, मुजफ्फरनगर।
(कु) निशा जैन—247 पुरानी तहसील, रुड़की।
नेमचन्द जैन—सी-15-डी, सूदनगर दिल्ली।
(डा) बी०एस० गुप्ता - जी०टी० रोड़, खतौली।
(ला) भगवान दास जैन—181 कृष्णापुरी, मुजफ्फरनगर।
मन्नाडे—पार्श्व गायक, बम्बई।
मधुरनागवान—मौहल्ला काणीराम, खतौली।
माधोलाल सुआसिंह—139 दयानन्द मार्ग, मेरठ।
मित्र सैन सुन्दर लाल जैन—चौक बाजार, रुड़की।
(डा) मूलचंद जैन - पुरानी मण्डी, मुजफ्फरनगर।
मूलचद जैन (सर्राफ)—सर्राफा बाजार, मुजफ्फरनगर।
रतन लाल जैन—शाहबाड़ा, बुढ़ाना।
रमेश चंद जैन—8/334 सिविल लाईन, रुड़की।
राकेश कुमार जैन—2562 रघुवर पुरा, गली 8 गांधीनगर, दिल्ली।
डा० राजेन्द्र भंडारी—सी०वी०आर०आई, रुड़की।
राजेन्द्र कुमार जैन—69 तिरगान, मेरठ।
राम कुमार (सर्राफ)—सर्राफा बाजार, मुजफ्फरनगर।
(कु०) रेणु—जी टी. रोड़, खतौली।
विक्रम सैन जैन—इमाम बाड़ा, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर।
विजय कुमार जैन – स्वदेशी भंडार, चौक बाजार, सरधना।

विजेन्द्र प्रकाश जैनी—97 शिव शंकर पुरी, मेरठ।
विशाल लोचन – महेशपुर फार्म, खतौली।
सुकमाल चन्द जैन (सर्राफ)—सर्राफा बाजार, मुजफ्फरनगर।
सुकमाल चन्द जैन—कृष्णा फ्लोर मिल रेलवे रोड़, मेरठ।
सुखानन्द जैन—महावीर स्वदेशी भंडार, सरधना।
सुगंध जैन (एडवोकेट)—49, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर।
सुभाष चन्द जैन—शकुन प्रकाशन, दिल्ली।
सुमत प्रसाद जैन—महावीर चौक, मुजफ्फरनगर।
सुमत प्रसाद, नत्थूराम, हंस कुमार जैन—मंगलौर।
सरदार प्रीतम सिंह—जी. टी. रोड़, खतौली।
सूरजमल जैन—सी-6/35 सफदर जंग, डवलपमैंट ऐरिया नई दिल्ली।
सारिक राणा—चीतल पार्क, खतौली।
सुरेन्द्र अग्रवाल—गली घंटाघर, खतौली।
(डा०) सुरेन्द्र कुमार शर्मा—सी०बी०आर०आई० स्कूल रूड़की।
सुरेन्द्र कुमार जैन (जे०ई०)—452 घड़ुबुड़ा, देहरादून।
सुरेन्द्र कुमार जैन—भू०पू० चैयर मैन, खतौली।
सुरेन्द्र छाब्ड़ा—पंजाबी स्ट्रीट, सरधना।
सुरेन्द्र जैन—अखिल भारतीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी, मथुरा।
सरोज जैन—प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर।
(ला०) सतीश चन्द जैन—63/39 कृष्णापुरी, मुजफ्फरनगर।
सुल्तान सिंह जैन—2/120 जैन भवन, अपर बाजार, देहली कैण्ट, देहली।
साधु राम जैन—जैन मन्दिर के निकट, रूड़की।
(डा) एस०के०डी० भारद्वाज—रूड़की रोड, मुजफ्फरनगर।
एस०के०जैन—हिन्दुस्तान लीवर, मुजफ्फरनगर।
एन०सी० जैन—निकट नुमाइश कैम्प, मुजफ्फरनगर।
हेमन्त कुमार जैन—आर०-9/242 राजनगर, गाजियाबाद।
हेमन्त कुमार जैन—सिंचाई कालोनी, अकलतरा (म० प्र०)।
हुकमचन्द जैन (खद्दर वाले)—सरधना।
श्री वीर पुस्तकालय—24/A नई मण्डी, मुजफ्फरनगर।
श्रीपाल प्रदीप कुमार जैन—रेलवे रोड़, देवबन्द।

डॉ० पवन कुमार जैन

विषय-सूची

धर्म : रविदास, धर्म : नामदेव, धर्म : दादूदयाल, धर्म : मलूकदास। ज्ञान : महावीर, ज्ञान :नामदेव, ज्ञान : कबीर, ज्ञान : रविदास, ज्ञान : दादूदयाल, ज्ञान : सुन्दरदास, ज्ञान: मलूकदास, ज्ञान: नानक। कर्म: महावीर, कर्म: नामदेव, कर्म: कबीर, कर्म: रविदास, कर्म: दादूदयाल, कर्म: सुन्दरदास, कर्म: नानक। पुनर्जन्म: महावीर, पुनर्जन्म: नामदेव, पुनर्जन्म: रविदास, पुनर्जन्म: मलूकदास, पुनर्जन्म: नानक। नरक: महावीर, नरक: नामदेव, नरक: नानक। भ्रम: (मरीचिका): महावीर, भ्रम: नामदेव, भ्रम: रविदास, भ्रम: दादूदयाल, भ्रम: सुन्दरदास, भ्रम: मलूकदास। पाप: पुण्य: महावीर, पाप: पुण्य: नामदेव, पाप: पुण्य: कबीरदास, पाप: पुण्य: सुन्दरदास, पाप: पुण्य: मलूकदास। वैराग्य: महावीर, वैराग्य: नामदेव, वैराग्य: कबीरदास, वैराग्य: रविदास, वैराग्य: दादूदयाल, वैराग्य: सुन्दरदास, वैराग्य: रविदास, वैराग्य: नानक। दुःख-सुख: महावीर, दुःख-सुख: रविदास, दुःख-सुख: सुन्दरदास, दुःख-सुख: नानक। भक्ति: महावीर, भक्ति: नामदेव, भक्ति: कबीरदास, भक्ति: रविदास, भक्ति: नानक। साधना: महावीर, साधना नामदेव, साधना: कबीरदास, साधना: रविदास, साधना: साधना: दादूदयाल, साधना: सुन्दरदास, साधना: मलूकदास, साधना: नानक। तप: महावीर, तप: कबीरदास' तप: रविदास, तप: सुन्दरदास, तप: मलूकदास, तप: नानक,। शान्ति: महावीर, शान्ति: नामदेव, शान्ति नानक, योग: महावीर, योग: नामदेव, योग: कबीरदास, योग: रविदास, योग: दादूदयाल, योग: सुन्दरदास, योग: मलूकदास, योग: नानक, मन: महावीर, मन: नामदेव, मन: कबीरदास, मन: रविदास, मन: महावीर, मन: सुन्दरदास, मन: मलूकदास, मन: नानक। कुर्तक: मलूकदास, कुर्तक: मलूकदास। माया। महावीर, माया: नामदेव, माया: माया: कबीरदास, माया: दादूदयाल, माया: सुन्दरदास, माया: नानक। ध्यान: महावीर, ध्यान: नामदेव, ध्यान: कबीरदास, ध्यान: दादूदयाल, ध्यान: रविदास, ध्यान: सुन्दरदास, ध्यान: मलूकदास, ध्यान: नानक। मृत्यु: महावीर, मृत्यु: नामदेव, मृत्यु: कबीरदास, मृत्यु: दादूदयाल, मृत्यु: सुन्दरदास, मृत्यु: मलूकदास, मृत्यु: नानक। मोक्ष: महावीर, मोक्ष: नामदेव, मोक्ष: कबीरदास,

कर्म : दादूदयाल, कर्म : सुन्दरदास, कर्म : नानक, पुनर्जन्म : महावीर, पुनर्जन्म : नामदेव, पुनर्जन्म : रविदास, पुनर्जन्म : मलूकदास, पुनर्जन्म : नानक। नरक : महावीर, नरक : नामदेव, नरक : नानक। भ्रम : (मरीचिका) महावीर, भ्रम : नामदेव, भ्रम : रविदास, भ्रम : दादूदयाल, भ्रम : सुन्दरदास, भ्रम : मलूकदास। पाप-पुण्य : महावीर, पाप-पुण्य : नामदेव, पाप-पुण्य : कबीरदास, पाप-पुण्य : सुन्दर दास, पाप-पुण्य : मलूकदास। वैराग्य : महावीर, वैराग्य : नामदेव, वैराग्य : कबीरदास, वैराग्य : रविदास, वैराग्य : दादूदयाल, वैराग्य : सुन्दरदास. वैराग्य : मलूकदास, वैराग्य : नानक दुःख-सुख : महावीर, दुःख-सुख : रविदास, दुःख-सुख : सुन्दरदास, दुःख-सुख : नानक। भक्ति : महावीर, भक्ति : नामदेव, भक्ति : कबीरदास, भक्ति : रविदास, भक्ति : दादूदयाल, भक्ति : सुन्दरदास, भक्ति : मलूकदास, भक्ति : नानक। साधना : महावीर, साधना : नामदेव, साधना : कबीरदास, साधना : रविदास, साधना : दादू दयाल, साधना : सुन्दरदास, साधना : मलूकदास, साधना : नानक। तप : महावीर, तप : कबीरदास, तप : रविदास, तप : सुन्दरदास, तप : मलूकदास, तप : नानक। शान्ति-महावीर, शान्ति : नामदेव, शान्ति : नानक। योग : महावीर, योग : नामदेव, योग : कबीरदास, योग : रविदास, योग : दादूदयाल, योग : सुन्दरदास, योग : मलूकदास, योग : नानक। मन : महावीर, मन : नामदेव, मन : कबीरदास, मन : रविदास, मन : दादूदयाल, मन : सुन्दरदास, मन : मलूकदास, मन : नानक। कुतर्क : महावीर, कुतर्क : मलूकदास। माया : महावीर, माया : नामदेव, माया : माया : कबीरदास, माया : दादूदयाल, माया : सुन्दरदास, माया : मलूकदास, माया : नानक। ध्यान : महावीर, ध्यान : नामदेव, ध्यान : कबीरदास, ध्यान : दादूदयाल, ध्यान : नानक। मृत्यु : महावीर, मृत्यु : नामदेव, मृत्यु : कबीरदास, मृत्यु : दादूदयाल, मृत्यु : सुन्दरदास, मृत्यु : मलूकदास, मृत्यु : । मोक्ष : महावीर, मोक्ष : कबीरदास, बोध : सुन्दरदास। जातिवाद : महावीर, जातिवाद : नामदेव, जातिवाद : कबीर, जातिवाद : रविदास, जाति-वाद : दादूदयाल, जातिवाद : सुन्दरदास, जातिवाद: नानक!

अध्याय — 1

महावीर और उनकी वाणी

सूर्य आता है, सारा संसार प्रकाश से जगमगा जाता है और जब उसकी रश्मियां पुनः लौट आती हैं तो सारा संसार तिमिर से भर जाता है। विश्व के रंगमंच पर यह अभिनय सदा होता रहता है क्योंकि जो स्वयं-प्रकाशी नहीं होते, वे पर प्रकाश से चमकते हैं। इस दुनिया में स्वयं प्रकाशी बहुत कम व्यक्ति होते हैं, अधिकांश लोग पर-प्रकाशी होते हैं। भगवान महावीर स्वयं प्रकाशित थे। जन्म से लेकर परिनिर्वाण तक वे प्रकाश पुंज की भांति प्रकाश देते रहे और उसके पश्चात् उनके विमल विचारों का आलोक, भूले-भटके जीवन-राहियों को सदा मार्ग-दर्शन देता रहा है।[1]

तीर्थंकर महावीर चरित्र के सूत्र—

आलोक पुंज तीर्थंकर महावीर-चरित्र के सूत्र आगम, आगमों की टीका, चूर्णि, निर्युक्ति तथा विभिन्न भाषाओं के काव्यों में बिखरे पड़े हैं। देवेन्द्र मुनि के मतानुसार आगमों में भी महावीर की अनेक जीवन-घटनाएँ संगृहीत हुई हैं, किन्तु पश्चातादवर्ती मनीषी आचार्यों ने अनुश्रुति आदि के आधार पर घटना-सूत्रों का संकलन किया। कथा-सूत्र धीरे-धीरे विकसित हुआ, उसमें अनेक काल्पनिक और विवादास्पद घटनाएं भी जुड़ गईं।[2] यह कहना कठिन है कि उनका पूरा जीवन-वृत्त साहित्य में आज सुरक्षित है। उनके जीवन की बहुत सी घटनाएँ व अनेक विरल प्रसंग शायद साहित्य में अंकित नहीं किये गये हों, यदि किये भी गये हों तो भी सुदीर्घ काल-प्रवाह में वे विलुप्तप्राय हो गये हों। बौद्ध-परम्परा के साहित्य में तो वह कुछ विकृत भी किया गया है।[3] तीर्थंकर महावीर-चरित्र के सूत्र-प्राप्ति-साहित्य का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

---

1. भगवान महावीर : एक अनुशीलन-देवेन्द्र मुनि (लेखक की कलम शीर्षक से) पृ० 9
2. वही—पृ० 148
3. वही—पृ० 111

तीर्थंकर महावीर चरित्र के सूत्र

- प्राचीन साहित्य (आगम)
  - अनुपलब्ध
  - उपलब्ध
    - दिगम्बर
    - श्वेताम्बर
    - बौद्ध
    - अन्य
- अर्वाचीन साहित्य
  - संस्कृत
  - प्राकृत
  - अपभ्रंश
  - गुजराती
  - राजस्थानी
  - हिन्दी
    - प्रबन्ध काव्य
    - मुक्तक
    - उपन्यास
  - अन्य

तीर्थंकर महावीर चरित्र का सर्वाधिक प्राचीन सूत्र दृष्टिवाद के मूल प्रथमानुयोग में था किन्तु आज वह अनुपलब्ध है।[1] दिगम्बर परम्परा में महावीर चरित्र के प्राचीन ग्रन्थ महापुराण एवं उत्तर पुराण है। श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग और कल्प आगम में ये सूत्र उपलब्ध होते हैं[2] इनके अतिरिक्त समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, हरिभद्रीय, वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, चउप्पन्न महापुरिम चरिय, त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र, नन्दी सूत्र, आदि में भी महावीर स्वामी के जीवन सूत्र पल्लवित हुए हैं।

प्राचीन साहित्य (आगम साहित्य में) महावीर चरित्र के सूत्रों की तालिका—

आगम का नाम	सूत्र (विषय)
1. आचारांग सूत्र	तीर्थंकर महावीर के श्रमण जीवन का आदर्श व हृदय-स्पर्शी चित्रण।
2. कल्पसूत्र	आठवें अध्याय में तीर्थंकर महावीर का जन्म, संहरज, दीक्षा, केवल ज्ञान और मोक्ष वर्णन।
3. नन्दी सूत्र	तीर्थंकर महावीर की ऐतिहासिक स्तुति।
4. अन्तकदृशा सूत्र	तीर्थंकर महावीर द्वारा अर्जुनमाली जैसे हत्यारे को दीक्षा प्रदान करना।
5. निरयावलिया	तीर्थंकर महावीर युगीन महायुद्ध का वर्णन।
6. औपपातिक सूत्र	समवसरण में राजा कौणिक के आने तथा महावीर के व्यक्तित्व का वर्णन।

1. भगवान महावीर: एक अनुशीलन-देवेन्द्र मुनि पृ० 19
2. आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन-मुनि नगराज—पृ० 136
+दृष्टव्य परिशिष्ट—अध्याय। (अ)

आगम का नाम	सूत्र (विषय)
7. विपाक सूत्र	गणधर गौतम और तीर्थंकर महावीर के प्रश्न उत्तर आदि।
8. अनुत्तरोपदातिक सूत्र	तीर्थंकर महावीर के शिष्य धन्ना अनगार के उग्र रूप तप का वर्णन।
9. उपासक दशा सूत्र	दस उपासकों के आचार का वर्णन।
10. ज्ञातृधर्म कथा सूत्र	तीर्थंकर महावीर के पूर्व जन्म का वृत्तान्त।
11. भगवती सूत्र	तीर्थंकर महावीर के अनुयायियों का वर्णन।
12. स्थानाङ्ग सूत्र	तीर्थंकर महावीर चरित्र का क्रमबद्ध वर्णन आदि।
13. सूत्रकृताङ्ग सूत्र	तीर्थंकर महावीर की दिव्य स्तुति।
14. आवश्यक चूर्णि	धैर्य परीक्षा, विवाह आदि विभिन्न घटनाओं आदि का वर्णन।
15. विशेषाश्यक भाष्य	तीर्थंकर महावीर और ग्यारह ब्राह्मणों की अध्यात्म चर्चा।
16. आवश्यक निर्युक्ति	तीर्थंकर महावीर के जीवन की तेरह घटनाओं आदि का वर्णन।
17. पुष्पिका	इसकी नाट्य विधि है। इसमें इन्द्र द्वारा महावीर की वन्दना के लिए आने का उल्लेख है।

बौद्ध साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्र—

मुनि नगराज जी ने विचनपिटक, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय, सुत्तपिटक, दीघ निकाय, धम्मपद अट्ठकथा, सुत्तनिपत, तथा जातक अट्ठकथा आदि बौद्ध साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्रों का उल्लेख व समीक्षा सहित किया है।[1]

प्राकृत साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्र—

महावीर चरित्र सम्बन्धी प्राकृत कृतियों में चउप्पन-महापुरिस चरियं, तिलोयपण्णत्ति, गुणचन्द्र सूरि का गद्य-पद्य काव्य महावीर चरियं तथा एक अन्य कृति महावीर चरिय महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं। चउप्पनन्न महापुरिस चरियं में महावीर सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो अन्य ग्रन्थों से मेल नहीं खाते उदाहरण के लिये महावीर की पत्नी यशोदा का उल्लेख आदि। तिलोयपण्णत्ति दिगम्बर मान्यता का महावीर चरित्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। गुणचन्द सूरि ने महावीर चरियं में महावीर का चरित्र काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।

---

1. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन-मुनि नगराज

संस्कृत साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्र—

संस्कृत साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्र अन्य तीर्थंकरों के साथ एवं स्वतन्त्र रूप से भी मिलते हैं। प्रथम के अन्तर्गत पुराणसार संग्रह, रायमल्लाभ्युदय, त्रिषष्टि-शलाका उसषचरित्र, महापुराणचरित्र, त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र और लघु त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र आदि उल्लेखनीय हैं। ज्ञान सागर जी रचित वीरोदय काव्य और चतुर्विशति जिन चरित दूसरी कोटि के ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण है।

अपभ्रंश साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्र—

अपभ्रंश साहित्य में महावीर चरित्र सम्बन्धी ग्रंथों में वड्ढमाण-कव्वु (जय-मित्र हल्ल), वड्ढमान कहा (कवि नरेशन), महावीर चरित (पुष्पदन्त) वड्ढमान चरिउ (जयमित्र हल), सन्मति जिनचरिउ, वड्माणचरिउ (श्रीधर), महावीर चरित (महाकवि रईधु) और तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकास महापुराण (महाकवि पुष्पदन्त) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुजराती, राजस्थानी एवं हिन्दी साहित्य में महावीर चरित्र के सूत्र—

गुजराती में श्री महावीर स्वामी चरित्र (नन्दलाल लल्लू), श्री महावीर चरित्र (हर्षचन्द्र जी), निर्ग्रन्थमहावीर (जयभिक्खू), जगदुद्धारक महावीर (अम्बेलाल नारायण जी जोशी), प्रभुमहावीरनु जीवन चरित्र (अम्बाजी स्वामी) तथा वीरायण महाकाव्य उल्लेखनीय हैं।

महावीर चरित्र सम्बन्धी राजस्थानी कृतियों में महावीर रास (कुमुदचन्द्र), वर्धमान पुराण (नवकलशाह), महावीर जो रास (पद्मकवि), वर्धमान चरित (केशरी सिंह), वर्धमान सूचनिका (बुधजन), महावीर पुराण (मनसुख सागर) तथा महावीर नी विनती उल्लेखनीय कृतियां हैं।

हिन्दी साहित्य में महावीर चरित्र भगवान महावीर (चन्द्रराज) महावीर मेरी दृष्टि में (रजनीश), भगवान महावीर (कामता प्रसाद जैन) वर्द्धमान (महाकाव्य-अनूप कवि) आदि कृतियों में पुष्पित हुआ है। देश की अन्य भाषाओं में भी महावीर चरित्र लिखा गया है। विदेशी भाषाओं में महावीर चरित्र के विद्वानों में डा० याकोबी, डा० जयसूर्य (लंका) श्रीमती राइ डेवि तथा डा० सर्वेन्तिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आगम युग से लेकर आधुनिक युग के महावीर चरित्र सूत्रों का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि महावीर का चरित्र आगम आदि में बिखरा पड़ा है। विद्वानों ने साम्प्रदायिकता से प्रभावित होकर उनके चरित्र का चित्रण किया है। बौद्ध साहित्य में तो यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि उनका चरित्र पग-पग पर विवादास्पद हो गया है।

महावीर के जन्म से पूर्व की परिस्थितियाँ—

देवेन्द्र मुनि ने तीर्थंकर महावीर युगीन विभिन्न परिस्थितियों का उल्लेख

समाज और संस्कृति शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस आधार पर इस युग की परिस्थितियों को चार भागों— 1. धार्मिक, 2. सामाजिक, 3. राजनैतिक और 4. साहित्यिक में विभाजित किया जा सकता है।

धार्मिक परिस्थितियां—

ई० पू० 600 के आस-पास भारत की धार्मिक स्थिति बहुत ही अस्थिर और भ्रान्त थी। धर्म के नाम पर मानव अपनी विकृतियों का दास बना हुआ था। स्वार्थ लोलुप धर्मगुरु और धर्माचार्य धर्म के ठेकेदार बन बैठे थे। निरीह पशुओं का निर्मम वध किया जा रहा था। पशुमेध ही नहीं नरमेध भी किये जाते थे। भीषण रक्तपात विद्यमान था। अग्नि कुण्डों से चीत्कार की ध्वनि कर्णगोचर हो रही थी। बर्बरता और अमनुष्यता का नग्न ताण्डव वर्तमान था। मनुष्य मनुष्य के द्वारा होने वाले निर्लज्ज शोषण का इतिहास बना हुआ था। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पश्चात् यज्ञीय क्रियाकाण्डों ने मानवता को संत्रस्त कर दिया था। आलोक की धर्म रेखा धुंधली होती जा रही थी और जीवन का अभिशाप दिनानुदिन बोझिल हो रहा था। अनेक व्यक्ति अपने को तीर्थंकर कहने लगे थे। स्वर्ग-नरक बिक रहे थे और धनिक वर्ग लम्बी-लम्बी रकमें देकर अपना स्थान सुरक्षित करा रहा था। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और मैत्री जैसी उदात्त भावनायें खतरे में थीं।[1]

सामाजिक परिस्थितियां —

महावीर के पूर्व ही सामाजिक क्रान्ति परिलक्षित होने लगी थी और वैदिक आर्यों की शुद्ध संतति समाप्त हो रही थी। रक्त मिश्रण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं धर्म-परिवर्तनादि के कारण नवीन भारतीय जातियां उदय में आ रही थीं। आर्य और द्रविड़ों मे भी रक्त मिश्रण हो रहा था और परस्पर जातीय भेद-भाव टूटता जा रहा था। व्यवसाय कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में समस्त भारतीय समाज विभक्त हो रहा था। क्षात्र धर्म-पालन करने वाले आय-व्रत्य, नाग और द्रविड सभी क्षत्रिय कहलाते थे। इतना होने पर भी वैदिक संस्कार इतने सुदृढ़ और सुगठित थे कि उनमें सामान्यतया कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं पड़ता था। वेदानुयायी ब्राह्मण "अंहवश" अपने को सर्वश्रेष्ठ पवित्र क्रियाकाण्ड का अधिकारी मानता था। वर्णाश्रम समाज पर छाया हुआ था। यद्यपि इसके विरोध में क्रान्ति की ध्वनि गूंज रही थी। पर इस प्रथा के विरोध में खड़े होने की क्षमता किसी व्यक्ति में अवशिष्ट नहीं थी।[1]

उस समय जाति और वर्ण के आधार पर सामाजिक संगठन था। जात-पांत

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ० 72-73

का रोग बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था। शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सर्वत्र उनका निरादर होता था। परिवार में माता-पिता का स्थान सर्वोपरि था। परिवार के पालन-पोषण का दायित्व पिता पर था। पिता की मृत्यु के पश्चात पुत्र परिवार का ध्यान रखता था। नारियों की स्थिति भी गंभीर थी। वह भोग-विलास का साधन मानी जाती थी। पुरुष जैसा चाहता था वैसा ही कठपुतली की तरह उसे नचा सकता था। परन्तु कितनी ही नारियां नर से भी आगे थीं, वे पुरुषों को भी प्रतिबोध देती थीं। विवाह की प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। पुत्र और पुत्रियों के अधिकांश सम्बन्ध पिता ही निश्चित किया करता था। स्वयंवर और गांधर्व विवाह की प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। बहु-विवाह भी होते थे। कभी व्यापार के लिये विदेश मे जाने वाले वही पर विवाह कर लेते थे। कुछ दिन घर-जमाई भी रह जाते थे। विवाह का कोई निश्चित नियम नहीं था किन्तु सुविधा के अनुसार विवाह कर लेते थे। रोग आदि के निवारण के लिये औषधियां ली जाती थीं और शल्य चिकित्सा का भी प्रचार था। समाज में सुख और शान्ति का संचार करने के लिए शासन-व्यवस्था थी। शासन का अधिकार क्षत्रियों के हाथों में था।[1]

महावीर युग में बहु-बेटियां पुरुषों के समक्ष खुले रूप में नहीं आती थीं। जब कभी उन्हें सभाओं मे आना होता, तो वहां पर्दा लगाया जाता था। एक ओर पुरुष और दूसरी ओर स्त्रियां बैठती थीं। महावीर की माता त्रिशला जब स्वप्न-फल सुनने के लिये आई तो उन्हें एक यवनिका के पीछे बिठाया गया था।[2]

तीर्थंकर महावीर युगीन आर्थिक परिस्थिति—

महावीर के समय भारत आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समृद्ध था। अन्न और वस्त्र की समस्या उस सयय किसी के समक्ष नहीं थी। ग्राम और नगर अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ थे। कृषि से अन्न, करघे से वस्त्र, शिल्पियों से विलास-सामग्री एवं पशुओ से दुग्ध और वाहन के कार्य सम्पन्न किये जाते थे। देश का व्यापार मिश्र, यूनान, चीन, फारस एवं सिंहल तक व्याप्त था।[3] कभी-कभी विदेश व्यापार के लिये वैश्य अपनी पत्नियों को भी समुद्र यात्रा पर ले जाते थे। अधिकांश रूप से देश की पूंजी वैश्यों के हाथ में थी। आजीविका उपार्जन के लिये तथा युद्ध आदि की आवश्यकता पूर्ति के लिये पशु-पक्षियो का पालन किया जाता था।

---

1. भगवान महावीर : एक अनुशीलन पृ० 94 से 95 तक
2. कल्पसूत्र
3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ० 69

तीर्थंकर महावीर युगीन राजनैतिक परिस्थिति—

राजनैतिक दृष्टि से यह युग उथल-पुथल का युग था। शत्रुओं का भय बना रहता था, जिसके कारण सैन्यबल एवं कोष-वृद्धि के लिये प्रशासक चिन्तित रहता था। शत्रु के पास दूत द्वारा पत्र भेजने का रिवाज था। इस युग से सम्बन्धित साहित्य में राजमुद्रा के मुद्रित पत्र[1] और कूट लेख[2] का भी वर्णन उपलब्ध होता है। गुप्त लिपि में प्रेम-पत्र लिखने का भी प्रचलन था।[3]

महावीर युगीन कला—

कलाओं की संख्या 72 स्वीकार की गई है। इन कलाओं में गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, संगीत-नृत्य, नाट्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदि उल्लेखनीय हैं। महावीर युग में इन में से प्रायः सभी विकसित रूप में थीं।

स्वयं महावीर ने गणित और ज्योतिष विद्या आदि में निपुणता प्राप्त की थी।[4] स्थानांगसूत्र में इस युग के दस प्रकार के गणित का उल्लेख प्राप्त होता है परिकर्म, व्यवहार और रज्जू आदि।[5]

आचारंग सूत्र में 16 प्रकार के रोगों-गंडमाला, कोढ आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] रागोत्पत्ति के कारण, चिकित्सा आदि का वर्णन स्थानांग (9·667) और बृहत्तकल्पभाष्य (3·4380) में हुआ है। इस युग में राजवैद्यों की आजीविका का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था।[7] इस युग में शल्यचिकित्सा का भी प्रचलन था।[8] ज्ञातृधर्मकथा में इस युग के चिकित्शालाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[9]

राजा उदय इस युग का बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। वह उज्जैनी की राजकुमारी

---

1. (क) वृहत्कल्प भाष्य पीतिका 195, (ख) निशीथ चूर्णि—10
2. उपासकदशा—1, पृ० 10
3. (क) समवायांग-पृ० 33, (ख) लावण्यसमयगणी-विमल प्रबन्ध पृ० 123 (ग) कल्पसूत्र लक्ष्मी वल्लभ की टीका (घ) ए० हिस्ट्री आफ कैनानिकल लिटरेचर आफ द० जैन्स एच०आर०कपाडिया पृ० 94
4. कल्पसूत्र 1·10
5. द० जैन स्कूल ऑव मैथेमैटिक्स, द० बुलेटिन ऑव द० कलकता मैथेमैटिक सोसायटी जिल्द 21, पृ० 115
6. विपाकसूत्र 1, पृ० 7, निशीथभाष्य 11·3646, उत्तराध्ययन सूत्र 10·27
7. व्यवहार भाष्य 5·21
8. निशीथचूर्णि 20·6396
9. ज्ञातृधर्म कथा 13, पृ०143

वासवदत्ता का संगीत गुरू था।[1] नृत्य कला इतनी अधिक विकसित थी कि नर्तक सरसों की राशि पर भी सफलतापूर्वक नृत्य कला का प्रदर्शन किया करते थे।[2]

जैन आगम साहित्य में सात स्वरों और वीणा, पटह, बांसुरी, शंख, भेरी आदि का उल्लेख (स्थानांगसूत्र और बृहत्कल्प भाष्यपीठिका) आदि में प्राप्त होता है।

इस युग की नाट्य-कला भी अपने चरमोत्कर्ष पर थी। जैन सूत्रों में चार प्रकार के अभिनयों का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] इस युग में अभिनय शून्य नाटक भी प्रचलित थे। इसके अन्तर्गत उत्पात, निपात आदि नाटकों के नाम उल्लेखनीय हैं।[4] स्वस्तिक (आठ मंगलों का आकार) बनाकर अभिनय (आवर्त) कंधे पर बैठे हुए पुरुष का अभिनय तथा ईहामृग (चित्रों का अभिनय) आदि बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधियों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में प्राप्त होता है।[5] यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि ब्रह्मदत्त ने जब चक्रवर्ती पद प्राप्त किया तब उन के सम्मान में एक नट ने मधुकरी नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया था।[6] इस युग की नाट्यशालायें भी अत्यधिक सुन्दर होती थी। वह अनेक स्तम्भों पर निर्मित होती थीं। इसके सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन राय पसेणीय सूत्र में प्राप्त होता है।

ज्ञातृधर्म कथा एवं उत्तराध्ययन में इस काव्य की चित्रकला की स्थिति का स्पष्ट आभास होता है। कूंची, रंग, पृष्ठभूमि निर्माण आदि का उल्लेख मिलता है। मिथिला के मल्लदत्त कुमार द्वारा आयोजित चित्र सभा साक्षी है कि इस युग की चित्रकला कितनी विकसित थी। इस सभा में वृक्ष आदि के एक भाग को देखकर सम्पूर्ण वृक्ष का चित्रण किया गया था[7] तथा उज्जैनी नगर का विस्तृत चित्रण इस युग की चित्रकला जगत की महत्वपूर्ण घटना थी।[8] इस युग में प्रायः चित्र भित्तियों और पट्टफलक आदि पर बनाये जाते थे।

महावीर युग में काष्ठ मूर्तियां बनाने की कला बहुत विकसित थी। व्यवहार भाष्य में वारत्तक ऋषि का उल्लेख प्राप्त होता है। उसके पुत्र अपने पिता की रजोहरण और मुखवस्त्रिका वाली काष्ठ मूर्ति बनाकर उसकी पूजा किया करते थे। इसके अतिरिक्त पलस्तर आदि का लेप तथा पाषाण एवं मणियों पर भी मूर्तियां बनाई

---

1. आवश्यक चूर्णि – 2, पृ० 161
2. स्थानांग 7, पृ० 372
3. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका 5, पृ० 413-अ
4. वही 5 पृ० 418
5. रायपसेणीय टीका—पृ० 136
6. उत्तराध्ययन टीका – 137, पृ० 196
7. ज्ञातृधर्म कथा 8, पृ० 106
8. आवश्यकचूर्णी—पृ० 544

जाती थी।[1] पादलिप्त आचार्य के किसी राजा की बहिन की मूर्ति बनवाने का उल्लेख मिलता है, जो भ्रमण करती थी और पलक मारती थी।[2]

बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है कि वज्जि देश और वैशाली में अर्हत्-चैत्यों का अस्तित्व था, जो बुद्ध-पूर्व अर्थात् महावीर-पूर्व काल से विद्यमान थे। (तुलनीयः महा परिनिब्बान-सुत्तन्त) चौथी शती ईसा-पूर्व से हमें जैन मूर्तियों, गुफा मन्दिरों और निर्मित देवालयों या मन्दिरों के अस्तित्व के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने लगते हैं।[3]

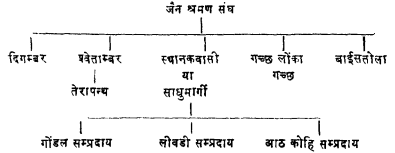
इस युग में स्थापत्यकला भी बहुत विकसित थी। भवन निर्माण से पहले भूमि-परीक्षा आदि की जाती थी। प्रासाद को विमान भी कहा जाता था रायप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के विमान का वर्णन प्राप्त होता है। इस युग में प्रासाद निर्माण, स्वयंवर मण्डप, व्यायामशाला आदि का निर्माण प्रत्येक दृष्टि से उच्चकोटि का था। धार्मिक स्थापत्यकला एवं चैत्यस्तूपनिर्माण तथा विविध प्रकार के आसन आदि के निर्माण का स्थान भी महत्वपूर्ण था।

श्रमण परम्परा और महावीर—

जैन धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित हैं[4] और महावीर के जीवन के

---

1. निशीथचूर्णि — 10·3182, पृ० 142।
2. बृहत्कल्पभाष्य० 4·4915।
3. जैनकला एवं स्थापत्य, भाग 1, (पृष्ठ भूमि और परम्परा-ज्योति प्रसाद जैन) — पृ० 41।
4. संघमित्रा ने अपने ग्रन्थ "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" में जैन श्रमण संघ एवं उस के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, जिसका वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है।



वीर निर्माण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अविभक्त जैन श्रमण संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओं में विभक्त हो गया। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वि० नि० 609 (वि० सं० 139) में दिगम्बर

(पाद टिप्पणी का शेष भाग पृ० 10 पर)

विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं में भेद है। किन्तु इस में कोई मत भेद नहीं है कि — "भगवान महावीर ने तीर्थंकर बनकर जो अनन्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्राप्त किया, वह एक जन्म की साधना का पथ नहीं, अपितु अनेक जन्मों की कठोर तप, ध्यान, साधना का ही परिणाम है। उस साधना से आत्मा का उत्थान हुआ।[1]

(पृ० 9 की पाद टिप्पी का शेष)

मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मत के अनुसार वि० नि० 606 (वि० 136) में श्वेताम्बर मत का अभ्युदय हुआ। भेद का प्रमुख कारण वस्त्र था। दोनों परम्पराओं का नामकरण भी वस्त्र सापेक्ष है। एक परम्परा मुनियों के द्वारा वस्त्र ग्रहण को परिग्रह नहीं मानती। दूसरी परम्परा सर्वथा उसके विरोध में है। आचार्य जम्बू के बाद जिनकल्पी अवस्था का विच्छेद और "मुच्छ परिग्गहो वुत्तो" संयम धारणार्थ वस्त्र ग्रहण परिग्रह नहीं है। इस आगम वाक्य से आचार्य शय्यंभव द्वारा वस्त्र प्रबल समर्थन अन्तर्विद्य की प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। दोनों परम्पराओं में प्रथम जन्म किसका हुआ, यह अनुसंधान का विषय है।

—जैन धर्म के प्रभावक आचार्य – संघ मित्रा—पृ० 14

सिद्धान्त-भेद और क्रिया-भेद के आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में जैन संघ प्रथम बार विभक्त हुआ था। यापनीय संघ की समन्वयात्मक नीति ने इन दोनों के बीच समझौता करने का प्रयत्न भी किया पर जो खाई बन गई थी, वह मिट नहीं सकी।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—संघ मित्रा—पृ० 16

लोंकाशाह में बचपन से ही सहज धार्मिक रुचि थी एवं उनकी लिपि कलापूर्ण थी। वे मोती जैसे गोल व सुन्दर अक्षर लिखते थे। पतियों ने आगम लिखने का कार्य उन्हें सौंपा था। लोंकाशाह लिपिकार ही नहीं थे वे गम्भीर चिन्तक, सूक्ष्म अध्येता एवं समुचित समीक्षक भी थे। आगम लिखने में रत लोंकाशाह ने एक दिन अनुभव किया कि आगम-प्रतिपादित सिद्धान्त और साध्वाचार के मध्य भेद रेखा उत्पन्न हो गई है और उन्होंने कई दिनों तक चिन्तन मनन किया और एक दिन उन्होंने निर्भीकतापूर्वक क्रान्ति का उद्घोष कर दिया। सैकड़ों लोगों को लोंकाशाह की नीति ने आकृष्ट किया कोट्याधीश लक्खमसी भाई ने गहराई से समझा और वे लोंकोशाह के मत का प्रबल समर्थन करने लगे। इस प्रकार अन्य जैन सम्प्रदायों का जन्म हुआ।

—जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—संघ मित्रा—पृ० 24

1. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि —पृ० 213

तीर्थंकर महावीर के पूर्वभव

महावीर के पूर्व भवों का वर्णन विस्तार के साथ जैन साहित्य में उपलब्ध होता है। किन्हीं ग्रन्थों में 27 पूर्वभवों का वर्णन है, किन्हीं में 33 पूर्वभवों का।[1] दिगम्बर परम्परा में महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख उत्तरपुराण में हुआ है, उसी का अनुसरण असग कवि ने श्री वर्धमान चरित में, सिरिहर ने बड्ढमाण चरित में, जयमित्तहल्ल ने वर्धमान काव्य में और कुमदचन्द्र ने महावीर रास में किया है।[2] आचार्य श्री विमल सूरि ने पउमचरियं में महावीर के दो भव देव और मान का उल्लेख किया है। डॉ०नेमिचन्द्र शास्त्री ने 1, भिल्ल सरदार पुरूखा 2. जटिल 3, पुष्पमित्र 4, विश्वनन्दी 5, त्रिपृष्ठ 6, सिंह 7, कसकोज्जवल 8, दृष्येिण 9, प्रिय मित्र 10, नन्द और 11, महावीर के भवों का वर्णन किया है।[3]

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार "भगवान महावीर के जीवन की परिचय रेखा सर्वप्रथम आचारांग और कल्पसूत्र मे उपलब्ध होती है। पर वहां उनके पूर्व भवों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही है। उनमें सिर्फ भगवान महावीर का जीवन दसवें देवलोक से च्युत होकर अन्तिम भव में मनुष्य बना इतना-सा उल्लेख है, पर देवभव से पहले वे कहाँ थे, और कहाँ से आये थे, इस सम्बन्ध में कोई वर्णन नहीं मिलता।[4]

उत्तर पुराण (दिगम्बराचार्य गुणभद्र) में वर्णित पूर्वभव[5]

1. पुरूखा—उ० पु० 74/14-21
2. सौधर्मदेव—उ० पु० 74/22
3. मरीचि—उ० पु० 74/22-66
4. ब्रह्मदेव लोक में देव उ०पु० 74/67
5. जटिल परिव्राजक-आव० नि० में कौशिक 74/69
6. पुष्पमित्र परिव्राजक—उ० पु० 74/70-72
7. अग्निसह परिव्राजक—आ० नियु० में अग्निछोत, 74/74-75
8. सनत्कुमार देव—आ० नियु में ईशानकल्प, 74/75
9. अग्निमित्र परिव्राजक—आ० नियु में अग्निभूति, 74/76-77
10. महेन्द्र देव—आ० नियु० में सरत्कुमार, 74/78

---

1. चौबीस तीर्थंकर—डा० गोकुल चन्द जैन—पृ० 100
2. भगवान महावीर: एक अनुशीलन— पृ० 159
3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 26-58
4. भगवान महावीर: एक अनुशीलन—पृ० 158
5. वहीं—पृ० 201 से 203 (के आधार पर आधारित)

11. भारद्वाज परिव्राजक—उ० पु० 74/78-79
12. त्रस स्थावरादि अनेक भव—74/81
13 स्थावर परिव्राजक—उ० पु०—74/82-85
14. विश्वनन्दी—उ० पु०—74/86-117।
15. महाशुक्र देव—उ० पु०—74/118
16. त्रिपृष्ट वासुदेव—उ० पु०—74/112-166
17. सिंह—उ० पु०—74/168।
18. सौधर्मदेव सिंह केतु—उ० पु०—74/219
19. हरियेण—उ० पु० 74/230-233
20. महाशुक्रदेव—उ० पु०—74/234
21. सूर्यप्रभ—उ० पु० 74/241
22. वर्द्धमान—उ० पु०—74/251

श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित पूर्वभव—

(1) ग्राम चिन्तक—आ० नि० गा० 154, वि० 147, हरि० 145 (2) सौधर्म देव लोक—विशे० गा० 1549 (3) मरिचि—आव० वि० 142, वि० 1550, आव० हरि० 149 (4) ब्रह्मदेव। (5) कौशिक परिव्राजक—आ० नि० 326, वि० 1792, हरि० 446 (6) पुष्यमित्र परिव्राजक[1] (7) सौधर्मदेव (8) अग्निघोत ब्राह्मण परिव्राजक (9) ईशान कल्प देव (10) अग्निभूत मन्दिर सन्निवेश में परिव्राजक (11) सनत्कुमार देव (12) भारद्वाज परिव्राजक (13) माहेन्द्रकल्प में (बाद में संसार भ्रमण) (14) स्थावर (परिव्राजक) (15) ब्रह्मदेव लोक (16) विश्वभूति (17) महाशुक्रदेव (18) त्रिपृष्ट (आदि वासुदेव) (19) नरक (20) सिंह (21) नरक (तिर्यंच और मनुष्यभव)। (22) प्रियमित्र चक्रवर्ती (23) महाशुक्र देव (24) नन्दन (25) पुष्पोत्तर विमान मे देव (26) ब्राह्मण कुल में (देवानन्दा के गर्भ में,[2]

संख्यातीत जन्मों में भिल्ल जीव का सबसे अधिक महत्त्व और मूल्य है क्योंकि इसी जीवन में उन्हें योगिराज का आशीर्वाद मिला और मोह ग्रन्थि को भेदन करने के लिये निष्ठा की प्राप्ति हुई।[3] भगवान महावीर का जीव बाइसवें भव में विमल राजा

---

1. चउत्पन्न मे इस भव का उल्लेख नहीं है। इससे मरिचि सहित 6 परिव्राजक भव होते हैं। वही पृ० 97-98
2. *भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 199 से 201 तक के आधार पर।* (चउत्पन्न महापुरिस में भी मरिचि, ब्रह्मदेव, विश्वभूति आदि 16 भवों का उल्लेख हुआ है
3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 23 और 26

बना उनकी माता का नाम विमला था और पिता का नाम प्रिय मित्र था :[1] छब्बीसवां भव देव नन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में जन्म ग्रहण करने का बताया गया है और सत्ताईसवाँ भवत्रिशला रानी के गर्भ में आने का ।[2] तीर्थंकर महावीर के जीव को सम्यक्त्व कोण से भव में प्राप्त हुआ इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । आवश्यक निर्युक्ति में सबसे पहले तीर्थंकर महावीर के जीव के सम्यग्दर्शन की चर्चा हुई है । इसी के आधार पर आवश्यक चूर्णि, चउपन्न महापुरिसचरियं आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख अवश्य हुआ है । किन्तु उस समय उनका क्या नाम था आदि सूचनायें प्राप्त नहीं होती । पूर्व भवों में महावीर के समान तथागत बुद्ध ने भी भूले हुए सन्तों को मार्ग-दर्शन दिया था ।[3]

बौद्ध धर्म मुख्य रूप से महायान और हीनयान दो सम्प्रदायों मे विभक्त है । महायान के मुख्य सिद्धान्त धर्मकाय, निर्माणकाय आदि में बोधिसत्व का स्थान महत्व-पूर्ण है । इसका अर्थ है बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला ।[4] इसे प्राप्त करने वाले का उद्देश्य संसार का परम कल्याण होता है । इसके दो छोर होते हैं महामैत्री और महाकरुणा । "बोधिचर्यावतार" के अनुसार सौगत मार्ग के द्वारा जिस पुण्यसंभार को अर्जन किया है उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो । मुक्त जीवों हृदय में जो आनन्द सागर हिलोरें मारने लगता है वहीं जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए पर्याप्त है । रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है ।[5]

हीनयान का आदर्श यदि अर्हत् है तो महायान का बोधिसत्व । दोनों का अंतर स्पष्ट करते हुए पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि अर्हत् अपने ही निर्वाण की प्राप्ति के लिये सदा उद्योगशील रहता है । परन्तु बोधिसत्व का लक्ष्य केवल अपने का ही निर्वाण में प्रतिष्ठित करना नहीं होता प्रत्युत् सब प्राणियों को वह परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है हीनयान कोरा निवृत्ति मार्ग है । इसके विपरीत महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है । हीनयान में केवल ज्ञान के ही साधन के लिए प्राधान्य है परन्तु

---

1. श्रमण भगवान महावीर के छब्बीस भव—आचार्य विजय धर्मसूरि । महावीर कथा-गोपालदास जीवाभाई पटेल—पृ० 44, 134, 138
2. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 160-161
3. जातकट्ठ कथा, सुभेधकथा – पृ० 10
4. "बोधौसत्वं अभिप्रायो ऽस्येति बोधिसत्वः-भारतीय दर्शन—पृ० 163
5. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम् ।
   तेन स्यां सर्वसत्वानां सर्वदुः खप्रशान्तिकृत् ॥
   मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा :
   तैखे ननु, पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम् ॥
   बोधिचर्यावतार (तृतीय परिच्छेद)

महायान में भक्ति की विशिष्टता है।[1]

माता के स्वप्न—

आचार्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण में त्रिशला रानी के सोलह स्वप्नों का वर्णन इस रूप मे में किया है—

"आषाढस्यसितेपक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तराषाढ सप्ततल प्रसाद स्याम्यन्तरवर्तिनि ॥ नन्द्यावर्तगेहेरत्न दीपकाभिः प्रकाशिते । रत्नपर्यं के हंसतूलिकादि विभूषितेः ।[2]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकर महावीर के जन्म से पूर्व उनकी माता को निम्नलिखित 16 स्वप्न आये थे—

(1) गज (2) वृषभ (3) सिंह (4) लक्ष्मी (5) माल्याद्विक (6) शशि (7) सूर्य (8) कुम्भद्विक (9) झषयुगल (10) सागर (11) सरोवर (12) सिंहासन (13) देवविमान (14) नाग विमान (15) रत्नराशि (16) निर्धूम अग्नि। श्वेताम्बर परम्परा मे 14 स्वप्नों का काव्यात्मक उल्लेख प्राप्त होता है।[3] दोनों परम्पराओं में तेरह स्वप्न तो समान हैं किन्तु दिगम्बर परम्परा में झष (मीन) के स्थान पर श्वेताम्बर परम्परा में "झय" अर्थात ध्वज का उल्लेख है तथा सिंहासन एवं नागविमान अतिरिक्त हैं।

छकखंडागमे-वेयणाखंड, पदमचरिय, आदि पुराण, पार्श्वपुराण, वर्धमान चरित्र, और निर्वाण भक्ति में सोलह स्वप्नों के फलो का उल्लेख प्राप्त होता है। सभी स्वप्न महावीर के तीर्थंकर होने का संकेत करते हैं। "श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार स्वर्ग से आने वाले तीर्थंकर की माता को देव विमान स्वप्न में दिखाता है, नाग भवन नहीं, इसी प्रकार नरक से आने वाले तीर्थंकर की माता को स्वप्न में नाग भवन दीखता है—विमान नहीं। दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि से देव-विमान ऊर्ध्वलोक के अधिपतित्व का सिंहासन मध्यलोक के स्वामित्व का और नाग विमान या भवन अधोलोक के आधिपत्य का सूचक है जिसका तात्पर्य है कि गर्भ में आने वाला जीव तीनों लोकों के अधिपतियों का पूज्य होगा।[4]

गर्भ—अच्युत स्वर्ग से च्युत हो तीर्थंकर महावीर का जीव 17 जून ई० पू० 599 शुक्रवार के दिन आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को त्रिशला के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। प्रियकारिणी त्रिशला अपने राजभवन में निद्रालीन थी। रात्रि के पिछले पहर में उनकी पलकों पर एक सुहावनी स्वप्न पंक्ति उतरती दिखलाई पड़ी[5] गर्भावतरण के छः मास

---

1. भारतीय दर्शन—डॉ० बलदेव उपाध्याय—पृ० 164
2. उत्तरपुराण—आ० गुणभद्र—1253-54
3. कल्पसूत्र—34 से 47 तक, त्रिषष्टि—10/2, 30-31
4. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 225
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 87

पूर्व ही राजभवन पर देव गण रत्न वर्षा करने लगे थे।[1]

तीर्थंकर महावीर के गर्भावतरण के उपरान्त प्राचीन साहित्य (आगम) में दो घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। पहली घटना है कि तीर्थंकर महावीर ने गर्भ में सोचा कि मेरे हिलने-डुलने के कारण माता को कष्ट होता होगा अतः वे निश्चल हो गये। गर्भ के स्थिर होने पर माता चिन्तित हो गई। महावीर ने चलायमान होकर माता की चिन्ता दूर की।[2]

दूसरी घटना का वर्णन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में मिलता है। इनकी मान्यता है कि तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिये बियासी रात्रि के उपरान्त शक्रेन्द्र की आज्ञा से हरिणेगमेषी देव ने महावीर के शिशु डिंम को देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से त्रिशला क्षत्राणी के गर्भ में परिवर्तित कर दिया।[3] आचार्य रजनीश ने इस गर्भ परिवर्तन को संसार का प्रथम ओपरेशन कहा है[4]

जन्म—नौ मास, सात दिन, बारह घण्टे व्यतीत होने पर चैत्र सुदी (शुक्ला) त्रियोदशी (30 मार्च सन् 599 ईस्वी पूर्व) ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास को अर्यमा योग में त्रिशलारानी ने अनुपम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने महावीर का जन्म 27 मार्च 598 ई० पू० माना है। तीर्थंकर के जन्म-काल में समस्त जगत् में शान्ति की लहर बिजली की भाँति फैल गई। अगणित यातनाओं में सतत दुःखी नारकी जीवों को भी उस क्षण चैन की सांस मिली। यह विचित्र संयोग है कि चैत्र सुदी त्रयोदशी को तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ और चैत्र सुदी पूर्णिमा को हनुमान का जन्म हुआ[5] विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है कि जन्म के उपरान्त महावीर को अभिषेक के लिए मेरू पर्वत पर ले जाया गया।

---

1. आदिपुराण—आचार्य जिनसेन
पउमचरिय—आचार्य विमलसूरि—3/67
2. कल्पसूत्र—87-88, आवश्यकचूर्णि—पृ० 242, चउप्पन्न महापुरिस चरिय-270-271, महावीर चरियं—पृ० 114, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र—10/2/2748
3. आचारांग—2/15/5, कल्पसूत्र-30, विशेषावश्यक भाष्य 1827 से 1832, आवश्यक चूर्णि पृ० 239
4. जिन सूत्र नं० 1—पर आचार्य रजनीश ने पूरा स्थित आश्रम की कैसिट (टेप) से।
5. लॉर्ड महावीर एण्ड हिज टाईम्स—कैलाशचन्द जैन—पृ० 32 आचारांग—2/15/8, कल्पसूत्र—93, विशेषावश्यक भाष्य—1840, महावीर चरियं, त्रिषष्टि—10, चौबीस तीर्थंकर—डा० गोकुल चन्द जैन—पृ० 99, तीर्थंकर वर्धमान महावीर पद्मचन्द्र शास्त्री पृ० 28

जन्म स्थान—भगवान महावीर की जन्मस्थली के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत हैं, कितने ही विद्वान आगम व आगमेतर साहित्य में आये हुए "वेसालिय" शब्द को देखकर भगवान् की जन्म स्थली वैशाली मानते हैं। पर भगवान् महावीर का जन्म स्थान वैशाली नहीं है। किन्तु वैशाली के सन्निकट कुण्डपुर है।[1] गुणभद्र कृत उत्तर पुराण में उल्लेख प्राप्त होता है कि महावीर के जन्म पर भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश में कुण्डपुर नरेश के प्रासाद के प्रांगण में विशाल धन धारा बरसी।[2]

जिनसेन कृत हरिवंशपुराण के अनुसार, जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विशाल विख्यात व समृद्धि में स्वर्ग के समान जो विदेह देश है उसमें कुण्डपुर नाम का नगर ऐसा शोभायमान दिखाई देता है मानो वह सुख रूपी जल का कुण्ड ही हो तथा जो इन्द्र के सहस्र नेत्रों की पंक्ति रूपी कमलनी खण्ड से मण्डित हो।[3]

डॉ० हारनेनले ने महावीर का जन्म स्थान कोल्लागसन्निवेश होना स्वीकार किया है।[4] देवेन्द्र मुनि ने इस मत का खंडन करते हुए लिखा है कि यह कल्पना निराधार है, क्योंकि आगम व आगमेतर साहित्य में स्पष्ट रूप से क्षत्रियकुंड का उल्लेख है तथापि कोल्लागसन्निवेश में ज्ञातृकुल की पौषधशाला थी। उसके आधार पर भगवान महावीर की जन्म भूमि मानना युक्ति-युक्त नहीं है।[5]

वैशाली की खुदाई से प्राप्त प्राचीन मुद्रा का प्राप्त होना भी सिद्ध करता है कि वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ गाँव, जो पटना से सताईस मील और हाजीपुर से बीस मील उत्तर में है, वहीं प्राचीन वैशाली थी और बसाढ के निकट वासुकुण्ड स्थान है। उसी का प्राचीन नाम कुण्डपुर है। वही भगवान महावीर की जन्म स्थली है।

---

1. कल्पसूत्र-30, आवश्यक निर्युक्ति-340, विशेषा भाष्य-1821, आव० हरिभद्रीया-77, त्रिषष्टि-10/2/1
2. "भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये विषये भवनागणे।
   राज: कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथु: ॥
   पूर्व 74 श्लोक 251-52
3. जिनसेन कृत हरिवंशपुराण में उल्लेख इस रूप में है—
   "अथ देशो स्ति विस्तारी जम्बू द्वीपस्य भारते।
   विदेह इति विख्यात स्वर्गखण्डसम: श्रिया ॥
   तत्राखण्ड लनेत्रा लीपदिम नीलखण्ड मण्डरम्।
   सुखाम्भ: कुण्ड माभति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥—सर्ग 2 श्लोक 1 से 5
4. जैन साहित्य संशोधन, खंड-1, अंक 4 में महावीर तीर्थंकर की जन्म भूमि नाम लेख पृ० 218
5. भगवान महावीर: एक अनुशीलन—पृ० 118-119

प्राप्त मुद्रा पर वैशाली नामकुण्डे अंकित है ।[1]

अतः श्री कैलाशचन्द जैन के अनुसार प्रारम्भिक प्राप्त सामग्री से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही इस तथ्य से सहमत हैं कि महावीर का जन्म स्थान कुन्दपुर या कुन्द ग्राम था। आचरांग सूत्र भी उक्त तथ्य का साक्षी है तथा सूत्रकृत्यांग, कल्प सूत्र, उत्तराध्यायन सूत्र तथा भगवती सूत्र टीका के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैशाली के क्षेत्र में जैन धर्म का बड़ा गहरा प्रभाव रहा है तथा महावीर का विदेह देश के कुन्दपुर से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। सूत्र कृत्यांग में उल्लेख प्राप्त होता है कि महावीर वैशाली या वैशालिका के रहने वाले थे। अतः स्पष्ट है कि महावीर का जन्म विदेह देश में वैशाली के निकट ग्राम कुन्दपुरा में हुआ था।[2]

महावीर के अन्य नाम[3]—

---

1. वहीं पृ० 216
श्रमण भगवान महावीर और तीर्थंकर
चौबीस तीर्थंकर—डॉ० गोकुलचन्द – पृ० 99

2. Lord Mahavira and His Times—page—34
"Scriptures of both the Svetambaras and the Digambaras agree the Kundapura or Kundagrama was the birth place of Mahavira After examining the evidence contained in the Acharanga Sutra, the Sutrakritanga, the Kalpa Sutra, the Uttaradhyayana Sutra and the Bhagavati Sutra Tika, it becomes clear that Jainism had a great stronghold in the area of Vaisali-Kundapura of the Videha country during the period and the Mahavira was closely associated with this area. The name Visalie i. e. Vaisalika was given to Mahavira in the Sutra-kritanga. Vaisalika apparently means a native of Vaisali the capital of Videha country. Thus it is clear that Mahavira was born of Kundapura near Vaisali in the Videha Country. —Kailash Chand Jain.

2. (क) भगवान महावीर को प्राचीन साहित्य में मुख्यत. वर्धमान, महावीर, सन्मति, काश्यम, ज्ञातपुत्र, नातपुत्र, विदेह, वैशालिक कहा गया है। उनको गृहस्थावास में प्रायः वर्धमान नाम से पुकारा गया है—(भगवान महावीर: एक अनुशीलन—पृ० 258)

(ख) समणे भगवं महावीरे णाए णायपुत्ते णायकुल णिव्वते विदेह विदेहदित्ते विदेहजच्चे विदेह सूमाले तीसं वासाई विदेहंसि कट्टु अगार मज्झे वसित्ता —आचारांग सूत्र (2,15) तथा कल्पसूत्र (110).

(ग) उत्तरभारत की संत परम्परा—पृ० 46 पर भी वर्द्धमान नाम दिया गया है

प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य में महावीर के लगभग 22 नाम और लगभग बाईस उपमान प्राप्त होते हैं। जो निम्नलिखित हैं—

1. वर्द्धमान—कल्पसूत्र, आचारांग, महावीर चरिय, चउप्पन्न महापुरिस चरियं, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिउ, पउमचरिय, हरिवंशपुराण, उत्तर पुराण, पद्मचरित।

2. महावीर—आचारांग, कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, महावीर चरियं, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, तत्वार्थ सूत्र, दशवेकालिक वृत्ति, जिनदास चूर्णि।

3. सन्मति—उत्तरपुराण।

4. काश्यप—दशवेकालिक, आचारांग, सूत्र कृतांग, भगवती, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, धनञ्जय नाम माला।

5. ज्ञातपुत्र 6. ज्ञातसुत 7. नाथ 8. नायपुत्त 9. नायकुल चन्द[1] 10. विदेह 11. विदेह दिन्न[2] 12. वसित्ता 13. विदेहजच्च 14. विदेहसुकम ल 15. विदेहदत्त 16. विदेह जास 17. वैशालिक 18 ज्ञातृ 19. ज्ञातृकुलोत्पन्न 20. अतिवीर 21. लोगनाहेण[3] निग्गंथनाथपुत्त[4] आदि।

---

1. एक जैन मुनि ने "नायपुत्त" का संस्कृत रूपान्तर "नागपुत्र" करके श्रमण महावीर को नागवंशी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न जैन और बौद्ध साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से सर्वथा असंगत है। जबकि बौद्ध प्रियितक ग्रन्थों के मूल में 'दीर्घ तपासी निग्गठो नातपुत्तो" के रूप में अनेकशः भगवान महावीर के लिये "नातपुत्र" शब्द का प्रयोग हुआ है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भगवान महावीर ज्ञातपुत्र नहीं किन्तु नागपुत्र थे।— (भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 254-255, अतीत का अनावरण—पृ० 131-143)
2. तीर्थंकर महावीर की माता ने इन्हें विदेह-दिन्न और वैशालिक नाम दिये। (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 109)
3. भगवती सूत्र में भगवान महावीर के लिये "लोगनाहेण" शब्द प्रयुक्त हुआ है और आवश्यक सूत्र में "अरिहंतों" के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए 'लोग-नाहाण" विशेषण आया है। (भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ०44)
4. भगवान महावीर युगीन साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि उस समय "निर्ग्रन्थ शब्द मुख्य रूप से व्यवहृत हुआ है (आचारांग-1-3-1-108, निग्गंथपावयण-भगवती-9-6-86) बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान महावीर को निग्गंथनाथ पुत्र कहा है (दीघनिकाय, सामञ्ज-फलसुत्त—18-21) —भगवान महावीर : एक अनुशीलन पृ०11

कल्पसूत्र में भगवान महावीर की विशिष्टतायें निम्न उपमानों से चित्रित की गई हैं— 1. कांस्यपात्र 2. शंख 3. जीव 4. आकाश 5. पवन 6. शरदऋतु 7. कमलपत्र 8. कच्छप 9. गेंडा 10. पक्षी 11. भारण्डपक्षी 12. श्रेष्ठ हाथी 13. वृषभ 14. सिंह 15. सुमेरु 16 सागर 17. चन्द्र, 18. सूर्य 19. स्वर्ण 20. पृथ्वी 21 अग्नि आदि ।[1]

तीर्थंकर महावीर के विभिन्न नामों एवं उपमानों का पर्यवेक्षण करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

1. तीर्थंकर महावीर के उपलब्ध 22 नामों में से वे नाम सर्वाधिक लोकप्रिय रहे जिनका प्रारम्भ वर्णमाला के "व" वर्ण से होता है, जैसे वैशालिक आदि इनकी संख्या आठ है । इस तथ्य से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर का जन्म वैशाली में हुआ था । दोनों में "व" वर्ण की समानता है ।
2. बाल्यकाल की एक घटना के आधार पर उनका नाम महावीर लोकप्रिय हुआ ।[2]
3. यह विचित्र संयोग है कि तीर्थंकर महावीर के नामों की संख्या 22 है और उपमानों की संख्या भी 22 है ।
4. सिंह उपमान तीर्थंकर महावीर की मूर्तियों पर भी अंकित है । यह उनका चिन्ह है ।

महावीर के समान उनके पिता के भी विभिन्न नाम मिलते हैं । पिता का मुख्य नाम सिद्धार्थ था । किन्तु उन्हें श्रेयांस, यशस्वी, राजा नरेन्द्र[3] आदि नाम से भी सम्बोधित किया जाता था । इसी प्रकार माता का नाम त्रिशला था किन्तु विदेहदिन्ना और प्रियकरिणी[4] नाम भी प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं । माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे ।[5]

शिक्षा—महावीर चरियं एवं त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है कि जब तीर्थंकर महावीर आठ वर्ष के हुए तो उनके पिता सिद्धार्थ ने नैमित्तिकों को आमन्त्रित किया और शुभ मुहूर्त में परम्परानुसार कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा । इस अवसर पर अध्यापक को वस्त्र आभूषण तथा

---

1. भगवान महावीर: एक अनुशीलन पृ० 372-73
2. वही
3. सिद्धत्थे कल्पसूत्र. 52 नरिंदे—कल्पसूत्र—62
4. (क) आयारो. आयर. चूला—2/15/17-18
   (ख) कल्पसूत्र—105—106
   (ग) आचारांग—2/179
5. आचारांग 2, चूलिका सूत्र. 4—1

विद्यार्थियों को मसिपात्र, लेखनी एवं पट्टी आदि उपयोगी वस्तुएं दी गई। इस अवसर पर उत्सव हुए और द्राक्षा, खण्डशर्करा, चिरोंजी, तथा खजूर आदि वितरित की गई। महावीर को पाठशाला में विशेष आसन दिया गया।[1]

यह सूचना जैसे ही इन्द्र के पास पहुंची कि महावीर ने पाठशाला में प्रवेश कर लिया है, वह वृद्ध व्यक्ति का वेश बनाकर महावीर के समक्ष उपस्थित हुआ और कलाचार्य के सामने ही महावीर से अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगा। महावीर ने उनके प्रश्नों के जो उत्तर दिये उससे स्वयं कलाचार्य भी आश्चर्यचकित होकर रह गये।[2] देवेन्द्र मुनि के मतानुसार आचारांग और कल्पसूत्र में भगवान महावीर का कलाचार्य के पास जाकर अध्ययन करने की किंचित मात्र भी सूचना नहीं है। चउप्पन्न महापुरिस चरियं और उत्तरपुराण में भी इस घटना का उल्लेख नहीं हुआ है। यह घटना सर्वप्रथम जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण. के विशेषावश्यक भाष्य में आई है।[3]

बाल क्रीडायें—तीर्थंकर महावीर के बचपन की घटनाओं का उल्लेख निर्युक्ति के भीषण पद की व्याख्या करते हुए विशेषावश्यक भाष्य[4] मे हुआ है। बाद में आचार्यों ने उन्हें विकसित किया है। किन्तु आचारांग एवं कल्पसूत्र इस सम्बन्ध में मौन हैं। तीर्थंकर महावीर के बाल्यकाल की तीन घटनायें लोकप्रिय हैं— 1. अभिमानी देवशक्र द्वारा भयंकर सर्प बनकर महावीर के साहस की परीक्षा करने की घटना।[5] 2. तिन्दुषक क्रीडा 3 और अतुल बल प्रदर्शन की घटना।

प्रथम घटना के आधार पर महावीर को वीरनाथ और महावीर नाम प्राप्त हुए। इस घटना में उन्होंने एक भीषण सर्प का दमन किया था। यह आख्यान कृष्ण द्वारा कालिया नाग के दमन का भी स्मरण कराता है।[6] तृतीय घटना का सम्बन्ध संगमदेव द्वारा महावीर के बल परीक्षण से है। इन्द्र ने आठ वर्षीय बाल महावीर के साहस की प्रशंसा संगम देव से की तो संगम देव ने महावीर की परीक्षा करने के उद्देश्य से एक भयंकर विषधर का रूप धारण कर लिया और महावीर के संग खेलते हुए बालकों के सामने एक वृक्ष से लिपट कर उन्हें डराने लगा किन्तु महावीर ने उसे

1. कल्पसूत्र टीका 5—पृ० 120
2. चौबीस तीर्थंकर—डॉ० गोकुलचन्द जैन—पृ० 102
3. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 269
   विशेषावश्यक — 1855-1858
4. वही—1852-1854
5. चउप्पन्न.—271, त्रिषष्टि—10/2/106
6. महापुराण (संस्कृत)—74, 288, 95 महापुराण (अपभ्रंश—96,10,15
   भागवत पुराण-दशम स्कन्ध
   महावीर युग और जीवन दर्शन—डॉ० हीरालाल जैन—पृ० 10-11

हाथ से खींच कर दूर फेंक दिया। संगमदेव ने बालक का रूप धारण किया और महावीर के साथ वृक्ष छूने के लिये दौड़ा, किन्तु इसमें भी हार गया। शर्त के अनुसार जब महावीर ने उसकी पीठ पर चड्ढी चढ़ना चाहा तो उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। किन्तु महावीर ने उसकी पीठ पर मुष्टि प्रहार कर उसे बोना बना दिया। संतुष्ट होकर संगम देव चला गया।[1]

व्यक्तित्व—युवावस्था में महावीर का व्यक्तित्व एक ओर जहाँ पुष्प की तरह कोमल और सुरभित था वहीं दूसरी ओर अग्नि की तरह जाज्वल्यमान भी था। उनके व्यक्तित्व में चन्द्रमा के समान शीतलता और सूर्य के समान प्रखरता का समावेश था। वे गज की तरह बलिष्ठ थे तो वृषभ की तरह कर्मठ भी। उनका पराक्रम सिंह के समान निःशंक था। उनके व्यक्तित्व में सागर के समान गम्भीरता और हिमालय के समान उत्तुंगता विद्यमान थी। ज्ञान मे प्रखरता और करुणा में कोमलता प्रादुर्भूत हो रही थी। युवावस्था रहते पर भी उनका जीवन खुली पुस्तक था और आकाश के समान स्वच्छ और निर्मल था।[2]

आगम साहित्य के अनुसार महावीर की आँखें पद्मकमल के समान विकसित थी, ललाट अर्धचन्द्र के समान दीप्तियुक्त था। वृषभ के समान मांसल स्कन्ध थे। भुजाएँ लम्बी थी। पूरा शरीर सुगठित व सुन्दर था प्रज्वलित निर्धूम अग्नि की शिखा के समान तेजस्वी था, जिसे देखते ही मन मुग्ध हो जाता था[3] उनका शारीरिक संगठन संस्थान आकार अत्युत्तम था। उनके शरीर की प्रभा निर्मल स्वर्ण रेखा के समान थी[4] वे एक हजार आठ लक्षणों से युक्त थे।[5] उनका शरीर उदार, श्रंगरित, अलंकार रहित होते हुए भी विभूषित, लक्षण-व्यंजन और गुण से युक्त तथा श्री से युक्त था।[6]

बौद्ध साहित्य के मज्झिमनिकाय, दीघ-निकाय अंगुत्तर निकाय, सुत्तनिपात, तथा विनयपिटक आदि में तीर्थंकर महावीर के व्यक्तित्व आदि के सम्बन्ध में इक्यावन समुल्लेख प्राप्त होते हैं किन्तु उनमें क्रमबद्धता का दोष है।[7] किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से

---

1. उत्तरपुराण —74/289/295
   तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 109-111
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—(प्रथम खंड) पृ० 118-119
3. औपपातिक—1
4. प्रज्ञापनासूत्र—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, आक, मलय, वृत्ति या० 377
5. त्रिषष्टि—10/:/102
   भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 264
6. भगवती—शं० 2 उ० 114
7. आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन—मुनि नगराज

इनका अत्यधिक महत्व है।[1] भगवान महावीर का व्यक्तित्व निर्विवाद एवं अत्यन्त निर्मल था। अतः उनकी चर्चा और निन्दा करने के सूत्र वैदिकों को मिले ही नहीं होंगे। जहाँ तहाँ श्रमणों पर आक्षेप जरूर किये गये पर महावीर भगवान के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य प्रायः मौन ही रहा।[2]

विवाह—महावीर के विवाह के प्रश्न के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मौलिक मतभेद विवाह के विस्तृत वर्णन को लेकर है दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ पद्मपुराण, हरिवंश पुराण आदि महावीर के विवाह को नकारते हैं। दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचारांग सूत्र तथा कल्प सूत्र आदि के अनुसार महावीर के विवाह के पक्ष में सन्दर्भ प्राप्त होता है।[3]

दिगम्बर मान्यतानुसार हरिवंश पुराण में तीर्थंकर महावीर के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता है कि कलिंग राजा जितशत्रु की सुपुत्री यशोदा सब राजकुमारियों में सुन्दर त्रिलोक सुन्दरी एवं सर्वगुणसम्पन्न कुमारी थी।

अतः राजा सिद्धार्थ और त्रिशला ने वर्धमान का पाणिग्रहण उसके साथ करना चाहा।[4] डॉ० नेमिचन्द शास्त्री और[5] डॉ० गोकुल चन्द जैन[6] के मतानुसार विवाह के इसप्रस्ताव पर महावीर की स्वीकृति नहीं मिली और अभिभावकों का निश्चय कार्य रूप में परिवर्तित नहीं हो सका। दिगम्बर परम्परा के पक्ष में निम्न तर्क भी विचारणीय हैं—

1. महावीर से पूर्व भी चार तीर्थंकर ब्रह्मचारी रहे थे। महिलाओं ने भी

---

1. भगवान महावीर एक अनुशीलन— पृ० 152
2. वही—पृ० 149
3. On the question of Mahavir's marriage, there is a fundamental differerce of detail between the Digamber and the Svetambara account. The Digambara works (Padmapurana 20,67. Harivan sapurana 60, 214, Tilooapannati, 4, 670 etc) deny the fact of Mahavira's marriage. On the other hand, in the Svetambara accounts (Acha, 11,15, 15, Kalpa 109) there is an allusion to the marriage.

   —Lord Mahavira and His Times—p. 39
4. यशोदमार्यां सुतया यशोदया पवित्रयावीर-विवाह मंगलम्। अनेक कन्या परिवारया सहत्समीक्षितुं तुंग मनोरथ तथा 11—हरिवंशपुराण, 6618
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ०120-132
3. चौबीस तीर्थंकर—पृ० 104

प्रजापति आदिनाथ (ऋषभदेव) की पुत्रियों ने भी विवाह नहीं किया था।[1]

2. तीर्थंकर महावीर की वीतराग वृत्ति विवाह के प्रतिकूल थी।
3. महावीर का कथन है कि मुझे दुख है माँ, तुम्हारी यह इच्छा (विवाह) पूर्ण न हो सकेगी। मैं विवाह बन्धन में फंसकर परिवार की परिधि में आबद्ध नहीं होना चाहता।[2]

श्वेताम्बर परम्परा के विशेषावश्यक आदि आगम साहित्य[3] के अनुसार माता के सन्तोष के लिए उन्होंने (महावीर) यशोदा नामक एक राजकुमारी के साथ विवाह किया। यशोदा के प्रियदर्शना नामक एक पुत्री पैदा हुई। आगे चलकर उसका विवाह जमालि नामक एक राजकुमार से हुआ।[4] प्रायः सभी ग्रंथों में महावीर की एक पत्नी यशोदा का ही उल्लेख हुआ है, पर आचार्य शीलांक ने लिखा है कि जब महावीर युवा हुए तब उनके गुणों से आकर्षित होकर अनेक राजा अपनी रूपवती कन्याओं को लेकर आये, महावीर विषय भावना से विरक्त थे तथापि माता पिता के आग्रहवश उन्होंने अनेक कन्याओं से विवाह किया।[5]

आचारांग और कल्पसूत्र में महावीर के विवाह करने का वर्णन नहीं आया है, पर जहां भगवान के सम्बन्धों का परिचय दिया गया है, वहाँ बताया गया है कि उनकी पत्नी का नाम यशोदा, पुत्री का नाम प्रियदर्शना तथा दौहित्रि का नाम शेशवती[6] था इस आधार पर तीर्थंकर महावीर का विवाह होना सिद्ध होता है।

तीर्थकर महावीर के विवाह के सम्बन्ध मे एक अन्य मत भी उल्लेखनीय है। आचार्य रजनीश के इस मत को समन्वयात्मक मत कहा जा सकता है। उनका मत है कि महावीर का विवाह जरूर हुआ होगा लेकिन वे बिल्कुल अविवाहित की तरह रहे होंगे। जिन्होंने यह तथ्य देखा उन्होंने कहा कि विवाह जरूर हुआ और जिन्होंने सत्य देखा उन्होंने कहा कि वह आदमी अविवाहित था।······कोई व्यक्ति बिना अविवाहित हुए अविवाहित हो सकता है, मन से, चित्त से, वासना से।···दिगम्बरों को मैं कहता हूं उन्होंने ठीक कहा कि महावीर अविवाहित थे। क्योंकि उस व्यक्ति

---

1. तीर्थंकर वर्धमान महावीर—पृ० 37
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 120
3. विशेषावश्यक भाष्य—1857-1858। आवश्यक हरिभद्रीया—पृ० 2821 आवश्यकमलयगिरिवृत्ति—पृ० 158 महावीर चरिय—1—3 तृ० 24/1, कल्पसूत्र। त्रिषष्टि शलाक पुरुष चरित्र—10/2/125-137
4. बुद्ध और महावीर—मशरूवाला—पृ० 75
5. चउपन्न—पृ० 272
   भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 273
6. वही—पृ० 271

में किसी से पूरे होने की कोई कामना न बची थी।...इस साधारण तथ्य के लिए कि स्त्री से उसका विवाह हुआ है, उसको विवाहित कहना एकदम अन्याय हो जायेगा... यह भी हो सकता है कि पत्नी ने इससे सन्तान पाई हो। लेकिन महावीर पिता नहीं थे और न पति थे।[1]

आचार्य रजनीश यह भी मानते हैं कि यह भी अर्थपूर्ण है कि महावीर ने इन्कार नहीं किया शादी के लिए। असल मे जो शादी के लिए आतुर हो वह, और जो शादी के लिए इन्कार करता है वह, दोनों स्त्रियों को अर्थ देता है। ...महावीर ने ना भी न की होगी इसलिए शादी हो गई होगी। ना कर देते तो शादी रुक सकती थी। लेकिन ना तक भी न की होगी। आदमी इतना पूरा था कि ना तक का उपाय न था। ठीक है, स्त्री आती है तो आए, न आती है तो न आए। ये दोनों बातें अर्थहीन हैं।[2]

वस्तुतः उपर्युक्त मतों का अनुशीलन करने पर लगता है कि महावीर के विवाह के सम्बन्ध मे डॉ० नेमिचन्द शास्त्री, डॉ० गं.कुलचन्द आदि का मत ही ठीक प्रतीत होता है कि महावीर का विवाह नही हुआ था। विवाह नाम पर यदि कुछ हुआ भी होगा तो प्रस्ताव ही हुआ होगा। महावीर की स्वीकृति प्राप्त नही हुई होगी। आचारांग और कल्पसूत्र आदि में प्राप्त विवाह सम्बन्धी जो सूचनायें प्राप्त होती भी हैं, वे अपूर्ण हैं। यदि महावीर का विवाह हुआ होता तो उसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगम साहित्य में अवश्य प्राप्त हुआ होता। महावीर, राजकुमार थे और लोकप्रिय राजकुमार। उनका विवाह हुआ हो उसका सविस्तार उल्लेख प्राप्त न हो इसकी सम्भावना कम है। महावीर के पूर्व तीर्थंकर नेमिनाथ[3] का विवाह प्रसंग उभरा, उसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है कि बारात कैसी थी, बारात में कौन-कौन थे? भोजन आदि की क्या व्यवस्था थी? आदि। किन्तु महावीर के विवाह के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अतः इसकी सम्भावनायें ही अधिक हैं कि उनका विवाह नहीं हुआ होगा।

वैराग्य, त्याग एवं दीक्षा —शास्त्रों में वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने जाते हैं— (1) अनिमित्तक (2) निमित्तजन्य। तीर्थंकरों के वैराग्य में पर-सम्बोधन विधि न होने के कारण सभी तीर्थंकरों के वैराग्य अनियमित्तक ही हैं। तीर्थंकर महावीर का वैराग्य भी अनिमित्तक था। दूसरे वैराग्य में बाह्य पदार्थादि का चिन्तन होता है।[4]

---

1. महावीर 'मेरी दृष्टि में—आचार्य रजनीश—पृ० 79
2. वही—पृ० 80
3. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-1 - बलभद्र जैन पृ० 281-282, 315-316
4. तीर्थंकर वर्धमान महावीर-पद्मचन्द शास्त्री—पृ० 38

आचार्य रजनीश[1] के अनुसार महावीर ने पिता से वैराग्य की आज्ञा चाही, किन्तु मिली नहीं। पिता मर गए तो मरघट से लौटते वक्त बड़े भाई से आज्ञा मांगी किन्तु नहीं मिली। महावीर ने फिर यह बात नहीं की। लेकिन थोड़े ही दिनों में घर के लोगों को पता चला कि महावीर जैसे नहीं हैं। हैं घर में, और नहीं हैं। अतिथि हो गये हैं। तो घर के लोगों को लगने लगा कि वह तो गए ही। सिर्फ शरीर रह गया है। तब घर के लोगों ने कहा कि शरीर को रोकना उचित नहीं।

दो वर्ष से भी कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्त भाव से घर में रहे। वे सचित्त जल से स्नान नहीं करते थे। हाथ-पैरों का प्रक्षालन भी अचित्त जल से करते थे और आचमन भी उसी का लेते थे, इसी अवधि में अप्रासुक आहार, रात्रि भोजन का उपयोग भी नहीं किया। ब्रह्मचर्य का भी पूर्ण पालन किया। महावीर ने इस काल में प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था। भूमि-शयन करते एवं क्रोधादि से रहित हो एकत्वभाव में लीन रहते थे।[2] महावीर के मन में जन्मा विराग, समुन्नति से जन्मा त्याग था।[3]

समस्त बाह्याभ्यान्तर परिग्रह का त्याग कर महावीर ने अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करने की महाप्रतिज्ञा की। वे ज्ञान ध्यान में लीन हो संयम आराधना में लीन हो गये। महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा की।[4]

आचारांग[5] एवं कल्पसूत्र में तीर्थंकर महावीर के सर्वस्व त्याग का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं कि वह सम्पत्ति किसे दी गई। यह सम्पत्ति पैतृक न होकर देवताओं द्वारा दी गई सम्पत्ति थी।[6]

तीस वर्ष की आयु में महावीर ने राज्य-भवन, सुख-सम्पदा और कुटुम्ब वर्ग त्यागकर दृढ़ संकल्प धारण कर दिगम्बर[7] दीक्षा ग्रहण की और साधना पथ पर अग्रसर हो गये।

तप—अहिंसा, सत्यवचन, कोमलता, इंद्रिय दमन और जीव दया, इसे ही

---

1. महावीर मेरी दृष्टि में—पृ० 81
2. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 279
3. चौबीस तीर्थंकर—पृ० 105।
4. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा— पृ० 134
5. आचारांग—2/15/26, कल्पसूत्र—111
6. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—283
7. दिगम्बर मान्यतानुसार महावीर दिगम्बर वेश में दीक्षित हुए किन्तु श्वेताम्बर मान्यता है कि उनके कंधे पर एक श्वेत वस्त्र था जो बाद में झाड़ियों आदि से उलझकर फट गया था। इस वस्त्र को देव दुष्य कहा गया है

विद्वानों ने तप कहा है । शरीर का सुखाना तप नहीं है ।[1]

महावीर अपनी तप साधना में अडिग थे । उन्होंने आत्म-निष्ठा और ध्यान के अभ्यास द्वारा समता भाव की जागृति कर ली थी । ऐहिक सुख-दुख, आकुलता एवं मोह-ममता सभी उनसे दूर थे । महावीर ने आस्रवका निरोध कर संवर और निर्जरा को सक्रिय बनाया था । उनकी आत्मा की अनंत तेजस्विता ज्ञान के उदयाचल की ओर झांक रही थी ।[2] देवेन्द्र मुनि और डा० नेमिचन्द शास्त्री के मतानुसार कुल मिलाकर भगवान महावीर ने अपने साधना जीवन के 4515 दिनों में केवल 349 दिन आहार ग्रहण किया तथा 4166 दिन निर्जल तप किया ।[3]

डॉ० गोकुलचन्द जैन ने भगवान महावीर के तप के सम्बन्ध में लिखा है कि जैसे कोई शिल्पी छेनी की एक-एक चोट से उस दिव्य पुरुष की मूर्ति गढ़ रहा हो, वैसे ही महावीर क्षण-क्षण की साधना द्वारा उस ओर अग्रसर हो रहे थे, जहाँ आत्मा परमात्मा बन जाती है ।[4]

उपसर्ग+—देवेन्द्र मुनि[5] ने तीर्थंकर महावीर के साधना काल में आये उपसर्गों को तीन भागों में विभाजित किया गया है—

तीर्थंकर महावीर के साधना काल में आये उपसर्ग

जघन्य उपसर्ग	मध्यम उपसर्ग	उत्कृत उपसर्ग
(कटपूतना का उपसर्ग)	(संगम का कालचक्र उपसर्ग)	(कानों में गडी शलाकाएं निकालना)

महावीर जानते थे कि उपसर्गों और परिषहों++ को सहन करने से ही पाप कर्मों का क्षय होता है और चित्त शुद्ध बनता है ।[6] अतः उन्होंने उनसे बचने का प्रयत्न ही नहीं किया । महावीर उपसर्ग और परिषह की घड़ियों में भी अनकुल रहते, विचलित नहीं होते थे । वे उग्रतपस्वी, घोरतपस्वी या दीर्घतपस्वी थे । अवज्ञा और अवमानता सहने का उन्हें अभ्यास था । लोग उन पर धूल फेंकते, पत्थर मारते, उन्हें

1. अहिंसा सत्य वचन मानृशस्यं दयो घृणा
एहत् तयों विदुर्धीरा न शीरस्य शोषणम् ॥ —शान्तिपर्व 79/16
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 176
3. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 372 ।
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 175
4 चौबीस तीर्थंकर—पृ० 114
5. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 369
6. बुद्ध और महावीर-मश्रुवाला—पृ० 78

नोच डालने के लिए शिकारी कुत्ते भी छोड़ते, पर महावीर शान्त रहते। उद्दण्ड विरोधियों के प्रति भी सौहार्द एव सौजन्यपूर्ण मधुर भाव विद्यमान था। जिस प्रकार बिजलियाँ या उल्काएं सागर में गिरकर स्वयं शान्त हो जाती, सागर का कुछ नहीं बिगाड़ पातीं, उसी प्रकार महावीर के ऊपर किये गये उपसर्ग स्वय शान्त हो जाते।[1] वर्षा में, सर्दी में, धूप में, छाया मे, आंधी और तूफानों मे भी उनका साधना-दीप जगमगाता रहा। देव, दानव, मानव और पशुओं के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी अदीन भाव से, अव्यथित मन से, अम्लान से, मन, वचन और काया को वश में रखते हुए सब कुछ सहन किया। वे वीर सेनानी की भाँति निरन्तर आगे बढ़ते रहे, कभी पीछे कदम नहीं रखा।[2]

देवेन्द्र मुनि ने महावीर की निम्न घटनाओं का उल्लेख अपने ग्रन्थ भगवान महावीर: एक "अनुशीलन" मे किया है —

(1) महावीर तापस आश्रम में, (2) शूलपाणी यक्ष का उपद्रव, (3) दस स्वप्न, (4) मोराकसन्निवेश, में प्रवेश (5) चण्डकौशिक के प्रति बोध, (6) श्वेताम्बरी प्रवेश, (7) नाव दुर्घटना, (8) गोशालक से भेंट, (9) संगम के उपसर्ग, (10) चमरेन्द्र द्वारा शरण ग्रहण, (11) विदेह साधना, (12) लाढ प्रदेश मे, (13) गोशालक का पृथक विचरण, (14) महावीर लुहार की यंत्रालय मे, (15) गोशालक का पुन: महावीर के पास आना, (16) लोहार्गल में, (17) बालकों द्वारा त्रास, (18) घोर अभिग्रह (चन्दना का आहार दान), (19) ग्वाले द्वारा कानो में कीलें घुसेड़ देना।

उक्त घटनाओं का उल्लेख महावीर चरियं, त्रिषष्टि, आवश्यकचूर्णि, भगवती सूत्र, चउप्पन्न महापुरुष चरियं, विशेषावश्यक भाव, निशीथ भाष्य और आचार्य कलयवत्ति आदि आगम साहित्य में आधार पर किया गया है।

वस्तुत: तप का मार्ग पुष्प से सुवासित नहीं, कंटक डगर है। इस मार्ग पर वही चल सकता है जिसने समयत्त्व प्राप्त कर लिया हो। ध्यान के उस चरमोत्कर्ष का स्पर्श कर लिया हो जहाँ उपसर्ग और परिषह आये और पूरा बल लगाकर भी डिगा न सके और थक कर लौट जाये। तपरत साधक को अनुभूति भी न हो पाये कि वे कब आये और कब चले गये। आने का भय, न जाने पर संतोष। जब भी कोई तप रत हुआ, महावीर जैसे उपसर्गों की कहानी की पुनरावृत्ति हुई। तपस्वी के मार्ग मे उपसर्ग उसी प्रकार आते हैं, जिस प्रकार पथिक के मार्ग मे बिजलियाँ चमकती और कड़कती हैं, किन्तु पथिक रुकता नहीं, उसका तप झुकता नहीं। वह निरन्तर

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 176
2. आचारांग—2/15/37, भगवान महावीर: एक अनुशीलन—पृ० 37

\+ किसी प्रकार का उत्पात, उपद्रव या विघ्न

++ जैन शास्त्रों के अनुसार त्याग या सहन ये 22 प्रकार के कहे गये हैं

अपने लक्ष्य की ओर उत्साहित होकर बढ़ता ही चला जाता है बिजलियाँ चमक-चमक कर, कड़क-कड़क कर, उसके अंधेरे मार्ग को प्रकाशित ही करती हैं। अतः उपसर्ग बाधक नहीं, सहायक हैं।

कैवल्य प्राप्ति+—देवेन्द्र मुनि ने तीर्थंकर के कैवल्य प्राप्ति की घटना का वर्णन आचारांग आदि आगम साहित्य के आधार पर इस प्रकार किया है—"भगवान मध्य पावा से प्रस्थान कर जमिय ग्राम के निकट, ऋजुवालका नदी के किनारे, जीर्ण उद्यान के पास श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में साधन शाल के वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे। वैशाख मास था, शुक्ला दशमी के दिन का अन्तिम प्रहर था। उस समय छट्ठभक्त की निर्जल तपस्या चल रही थी। आत्म मंथन चरम सीमा पर पहुँच रहा था, क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के योग में केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्रकट हुआ।[1] भगवान महावीर अब जिन और अरिहन्त हो गये। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। भगवान महावीर को कैवल्य प्राप्त होते ही एक बार अपूर्व प्रकाश से सारा संसार जगमगा उठा, दिशायें शान्त एवं विशुद्ध हो गई थी। मन्द-मन्द सुखद पवन चलने लगी, देवताओं के आसन चलित हुए और दिव्य-दुंदुभि का गम्भीर घोष करते हुए भगवान का कैवल्य महोत्सव मनाने पृथ्वी पर आये।[2]

तीर्थंकर महावीर का केवल ज्ञान प्राप्ति स्थल जमुई से राजगिरी लगभग 30 मील की दूरी पर है। झरिया से चम्पा और राजगृह की दूरी सौ-सवा-सौ मील से भी अधिक है। जमुई चम्पा के भी निकट है। अतः यह निश्चित है कि भगवान महावीर का बोधि स्थान ऐसी जगह था, जो राजगृह और चम्पा दोनों से 30-35 मील की दूरी से अधिक न था। जमुई भी व्रज भूमि है। यहाँ भी पृथ्वी के नीचे पत्थर निकलते हैं। पहाडी स्थान भी है। "क्यूल" नदी का तटवर्ती प्रदेश है। जमीन पथरीली और उबड़ खाबड़ है। अतः महावीर का केवल ज्ञान 'जमुई" ग्राम का निकटवर्ती वह प्रदेश, जहाँ आजकल "केवली" ग्राम बसा है, होना चाहिए।[3]

समवशरण—कैवल्य प्राप्ति के उपरान्त महावीर के उपदेशों के लिये विराट्

\+ 1. अकेला एकमात्र 2. आत्मा की एकता के परम सिद्धान्त का पक्षपाती 3. मुक्ति का अधिकारी साधु। 4. वह साधु जिसने मुक्ति प्राप्त कर ली हो 5. तीर्थंकर (जैन)।

1. आचारांग –2/15/38, कल्पसूत्र –120, आव० निर्युक्ति—420-21 भगवान महावीर: एक अनुशीलन – पृ० 373
2. त्रिषष्टि – 10/5/5/72
3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—180

सभाओं का आयोजन किया जाने लगा। उनकी यह सभा समवशरण सभा कहलाती थी। प्रत्येक व्यक्ति इस सभा में बिना किसी भेद-भाव के बेरोक-टोक आ सकता है। इसी कारण इस सभा को समवशरण सभा कहा जाता था।[1] प्रथम समवशरण वर्षा-काल के तीन माह पूर्ण होने पर, कार्तिक मास कृष्ण पक्ष में मगध की राजधानी राजगृही+ में हुआ। समवशरण की शोभा का वर्णन करते हुए डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने लिखा है कि उसकी शोभा अप्रतिम और सजावट अद्वितीय थी। धरती के वक्षस्थल पर निर्मित यह समवशरण विश्व के गौरव का प्रतीक था। इसके चारों द्वारों के आगे धर्म ध्वजों से मण्डित मानस्तम्भ और धर्म-चक्र सुशोभित थे। समवशरण में प्राकार, चैत्य वृक्ष, ध्वज, वनवेदी, तोरण, स्तूप आदि रत्नमय एवं जिन प्रतिमाओं से युक्त थे। सिंहासन पर स्वर्ण कमल बना था, जिससे यह प्रतिभासित होता था कि भगवान महावीर कमल पर विराजमान है।[2]

इस समवशरण++ में इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकम्पिक, अचल, मेदार्य और प्रभास गणधर उपस्थित थे। 311 वेत्ता, 3900 शिक्षक, 1300 अवधिज्ञानी, 700 केवल ज्ञानी, 30000 श्रविकाएँ

---

1. चौबीस तीर्थंकर—पृ० 115-116
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 182

+पुरातत्व के अनुसार राजगृह नगर को कुशाग्रजवसु ने गंगा और सोन नदी के संगम पर बसाया था। महाराज श्रेणिक ने पंच पहाड़ी के मध्य नवीन राजगृह नगर को बसाया था। जो विभूति और रमणीयता में अद्वितीय था। जब श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने मगध की राजधानी चम्पा को बसाया। उस समय किसी कारणवश अग्निदाह से यह नष्ट हो गया। अतएव संक्षेप में राजगृह के निकट स्थित विपुलाचल पर्वत तीर्थंकर महावीर का प्रथम देशना स्थल है।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 202

++वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का धार्मिक उपदेश होता है। तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि समवशरण में ही उच्चरित होती है जिसकी रचना सौधर्म इंद्र के आदेश पर कुबेर द्वारा माया से की जाती है। तीर्थंकर का प्रस्थान होते ही वह समवशरण विघटित हो जाता है और अन्य स्थान पर उसकी रचना पुनः की जाती है। सूर्य-मण्डल की भांति वर्तुलाकार यह रचना एक ऐसी वास्तु-कृति के समान है जैसे विशाल सोद्यान-प्रेक्षागृह या पार्क-कम-ऑडिटोरियम कहा जा सकता है, किन्तु इस का विस्तार 12 योजन होता है।

तथा देव-देवियाँ, पशु, पक्षी, आदि ने जन भाषा अर्धमागधी में तीर्थंकर महावीर की देशना का श्रवण किया। भगवान का प्रथम उपदेश केवल ज्ञान प्राप्ति के 66 दिन पश्चात् हुआ –[1]

"षट्षष्टि दिवसान् भयो मौनेन विहरन् विभु।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृह पुरम्।।
आरूरोह गिरि तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा।।
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रे इभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्निपूर्वाह्ने शासनार्थमुदाहरत।।[2]

तीर्थंकर महावीर के विहार क्षेत्र[3]—राजगृह के समवशरण के उपरान्त महावीर ने देश के विभिन्न क्षेत्रों मे विहार किया, जिन में वैशाली, पोलासपुर, चम्पा (तीन बार) श्रावस्ती कौशाम्बी, हस्तिशीर्ष, सौगन्धिका नगरी. हेमागंन्द देश, कलिंग, वंगदेश, सुश्मकदेश (दक्षिण भारत) मत्स्यदेश, अवन्ती, पांचाल, दशार्ण, सुह्म, अस्मक पोतनपुर, केकया र्द्धजनपद, कुरुदेश, पुरिमताल वर्द्धमानपुर, वाराणसी, काकन्दी, सिन्धु सौवीर, कुसन्ध्य, अश्वष्ट, शाल्व, त्रिगर्त, पातच्चर, मोक, कम्बोज, वाल्हीक, यवनश्रुति, गांधार, सुरभीरू, क्वाथतोय, तार्ण, कार्ण आदि उल्लेखनीय हैं। लगभग 30 वर्ष तक विहार कर महावीर ने धर्मामृत का वर्षण कर तत्कालीन समाज को उर्वर किया।[4]

महावीर द्वारा समाधान[5]—तीर्थंकर महावीर के समक्ष विभिन्न विद्वानों ने अध्यात्म सम्बन्धी विभिन्न शंकायें व्यक्त कीं, जिनका समाधान महावीर ने किया। ये ग्यारह विद्वान दीक्षित होकर महावीर धर्म-संघ के गणधर बने। इनके साथ जो शिष्य थे, उनके सान्निध्य मे रहे तथा उनके गणधर बने। विद्वानों के नाम और उनकी शंकाओं के विषय का विवरण निम्नलिखित है —

1. महावीर युग और जीवन-दर्शन — डॉ० हीरालाल — पृ० 28
2. हरिवंशपुराण — 2·61 आदि
3. जैन कला एवं स्थापत्य, भाग 3, (स्थापत्य, गोपीलाल अमर) पृ० 544
4. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा — पृ० 242 से पृ० 285 तक
5. भगवान महावीर: एक अनुशीलन — पृ० 376 से 412 तक के आधार पर

विद्वान का नाम		शंका का विषय
1. इन्द्रभूति गौतम	—	आत्मा का अस्तित्व ।
2. अग्निभूति	—	कर्म का अस्तित्व ।
3. वायु भूति	—	आत्मा और शरीर का भेद ।
4. व्यक्त	—	शून्यवाद का निरास ।
5. सुधर्मा	—	इहलोक—परलोक ।
6. मंडिक	—	बंध और मोक्ष ।
7. मौर्यपुत्र	—	देवों का अस्तित्व ।
8. अकम्पित	—	नरकों का अस्तित्व ।
9. अचल भ्राता	—	पुण्य-पाप ।
10. प्रभास	--	निर्वाण

तीर्थंकर महावीर की अन्य धर्मों पर छाप--तत्कालीन धर्म-प्रवर्तकों में जामाली, मंखली पुत्र गोशाल, पूरणकश्यप, प्रबुद्धकात्यायन, अजित केशी कम्बलि, संजय वेलट्ठिपुत्र और गौतम के नाम उल्लेखनीय हैं । मुनि सुशील कुमार के अनुसार श्रमण संस्कृति के प्रतिष्ठापकों में महावीर का एक अनन्यतम स्थान है। धार्मिक अंधश्रद्धा, जनता की रूढ़िवादिता और पाखंड के ठेकेदारों के विरुद्ध महावीर ने क्रान्ति की और सात्विक धर्म का प्रचार किया । आत्म-शुद्धि और राग-द्वेष-नाश की ओर उनका प्रधान उद्देश्य था, जिसका प्रभाव तत्कालीन वैदिक परम्परा पर अधिकतम पड़ा । भारत में श्रमण और ब्राह्मण के नाम से उभयमुखी आर्य संस्कृति का संस्करण हुआ । जैन और बुद्ध धर्म के विचारों को श्रमण संस्कृति, वैदिक तथा वैष्णवों के संप्रदायों की विचार-धारा को वैदिक संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है ।[1]

श्रमण संघ—तीर्थंकर महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक राजा महाराजा, राजकुमार, सार्थवाह, श्रेष्ठि, राजमहिषियां, श्रेष्ठिपत्नियां एवं सामान्य नरनारीजन उनके शिष्य बने । आर्य चन्दना की दीक्षा उस युग में एक सामाजिक व धार्मिक क्रान्ति थी । कारण कि अब तक चली आ रही वैदिक परम्परा में पहले तो नारी को वेदाध्ययन एवं धार्मिक क्रिया-काण्डो से दूर रखा गया था ।[2] इस सम्पूर्ण शिष्य समुदाय को महावीर ने चतुर्विध संघ में इस प्रकार विभक्त किया—

सन्यस्त व्यक्तियों के लिये मुनि और आर्यिका अलग-अलग संघ बनाये गये थे । इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं के लिये पृथक् संघ की व्यवस्था की गई थी । जो निर्ग्रन्थ बनकर आत्मा का विकास करना चाहता था, उसके लिए श्रावक और श्राविका-संघ की व्यवस्था थी । तीर्थंकर महावीर के यहाँ जाति और वर्ण-व्यवस्था

1. जैन धर्म—मुनि सुशील कुमार—पृ० 38
2. शतपथ ब्राह्मण—13/2/20/24, गौतम धर्म सूत्र - 18/1 वसिष्ट०—5/1 महाभारत अनुशासन पर्व—20/24 मनुस्मृति—9/3

मुनि | आर्यिका* | श्रावक** | श्राविका+++

डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने इसे दो भागों में विभक्त किया है—

मुनि | श्रावक

नहीं थी बल्कि आचार के आधार पर संघ-व्यवस्था थी ।[1]

महावीर के संघ में पूर्वधारी 300, शिक्षक 9900, अवधिज्ञानी †1300, केवली 700, विक्रियाधारी 900, मन: पर्ययज्ञानी 500, वादी 400, सर्व ऋषिसंख्या 14000, आर्यिका 36000, श्रावक 100000 और श्राविकाएं 300000 थी ।[2]

भगवान महावीर ने श्रमण व श्रमणी संघ की व्यवस्था-पद्धति बड़ी समीचीन थी । उन्होंने जीवन काल में यह एकाशाधीन था । चौदह हजार श्रमणों व छत्तीस हजार श्रमणियों के विशाल समुदाय में से तीस वर्ष के अन्दर सिर्फ दो साधुओं ने महावीर के सिद्धान्तों को लेकर मतभेद हुआ । उनमें एक जमाली थे, दूसरे विषयगुप्त थे । इस प्रकार महावीर का श्रमण संघ बहुत व्यवस्थित था, इसीलिये जैन साहित्य में उन्हें **धर्मचक्रवर्ती** कहा गया है ।[3]

महावीर और गौतम बुद्ध—आगमों में जहां बुद्ध के नामोल्लेख की अल्पता है, वहाँ यह त्रिपिटकों में महावीर सम्बन्धी घटना प्रसंगों की बहुलता है । वह उन्हें निगण्ठ नातपुत्त कहा गया है यह शब्द भगवान महावीर के लिए आगम साहित्य में भी प्रयुक्त हुआ है । वे घटना प्रसंग कहाँ तक यथार्थ हैं, इस चिन्ता में यदि हम न जायें तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि वे बहुत ही सरस, रोचक और प्रेरक है । दोनों धर्म संघों के

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 202-203
2. उत्तरपुराण—74-375-379, ति० प०—4-1166-1176, हरि० पु०—60-432-440, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ० 203
3. भगवान महावीर: एक अनुशीलन – पृ० 603

† वह शक्ति जिसमें गड़ी, छिपी या दबी हुई चीजों का ज्ञान होता या पता चलता है । (जैन)

आदरणीय महिला

* 1. बौद्ध सन्यासी

** 2. जैन सन्यासी

*** 3. जैन धर्म का अनुयायी (जैनी)

श्रावक का स्त्री रूप

पारस्परिक सम्बन्धों, सिद्धान्तों व धारणाओं पर वे पूरा प्रकाश डालते हैं। त्रिपिटकों में आये सभी समुल्लेख भाव-भाषा से बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की न्यूनता व्यक्त करते हैं। जातक अट्ठकथा और धम्मपद अट्ठकथा के कुछ प्रसंग इस साम्प्रदायिक संकीर्णता के उदाहरण हैं।[1] तीर्थंकर महावीर और गौतम बुद्ध का तुलनात्मक अध्ययन मुनि नगराज एवं मुनि सुशील कुमार के मतानुसार प्रस्तुत है—

तीर्थंकर महावीर	गौतम बुद्ध
मुनि नगराज[2]	
1. महावीर का जन्म वैशाली के निकट एक ग्राम में हुआ।	1. बुद्ध का जन्म कपिल वस्तु में हुआ।
2. महावीर के माता-पिता उनकी युवावस्था तक जीवित रहे।	2. बुद्ध के माता पिता का देहान्त उन के जन्म के बाद हो गया।
3. महावीर के सन्यास के समय अपने बड़ों की उपेक्षा नहीं की।	3. बुद्ध ने अपने पिता की आज्ञा के विरुद्ध सन्यास लिया।
4. महावीर ने बारह वर्ष तक तप किया।	4. बुद्ध ने छः वर्ष तक तप किया।
5. महावीर के लिये तपस्यायें ध्येय की प्राप्ति के लिये निरर्थक निकली।	5. बुद्ध को तपस्या की आवश्यकता सत्य लगी।
6. महावीर को पावा में ई० पू० 526 में निर्वाण प्राप्त हुआ।	6. बुद्ध को कुशी नगर में ई० पू० 477 में निर्वाण प्राप्त हुआ।
7. महावीर की आयु 72 वर्ष।	7. बुद्ध की आयु 80 वर्ष।
8. अतः महावीर का जन्म ई० पू० 598।	8. बुद्ध का जन्म ई० पू० 557
मुनि सुशील कुमार[3]	
1. पिता—सिद्धार्थ	1. शुद्धोधन
2. माता—त्रिशला	2. महामाया
3. गोत्र—कश्यप	3. कश्यप
4. ग्राम—क्षत्रिय कुंडग्राम	4. कपिलवस्तु
5. जात—ज्ञात	5. शाक्त
6. जन्म—ई० पू० 599	6. ई० पू० 600

---

1. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन—पृ० 402
2. वही—पृ० 557 के आधार पर
3. जैन धर्म—पृ० 33

7. स्त्री—यशोदा।	7. यशोधरा।
8. संतान - प्रियदर्शना (पुत्री)।	8. राहुल (पुत्र)।
9. दीक्षा – 569 (30 वर्ष की उम्र में)।	9. 571 (29 वर्ष की उम्र में)।
10. आदित्य—12 वर्ष।	10. 6 वर्ष।
11. ज्ञात प्राप्तिस्थल-ऋजुबालुकातट।	11. गया।
12. आयु—72 वर्ष।	12. 80 वर्ष।
13. महाव्रत—पांच महाव्रत।	13. पांचशील।
14. *सिद्धान्त—अनेकान्तवाद।*	14. क्षणिकवाद (विभज्यवाद)।
15. निर्वाण—वि० सं० से (527) वर्ष पूर्व।	15. वि० सं० (520) वर्ष पूर्व।
16. निर्वाणस्थल—मध्यम अपापा (पावापुरी)।	16. कुशीनगर।

परिनिर्वाण—तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मुनिनगराज[1] ने तिब्बती परम्परा, चीनी, तुर्किस्तान तिथिक्रम एवं अशोक के शिलालेख आदि के आधार पर परिनिर्वाण का काल निश्चित करने का प्रयत्न किया है। विद्वानों ने ई० पू० 526, 527, 528, 546 और 477 में महावीर का निर्वाण होना माना है।

डॉ० याकोबी ने भगवान महावीर और बुद्ध के निर्वाण प्रसंग की मुख्यतया दो स्थानों पर चर्चा की है और वे दोनों चर्चायें एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। एक समीक्षा में उन्होंने भगवान महावीर की पूर्व निर्वाण प्राप्त और भगवान बुद्ध के पश्चात् निर्वाण प्राप्त प्रमाणिक किया है तो दूसरी समीक्षा में भगवान बुद्ध को पूर्व निर्वाण प्राप्त और भगवान महावीर को पश्चात् निर्वाण प्राप्त किया है। उनकी पहली समीक्षा आचारांग सूत्र की भूमिका (ई० 1884) में लिखी है। चर्चा का दूसरा स्थल बुद्ध और महावीर का निर्वाण नामक उनका लेख है। यह लेख उन्होंने जर्मनी की एक शोध पत्रिका के 26वें भाग में सन् 1930 में लिखा था। अतः महावीर के निर्वाण की दो तिथियां उन्होंने दी हैं। ई० पू० 526 और ई० पू० 447[2] पं० सुखलाल ने डॉ० याकोबी के आधार पर ई० पू० 526 को ही महावीर का निर्वाण काल स्वीकार किया है। पं० गोपालदास पटेल व कस्तूरचन्द ने भी इसे मान्यता दी है।

डॉ० के० पी० जायसवाल ने ई० पू० 546 में निर्वाण माना है।[3] मुनि कल्याण

---

1. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
2. S.B.E. Vol. XIV Introduction of Jain Sutras VOL II—P. 21-1894
   शोध पत्रिका, भाग-26, सन् 1930, हिन्दी अनुवाद
   आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन—पृ० 48, 50, 51
3. Jouranl of Bihar and Orissa Research Society --1, 103

विजय ने महावीर का निर्वाण ई० पू० 528 स्वीकार किया है[1] सर्वाधिक मान्यता ई० पू० 527 को प्राप्त है। आचार्य हेमचन्द्र[2], इन्द्रविजय, गौरीशंकर ओझा[3], डॉ० बलदेव उपाध्याय[4], डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल[5], डॉ० हीरालाल जैन[6], पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ[7] ने ई० पू० 527 को महावीर का निर्वाण काल माना है।

डॉ० नेमिचन्द शास्त्री[8] तथा डॉ० गोकुल चन्द जैन[9] के शब्दों में हम कह सकते हैं—

"तीर्थंकर महावीर का निर्वाण मंगलवार 15 अक्टूबर ई० पू० 527 या विक्रम पूर्व 470 तथा शक पूर्व 605 प्रातः काल सूर्योदय के पूर्व हुआ। इस तिथि की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इतिहास के क्षेत्र में सम्राट चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० 322 माना जाता है[10] और इसी तिथि के अनुसार पर चन्द्रगुप्त मौर्य पूर्व एवं उत्तरकालीन तिथियों की प्रमाणिकता की परीक्षा की जाती है। जैन परम्परा अवन्ती में चन्द्रगुप्त का राज्यरोहण महावीर निर्वाण के 215 वर्ष पश्चात् मानती है।[11] यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र (मगध) राज्यारोहण के 10 वर्ष पश्चात् अवन्ती में अपना राज्य स्थापित किया। इस प्रकार इतिहास और जैन परम्परा से समन्वित आलोक में महावीर निर्वाण ई० पू० 312+215=ई० पू० 527 सिद्ध होता है।[12] हमारे विचारानुसार तीर्थंकर महावीर का निर्वाण ई० पू० 527 ही उचित है।

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण स्थल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है कुछ विद्वान बिहार स्थित पावापुरी को निर्वाण स्थल मानते हैं और कुछ गोरखपुर+ के

1. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल गणना
2. श्रमण अंक 6-7-1962
3. श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष 2, अंक 4-5 पृ० 217-81
4. धर्म और दर्शन—पृ० 89
5. तीर्थंकर महावीर भाग 2 भूमिका—पृ० 19
6. तत्वसमुच्चल—पृ० 6
7. भारत का प्राचीन राजवंश—खंड 2—पृ० 436
8. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 292
9. चौबीस तीर्थंकर—पृ० 122
10. हरिवंशपुराण—66/20
11. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन—पृ० 88
12. Political History of Ancient India—p. 295
    In Advanced History of India—p. 99

\+ उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के समीप फाजिल नगर और साठिया के मध्य स्थित पावा।

निकट पावा को निर्वाण स्थल स्वीकार करते हैं। किन्तु अब बिहार स्थित पावापुर को ही मान्यता प्राप्त हो चुकी है। यही तथ्य हमें भी मान्य है।

आगम ग्रन्थों से अवगत होता है कि तीर्थंकर महावीर ने आयु के दो दिन अवशिष्ट रहने पर बिहार रूप काययोग, धर्मोपदेशरूप, वचनयोग एवं क्रिया रूप मनःयोग धारण किया और पावापुर के बाहर अवष्टि सरोवर के मध्य कायोत्सर्ग ग्रहण कर अघतिया कर्मों की पचासी कर्म प्रवृत्तियों का क्षय किया।[1] तीर्थंकर महावीर का निर्वाण पावा में राजा हस्तिपाल की रज्जुकशाला में हुआ। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह रज्जुक शाला धर्मापतन के रूप में होती थी। यहाँ पर धर्मोपदेश अथवा प्रवचन होने के लिए पर्याप्त स्थान रहता था। सहस्रों व्यक्ति इस स्थान पर बैठ सकते थे। रज्जुकशाला में चौरस मैदान के साथ एक किनारे भवन स्थित था। अतः दिगम्बर परम्परा के उल्लेख के अनुसार भी महावीर का निर्वाण स्थल मध्यमा पावा है। यह हस्थिपाल नगराधिपति भी राजा द्वारा उल्लिखित किया जाता था। अतएव यह आशंका सम्भव नहीं है कि मगध नृपति श्रेणिकके रहते हुए निकल मे ही हस्तिपाल राजा का अस्तित्व किस प्रकार सम्भव है? महावीर के समय में प्रायः प्रत्येक नगर का अधिपति राजा कहा जाता था।[2]

पुष्पदन्त कृत महापुराण, (साहि 110 कडवक 11-12) तथा उत्तरपुराण (76-508) से 512) के अतिरिक्त प्राकृत प्रतिक्रमण—(पृ० 46), क्रियाकलाप (पृ० 56), श्रमण भगवान महावीर (पृ० 206-207), कल्पसूत्र (पृ० 192) आदि में भी पावापुर+ को ही महावीर निर्वाण स्थल माना गया है। बिहार स्थित पावापुरी में ही भगवान महावीर के उत्तराधिकारी गौतम स्वामी और सुधर्म स्वामी की भी चरण पादुकाएं हैं।[3] जिस रात्रि को भगवान महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उस रात्रि को देव देवेन्द्रों के गमना-गमन से भू-मंडल आलोकित हुआ, अंधकार मिटाने के लिये मानवों ने दीप संजाये और दीपमाला का पूनीत पर्व प्रारम्भ हुआ।[4]

---

1. वर्द्धमान चरित्र-असग कवि—सर्ग 18, पद्य 97-98
   तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 289
2. वही—पृ० 296

\+ पुरी और पावा ये दो अलग-अलग गांव हैं। परन्तु पास-पास होने से उनका नाम "पावापुरी" प्रचलित हो गया। खास बात यह है कि महावीर ने पहला प्रवचन भी पुरी में ही किया था और ब्राह्मणों को अपने धर्म शासन में सबसे पहले स्थान दिया था। उसी पुरी से सटी हुई पावा में उनका अंतिम प्रवचन हुआ। महावीर वाणी—बेचरदास दोषी –पृ० 43।

3. चौबीस तीर्थंकर—पृ० 123
4. कल्पसूत्र —127
   त्रिषष्टि— 10/13/247-248

अन्तिम देशना—महावीर की अन्तिम देशना सोलह पहर की थी। उसमें 55 अध्ययन पुण्य फल विपाक के और 55 अध्ययन पाप-फल विपाक के कहे जो वर्तमान में सुख विपाक और दुःख विपाक के रूप में क्रमशः दस-दस अध्ययन में उपलब्ध होते हैं। शेष अध्ययन विच्छिन्न हो गये। छत्तीस अध्ययन अपृष्ट व्याकरण के कहे, जो इस समय उत्तराध्ययन आगम के रूप में विश्रुत हैं। सेतीसवां प्रधान नामक अध्ययन कहते-कहते भगवान पर्यंकासन में स्थिर हो गये। भगवान ने बादर काययोग में स्थिर रहकर बादर मनोयोग, बादर वचन योग का निरून्धन किया, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थिर रहकर बादर काययोग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। शुक्ल-ध्यान के "सूक्ष्मक्रियाप्रतिपति" नामक तृतीय चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काय योग का निरून्धन किया और "समुच्छिन्नक्रियाडनिवृत्ति" नामक शुक्ल ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त किया। पुनः अ, इ, उ, ऋ, लृ, उच्चारणकाल, जितनी शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर चतुर्विध अघाती कर्मदल का क्षय कर भगवान महावीर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।[1]

महावीर वाणी के स्रोत : आगम साहित्य

आगम युग वीर निर्वाण से प्रारम्भ होकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक सम्पन्न होता है। एक सहस्र वर्ष की अवधि का यह काल विविध घटनाओं-प्रसंगों को अपने में संजोए हुए है। इस काल की मुख्य प्रवृत्ति "आगमिक" थी। वीर वाणी को स्थायित्व प्रदान करने के लिए इस युग में कई क्रम चले। गणधर रचित अंगागम निधि[2] का आलम्बन लेकर उपांगों की रचना हुई और पाठ्यक्रम की सुविधा हेतु अनुयोग व्याख्या के माध्यम से आगम पतन की नवीन पद्धति स्थापित हुई। इन प्रवृत्तियों का प्रमुख सम्बन्ध आगम से था। संघ मित्रा ने आचार्य सुधर्मा को आगम निधि का प्रदाता स्वीकार किया है। उन्होंने तीर्थंकर महावीर की सन्निधि में बैठकर महावीर वाणी को आगम बोध के रूप में प्राप्त किया था। संघ मित्रा ने सहस्र वर्ष के इस युग को आगम युग का नाम दिया है।[3]

आगम साहित्य के विषय में दो प्रकार की मान्यताएं हैं। एक मान्यता के अनुसार महावीर वाणी का संकलन जिन आगमों में किया गया था, वे आगम नष्ट हो

---

1. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 598-599
2. (क) अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथति गणहरा निउणं
   सासणस्स हियट्ठाए तयो सुत्तं पवत्तई (182) (आवश्यक वि० पृ० 79)
   (ख) भगवता अत्थो भणितो गणह रेहिं गंथो कथो बाइयो यज्ञति (आव० चूर्णि० पृ 334)
3. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य-संघमित्रा—पृ० 5-6

चुके हैं। दूसरी परम्परा के अनुसार सुरक्षित हैं।[1]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी तक अंगागम का ज्ञान प्राप्त रहा। एकादशांगी के अंतिम आचार्य ध्रुवसेन थे और सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य — ये चार आचार्य एक आचारांग सूत्र के ज्ञाता थे। आचार्य लोहार्य के बाद आचारांग सूत्र का कोई ज्ञाता नहीं हुआ। लोहार्य का समय वी० नि० 683 (वि० 213) मानी जाती है। अत: दिगम्बर मतानुसार वी० नि० 683 तक आगम की उपलब्धि मानी जाती है। उसके बाद आगम का सर्वथा विच्छेद हो गया।[2] इस परम्परा के अनुसार तीर्थंकर महावीर के सानिध्य में बैठकर जिसने महावीर वाणी को आत्मसात् किया था, उसका नाम गौतम गणधर है।

श्वेताम्बर परम्परा आगम विच्छेद की परम्परा को स्वीकार नहीं करती। इसके अनुसार आगम वाचनकार आचार्यों के सप्रयत्नों से आगम संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और इससे आगम की सुरक्षा होती रही है। आज भी जैन समाज के पास एकादशांगी आगम निधि के रूप में भगवान महावीर की वाणी का प्रसाद उपलब्ध है। दुष्काल की घड़ियों में आगम विधि क्षत-विक्षत हुई, पर उसका पूर्ण लोप नहीं हुआ था।[3]

तत्कालीन प्रवृत्तियों के आधार पर संघ मित्रा ने आगम युग को तीन कालों में विभाजित किया है[4]—

1. आगम युग— वी० नि० 1000 वर्ष तक (विक्रम पूर्व 470 से वि० सं० 530 तक।

2. उत्कर्ष युग—वी० नि० 1000 वर्ष से 2000 वर्ष तक (वि० सं० 530 से 1530 तक)।

3. नवीन युग—वी० नि० 2000 वर्ष से 2500 वर्ष तक (वि० सं० 1530 से 2030 तक)।

1. **आगम युग**—आगम युग में जैनाचार्यों द्वारा महत्वपूर्ण आगम परक साहित्य का निर्माण हुआ। द्वादशांगी की देन आचार्य संघर्मा की है। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव, छेद सूत्रों के रचयिता आचार्य भद्रबाहु और प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य थे। दशवैकालिक, छेदसूत्र एवं प्रज्ञापन को अंग बाह्य आगम माना गया है। तत्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वामी, षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द इस युग के महान् साहित्यकार थे। षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत

---

1. चौबीस तीर्थंकर—पृ० 125
2. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—पृ० 13
3. वही—पृ० 13
4. वही—पृ० 5

और समयसार आदि ग्रंथों को दिगम्बर परम्परा में आगमवत् उच्चतम स्थान प्राप्त है। आगमयुग का यह साहित्य आगम परक होने के कारण आगम प्रवृत्ति को ही पुष्ट करता है।[1]

आगम युग के महावीर वाणी के अन्य प्रभावक आचार्यों में (1) जम्बू (2) आचार्य प्रभव (3) शय्यम्भव (4) यशोभद्र (5) सम्भूतविजय (6) स्थूलभद्र (7) महागिरि (8) सुहस्ती (9) बलिस्सई (10) गुण सुन्दर (11) सुस्थित (12) सुप्रतिबुद्ध (13) वांडिल्म (14) समुद्र (15) मंगू (16) भद्रगुप्त (17) कालका (द्वितीय) (18) खपुत (19) पादलिप्त (20) व्रजस्वामी (21) आर्यरक्षित (22) पुष्पमित्र (23) बज्रसेन (24) उर्हद् वलि (25) धरसेन (26) स्कन्दिल (27) नागार्जुन (28) विम (29) देवर्द्धिगणी तथा (30) क्षमाश्रमण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

2. उत्कर्ष युग—इस युग में महावीर वाणी के उत्कृष्ट आचार्य (1) वृद्धवादी (2) सिद्धसेन (3) मल्लवादी (4) समन्त भद्र (5) देवनन्दी (6) भद्रबाहु (द्वितीय) (7) जिनभद्र गणी (8) पात्रस्वामी (9) मानतुंग (10) अकलंक (11) जिनदास महत्तर (12) हरिभद्र (13) बप्पभट्टि (14) उद्योतन (15) वीरसेन (16) जिन सेन (17) विद्यानन्द (18) अमृतचन्द्र (19) सिद्धर्षि (20) शीलांक (21) सूराचार्य (22) उद्योत सूरि (23) सोमदेव (24) अमितगति (25) मणिक्यनन्दि (26) अभयदेव (27) वादिराज (28) शान्ति (29) प्रभाचन्द (30) नेमिचन्द्र (31) जिनेश्वर (32) अभयदेव (33) जिनवल्लभ (34) अभयदेव (मल्लधारी) (35) वीर (36) जिनदत्त (37) नेमिचन्द्र (38) शुभचन्द्र (39) हेमचन्द्र (मल्लधारी) (40) वादिदेव (41) हेमचन्द्र (42) मलयागिरी (43) जिनचन्द्र (मणिधारी) (44) रामचन्द्र (45) उदयप्रभ (46) रत्नप्रभ (47) जगच्चन्द्र (48) रत्नाकर (49) देवेन्द्र (50) सोमप्रभ (51) मल्लियेण (52) जिन प्रभ (53) जिन कुशल (54) मेरुतुंग और (55) गुणरत्न के नाम उल्लेखनीय हैं।

3. नवीनयुग—नवीन युग के आगमाचार्यों में (1) हरिविजय (2) विजयसेन (3) विजयदेव (4) जिनचन्द (5) ऋद्धिलव (6) धर्मसिंह (7) धर्मदास (8) रघुनाथ (9) जयमल्ल (10) भिक्ष (11) जय (12) विजयानन्द (13) अमोलक ऋषि (14) विजय राजेन्द्र (15) कृपाचन्द (16) विजयधर्म (17) विजय वल्लभ (18) बुद्धिसागर (19) सागरानन्द (20) कालूगणी (21) जवाहर (22) विजय शान्ति (23) शान्ति सागर (24) घासी लाल (25) आत्माराम (26) देशभूषण (27) आनन्द ऋषि और (28) आचार्य तुलसी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आगम वाचना—वीर निर्वाण के सहस्राब्दी में चार आगम वाचना हुई उनमें

---

1. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—पृ० 18

सर्व तो निश्चित आगम वाचना आचार्य देवर्द्धिगणी की है। आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन की वाचना आचार्य देवर्दिगणी की वाचना से लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व हो गई थी। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में होने वाली यह आगम वाचना सबसे अन्तिम वाचना थी। इसके बाद जैन शासन में सर्वमान्य वाचना नहीं हो पाई।

सर्वप्रथम वाचना महावीर निर्वाण के लगभग नौ सौ अस्सी वर्ष बाद वलभी में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा मुनि सम्मेलन बुलाया गया। इस समय ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छह छेद, चार मूल सूत्र तथा दो चूलिका सूत्रों में भगवान महावीर वाणी को लिपिबद्ध किया गया। भगवान् महावीर की वाणी के उपर्युक्त संग्रह ग्रंथों पर अनेक टीका, व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए, विभिन्न भाषाओं में स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना की। यह साहित्य भी उतना ही महत्वपूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है, जितना कि आगम साहित्य।[1]

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय में पुनः दुष्काल की काली घटाएं घिर आई थीं। इसमें श्रुतधरों की और श्रुत की महान क्षति हुई। दुष्काल सम्पन्नता के बाद आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे द्वितीय आगम वाचना हुई। इसमें उत्तर भारत बिहारी श्रमण भी सम्मिलित थे। यह वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी कहलाई······नन्दी चूर्णि के अनुसार आचार्य स्कन्दिल की वाचना के समय श्रुत का निवास नहीं हुआ था। आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में आगमों का अनुयोग प्रवर्तन किया। प्रस्तुत आगम वाचना का समय संघमित्रा के मतानुसार वी० नि० 827 से 840 (वि० 357 से 360) है। आगमों को पुस्तकारूढ कर देने का श्रेय प्रमुख रूप से आचार्य देवर्दिगणी को दिया जाता है।[2]

आगम संशोधन-संपादन—धर्म सम्प्रदायों के आधार भूत धर्म ग्रन्थों में संशोधन की बात प्रायः मान्य नहीं रही है। जैनागमों के लिए भी यही स्थिति थी। आगमवाणी के एक भी वाक्य में और वाक्य के एक भी वर्ण, मात्रा में परिवर्तन करना दोषपूर्ण माना गया है। जैन दर्शन की इस दृढ़ मान्यता के आधार पर आगमों में लिपिदोष के कारण हुई भूलों का सुधार पूर्वाग्रसित धार्मिकों द्वारा स्वीकृत नहीं था। इससे आगम ग्रन्थों में परस्पर मतभेद और अर्थभेद भी उत्पन्न हो गये थे। आगमिक पदों के सम्यक् अर्थ बोध हेतु आगम-संपादन का कार्य आवश्यक प्रतीत होने लगा था। यह कार्य आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में प्रारम्भ हुआ।[3]

---

1. चौबीस तीर्थंकर पृ० 124-125।
2. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—16-17।
3. वही—पृ० 27

प्रमुख आगम साहित्य (महावीर वाणी का) संक्षिप्त परिचय

आगम साहित्य में "आचारांग" (महावीर साधना एवं मुनि नियम) का महत्व-पूर्ण स्थान है। "सूत्रकृतांग" (महावीर वाणी का विशाल भंडार एवं दार्शनिक सिद्धान्त), "स्थानांग" (महावीर चरित्र एवं दर्शन), "समवायांग" (दर्शन) 'विपाक सूत्र" (कर्म सिद्धान्त आदि)' "नायाधम्मकहा" (ज्ञान एवं नीति), "उपासका-ध्ययन" (गृहस्थ धर्म), "अन्तकृत्दश' (दशमुनियों के तप का वर्णन), "अनुत्तरौपपा-तिकदश" (मुनियों के तप का वर्णन), "भगवती" (महावीर के जीवन पर आधारित), "उत्तराध्ययन सूत्र" (महावीर की अन्तिम वाणी के रूप में प्रसिद्ध), "नन्दीसूत्र" (महावीर स्तुति आदि), "उपासकदशा सूत्र" (उपासकों के आचार का वर्णन), "आवश्यकचूर्णि" (महावीर के जीवन की घटनाओं का वर्णन), "विशेषाश्यक भाष्य" (दार्शनिक युग के प्रायः समस्त विषयों का समावेश), "आवश्यक नियुक्ति" (महावीर का मिथ्यात्वादि से निर्गम आदि का वर्णन), "निरयावलियासूत्र" (युद्ध आदि का वर्णन), "दशाश्रुतस्कंध (कल्पसूत्र) (महावीर का चरित्र) इसका दूसरा भाग पज्जोस-णाकल्प अर्थात कल्पसूत्र नाम से प्रसिद्ध है। "औपपातिक सूत्र" (महावीर चरित्र, तप तथा अन्य नियम आदि) इन ग्रन्थों के अतिरिक्त "दशवैकालिक" आदि भी आगम साहित्य की उल्लेखनीय कृतियां हैं।

महावीर वाणी का विश्लेषणात्मक अध्ययन

प्रत्येक तीर्थंकर के लिए गणधर की नितान्त आवश्यकता है। उनकी ज्ञान साधना गणधर के द्वारा ही अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है। अतः महावीर की दिव्य ज्ञान धारा को ग्रहण करने वाला गणधर परम आवश्यक है। सौ धर्म इन्द्र भी काल-लब्धि के अभाव मे तत्काल गणधर की तलाश नहीं कर सका। मिलने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के ब्रह्म मुहूर्त में भगवान महावीर की दिव्यध्वनि का आलोक फैलना प्रारम्भ हुआ। इसी दिन धर्मतीर्थ की भी उत्पत्ति हो गई।

महावीर ने अनेक स्थानों पर स्वयं स्पष्ट किया है कि जो पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है वही मैं कह रहा हूं।[1] महावीर ने जो कहा सूत्र रूप में कहा। सूत्रशब्द का अर्थ बीज होता है, जिसे पद अर्थात् बीज पद भी कहते हैं। तीर्थंकर के मुख से निस्सृत बीज पदों को सूत्र कहा जा सकता है। इस सूत्र के द्वारा उत्पन्न ज्ञान को सूत्रसम कहते हैं।[2]

महावीर वाणी की धारा उनके जीवनकाल तथा उसके सैकड़ों वर्षों तक श्रुत

---

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति—शं० 5, उद्दे० 9 सू० 227
2. "इदि वयणादो तित्थयरवयण विणिग्गम बीज पदं सुत्तं।
तेण सुत्तेण समं वट्टादि उप्पज्जदित्ति गणहरदेवम्भि द्विदसुदणाणं सुत्तसमं।
—कृति अ० ब० आ०—पृ० 556

परम्परा द्वारा सुरक्षित रही। "यह वाणी की मन्दाकिनी श्वेताम्बर और दिगम्बर दो कूलों से सटकर बहती रही, किन्तु खेद का विषय यह है कि वह एक धारा के रूप में नहीं, बल्कि दो धाराओं के रूप में। आज के इस युग में ऐसा सम्भव दिखाई नहीं देता था कि दोनों धारायें किसी एक धारा के रूप में परिणत हो जायेंगी। इतनी सदियों के दुराव एवं छोटी-छोटी मान्यताओं को लेकर इतना खिचाव था कि एकता की किरण कहीं से दिखाई नहीं देती थी। मुनि सुशील कुमार जी के मतानुसार जैन संगति में उपस्थित होने वाले समस्त जैन सम्प्रदायों के आचार्यों, विद्वानों, मुनियों साधुओं-साध्वी-जनों ने एक जुट होकर "समणसुत्त" के संकलन-सम्पादन में जैसा सहयोग दिया है वह एक चमत्कार है।[1]

श्री धीरज लाल शाह के शब्दों में "भगवान महावीर की वाणी विश्वमैत्री तथा अनुकम्पा के अमृत से सरोबार थी तथा उसमें गुणानुराग और मध्यस्थता का अनाहत नाद पूर्णतया गुंजित था। भगवान की वाणी में सत्य की अनन्त आभा से परिपूर्ण विमल प्रकाश झलक रहा था और अपने दीर्घ अनुभव का निचोड़ यथार्थ रूप में अवतरित हुआ था। इसीलिए उनकी वाणी शिव-सुन्दर बनी थी और लाखों करोड़ों मानवों के हृदय में नव चेतना भरने में सफल हुई थी।[2]

महावीर का प्रथम उपदेश—महावीर का प्रथम उपदेश क्या था? इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएं उपलब्ध हैं। आचार्य भद्रबाहु के मतानुसार तीर्थंकर ने सर्वप्रथम सामयिक आदि महाव्रतों तथा षटजीव निकाय का प्रवचन किया। आचार्य हेमचन्द आदि की मान्यता के अनुसार प्रथम निम्न त्रिपदी को उन्होंने व्याख्या की थी—

"उप्प-नेई वा विगमेइ वा धुवेई वा"

देवेन्द्र मुनि के मतानुसार दोनों मान्यताओं का सार यही है कि भगवान ने प्रथम प्रवचन में ही तत्वज्ञान एवं आचार धर्म दोनों का ही उपदेश दिया।[3]

महावीर वाणी की भाषा—तीर्थंकर की दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है या अक्षरात्मक, इस सम्बन्ध में आगम-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। कसायपाहुड़ और तिलोयपण्णत्ती में दिव्यध्वनिको तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ से हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द देने वाली बताया है।[4] हरिवंशपुराण में भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। इस ग्रंथ में लिखा है कि ओठों को बिना हिलाये ही निकली हुई तीर्थंकर वाणी ने तिर्यञ्चों,

---

1. समणसुत्तं के कवर से—मुनि सुशील कुमार जी के विचार
2. श्री महावीर वचनामृत—पृ० 76
3. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—पृ० 618
4. तिलोयपण्णत्ती – 1/16-62

मनुष्य और देवों का दृष्टि मोह नष्ट कर दिया।[1] दिव्यध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चारों मुखों से निकलती है।[2] भगवान के मुख-रूपी कमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशययुक्त महादिव्य ध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवों के मन में स्थित मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। इस दिव्य ध्वनि में सभी अक्षर स्पष्ट थे और ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि ही निकल रही हो।[3] अतः महावीर वाणी को अक्षरात्मक कहा गया है।[4]

डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने आधुनिक विज्ञान के परिवेश में महावीर वाणी की भाषा पर विचार किया है। उनके मतानुसार "दिव्यध्वनि शब्द तरंगरूप होती है। तरंगें सम्प्रेषित हैं और श्रोता अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उन्हें ग्रहण कर लेता है। अतः अनक्षरात्मक होते हुए भी अक्षरात्मक दिव्यध्वनि मानी जाती है। आज का विज्ञान भी कहता है कि ध्वनि मात्र प्रकम्पन की प्रक्रिया है। शब्दोत्पादक सभी वस्तुएं कम्पन करती हैं। कम्पन के अभाव में ध्वनि पैदा नहीं होती। केवल बोलने का प्रयत्न नहीं करते अपितु तीर्थंकर नामक मोदेय के कारण कण्ठ, तालु आदि को प्रकम्पित किये बिना ही शब्द-वर्गणाओं के कम्पन के साथ ध्वनि होती है। यह ध्वनि पौद्गलिक है। काययोग से आकृष्ट कर्मपुद्गलस्कन्ध स्वयं शब्द आकार लेते हैं और भाषा रूप में परिणित होते हैं।[5]

तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के अक्षरात्मक होने के निर्णय के उपरांत प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस अक्षरात्मक दिव्यध्वनि की भाषा क्या थी। आचारांग सूत्र में उल्लेख प्राप्त होता है कि महावीर ने उस युग की जनभाषा अर्द्धमागधी में उपदेश दिये थे।[6] प्राचीन भारत में दो ही प्रकार की प्राकृत भाषाएं मान्य थी—शौरसेनी और मागधी शौरसेनी पश्चिम प्रदेश की भाषा थी और मगधी पूर्व की। वर्तमान में श्वेताम्बर आगम साहित्य के जो ग्रंथ अर्थ मागधी में उपलब्ध होते हैं, वह अर्धमागधी तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि की भाषा नहीं है। इसका रूप तो चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गठित हुआ है। तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि का अध्ययन करके डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने निम्न निष्कर्ष निकाले हैं।[7]

---

1. हरिवंशपुराण—2/113, 9/224, 56/117
2. वही—58/3।
3. महापुराण—23/69, 24/82-83
4. गोम्मटसार—जीवकाण्ड—जी० प्र० 227/488/15
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 235
6. आचारांग सूत्र 46 पृ० 65
7. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० 240-241

1. दिव्यध्वनि ध्वन्यात्मक होती है।

2. आचार्यों ने अठारह भाषाओं और सात सौ कुभाषाओं का मिश्रण इसमें माना है।

3. दिव्यध्वनि को भाषात्मक मानकर ही उसे अर्धमागधी कहा गया है और यह अर्धमागधी आर्य एवं आर्येत्तर भाषाओं का सम्मिलित रूप थी।

महावीर वाणी का वर्गीकरण—महावीर वाणी को गणधरों ने बारह विभागों में विषय के अनुसार वर्गीकृत किया था। इसे द्वादशांग नाम दिया गया है। बारहवें विभाग का सम्बन्ध महावीर की पूर्व परम्परा से है। अंगों के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में महावीर की वाणी संकलित की गई उसे विद्वानों ने अंगबाह्य के नाम से पुकारा। अत: ऐतिहासिक आधार पर इसे महावीर वाणी का प्रथम वर्गीकरण कहा जा सकता है। महावीर के चिन्तन को अन्य दो भागों में भी वर्गीकृत किया जा सकता है दिव्यध्वनि रूप में प्राप्त और विद्वानों की शंका समाधान के रूप में प्राप्त।

सम्प्रदाय के आधार पर मुख्य रूप से महावीर वाणी को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—दिगम्बर जैन मान्यताओं पर आधारित महावीर वाणी और श्वेताम्बर जैन पर आधारित महावीर वाणी। दोनों वाणियों में आधारभूत तो बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। किन्तु वाणियों के मूल स्तोत्र में अन्तर अवश्य है। डॉ० विशम्भर नाथ उपाध्याय ने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदायों के जन्म के सम्बन्ध में लिखा है कि—जैन मत मूलत: योगमत है, इस योग में इच्छा साधनाओं द्वारा राग का सर्वनाश ही ध्येय है। राग के नाश के लिए जैनाचार को अत्यधिक कठोर बताया गया है। यहाँ तक कि चन्द्र गुप्त मौर्य के समय अकाल पड़ने पर भद्रबाहु की देखरेख में दक्षिण जाने वाले जैन साधक जल, श्वेत वस्त्र धारण करने लगे तो उत्तर के नग्न जैन भिक्षुओं ने उन्हे स्वीकार नहीं किया और केवल वस्त्र की सुविधा को भी भोग प्रवृत्ति मानकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय को अलग कर दिया गया।[1] इसके उपरान्त इनमें से तेरह पंथी, स्थानकवासी आदि सम्प्रदाय बन गये।

श्री धीरजलाल शाह ने उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक सूत्र आगम ग्रन्थों को आधार बनाकर श्री महावीर-वचनामृत नाम से महावीर वाणी का संकलन किया है। इसमें निम्न विषयों के अन्तर्गत महावीर वाणी का चयन किया है—

(1) विश्वतन्त्र (2) सिद्ध जीवों का स्तवन (3) संसारी जीवों का स्वरूप (4) कर्मवाद (5) कर्म के प्रकार (6) दुर्लभ संयोग (7) आत्मजय (8) मोक्ष मार्ग (9) साधना क्रम (10) धर्माचरण (11) अहिंसा (12) सत्य (13) अस्तेय (14) ब्रह्मचर्य (15) अपरिग्रह (16) सामान्य साधु धर्म (17) साधु का आचरण (18) अष्ट प्रवचन माता (19) भिक्षाचरी (20) भिक्षु की पहचान (21) संयम की आराधना (22) तपश्चर्य (23) विनय गुरुसेवा (24) कुशिष्य (25) दुःशील

---

1. संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव—डॉ० विशम्भर नाथ उपाध्याय पृ० 47

(26) कामभोग (27) प्रमाद (28) विषय (29) कषाय (30) बाल और पंडित (31) ब्राह्मण किसे कहा जाये (32) वीर्य और वीरता (33) सम्यक्त्व (34) षडावश्यक (35) भावना (36) लेश्या (37) मृत्यु (38) परभव (39) नरक की वेदना (40) शिक्षापद।

श्री देवेन्द्र मुनि ने अपने शोधपरक ग्रन्थ "भगवान महावीर : एक अनुशीलन" में महावीर वाणी का संकलन निम्न विषयों के आधार पर किया है—

(1) धर्म (2) अहिंसा (3) सत्य (4) अस्तेय (5) ब्रह्मचर्य (6) अपरिग्रह (7) ज्ञान (8) श्रद्धा (9) तप (10) भाव (11) साधना (12) समभाव (13) सम्यग्दर्शन (14) वीतरागता (15) जीव आत्मा (16) मोक्ष (17) विनय (18) वैराग्य (19) संयम (20) श्रमण (21) गुरु-शिष्य (22) मनोनिग्रह (23) जीवन कला (24) क्रोध-क्षमा (25) मान (26) माया (27) लोभ (28) मोह (29) कर्म (30) बोध सूत्र।

श्री देवेन्द्र मुनि के उपरोक्त विषयों में और श्री धीरज लाल शाह के विषयों के तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि धर्म ज्ञान, श्रद्धा, सम्यग्दर्शन, वीतरागता, वैराग्य, श्रमण, गुरु-शिष्य, मनोनिग्रह, जीवन कला, क्रोध-क्षमा, मान, माया, लोभ, मोह आदि कुछ नवीन शीर्षक हैं।

समणसुत्तं ग्रंथ में जैन धर्म के दर्शन (महावीर वाणी) की सारभूत बातों का संक्षेप में क्रम पूर्वक संकलन किया है। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से चार खण्डों में विभक्त है, जिनमें 44 प्रकरण तथा कुल 756 गाथाएं हैं। चार खण्ड ज्योतिर्मुख, मोक्ष मार्ग, गाथाएं और स्याद्वाद् में महावीर वाणी के संकलन के लिये जिन विषयों का उपयोग हुआ है उसका विवरण निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

ग्रन्थ विभाजन

ज्योतिर्मुख	मोक्षमार्ग	गाथाएं	स्याद्वाद्
1. मंगलसूत्र	1. मोक्षमार्ग सूत्र	1. तत्व सूत्र	1. अनेकान्त सूत्र
2. जिन शासन	2. रत्नत्रय सूत्र	2. द्रव्य सूत्र	2. प्रमाण सूत्र
3. संघ सूत्र	3. सम्यक्त्व सूत्र	3. सृष्टि सूत्र	3. नय सूत्र
4. निरूपण सूत्र	4. सम्यक्ज्ञान सूत्र		4. स्याद्वाद् व सप्तभंगीसूत्र
5. कर्म सूत्र	5. सम्यक्चरित्र सूत्र		5. समन्वय सूत्र
6. मिथ्यात्वसूत्र	6. साधना सूत्र		6. निक्षेप सूत्र
7. रागपरिहार्यसूत्र	7. द्विविध सूत्र		7. समापन
8. धर्म सूत्र	8. श्रावक धर्मसूत्र		8. वीर स्तवन
9. संयम सूत्र	9. श्रमण धर्म सूत्र		9. समिति गुप्तिसूत्र

10. अपरिग्रह सूत्र
11. अहिंसा सूत्र
12. अप्रमाद सूत्र
13. शिक्षा सूत्र
14. आत्मा सूत्र

10. वृत सूत्र

10. आवश्यक सूत्र
11. तपसूत्र
12. ध्यान सूत्र
13. अनुप्रेक्षा सूत्र
14. लेश्या सूत्र
15. आत्मविकास सूत्र
16. सलेखना सुत्र

"समणसुत्त" में मंगल सूत्र, जिन शासन, निरूपण सूत्र, मिथ्यात्व सूत्र, रत्नत्रय सूत्र, द्विविध सूत्र, व्रतसूत्र, तत्वसूत्र, द्रव्यसूत्र, सृष्टि सूत्र, प्रमाण सूत्र. नय सूत्र, निक्षेप सूत्र, समापन, समिति गुप्ति सूत्र, आवश्यक सूत्र, अनुप्रेक्षा सूत्र, लेश्या सूत्र तथा संलेखना सूत्र आदि नवीन विषयों पर महावीर वाणी का संकलन किया गया है। डॉ० गोकुलचन्द जैन ने भगवान महावीर की वाणी को जीव और जगत, कर्म सिद्धान्त अनेकान्त और आचार संहिता के अन्तर्गत संकलित किया है।

अध्याय 2 में संतवाणी की परम्परा तथा आलोच्य संतों का जीवन चरित तथा उनके सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए उनकी वाणियों का परिचय दिया जायेगा।

———

अध्याय—2

हिन्दी का संत काव्य

संत साहित्य के रहस्य को समुचित रूप से समझने का कोई यत्न करने से पहले उसकी रचना एवं विकास के युग तथा उसके विवधि अंगों की पूर्वागत परम्परा का अध्ययन कर लेना भी परम आवश्यक है। क्योंकि इसके द्वारा उसकी अनेक बातों के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी।[1]

निर्गुण तत्व, काया-शुद्धि, मनोमारण, गुरुकृपा, अजपाजप, नामस्मरण, बाह्याचार का विरोध तथा स्वात्मानुभूति परकता जैसे तत्व भारतीय साधना में मुनि परम्परा से आए हुए माने गए हैं जो भारतीय संतपरम्परा की पृष्ठभूमि हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की धारणा है कि निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राय: उन सभी बातों का सुन्दर समावेश पाया जाता है जो भारतीय आध्यात्मिक विचारों में मूल्यवान समझी जाती है।[2] डॉ० विष्णुदत्त राकेश का मत है कि मध्ययुगीन संतकाव्य का प्रादुर्भाव आकस्मिक नहीं माना जा सकता। संतमत आरम्भ में किसी साम्प्रदायिक संगठन के रूप में विकसित नहीं हुआ। उसके सामने योग, वेद तथा कुरान की धारा थी और इन तीन प्रकार की आचार पद्धतियों से स्वतन्त्र मार्ग खोजने की चिन्ता भी।[3]

मध्यकालीन धर्म साधना और मुनि परम्परा* का विवेचन करते हुए डॉ०

---

1. संत साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत-आचार्य परशुराम चतुर्वेदी पृ० 14
2. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-पृ० 11
3. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास-डॉ० विष्णुदत्त राकेश पृ० 5

* भारतवर्ष में प्राय: तीन संस्कृतियों का प्रभाव चला आ रहा है—श्रमण संस्कृति, वैदिक संस्कृति और बौद्ध संस्कृति। इनमें बौद्ध संस्कृति तो महात्मा बुद्ध से आरम्भ हुई जिसको 2500 वर्ष हुये। अत: अर्वाचीन है। अतिप्राचीन संस्कृति तो श्रमण तथा वैदिक दो ही हैं। इनमें भी श्रमण संस्कृति अतिप्राचीन है। क्योंकि वेदों तथा उपनिषदों में भी श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक ऋषभ, अजित, अरिष्टनेमि आदि जैन तीर्थंकरों की स्तुति की है। श्रमण संस्कृति

राकेश ने लिखा है कि मध्यकालीन धर्म साधना पर उपनिषद् और योगधारा के अतिरिक्त आगम धारा का प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ता है। उत्तर भारत में विकसित होने वाली निर्गुण भक्ति परम्परा इसी समवेत प्रभाव का परिणाम है। आगम* धारा में शैव और शाक्त तत्व प्राचीन हैं किन्तु बौद्ध तत्व ज्ञान, सूर्य

के साधुओं को ऋषि कहते हैं। तथा बौद्ध संस्कृति के साधुओं को भिक्षु कहते हैं।

"श्राम्यंतीतिश्रमणः तपस्यंतीत्यर्थः।"—हरिभद्र सूरि-दशवैकाणिक सूत्र 1/3 श्रमण शब्द का प्रयोग दिगम्बर जैन मुनियों के लिए प्राचीन काल से ही वैदिक ग्रन्थों आदि में उपलब्ध होता है—

"वातरशना ह्वा ऋषयः श्रमण अर्ध्वमन्थिनों बभूवः"

—तैत्तिरीय, आराण्यक, 2/7

"तापसा भुञ्जते चाऽपि श्रमणाश्चैव भुञ्जते"

—बाल्मीकियरामायण

"श्रमणावातरशना आत्मविद्याविशारदाः (20)

—श्रीमद् भागवत—11/2

"मुनयो वातारशनाः पिशंगा वसते मलाः।
वातस्यानु ध्राजियन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

—ऋक्संहिता, 10/135/2

"मुण्डी नग्नोमयूराणाः पिच्छधारी महाव्रतः॥ 36॥

—स्कन्द पुराण, अ० 51

"मधुमांसच ये नित्यं वर्जयन्तिहि धार्मिकाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः॥"

—महाभारत, अनु०/70

मुनि सम्प्रदाय अहिंसक विचार धारा के तथा विचार सहिष्णुता-मूलक अनेकान्त के उपासक के रूप में स्पष्टतः ऋषि सम्प्रदाय से भिन्न हैं।

—संस्कृति के चार अध्याय—डा० दिनकर—पृ० 39।

* प्रमुख रूप से आगम तीन प्रकार के है—शैव, शाक्त और वैष्णव। तीनों का ही विकास विस्तार यथा समय हुआ। किंतु इनके एक देश में वेदविरोधी तीव्र स्वर भी, जैनों एवं बौद्धों की परम्परा से अनुगृहीत होकर विकसित होता गया और आलोच्य युग में यह अतिवर्ण श्रमिकों का वर्ग विशेष प्रभावशाली हो गया। शैवों की वेदविरोधिनी इस परम्परा में नाथों की स्थिति है। भारतीय इतिहास में यह समय पूर्वमध्यकाल का पूर्वार्ध माना जाता है। उत्तर मध्यकाल के पूर्व भाग में कबीर प्रभृति संतों का आविर्भाव हुआ।

तत्व ज्ञान तथा गणोशतत्वज्ञान पुराना नहीं है ।[1]

वास्तव में संत साहित्य की पृष्ठ भूमि में न तो वेद थे न कुरान वरन नाथ पंथियों की जो चली आती हुई योग साधना, षट्चक्र-भेदन, कुंडलनी साधन, अपाजाप के द्वारा विरति में सुरति की स्थापना करके अनाहतनाद सुनकर परमानन्द प्राप्त करना था क्योंकि इन संतों ने न तो वेद ही पड़े थे और न ही कुरान का ही अध्ययन किया था । प्रत्युत् देश भर में फैले हुए योगियों का सत्संग अवश्य किया था । यह सत्संग ही इन संतों की वाणी का मूल स्रोत है ।

पुराण लोक जीवन की गाथा होने के कारण मुनि परम्परा में लोक प्रिय रहे, इसीलिये व्रात्यस्तोम के प्रसंग में गाथा, इतिहास तथा पुराण की चर्चा की गई है । शतपथ ब्राह्मण में इन तीनों की चर्चा एक साथ है ।[2] मुनिपम्परा का पुनर्गठन बुद्ध के द्वारा हुआ । ध्यान सम्प्रदाय के रूप में उसका विकास ॠग्वैदिक व्रात्यमुनियों की साधना चर्या का नवीनीकरण ही कहा जा सकता है ।[3]

अवधूतों की परम्परा का सम्पोषण कालान्तर में बौद्ध धर्म की ध्यान शाखा में हुआ । ध्यान सम्प्रदाय के संस्थापक आर्य बौधि धर्म कहे जाते हैं जो एक विलक्षण योगी थे ।[4] जहां तक इस सम्प्रदाय की साधनाविधि का प्रश्न है, निर्गुण सन्त साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ा है । शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की अनिवार्यता का निषेध, चित्त की एकाग्रता, मौन का अभ्यास, ध्यान का अभ्यास, शून्यता का बोध, अवधूती जीवन, सहज तथा अनासक्त आचरण (अनभोग चर्या) तथा नाम जप का इस सम्प्रदाय में विशेष स्थान है ।[5]

सहजयान की बाह्याचार खण्डन, शास्त्र-निन्दा, योग, अवधूती बिहार, कुण्डलिनी निरूपण, शक्तिपात, चक्र निरूपण आदि का प्रभाव संत साहित्य पर पड़ा । शैव सम्प्रदाय शाक्य तत्वों ने भी इस साहित्य को प्रभावित किया । सरभंग अवधूत या औघड़ परम्परा का ही एक रूप है । इस सम्प्रदाय के अन्वेषक डॉ० धर्मेन्द्र शास्त्री

(पृ० 47 का शेष)

उनका जन्म नाथयोगियों के वंशानुक्रम में हुआ लेकिन उन्हें वैष्णव भक्ति प्रवाह ने सराबोर कर दिया ।

—नाथ और संत साहित्य: तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय (समीक्षा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० 2023 वि० अंक 1—पृ० 119-120)

1. उत्तर भारत क निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ0 2
2. पुराण विमर्श—बलदेव उपाध्याय—पृ० 40
3. उ०भ०के०नि०पं०सा०इ०—डॉ० विष्णुदत्त राकेश—पृ० 20
4. वही—पृ० 21-22
5. वही—पृ० 22-23

ने लिखा है कि सिद्धमत की प्रायः सभी विशेषतायें सरभंग मत में मिलती है।[1] इसकी कुछ परम्पराओ पर संतों ने टीका-टिप्पणी की है।

"ना" का अर्थ है अनादि सम और "थ" का अर्थ है भुवनत्रय का स्थापित होना। इस प्रकार नाथ-मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है, जो भुवन त्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरख को इसलिए नाथ कहा जाता है। फिर "ना" शब्द का अर्थ नाथ, ब्रह्म जो मोक्षदान में दक्ष है, उनका ज्ञान कराना और "थ" का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूंकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है, इसलिए "नाथ" शब्द का व्यवहार किया जाता है।[2]

नाथपंथ में वेद बाह्य जातियां और साधनाएँ योग के माध्यम से एकीकृत हुई, योगमार्ग में हिन्दू और मुस्लिम जाति के लोग दीक्षित हुए। जोगी सम्प्रदाय के इस विराट् आयोजन से जो बाहर रह गए वह मुसलमान हो गए। नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव और महत्व का पता इसी से चल जाता है। किन्तु गोरख से पूर्व कनफटा योगियों का उल्लेख बाण की कादम्बरी तथा मैत्रेयी उपनिषद् में मिल जाता है, इससे गोरख का प्रथमप्रवर्त्तक न होकर पंथ संगठनकर्ता का रूप ही सिद्ध होता है।[3] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने नाथों की ईश्वरवादिता जैसे प्रमुख विश्वास के आधार पर निरीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों से इनका पार्थक्य बताया।[4] ज्ञानयोग प्रधान ईश्वर-वादी संयमपूर्ण साधना नाथ योगी सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुई और गोरखनाथ ने काया शोधन, मनोमारण, आत्मचिंतन तथा रसायन सिद्धि के तत्वों के आधार पर इस सम्प्रदाय का संगठन किया।········· पूरे वृहत् भारत में योगी सम्प्रदाय का प्रभाव फैल गया। कबीर आदि निर्गुणियां साधक इसी योगी सम्प्रदाय की देन हैं।[5]

संत काव्य की विभिन्न परिस्थितियां—

संत काव्य पर युगीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परि-स्थितियों का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ा। संत काव्य ने अपने युग के सम्पूर्ण जीवन को ग्रहण किया है। इसमें राजनीतिक परिस्थितियों का तो आभास इस साधनापरक तथा लोक सम्पृक्त काव्य में है ही किन्तु अपेक्षाकृत सामाजिक, धार्मिक

1. संत मत का सरभंग सम्प्रदाय—पृ० 41
2. नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० 3
3. गोरख नाथ एण्ड मिडीवल मिस्टीसिज्म—डॉ० मोहन सिंह—पृ० 15
4. उत्तर भारत की संत परम्परा—पृ० 51
5. उ०भ०के०नि०पं०सा०का०इ०—पृ० 54

तथा नैतिक आदि चेष्टाओं का प्रभाव अधिक है ।[1]

राजनीतिक परिस्थितियां—

इस युग की राजनीतिक परिस्थितियों पर हिन्दु एवं मुस्लिम शासकों को दृष्टि में रखकर विचार किया जा सकता है । इस युग के आरम्भ में जहाँ बहुत पहले राज्यों का पृथक् रहकर भी परस्पर लड़ते-भिड़ते रहना सम्भव था, वहां पीछे इस नियम में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया । फिर भी प्रत्येक हिन्दू राजा अपने अधीनस्थ देशों की भीतरी शान्ति के साथ-साथ उनके निवासियों की पूर्वप्रचलित परम्पराओं तथा उनकी मर्यादाओं की रक्षा पर भी ध्यान दिया करता था । इस कारण जनता की धार्मिक अथवा सांस्कृतिक व्यवस्था में कोई क्रान्ति न आ सकी थी । परन्तु मुस्लिम सुलतानों की मनोवृत्ति के अनुसार इस प्रकार का शासन कार्य कदाचित् अधूरा ही कहा जा सकता था । इसलिए वे अपनी हिन्दू प्रजा का किसी न किसी प्रकार धर्म परिवर्तन कर उसे किसी विशाल मुस्लिम महासंघ का सदस्य बना लेना भी अपना पुनीत कर्तव्य समझने लगे । जिसका एक बहुत बड़ा परिणाम सर्व साधारण की मन:स्थिति को भी उभारने में दीख पड़ा । इस प्रकार हिन्दू राजाओं के राजतंत्र में जहां विकेन्द्रीकरण के दूषित प्रभावों का फल देखने को मिला, वहां मुस्लिम शासकों की सल्तनत को विकेन्द्रीकरण वाली मनोवृत्ति का भी एक नवीन ढंग का परिणाम सामने आया ।[2]

अत: मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व ही भारत की राजनीतिक सत्ता पूर्णत: विकेन्द्रित हो चुकी थी । वीरता की कमी नहीं थी, पर वह वीरता संगठित नहीं थी परिणामत: हिन्दू सम्राटों को पराभव स्वीकार करना पड़ा । हिन्दू सम्राटों पर मुख्यत: ब्राह्मण धर्म का अंकुश था फलत: जनता के ब्राह्मण विरोधी निम्न वर्ग ने अपने को मुख्यत: साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया और युद्धों के विजय पराभव से अपने को असंबद्ध रखा । मुस्लिम शासकों के क्रोध का परिणाम निम्न एवं उच्च वर्ग में सभी को भुगतना पड़ा । मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम काफी दूरगामी हुए ।[3]

मुसलमानों की सफलताओं के मूल मे भारत की राजनीतिक एकता का अभाव था । शूरता में अद्वितीय राजपूत ईर्ष्या के कारण अपनी शक्ति का भरपूर उपयोग नही कर पाये थे । देश टुकड़ों में बंटा था और अधिकांश शासक युद्धों में एक-दूसरे की सहायता नहीं करते थे । राजपूत राजा हमेशा रक्षात्मक युद्ध करते थे,

---

1. सन्त-साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—डॉ० ओमप्रकाशशर्मा—पृ० 54
2. संत साहित्य के प्रेरणा स्रोत—पृ० 16
3. संत काव्य में योग का स्वरूप—डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह—पृ० 88

आक्रमणात्मक युद्ध नहीं करते थे। उनकी पराजय के कारणों में यह एक भी था।[1] मुसलमानों के इस विस्तृत शासनकाल में भारतीय प्रजा को समृद्धि एवं शान्ति के अनुभव का अवसर बहुत कम मिला। अधिकांश शासकों के राजत्वकाल में प्रजा पीड़ित रही। अकबर से शाहजहां तक के काल में हिन्दू प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता मिल पाई।[2]

मुगल साम्राज्य के अभ्युदय काल में भारतीय संस्कृति का एक नया चित्र सामने आता है। सुल्तानों के समय से शासन सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का प्रारम्भ माना जा सकता है। क्रमशः यह प्रवृत्ति बढ़ती गई है। बाबर, हुमायूं और शेरशाह सूरी के विचार उदार थे। इस कारण यद्यपि उनका उद्देश्य साम्राज्यवाद था, परन्तु उन्होंने उसका आदर्श बदल दिया था। साम्राज्य को स्थापित करने का आधार अब भी सैनिक शक्ति थी, पर अब शान्ति का उद्देश्य केवल यह न था कि उसके सहारे साम्राज्य विस्तार किया जा सके और सम्राट् के आतंक का आभास कराया जा सके। इन सम्राटों का ध्यान सर्व प्रथम जनता को सुखी और सम्पन्न करने की ओर गया। राजनीति सम्बन्धी यह नया दृष्टिकोण शेरशाह तथा अकबर के भूमिकर सम्बन्धी सुधारों से स्पष्ट होता है। शेरशाह शासन व्यवस्था के क्षेत्र में मौलिक कल्पना का व्यक्ति था। उसने किसानों के अधिकारों की रक्षा का विशेष ध्यान रखा। उसी का अनुकरण कर अकबर ने ऐसे नियम बनाये जिसका अनुसरण करना सरकारी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य था। इस वातावरण मे हिन्दु मुसलमानों की धार्मिक भावना को वास्तविक आदान-प्रदान की भूमि मिल सकी।[3]

मूल रूप से इस काल के बादशाहों का मूल उद्देश्य इस्लाम का प्रचार एवं इस्लाम आधारित राज्य की स्थापना तथा राज्य की सीमाओं को विस्तार देना था। इस उद्देश्य की पूर्ति उन्होंने तलवार की नोक से करनी चाही। इसके लिये कुछ बादशाहों ने धार्मिक समानता का सहारा भी लिया। हिन्दू राजाओं की परस्पर ईर्ष्या और शक्ति के दुरुपयोग ने मुस्लिम बादशाहों को अपने उद्देश्य पूर्ति में सहायता ही प्रदान की।

संतकाव्य में राजसत्ता का प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है। इन्होंने आदर्श राज्य की कल्पना आध्यात्मिक रूप में की है। प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभाव से संत कवि प्रायः दूर ही रहे है। संतों के काव्य में आध्यात्मिक सन्दर्भ के अन्तर्गत जिस लौकिक राजसत्ता का संकेत मिलता है वह प्रायः निरंकुश है। इसमें सन्देह नहीं है

---

1. सन्त काव्य में योग का स्वरूप—डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह पृ० 44-41
2. वही—पृ० 49
3. संत-साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 34

कि उनकी भावना का मूल स्रोत तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और शासन की व्यवस्था है। सन्तों के समानान्तर भारत में मुस्लिम साम्राज्य-स्थापन के प्रयत्न चलते रहे और इन प्रयत्नों में मुगलों को पूर्व सीमित सफलता मिली है पर मुगल साम्राज्य अपने देशव्यापी उत्कर्ष पर पहुंचकर ही विशृंखलित हुआ है। संतों का अधिकांश काल अफगान बादशाओं से आरम्भ होकर मुगल साम्राज्य के पतन तक है। ऐसी स्थिति में संतों की विचार धारा में "राजाओं के राजा" तथा शाहों के शाहन्शाह की कल्पना स्वाभाविक है। ये बार-बार आध्यात्मिक साम्राज्य के विश्व व्यापी विस्तार की चर्चा करते हैं और इस सन्दर्भ में तत्कालीन बादशाहों की साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा व्यक्त हुई है, ऐसा माना जा सकता है। इस शक्ति सम्पन्न सम्राट के सामने राजा, राणा, राव, छत्रपति नगण्य है। उससे विद्रोह करने वालों को तलब किया जाकर ऐसी कैद में डाला जा सकता है, जहां से मुक्ति नहीं। जो सम्राट सिंहासनारूढ़ होता है और जिसकी सत्ता के उद्घोष के लिए नौबत बजती रहती है। जिसकी आज्ञा से सुल्तान दीवान, मन्त्री परिचालित होते हैं अर्थात् उसका प्रबन्ध उसकी आज्ञानुसार ही दीवान, मन्त्री और सूबेदार के माध्यम से चलता है।[1]

धार्मिक परिस्थिति—

संतो के पूर्व का धार्मिक वातावरण विशृंखल था। जैन धर्म का शुद्धाचार धीरे-धीरे तंत्र एवं योग को स्वीकार कर चुका था। बौद्धों का सम्प्रदाय बदलते-बदलते महायान, वज्रयान एवं सहजयान तक पहुंच चुका था। इन वज्रयानी एवं सहजयानी साधकों में योग की प्रमुखता थी किन्तु उन्होंने आचरण का एक ऐसा मानदण्ड रखा था जिसका बाहरी रूप अत्यन्त ही घृणित था। निम्नवर्ग को अपने महायान पर सवार कराकर पार उतारने वाली इनकी क्रान्ति धीरे-धीरे कुंठित हो गई थी। सहजयानी सिद्धों मे आकर साधना बहुत कुछ लोक धरातल पर पहुंच गई थी पर उसका मुक्त मैथुन का रूप गर्हित था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथ पंथियों का शुद्धतावादी शैव सम्प्रदाय संगठित हुआ, जिसको सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधक गोरख नाथ हुए। गोरखनाथ ने साधना में वज्रदोह की सिद्धि का आदर्श स्वीकार किया और सिद्धों की साधना में शुद्धता का संचार किया। उनकी साधना मे योग की प्रधानता रही। इन बौद्धों एवं सिद्धो के अतिरिक्त विष्णु के उपासकों का वैष्णव सम्प्रदाय था जो प्राचीन काल से ही विकसित होता आ रहा था। दक्षिण के आलवार भक्तों एवं आचार्यों द्वारा पोषित भक्ति महाराष्ट्र के भक्तों एवं यौगिकों के माध्यम से उत्तर-भारत में पहुंची। उत्तर के योगियों ने भी इस भक्ति का स्वागत किया।

1. संत-साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 61

महाराष्ट्र में उत्तर के योग एवं दक्षिण की भक्ति का संयोग हुआ।[1]

जो धारायें संत साहित्य मे कबीर और नानक आदि के काव्य में प्रकट हुई थीं वे आगे मुस्लिम आक्रमण के समय गतिशील हो गई। बुद्ध के समय से ही लगभग भारतीय संस्कृति की दो धारायें बनने लगी थी, एक धारा ब्राह्मण धर्म के समर्थकों की थी जो वेद, स्मृतियों के विधानों को मानती थी और दूसरी धारा वह थी जो बुद्ध के विचारों से निकल कर सिद्धों से होती हुई कबीर, नानक आदि में विकसित हुई। बुद्ध के समानान्तर ही जैनादि मतावलम्बियों द्वारा भी इस धारा का पोषण हुआ। इस प्रकार मुस्लिम आक्रमण के समय तक आते-आते दो धाराएं स्पष्ट हो चुकी थीं।[2]

भारतीय साधना के इतिहास में विद्रोह की परम्परा ब्राह्मण प्रभुत्व के खिलाफ बुद्ध और महावीर से प्रारम्भ हो चुकी थी। ब्राह्मणवाद की स्थूलता के विरुद्ध भारतीय धर्म साधना में सूक्ष्मता, अहिंसा और निवृत्ति की भावना लाने का श्रेय इन्हीं महात्माओं को है। इसी भारतीय साधना की चली आती हुई विद्रोह की परम्परा में ये मध्यकालीन संत कवि हुए थे।[3]

सामाजिक स्थिति—

आलोच्य युग की सामाजिक स्थिति बड़ी असंतोषजनक थी। जातिवाद का बोलवाला था। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि—इस युग मे परस्पर वैमनस्य एवं संघर्ष के कारण पृथक्-पृथक् बनी रहने वाली राजनीतिक इकाइयों की प्रवृत्ति हिन्दू समाज में भी लक्षित हुई। वर्ण व्यवस्था की जो प्रथा पहले से ही प्रचलित थी उसे परिस्थिति के अनुसार और भी उत्तेजना मिली और क्रमशः विकेन्द्रीकरण प्रारम्भ हुआ। मुस्लिम सम्पर्क में आ जाने पर अपनी पूर्व स्थिति सम्भालने के यत्न में इस काल के स्मृति कारों ने विभिन्न व्यवस्थाओं का देना आरम्भ कर दिया, वर्ण की भावना में परिवर्तन आ गया और वह जाति की भावना द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होती चली गई। सामाजिक संकीर्णता एवं जटिलता का भाव इतना प्रबल होता गया कि हिन्दू समाज कुछ जातियों का समूह मात्र बन गया। इसमे कुछ तो अपने को रक्त शुद्धि की दृष्टि से उच्च और विशुद्ध मानने लगी और अन्य उसके अभाव में उनसे ईर्ष्यालु बनती गई। उन्होंने वर्ण संकरता को समाज के लिये घोर अभिशाप घोषित कर दिया। स्मृतिकारो ने विभिन्न जातियों और

1. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 89-90
2. वही—पृ० 27
3. गुरुनानक और उनका काव्य—सं० डॉ० महीपसिंह। पृ० 147

उपजातियों के लिये पृथक्-पृथक् व्यवस्थाएं देनी आरम्भ की। जिससे उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार बहुत कुछ अन्तर भी आ गया।[1]

आर्थिक स्थिति—

आर्थिक दृष्टि से यदि विचार किया जाये तो आलोच्य काल को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग। इस वर्ग-निर्माण में तत्कालीन हिन्दू समाज की परिस्थितियों ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है कि हिन्दू समाज में सामाजिक दृष्टि से विभिन्न जीविकाओं के अनेक स्तर बनते चले गये। उनमें से किसी एक का अपनाना उसके स्तर के अनुसार ही भला बुरा कहलाने लगा। फलतः जीविकाएं अधिकतर वंशानुक्रम से ही स्वीकार की जाने लगी। इस प्रकार किसी एक धन्धे में लगे मनुष्य के लिए दूसरे का द्वार सर्वथा बन्द हो गया। प्रत्येक जाति या उपजाति अपने को एक विशिष्ट वर्ग का अंग समझा करती थी। और उसकी एकता की सम्भावना कम होती जा रही थी।[2] निम्न वर्ग में भक्ति के उदय के साथ कुछ साहस का संचार हुआ था और वे प्रचलित परम्पराओं का जूआ उतारकर फेंकना चाहते थे, किन्तु आर्थिक विपन्नता के कारण इनका प्रयास सफल नहीं हो रहा था। इनके लिए तो बस गोधन, गजधन, वाजिधन को छोड़ सबसे ऊपर संतोष धन था।[3]

मध्य वर्ग तेजी से उच्च वर्ग की तरफ बढ़ता जा रहा था। बहुत से विद्वानों ने व्यापार की दृष्टि से इस युग को स्वर्ण युग कहा है। इस युग में यहां की निर्मित वस्तुएं तथा अन्य प्रकार के उपयोगी पदार्थ स्थल मार्ग से एवं जलमार्ग से सुदूर देशों तक पहुंचाया जाता था। हिन्दुओं की बहुत सी जातियों का जन्म न केवल सूदखोरी अथवा मुनाफा खोरी और वाणिज्य व्यापार के आधार पर हुआ अपितु उनके कलाकार, कारीगर अथवा श्रमिक हो जाने पर ही अस्तित्व में आ गया। जो उपर्युक्त रक्त शुद्धि अथवा जीविका वाले जाति भेद के प्रपंचों से कम भयंकर न था।[4]

संत शब्द का अर्थ—

ऋग्वेद में संत शब्द का प्रयोग "ब्रह्म" के लिये और तैत्तरीयोपनिषद् में ब्रह्मविद् के लिये हुआ है।[5] संत कवियों ने भी इस शब्द पर विचार किया है कबीर

1. संत साहित्य के प्रेरणास्त्रोत—पृ० 16
2. वही—पृ० 17
3. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 35
4. सन्त साहित्य के प्रेरणास्त्रोत—पृ० 18
5. अस्तिब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनंततो विदुरिति—(तैतिरीयोपदिषद् 2/1/6)

के मतानुसार सन्त निर्वैरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी, और विषयों से विरक्त होता है।[1]

संत शब्द पर व्यक्ति बोधक तथा रूढ़ि रूप में विचार किया है। यदि व्युत्पत्ति के विचार से देखा जाये तो "संत" शब्द के इसके अस्=होने वाले मूल के आधार पर बने होने के कारण हम उसे व्यक्ति विशेष का बोधक कहेंगे, जिसने सत् रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से उठकर उसके साथ तद्रूप हो जाता हो अथवा उसकी उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया हो।[2]

संत शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से केवल उन भक्तों के ही लिये होने लगा जो पण्ढरपुर वाले बिट्ठल भगवान के उपासक अथवा वारकरी संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक थे और जिनकी भक्ति में निर्गुणोपासना की प्रधानता थी। इन लोगों में से नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रामदास तथा तुकाराम आदि के लिए तो जैसे यह शब्द रूढ़ि सा हो गया था। कदाचित् अनेक बातों में इन्ही के समान होने के उपदेश देने और पद रचना करने के कारण उत्तर भारत के कबीर साहब आदि का भी पीछे वही विशेषण था।[3] हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास में भी आचार्य चतुर्वेदी की उक्त मान्यता को स्वीकार किया है।[4]

डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के विचार से इस शब्द की निष्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है या तो यह सत् शब्द का बहुवचन है या "शांत" शब्द का अपभ्रंश। पहले का अर्थ आचार्य चतुर्वेदी के मत के समान है। दूसरी के अनुसार वह व्यक्ति जिसकी कामनाएं शांत हो चुकी है। आचार्य चतुर्वेदी के अनुसार संत शब्द हिन्दी भाषा के अंतर्गत एक वचन में प्रयुक्त होता है किन्तु डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल तथा डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह के मतानुसार यह मूलतः संस्कृति के शब्द "सन्" का बहुवचन है। "सत्" शब्द भी अस्तभृति (अस्=होना) धातु से बने हुए "सन्" का पुल्लिग रूप है, जो शह प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है और जिसका अर्थ केवल होने वाला या रहने वाला हो सकता है। इस प्रकार संत शब्द का अर्थ शुद्ध अस्तित्व का बोधक है और इसीलिए सदा अपरिवर्तनशील ब्रह्म के लिये इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि विप्र उस अद्वितीय संत का

---

1. कबीर ग्रन्थावली—साखी 1, पृ० 39 (29) साध साषीभूत को अंग)
2. संत साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 59
3. संत साहित्य के प्रेरणास्त्रोत—पृ० 60
4. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग 4—पृ० 96

ही अनेकश: वर्णन करते हैं।[1] संस्कृत के अनुसार संत शब्द सत् शब्द का ही बहुवचन है शान्त शब्द से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रो० आर०डी० रानाडे ने महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय में संत शब्द का प्रथम प्रयोग उसी सम्प्रदाय के अनुयाइयों के लिए निहितमाना है।[2]

संत शब्द का अर्थ महाभारत में सदाचारी, भागवत में पवित्र आत्मा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। भर्तृहरि ने "सन्त" शब्द का प्रयोग परोपकारी तो कालिदास ने बुद्धिमान के अर्थ में किया है।[3]

संत काव्य परम्परा का उद्भव एवं विकास—

जिस समय संत साहित्य की रचनाओं का आरम्भ होने लगा था उस समय विचार स्वतन्त्रता की भावना का प्रचार कम न था। वह एक ओर जहाँ दूसरों के कथन मानकर ही पूरी आस्था दिखाकर किसी साधना में प्रयुक्त हो जाने तथा साथ ही उसकी सच्चाई को निजी अनुभव द्वारा ही न परख लेने को अधूरा मानते थे, वहां दूसरी ओर उनका यह भी एक आदर्श रहा कि स्वयं अपनी भी कथनी करनी में पूरा सामंजस्य रखा जाए और केवल बाहरी बातों की विडंबनाओं को कोई महत्व न दिया जाए।[4] इसी भाव भूमि के आधार पर ज्ञानेश्वर और नामदेव ने उत्तरी भारत की यात्रा की थी। यह भी सम्भव है कि उन्होंने अपनी यात्राओं में 15वी श० मे प्रचारित होने वाली संत सम्प्रदाय की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। इस दृष्टि से यदि संत सम्प्रदाय के विकास का इतिहास देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि वह संत सम्प्रदाय के रूप मे रहा और 15वीं श० में प्रचारित होने वाले उत्तर प्रदेश में वह उत्तर भारत में निर्गुण सम्प्रदाय का रूप बना।[5]

विक्रम की 13वी श० के संत कवि जयदेव से लेकर यह धारा अबाध गति से प्रवाहित है। सुदूर पश्चिम के सिंध पंजाब से पूरब के बंगाल, असम तक एवं दक्षिण के महाराष्ट्र से उत्तर के कश्मीर क्षेत्र तक इस काव्य धारा का अमृत जल जन-जन की तृषा को शांत करता रहा है। इतना ही नहीं, यवनो और अन्त्यजो से ब्राह्मण तक तथा वैरागी साधुओं से संसारी गृहस्थ नागरिकों तक सभी ने इस धारा को गतिमय रखने में अपने कमंडलु का जल डाला है। विपुल क्षेत्र में विस्तृत तथा विभिन्न काल मे अनेक वर्ण एवं स्तर के व्यक्तियों द्वारा रचित होने पर भी इस सम्पूर्ण साहित्य में विषय, साधना, पद्धति एवं अभिव्यक्ति शिल्प की दृष्टि से एक

1. संत काव्य मे योग का स्वरूप—पृ० 1-2
2. मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र—पृ० 42
3. संत परम्परा और गुरुनानक—डॉ० वासुदेव शर्मा (गुरुनानक और उनका काव्य—पृ० 132)
4. संत साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 48
5. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 73

अद्भुत समानता पाई जाती है। इन्हीं समानताओं के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों एवं अन्य सुधी समीक्षकों ने इस विशाल साहित्य को निर्गुण साधना का साहित्य ज्ञानाश्रयी निर्गुण शाखा का साहित्य या संत साहित्य कहा है।[1]

कबीर और नानक[2] के अतिरिक्त आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[3], मेकालिफ[4], डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित[5], ने भी जयदेव से इस काव्य परम्परा का प्रारम्भ माना है। डा० विष्णुदत्त राकेश[6] ने स्पष्ट शब्दों में इनका समय 13वीं श० स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं माना है।

डा० ओमप्रकाश ने इस काव्य धारा का फैलाव 15वीं श० से 18वी श० तक माना है।[7] डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह ने इसे जयदेव से 19वी० श० के महात्मा गांधी तक विस्तृत मानते हुए, संत साहित्य के 300-900 वर्ष के साहित्य को चार भागों में विभाजित किया है—1. प्रारम्भिक युग (सं० 1200 से 1550 तक) 2. मध्ययुग (पूर्वार्द्ध सं० 1550 से 1700 तक) 3. मध्ययुग (उत्तरार्द्ध सं० 1700 से 1850 तक) 4. आधुनिक युग (सं० 1800 से……)[8]

डा० मुक्तेश्वर तिवारी ने संत शब्द की व्युत्पत्ति के लिए अन्यत्र शोध की आवश्यकता पर बल दिया है।[9] उनका मत है कि सन्त-शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने ब्रह्मतत्व की अनुभूति कर ली हो तथा अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्‌रूप हो गया हो और जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया हो।[10] डा० तिवारी ने संतों की कोटि मे सगुणोपासक की गणना नहीं की। उनकी संज्ञा भक्त है।[11]

संत कवियों का वर्गीकरण—

डा० मुक्तेश्वर तिवारी ने निर्गुण संत साधना के परम्परागत संतो के आधार

1. संत काव्य मे योग का स्वरूप—पृ० 1
2. संत कबीर राग गड़ी—36
3. संत साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 13-14
4. दी सिक्ख रिलीजन—भा० 6—पृ० 16
5. हिन्दी सन्त साहित्य—पृ० 27
6. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 13-14
7. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि—पृ० 14
8. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 56
9. मध्य-युगीन सूफी और संत—डॉ० मुक्तेश्वर तिवारी—पृ० 149
10. वही—पृ० 150
11. वही—पृ० 150

पर मध्यकालीन संत कवियों को तीन काल क्रमों में विभाजित किया है।[1]

1. कबीर के पूर्ववर्ती तथा पथ-प्रदर्शक सन्त।
2. कबीर और उनके समकालीन सन्त।
3. कबीर के परवर्ती सन्त और सन्त सम्प्रदाय।

प्रथम में उल्लेखनीय नाम संत नामदेव, जयदेव आदि का है। द्वितीय में रैदास, पीपा आदि जाते हैं। अन्तिम में दादू, नानक, सुन्दरदास और मलूकदास आदि के नाम आते हैं।

वास्तव में सन्त साहित्य का या संतों का कोई वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उनकी वाणियों और उपदेशों में इतनी अधिक समानता है कि उन्हें किसी वर्ग में स्थापित नहीं किया जा सकता है। स्वयं कबीर ने अपने हाथ से कुछ नहीं लिखा उनके अनेक भक्तों ने कबीर के नाम से अनेक पदों की रचना की है। अधिकांश सन्त बहुत पढ़े लिखे नहीं थे। अत: उनकी वाणियों को अधिक प्रमाणिक न मानकर उनके मतों को ही अधिक प्रमाणित मानना चाहिए जैसे गुरु की महत्ता, वैराग्य का महत्व, संसार की असारता, ईश्वर की एकता, ईश्वर को प्राप्त करने की साधना, निर्गुण ईश्वर की भावना, यौगिक साधना के द्वारा परमशिव या ईश्वर की प्राप्ति आदि।

अत: इस आधार पर हिन्दी की संत काव्य परम्परा का प्रारम्भ 14वीं श० से माना जा सकता है क्योंकि परम्परा में कबीर का जन्म काल 1398 ई० माना गया है। इससे पूर्व के संत मुख्य रूप से हिन्दी के नहीं हैं। नामदेव सीमान्त संत कवि हैं। यह काल तुर्क अफगान शासन काल में सैयद एवं लोदी वंश के राज्य मे आता है।

हिन्दी के प्रमुख संत कवि और उनकी वाणी

नामदेव*

जयदेव के समान प्रभावशाली दूसरे संत है नामदेव जिन्होंने उत्तरी भारत की संत परम्परा को प्रभावित किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने महाराष्ट्र के नामदेव के अतिरिक्त मारवाड़ तथा बुलन्दशहर के दो नामदेव धारी व्यक्तियों की चर्चा की है।[2] आचार्य विनयमोहन शर्मा ने पांच नामदेवधारी संतों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए गुरुग्रन्थ के कवि नामदेव तथा ज्ञानदेव के समकालीन

---

1. मध्य-युगीन सूफी और संत—डा० मुक्तेश्वर तिवारी—पृ० 151
* उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 73 से 76
2. मिडीवल मिस्टीसिज्म—पृ० 57

मराठी नामदेव को अभिन्न माना है।[1]* डा० मोहनसिंह ने नामदेव की जीवनी में इनका समय 1390 ई० से 1450 ई० तक माना था। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इस मत का खण्डन करते हुए 1270 ई० जन्म तथा 1350 ई० मृत्यु सन् स्वीकार किया।[2]

महाराष्ट्रीय ज्ञान कोश के पृ० 176 पर 26 संतों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें से एक नामदेव भी हैं। उनका समय सं० 1192-1272 तथा समाधि स्थान पंढरपुर दिया गया है। पंजाब के "घोमान" नामक स्थान पर आज भी नामदेव का मन्दिर विद्यमान है। यह स्थान गुरुदासपुर जिले में है। इस स्मारक को "गुरुद्वारा बाबा नामदेव जी" कहा जाता है। ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव के अतिरिक्त महाराष्ट्र में पांच नामदेव संतों का उल्लेख और भी प्राप्त होता है।

नामदेव छीपी जाति के थे, इनका धंधा दर्जी का था।[3] बिसोवा खेचर से इन्होंने गुरु मंत्र लिया। श्री पंगारकर ने श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में पृ० 131-132 तक इसका विस्तार से विवरण दिया है। पंढरपुर में इनकी भेंट ज्ञानदेव से हुई। उत्तर-भारत की यात्रा में नामदेव और ज्ञानदेव साथ-साथ रहे। इस यात्रा से लौटने पर ज्ञानदेव ने आलन्दी में समाधि ली और इसके बाद नामदेव पंजाब चले गये। भटबल के नामियाना स्थान में सरोवर के किनारेजस्सासिंह रामगड़िया ने इसका मठ बनवाया।[4] इस सरोवर का जीर्णोद्धार रणजीत सिंह की सास सदाकौर ने करवाया। यह मत "बाबा नामदेव का सम्प्रदाय" वाला मत कहलाता है।

नामदेव की प्राचीन जीवनी विषयक कृति अनन्त दास कृत "नामदेव की परचै" है। इसका रचनाकाल अज्ञात है। अनन्त दास की परिचायियों में पीपा परिचयी का प्रतिलिपिकाल संवत 1740 वि० है अतः निश्चय ही 17वीं शती से पूर्व की उक्त परिचयी होगी। परिचयी से नामदेव का जन्म पंढरपुर आया है जिसे डॉ० बड़थ्वाल, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा आचार्य चतुर्वेदी उपयुक्त नहीं मानते।

---

1. हिन्दी को मराठी संतों की देन—डॉ० विनयमोहन शर्मा पृ० 100

* डा० प्रभाकर माचवे ने भी सिद्ध किया है कि महाराष्ट्र के नामदेव और पंजाब के नामदेव दो नहीं है। वे वस्तुतः एक ही हैं —संत नामदेव और गुरूनानक (गुरूनानक और उनका काव्य—पृ० 138)

2. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—पृ० 107
3. ग्रंथ साहब रागु आसा—पृ० 427
4. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग—4, पृ० 114

सेवा भाव, पर्यटन तथा चमत्कारी कृत्यों की चर्चा के अतिरिक्त जीवनी सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री इसमें नहीं हैं।

नामदेव बाह्याचार के विरोधी थे। ये ग्रहस्थ में रहते हुए भी निर्लिप्त थे। त्रिलोचन इनके समकालीन संत थे। ग्रन्थसाहब में दोनों के पारस्परिक संवाद होने के संकेत मिलते हैं। नामदेव के सम्बन्ध में आख्यायिका प्रचलित है कि नामदेव अपने पहले जीवन में डाकू थे और बाद में हृदय परिवर्तन हुआ।[1] भक्ति मार्ग के अनुयायी कवि और प्रवर्तक के नाते नामदेव का तिहरा महत्व हैं।[2]

नामदेव की गुरु परम्परा[3]

आदिनाथ
- उमा
- मत्स्येन्द्रनाथ
  - गोरखनाथ
    - गैनीनाथ
      - निवृत्तिनाथ
- जलंदर

1. अ—गुरुनानक और उनका काव्य—पृ० 141
   ब—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने नामदेव के जीवन की इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है कि जवानी में नामदेव डाकू बन बैठा था और लूटमार कर आजीविका चलाता था। एक दिन उसके दल ने 84 आदमियों के समूह को मार डाला। शहर से लौटकर आने पर उसने एक स्त्री को अत्यन्त करुण क्रंदन करते हुए पाया। पूछने पर मालूम हुआ कि उसके पति को डाकुओं ने मार डाला है। उसे अपने कृत्य पर उत्कट घृणा हो आई और वह घोर पश्चात्ताप करने लगा। विसोवा खेचर को गुरु बनाकर वह भक्ति-पथ में अग्रसर हुआ और विठोवा की भक्ति में अपने जीवन को उत्सर्ग करके एक उच्च कोटि का संत हो गया।—हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—पृ० 96
2. गुरु नानक और उनका काव्य—पृ० 139
3. हिन्दी को मराठी संतों की देन—पृ० 108

ज्ञाननाथ	सोपानदेव	मुक्ताबाई

ज्ञाननाथ
|
विसोबाखेवर
|
नामदेव
|
चोखामेला

बारकरी संतों की गुरू परम्परा "आदिनाथ" से प्रारम्भ होती है। नाथ-सम्प्रदाय में आदिनाथ ही उसके प्रवर्तक माने जाते हैं। ये आदिनाथ कौन है—इसका निश्चित ज्ञान नहीं है। ऐतिहासिक शोध से कुछ भी प्राप्त नहीं है। धार्मिक विश्वास है कि आदिनाथ भगवान शिव ही है। "गोरख-विजय" मे एक कथा है कि एक बार शिवजी समुद्र के किनारे एक पहाड़ी पर पार्वती को जीवन-मृत्यु सम्बन्धी महा-ज्ञान नामक उपदेश दे रहे थे। उसका परिणाम यह कहा जाता है कि जो उसे सुनता है, वह मृत को बचा सकता है और देवताओं को अपने आधीन कर सकता है। जिस समय शंकर-पार्वती महाज्ञान की चर्चा में रत थे, मत्स्येन्द्रनाथ वहीं तपस्या कर रहे थे और उसे सुन रहे थे। जब शिवजी ने यह जाना, तब उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को शाप दे दिया कि यह महाज्ञान तू नारी-माया मे फँसकर खो देगा। मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) ने गोरखनाथ आदि शिष्यों में "वह ज्ञान" संचरित कर दिया। पार्वती को विश्वास था कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो नारी के वशीभूत न हो। पार्वतीजी परीक्षाप्रिय हैं। उन्होंने मीननाथ और गोरखनाथ आदि की परीक्षा ली। गोरखनाथ को छोड़कर सभी मायावश हो गए। जब मीननाथ कदलीपत्तन मे जाकर नारी-जाल में फंसे, तब गोरखनाथ द्वारा उनका उद्धार हुआ। इस कथा से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाथमत शैवमत से निकला है।[1]

वारी (यात्रा) करी (करने वाला)=यात्रा करने वाला। जो यात्रा करता है वह वारकरी कहलाता है। धार्मिक दृष्टि से उसे वारकरी कहते हैं जो पंढरपुर स्थित विट्ठल की मूर्ति का उपासक है और आषाढ़ तथा कार्तिक शुक्ल एकादशी को नियमित रूप से पंढरपुर की यात्रा कर मूर्ति के दर्शन करता है।[2]

पंढरपुर स्थित इस विट्ठल मूर्ति को कोई जैनमूर्ति कहते हैं। भारतवर्षीय अर्वाचीन कोश पृ० 288 में इसे नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति कहा गया है और अपने

1. हिन्दी को मराठी संतों की देन—पृ० 59
2. वही—पृ० 69

कथन के समर्थन में कहा गया है कि श्री नेमिनाथ की जो मूर्ति दो हाथ ऊंची यहाँ पर महात्मा द्वारा स्थापित है, उसकी पूजा बड़े-बड़े राजा करते हैं।[1]

नामदेव की वाणी

नामदेव के पदों की मूल पाण्डुलिपि अप्राप्य है। उनके बहुत से हिन्दी पद सिक्खों के "गुरू ग्रंथ साहिब" और थोड़े से आवटे द्वारा संकलित "सकल संत गाथा" तथा यत्र-तत्र मठों की पोथियों में मिलते हैं। "गुरू ग्रंथ साहिब" का संकलन सन् 1606 ई० के आस-पास नामदेव के समाधिस्थ होने के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद हुआ है। इस अवधि में मूल पदों में थोड़ा बहुत अन्तर स्वभावत: आ गया होगा। यों जनता संतों की वाणी में दैवी शक्ति को मानकर उनका शुद्ध पाठ रखने का प्रयत्न करती है। फिर भी लेखन त्रुटि और श्रवण भ्रान्ति के कारण यहाँ-वहाँ अक्षरों और शब्दों में भेद पड़ ही जाता है।[2]

नामदेव के 62 पद ग्रंथ साहिब में दिए गए हैं। मराठी संग्रह में पदों की संख्या 102 हो गई है। ग्रंथ साहब के पद 18 रागों में हैं। ओधसिंह ने भगतवाणी सटीक पुस्तक में पदों की संख्या 60 तथा चरणसिंह ने वाणी ब्यौरा में पदों की संख्या 60 मानी है। डा० धर्मपाल मैनी ने सही संख्या 61 मानी है। इधर डा० भगीरथ मिश्र ने 1964 ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से नामदेव की हिन्दी पदावली संकलन प्रकाशित कराया है। इसमें 130 पद तथा 13 साखियों का समावेश है। ग्रंथ साहब में संकलित इनके पदों में वे पद भी हैं जो निर्गुण उपासना विषयक तथा वृद्धावस्था में लिखित है।[3]

कबीर

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में किवदंति प्रचलित है कि स्वामी रामानन्द जी की सेवा में एक दिन एक ब्राह्मण आया। उसकी विधवा पुत्री भी उसके साथ थी। जब उस विधवा ने महात्मा के चरणों का स्पर्श कर प्रणाम किया तो उनके मुख से आशीर्वाद निकल गया कि पुत्रवती भव। विधवा को पुत्र रत्न प्राप्त तो हुआ, किन्तु वह लोकलज्जा के कारण उसे लहर तारा तालाब के किनारे छोड़ आई जो बाद में नीमा और नीरू को प्राप्त हुआ। किवदंति की सत्यता के सम्बन्ध में तो कुछ भी कहना सम्भव नही है।

---

1. "नेमिनाथस्य या मूर्तिः त्रिषुलोकेषु विश्रुता। द्वौ हस्तौ कटिपय्यपि स्थापिरयित्वा महात्मनः। मूर्ति तिष्ठति सा सम्यक् जैनेन्द्रेण च पूजिता" "आदि" —हिन्दी को मराठी संतों की देन—पृ० 72
2. वही—पृ० 121
3. उत्तरी भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 74

इनका जन्म तैमूर के आक्रमण के वर्ष 1398 ई० में बनारस में माना जाता है ।[1] वस्तुतः इस काल के संकेत में एक गम्भीर युगदृष्टि निहित मानी जा सकती है । अधिकांश विद्वान् कबीर को जुलाहा जाति का मानते हैं । यह प्रश्न अलग है कि सम्भवतः उनका पालन पोषण जुलाहे के घर में हुआ अथवा उन्होंने जन्म ही जुलाहे के घर में लिया ।[2] जुलाहा जाति के होने में भी कबीर का अपने युग की ही दृष्टि से महत्व सिद्ध होता है और इनके विद्रोही व्यक्तित्व को आधार भी मिला है । नीरू एवं नीमा नामक जुलाहा-दम्पत्ति सर्वसम्मति से कम से कम इनके पोषक पिता-माता माने जाते हैं ।[3] चेतनदास नामक साधु के प्रसंग पारिजात से यह पता चलता है कि पीपा, सेना, रविदास तथा अन्य के साथ कबीर, स्वामी रामानन्द के शिष्यों में थे ।[4] कबीर के आस-पास के क्षेत्रों में विचरण करने के सन्दर्भ भी मिलते हैं—झूंसी की यात्रा, गोमती तीर वाली पीताम्बर पीर के दर्शनार्थ गमन और शेखतकी से भेंट । कुछ अन्य सूत्रों से इनकी गुजरात, भड़ोच तथा पंढरपुर की यात्राओं के सन्दर्भ भी मिलते हैं ।[5]

कबीर के जन्म के समान ही इनकी मृत्यु भी अपने युग की हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना का प्रतिनिधित्व करती है । कबीर ने काशी में मरना अस्वीकार कर मगहर में जाकर "राम के निहोरा" को चुनौती दी थी । इसके अतिरिक्त कबीर की समाधि रत्नपुरी और जगन्नाथपुरी में होने के साक्ष्य अबुल फजल की "आइने अकबरी" और "खुलासा तबारीख" में मिलते हैं ।[6] सम्भवतः ये साक्ष्य कबीर के व्यक्तित्व की व्यापकता के प्रतीक हैं ।

कबीर के जीवन के सम्बन्ध में विशेष सूचनायें नहीं मिलतीं । परन्तु अनेक सन्दर्भों से इस बात के प्रमाण मिलते है कि कबीर गृहस्थ-जीवन में रहते हुए अपनी साधना में संलग्न थे । लोई नामक स्त्री को उनकी पत्नी कहा जाता है जो उनके व्यक्तित्व की मस्ती और व्यवसाय के प्रति उपेक्षा से उद्विग्न रहती थी । जिस

1. सं० सा० : डा० भुनेश्वर: सं० प० सा० पृ० धर्म० अभि० ग्र० पृ० 79
2. क० ग्र० पृ० 131, 134, : सं० कबीर, पृ० 67 : डा० हजारी प्रसाद, कबीर प्रस्तावना, पृ० 9
3. रे० अहमदशाह : दि बीजक आव कबीर, पृ० 4
4. स्वामी रामानन्द और प्रसंग पारिजात हि० रा० 1932
5. कबीर एक विवेचन—डा० सरनाम सिंह—पृ० 63, 84
6. सं० कबीर, पृ० 169, 6
   वही पृ० 72 : ड कबीर एक विवेचन—पृ० 67
   दबिस्ताने मजाहिब पृ० 200—पृ० 67

सामाजिक स्तर से उनका सम्बन्ध था, विशेषकर जब वे अपनी बुनाई का पेशा मनोयोग-पूर्वक स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनके पारिवारिक जीवन में पुत्र-पुत्रियों की कल्पना भी की जाती है, यद्यपि इस विषय में निश्चित प्रमाण जुटाना आसान नहीं है। कबीर के जीवन-सम्बन्धी इन किंचित् संकेतों के आधार पर उनके युग और व्यक्तित्व के द्वन्द्व को भली भांति ग्रहण किया जा सकता है। कबीर की मृत्यु 1518 ई० में मानी जाती है।[1]

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में कहावत प्रचलित है कि उन्होंने अपने भक्त सुरतिगोपाल तथा काशीनरेश बीरसिंह बघेल एवं नवाब बिजली खाँ को अपनी मृत्यु की पूर्व सूचना दे दी थी। वे अपनी कुटिया में पुष्प-गुच्छ बनवाकर उसमें साधना हेतु प्रविष्ट हो गए थे। मृत्यु उपरान्त उनके शरीर की खोज की गई। नौबत झगड़े तक पहुंच गई। अन्त में हिन्दू और मुसलमानों में पुष्प आधे-आधे बँट गए। आधे दफन हुए, आधे पर समाधि बनाई गई। मगहर में कबीरपंथी समाधि और कबीर वंशी मकबरा आज भी है।

कहते हैं कि रामानन्द पहले मुसलमान को चेला बनाने में हिचके। इस पर कबीर ने एक युक्ति सोची। रामानन्द जी पंचगंगा घाट पर रहते थे और सदैव ब्राह्म-मुहूर्त में गंगा-स्नान करने जाया करते थे। एक दिन जब कबीर ने देख लिया कि रामानन्द स्नान करने चले गए तो सीढ़ी पर लेट कर वह उनके लौटने की बाट जोहने लगे। रामानन्द लौटे तो उनका पांव कबीर के सिर से टकरा गया। यह सोचकर कि हमसे बिना जाने किसी का अपकार हो गया है, रामानन्द "राम-राम" कह उठे। कबीर ने हर्षोत्फुल्ल होकर कहा कि किसी तरह आपने मुझे दीक्षित कर अपने चरणों में स्थान तो दिया।[2] इस प्रकार कबीर रामानन्द के शिष्य हो गए।

कबीर-वाणी

कबीर साहब की श्रमजीवी साधुता का सिद्धान्त निबाहने के लिए कुछ साधु हस्तलेखन का कार्य किया करते थे। इन्हें महन्त को अर्पित कर दिया जाता था जो यथावसर पुष्पिका लिखकर अपने शिष्य या प्रेमी को दिया करता था। कबीरचौरा में हस्तलेख विसर्जन की भी परम्परा रही है। जब प्रतियां प्रयोग से जीर्ण-शीर्ण हो जाती थी तो उनकी प्रतिलिपि कर ली जाती थी और मूल लेख को गंगा में विसर्जित कर दिया जाता था। अतः कबीरचौरा में कबीर-वाणी के बहुत अधिक प्राचीन हस्तलेख नहीं मिलते। फिर भी यहां कबीर-ग्रन्थों में "बीजक" के अनेक

---

1. उत्तर भारत की संत-काव्य-परम्परा-आचार्य परशुराम चतुर्वेदी पृ० 167, सं० कबीर,—डा० मोहनसिंह पृ० 73, क० हि बायोग्राफी पृ० 32
2. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—पृ० 110

पाठों के अतिरिक्त कबीर वाणी और "साखी ग्रन्थ" उपलब्ध हैं। पंचग्रन्थी (बीजक टीका), ज्ञानसागर तथा कबीर मुहम्मद बोध आदि भी उपबब्ध है।[1]

जीर्ण प्रति की यथासम्भव अक्षरशः नकल की जाती थी और कोई पद या पंक्ति जोड़ना अपराध माना जाता था। शब्दों के अनुलेखन में अक्षर मात्राओं का छूटना चिन्ता का विषय था इसीलिए लिपिकार "जो प्रति देखा सो लिखा मम दोसो न दीयते। साधु संत से विनती मोरी। टूटत अक्षर लेब सब जोरी"॥ लिखकर अनुलेखन प्रमाद से मुक्त हो जाया करता था। यही कारण है कि बीजक की 200 वर्ष से अधिक प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ नहीं मिलतीं।[2]

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध" ने आदि ग्रन्थ (गुरू अर्जुनदेव), कबीर बीजक (महाराजा विश्वनाथ सिंह), कबीर शब्दावली, चार भाग (वेलवेडियर प्रेस), कबीर कसौटी (बा० लहन सिंह) कबीर ऐंड दी कबीर पंथ (रेवरेंड जी० एच० वेस्कट), चौरासी अंग की साखी (बिहारीदास), भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय (अक्षयकुमार दत्त), भक्तिसुधाबिंदु स्वाद (महात्मा सीताराम शरण), मिश्रबंधु विनोद, प्रथम खंड, रहनुमायाने हिन्दी (मन्थनाथ दत्त), सटीक कबीर बीजक (साधु पूरनदास), संप्रदाय (प्रो० वी० बी० राय), साखी संग्रह (बेलवेडियर प्रेस) तथा ज्ञानगुदड़ी वो रखते (बेलवेडियर प्रेस) के आधार पर कबीर वाणी के 21 ग्रन्थों का उल्लेख किया है—1. सुखनिधान, 2. गोरखनाथ की गोष्ठी 3. कबीर पंजी बलरव की रमैनी 5. आनन्दराम सागर 6. रामानन्द की गोष्ठी 7. शब्दावली 8. मंगल 9. वसंत 10. होला 11. रेखता 12. झूलन 13. कहरा 14. हिंदौल 15. बारहमासा 16. चाँचर 17. चौंतीसी 18. अलिफनामा 19. रमैनी 20. साखी और 21. बीजक।

हरिऔध जी ने लिखा है कि मुझे कबीर साहब के मौलिक ग्रन्थों में से केवल दो ग्रन्थ मिले, एक बीजक और दूसरा चौरासी अंग की साखी। इनके अतिरिक्त बेलवेडियर प्रेस की छपी कबीर शब्दावली चार भाग, ज्ञानगुदड़ी व रेखते और साखी संग्रह नाम की पुस्तकें भी हस्तगत हुई। बेलवेडियर प्रेस के स्वामी "राधास्वामी मत" के हैं। इस मतवाले कबीर साहब को अपना आदि आचार्य मानते हैं, इसलिए इस प्रेस की छपी पुस्तकों के बहुत कुछ प्रमाणित होने की आशा है।[3]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर वाणी का वर्गीकरण निम्न रूप में किया है—

---

1. साधमता हैसार—सं० डा० शुकदेव सिंह : विवेकदास (कबीर चौरा मठ में हस्तलेख)—पृ० 108
2. बीजक—गंगाशरण शास्त्री—पृ० 19
3. कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"—पृ० 30

(1) बड़े-बड़े संग्रह ग्रंथों में प्राप्त कबीर की रचनाओं के रूप में प्राप्त जैसे पंच बानी सर्वंगी आदि ग्रन्थ ।

(2) विभिन्न संग्रहों के रूप में—अधिकांश पद साखियाँ और रमैनियाँ इसी प्रकार की हैं ।

(3) स्वतन्त्र संग्रह जैसे बीजक ।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के मतानुसार बीजक कबीर का प्रमाणिक संग्रह है। पर बीजक के बाहर भी कबीर की वाणियाँ रही हैं । कबीरपंथियों में कबीरदास ने स्वयं वेद के 4 भेद बताए गए हैं—(1) कूटवाणी, (2) टकसार (3) मूलज्ञान और (4) बीजक वाणी । इनमें से कूटवाणी को महात्मा धर्मदास ने प्रचारित किया था । शेष के बारे में कहा जाता है कि उन्हें क्रमशः कर्नाटक के चतुर्भुज दास, दरभंगा के राय बंके जी और शाममल्ला द्वीप और मानपुर के हीरा मीरॉस जी प्रचार करेंगे। सो इन अपार वाणियों का पार पाना कठिन है और उनकी नित्य-स्फीयान काया का लेखा जोखा भी दुष्कर है । पर इतना निश्चित है कि बीजक के बाहर भी कबीरदास की कुछ वाणियां जरूर रही होंगी ।[2]

1561 वि० तथा 1881 वि० की दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सर्वप्रथम डा० श्याम सुन्दरदास ने 1985 वि० में कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन किया । दोनों के लिपिकाल में 320 वर्ष का अन्तर होते हुए भी पाठ्य भेद बहुत कम है ।[3] डा० द्विवेदी, आचार्य चतुर्वेदी तथा डा० रामकुमार वर्मा 1561 वि० की प्रति को उतनी पुरानी मानने में सन्देह प्रकट करते हैं । डा० वर्मा ने इस प्रति में पंजाबीपन देखकर इसे प्रमाणिक नहीं माना, उनकी दृष्टि से इसमें पूरबीयन होना चाहिए था । आचार्य चतुर्वेदी ने 1830 वि० को जोधपुर वाली प्रति से इस पाठ को अभिन्न समझकर पाठ की प्राचीनता स्वीकार की है पर 257, 258 संख्यक पदों जैसी रचनाओं को कबीर कृत मानने में सन्देह किया है ।[4] डा० विष्णुदत्त राकेश का मत है कि इतना होने पर भी अभी तक इससे प्राचीनतम पाठ उपलब्ध नहीं है अतः यही कृति कबीर की विचारधारा को समझने में सहायक होगी ।[5]

बीजक पर रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह की टीका प्राचीनतम है फिर तो पादरी प्रेमचन्द, पूरनसाहब, अहमदशाह, काशीदास, विचारदास, राखवदास तथा हनुमानदास शास्त्री ने टीकाएँ लिखकर कबीर के सिद्धान्तों की व्याख्याएं कीं । आदि

---

1. कबीर साहित्य की परख—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—पृ० 73
2. कबीर—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० 19
3. कबीर ग्रन्थावली—डा० श्याम सुन्दरदास—पृ० 7
4. कबीर साहित्य की परख—पृ० 75
5. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 92

ग्रन्थ में कबीर के 225 पद, 244 श्लोक, 1 बावनी (45 पद), 1 थिति (16 पद), 1 वार (8 पद) (18 रागों में) कुल मिलाकर 538 वाणियां संकलित हैं।[1]

ज्ञानी प्रताप सिंह ने भगवतदर्शन के वचनारंभ में 541 छन्दों, चरणसिंह ने वाणी ब्यौरा में 541 छन्दों की गणना की है। कबीर की रचनाओं में रामदास गौड़ ने हिन्दुत्व पृष्ठ 734 पर 71 तथा डा० रामकुमार वर्मा ने आलोचनात्मक इतिहास में 61 ग्रन्थों का उल्लेख किया है पर नाभादास ने भक्तमाल में रमैनी संबद और साखी का उल्लेख किया है अतः रमैनी, सबद, साखी संग्रह रचनाएं कबीर की मान लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये।[2]

डॉ० शुकदेव सिंह ने बीजक की चुरामनदास की प्रति (1289 फसली 1892 ई०), गुरुप्रसाददास की खास पोथी (1937 सं० 1880 ई०), पानीदरवाजा बड़ौदा की पोथी (सं० 1947, 1890 ई०), अर्जुनदास की कबीर चौरा पोथी (अलिखित समय) तथा गोंडा प्रति बस्ती (सं० 1948, 1891 ई०) का उल्लेख किया है।[3]

डॉ० पारसनाथ तिवारी ने विस्तार से कबीर वाणी के स्तोत्रों का उल्लेख किया है जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

कबीर वाणी के स्त्रोत

(अ) हस्तलिखित प्रतियां	(ब) मुद्रित प्रतियां	(स) कबीर के नाम पर प्रचलित अन्य प्रचलित संप्रदायों के ग्रन्थ (32 संस्करण)
1. श्री दादू-महाविद्यालय जयपुर की प्रतियां	1. बीजक की प्रतियां	1. विचार माला
2. दादूपंथी प्रतियां	2. श्री गुरुग्रन्थ साहब की प्रतियां	2. काफिरबोध।
3. निरंजनीपंथी पोथियां	3. नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकें	3. रतनजोग (अष्टांगजोग)

1. संतों के धार्मिक विश्वास—डा० धर्मपाल मैनी—पृ० 117
2. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 93
3. बीजक—सं० गंगाशरण शास्त्री—पृ० 28-29

4. श्री कबीर मंदिर, मोती-डूगरी की प्रतियाँ	4. शब्दावली की प्रतियां	4. जैन धर्म-बोध
5. नागरी-प्रचारिणी सभा वाराणसी की प्रतियां	5. साखी-ग्रन्थ	5. नीति ग्रन्थ
6. हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की प्रतियां	6. फुटकल संकलन	6. अन्य ग्रन्थ
7. श्री उदयशंकर शास्त्री के संग्रह की प्रतियाँ	7. परवर्ती रचनाएं	
8. इंडिया-आफिस लायब्रेरी की प्रतियां		
9. श्री अगरचन्द नाहटा की प्रतियां		
10. खोज रिपोर्टों में उल्लिखित प्रतियां।		
11. अन्य फुटकर उल्लेख		

कबीर के काव्य की मूल भित्ति है, सहज साधना, गुरु महिमा, नाम-स्मरण, बाह्याचार खण्डन। कबीर का साध्य है माया से रक्षा। माया से रक्षा के लिए इन्द्रिय संयम, वैराग्य, मन को कूटना, गुरु-कृपा तथा कर्म और योग का समन्वय आवश्यक है। ब्रह्मानुभूति के लिये वेद-कुरान-व्यर्थ है सच्चे साधु की अनुभूति ही इसमें प्रमाण है।[1]

रविदास

रविदास के विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं—रविदास, रैदास, रोहीदास, रोहितास, सहदास, रमादास, रामदास, हरिदास। इनमें से रविदास तथा रैदास दो नाम तो ऐसे है जो दोनों ही संत रैदास की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। शेष नाम उनकी रचनाओं मे नहीं मिलते। वे सभी नाम विभिन्न अन्य लेखकों या अन्य व्यक्तियों के द्वारा उनके लिये प्रयोग किये गये है।[2] संत रैदास का मूल नाम "रविदास" ही था जो कि उच्चारण भेद से रैदास हो गया। अन्य सभी नाम विभिन्न क्षेत्रों में उच्चारण भेद अथवा अन्य भावों के आरोप से बनते रहे। इन सभी नामों के विभिन्न परिवर्तित रूपों को देखते हुए इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि संत रैदास दास का प्रसिद्धि-क्षेत्र अवश्य ही बहुत विस्तृत रहा है।

---

1. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 93
2. संत रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह—पृ० 1
3. वही—पृ० 4

रैदास का जन्म कबीर से कुछ पूर्व 1888 ई० में और मृत्यु 1518 ई० में माना जाता है। इस प्रकार इनकी आयु 130 वर्ष ठहरती है। वस्तुतः सन्तों की आयु को उनके अनुयायियों ने बढ़ाकर ही कहा है। इनकी मात का नाम घुरबिनिया और पिता का नाम रघु था। ब्रिग्स ने इनकी पत्नी का नाम लोना दिया है। कबीर के समान यह भी गृहस्थ थे और अपना पैतृक पेशा जूते गाँठना और मरे हुए जानवरों को ढोना किया करते थे। जाति के ये चमार थे। अपने जीवन काल में रैदास ने विस्तृत क्षेत्र में यात्रायें की थी—यह गुड़गाँव, रोहतक, गुजरात तथा राजस्थान में विशेष रूप से पाये जाने वाले इनके अनुयायियों से सिद्ध होता है। धार रियासत के माड़ोगढ़ तथा चित्तोड़ के कुम्भ श्याम के मन्दिर के पास रैदास की छतरियाँ हैं। वियोगीहरि के अनुसार, मद्रास के तिरुपति तीर्थ में बालाजी पर्वत के नीचे वैकुण्ठ कोल नामक स्थान पर रैदास की गद्दी और समाधि बनी हुई है।[1]

रविदास के जन्म के सम्बन्ध में भक्तमाल की टीकाओं तथा परचई साहित्य के आधार पर आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद ने लिखा है कि रविदास के जन्म सम्बन्धी विचित्र घटना वैज्ञानिक युग के लोगों को चाहे भले ही मान्य न हो किन्तु भक्त हृदय स्वीकार करता है कि रविदास जी का जन्म चमार के घर में उनके ही पूर्व जन्म के गुरु रामानन्द जी के साथ से ही हुआ था और रविदास जी ने अपने पूर्व जन्म का स्मरण करके ही अपनी माता करमा देवी के स्तन से दूध-पान नहीं किया था। माता के स्तन से दूध तब पिया जब स्वामी रामानन्द जी ने रघु चमार के घर पर आकर नवजात बालक को आर्शीवाद दिया। रविवार के दिन जन्म के कारण बालक का नाम रविदास रखा गया।[2]

18 वर्ष की आयु में ही रविदास ने राम आराधना प्रारम्भ कर दी थी।[3] रविदास के पारिवारिक जीवन का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इनकी पत्नी का नाम लोना था। लोना चर्मकारों की एक देवी का भी नाम है। जो सुख-शान्ति की देवी कहलाती है।[4] रविदास पुराण में इनके एक पुत्र विजयदास का भी उल्लेख हुआ है। किन्तु अन्यत्र इस की पुष्टि नहीं होती।[5]

रविदास ने चाहे भले ही विधिवत् किसी पाठशाला में प्रवेश कर शिक्षा प्राप्त न की हो किन्तु संसार की पाठशाला ने उन्हे वेद-उपनिषद, गीता, भागवत्,

1. संत-साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 20
2. गुरु रविदास—आचार्य पृथ्वी सिंह—पृ० 13
3. दि चमार्स—मेजर ब्रिग्स—पृ० 205
4. गुरु रविदास—पृ० 16
5. वही—पृ० 16

पुराण आदि का ज्ञान करा दिया था। उन्होंने एक मौलवी से फारसी का ज्ञान भी प्राप्त किया था।[1]

बड़े से बड़ा आर्थिक आकर्षण भी उन्हें अपने मार्ग से नहीं हटा सका। जूते गांठकर पेट भरना उनकी आजीविका का आदर्श था। उच्चवर्ग ने एक चमार (रविदास) द्वारा धर्मोपदेश विरोध का किया। राजदरबार में उच्च वर्ग को पराजय का मुख देखना पड़ा।[2]

आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद ने रैदास की परचई के आधार पर रविदास का चमार के घर जन्म होने के कारण पूर्व जन्म में ब्राह्मण होने पर भी मांस खाना बताया है। इसके लिये उनके गुरु ने उन्हें शाप दिया था।[3] कहा जाता है कि इस जन्म में रविदास किसी भी पशु को मार कर जूता नहीं बनाते थे। वरन मरे हुए जानवर का चमड़ा मोल लेकर तब उसका जूता बनाते थे यह भी प्रसिद्ध है कि वे किसी भी साधु पुरुष को किसी भी कीमत को लिये बिना जूता पहिना देते थे।[4]

आचर्य पृथ्वी सिंह की मान्यता है कि गुरू रविदास ने स्वयं अपना कोई पंथ स्थापित किया हो, यह संभव नहीं। कोई भी सिद्ध संत इस गुरूडम तथा पंथवाद का पक्षपाती नही होता। नि:संदेह गुरू रविदास जी भी नहीं थे। किन्तु उनके मतवाद की परम्परा चलती रही, यह सत्य है। सन् 1891 ई० की जनगणना के अनुसार रविदास जाति अथवा रविदास पंथ के लोग 1157 उपजातियों में विभक्त पाये गये।

रविदास की वाणी

रविदास पुराण की हस्तलिखित प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रहालय बीकानेर में सुरक्षित है। अनन्तदास की लिपिबद्ध रविदास की परचई की हस्तलिखित प्रति भण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना में उपलब्ध है। बखशीदास द्वारा लिपिबद्ध एक अन्य रैदास-रामायण की हस्तलिखित प्रति भी व्यक्तिगत संग्रहालय में है। रविदास की वाणी बेल्वेडियर प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई है। आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद ने "रविदास दर्शन" ग्रंथ में भी रविदास वाणी का संकलन किया है जो श्री गुरू रविदास संस्थान चंडीगढ़ से 1973 ई० मे प्रकाशित हुआ है।

गुरू रविदास जी को 14 वीं शती के उन संत कवियों में एक अग्रणीय स्थान प्राप्त है जिन्होंने सहज और सरल भाषा में अपनी वाणियों और शब्दों द्वारा भक्ति

---

1. गुरु रविदास—पृ० 17-18
2. वही—पृ० 29
3. वही—पृ० 14
4. संत रैदास—पृ० 26

रस की पावन गंगा बहायी, मानवमात्र के लिए समता का संदेश दिया, तत्कालीन भारत के करोड़ों अशांत लोगों को आश्वस्त एवं शांत किया और अंध-विश्वासों व असमानता से पीड़ित जनमानस को उद्‌बोधन दिया था। इनकी वाणी में कटुता नहीं, अपितु मधुरता और विनम्रता है। उन्होंने न तो किसी पर कठोर आक्षेप किये और न व्यंग्य। उनकी वाणी जन-साधारण के लिए रोशनी की मीनार है।[1]

रविदास की वाणी की विशेषताओं को आचार्य पृथ्वी सिंह आज़ाद के आधार पर इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

रविदास की वाणी की विशेषतायें

1. दोहा और पद शैली में प्राप्त।
2. जन भाषा एवं राग-रागनियों का प्रयोग।
3. शंकाओं को सुलझाने में सहायक।
4. अनाडंबर और आत्मसमर्पण युक्त वाणी (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के अनुसार।)
5. मानवता वाद युक्त वाणी।

रविदास की वाणी में वर्णित विषय ब्रह्म, माया, धर्म, कर्म, कुमार्ग, जाति विरोध, भक्ति, अपरिग्रह, आदि हैं।

दादूदयाल

दादूदयाल के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। उनके जन्म आदि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। स्वामी नारायण दास ने अकबर से भी दादू की भेंट का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि अकबर ने दादू को मन्त्र का उपदेश देने के लिए भी आदरपूर्वक आमन्त्रित किया था। दादू पर लिखने वाले विद्वानों को निम्न रूप में विभाजित किया जा सकता है—

दादू पर लिखने वाले विद्वान्

विदेशी विद्वान्	भारतीय विद्वान्	दादूपंथी विद्वान्

दादू पर लिखने वाले विदेशी विद्वान्

1. डा० विल्सन 2. फार्यूहर 3. डा० ग्रियर्सन 4. डब्ल्यूक्रुक 5. जान ब्रेल 6. जी० आर० सिन्डस 7. गार्सी द तासी 8 डब्लू० जी० 9. एडवर्ड बाशबर्न हॉप किन्स 10. विलियम क्रुक 11. जफर 12. डेविडशीया 13 एन्थोनी ट्रायर 14. जोन कैम्पबेल ओमन 15. पार कुहर 16. आर० साथियाना थापर 17. ई

1. गुरु रविदास—प्रस्तावना से (पृ० 3, 4, 5)

रॉयस्टन पाइक 18. जैम्स हेस्टिंग्स 19. डब्लू० जे० विलिकन्स, 20. आर० डब्लू 21. जान ट्रेल, 22. निकोल मैकनीकोल 23. रेवरेण्ड एफ० ई० 29. सरचार्ल्स ईलियट और 22. इम्पीरियल गजेटीयर ऑफ इण्डिया जिल्द दो 26. एसियाटिक रिसर्चेज आदि ।

भारतीय विद्वान्

1. क्षितिमोहन सेन 2. तारादत्त गैरोला 3. रामचन्द्र शुक्ल 4. डा० रामकुमार वर्मा 5. सुधाकर पांडेय 6. डा० ताराचन्द 7. डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल 8. वियोगी हरि 9. कल्याण का संतांक 10. कल्याण का साधनांक 11. ऋषि शिक्षा पत्रिका 12. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 13. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी 14. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी 15. डा० गोविन्द त्रिगुणायत 16. भगवतव्रत मिश्र, 17. हरिदास भट्टाचार्य 18. दी जर्नल ऑफ दी एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 19. डी० एस० शर्मा 20. सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव 21. हिन्दी शब्द सागर दूसरा भाग 22. गुरुशब्द रत्नाकर 23. पं० शिव शंकर मिश्र 24. हरि 25. रामनरेश त्रिपाठी 26. नगेन्द्रनाथ वसु 27. मोहनलाल वडज्यात्या 28. रामदास गौड 29. साधु चरणप्रकाश 30. बालेश्वर प्रसाद 31. पं० रामशरण शास्त्री 32. राय बहादुर हीरालाल 33. प्रीतमसिंह 34. जोगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य 35. स्वामी दयानन्द 36. स्वामी रामचरण 37. गणेश बिहारी मिश्र 38. श्याम बिहारी मिश्र 39. मंगलदास स्वामी 40. हरिनारायण पुरोहित 41. इदन तालब सूफी आदि ।

दादूपंथी विद्वान्

1. जनगोपाल 2. संतगुण सागर के कर्ता 3. जग्गाजी 4. चैनजी 5. राघवदास जी 6. तुलसी टीलावत 7. रामदास जी 8. उद्धवदास जी 9. ब्रह्मदास जी 10. लालदास जी 11. चंपाराम जी 12. आत्मा बिहारी जी 13. वासुदेव भट्ट 14. दौलतराम जी 15. टूदयराम जी 16. मंगलदास जी जाखल 17. आत्माराम अविनाशी 18. नारायण दास जी 19. इन्द्रदास जी 20. हीरादास जी 21. मुखराम जी 22. महन्त चेतन जो 23. सुखदयाल दादू 24 केशवदास जी आदि ।[1]

दादू का जन्म 1544 ई० में माना जाता है । इनके जन्म स्थान के विषय में एक परम्परा अहमदाबाद को स्वीकार करती है तो दूसरी काशी के पास जौनपुर को बताती है । इनके गुरु बाबा बुद्धन, रामानन्द के शिष्य परम्परा में छठे स्थान पर आते हैं । एक मत के अनुसार उन्होंने लोदीराम नागर ब्राह्मण के यहां अहमदाबाद में जन्म लिया था । अठारह वर्ष की अवस्था तक वहां रह गए 6 वर्ष तक ये मध्यप्रदेश में भ्रमण करते रहे । इसके बाद सांभर स्थान में कुछ दिन रहकर आमेर पहुंचे । उस

---

1. श्री दादू चरितामृत—(प्रथम भाग) स्वामी नारायणदास—पृ० 20·22

समय मानसिंह के पिता भगवानदास वहाँ के राजा थे। दादू 14 वर्ष तक आमेर में रहने के बाद मारवाड़, बीकानेर आदि राज्यों में घूमते हुए नारायण में आए और यहीं सन् 1603 ई० में इनकी मृत्यु हुई। फुलेरा के पास नारायण दादू पन्थियों का तीर्थ स्थान है। इन्होंने देश के काफी क्षेत्रों में यात्राएँ की थीं।[1]

दादू जी का पूर्व नाम दाऊद था। सेन साहब के इस अनुमान का खण्डन डा० उपाध्याय ने अपने दादूदयाल शीर्षक प्रबन्ध पृष्ठ 49 पर किया है। उनके अनुसार बंगाल के कराणी पठान वयाजिद के छोटे भाई दाऊद का बंगाल के सिंहासन पर अभिषेक 1626 वि० में हुआ था। दाऊद ने अपने नाम का खुतबा पढ़ने की राजाज्ञा प्रचारित की। उसी समय से बाउल दाऊद का खुतबा पढ़ने लगे। "दाऊद बन्दि" पंक्ति में दाऊद से संकेत नवाब दाऊद से है श्री दादूदयाल से नहीं। संत गोष्ठियों की परम्परा का सूत्रपात भी दादू जी ने किया। वह गोष्ठियों को चौगान कहते थे।[2]

दादू जी ग्रहस्थ थे। उनकी पत्नी साँभर निवास में उनके साथ थी। गरीबदास मिसकीन दास नामक दो पुत्र तथा नानी बाई और माता बाई नामक दो पुत्रियाँ इनके घर उत्पन्न हुई। स्वामी दादूदयाल की वाणी के सम्पादक मंगलदास ने इन पुत्रों को आर्शीवाद से उत्पन्न माना है ये दोनों ही इनकी माताओं द्वारा दादू जी को समर्पित कर दिए गए थे किन्तु जनगोपाल की परची तथा राघवदास के भक्त माल के आधार पर पूर्व बात ही सत्य सिद्ध होती है।[3]

दादू जी की जाति को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। कुछ इन्हें मोची जाति का मानते है तो कुछ मुसलमान। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी,[4] डा० मोतीलाल मेनारिया[5] तथा डा० विष्णुदत्त राकेश[6] ने इन्हें मुसलमान मानने का ही आग्रह किया है।

"दादू पंथी" शब्द दादू के शिष्य बषना जी के एक पद में आया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनके समय तक "दादू पंथ" प्रारम्भ हो गया

---

1. सं० सा० वि० आचार्य क्षितिमोहन सैन, पृ० 103 से 107 : धर्मेन्द्र अभिनन्दन पृ० 89
2. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 163
3. वही—पृ० 163
4. उत्तर भारत की संत परम्परा—पृ० 490
5. राजस्थान का पिंगल साहित्य—पृ० 183
6. उ० भा० के० नि० पं० सा० का० इ०—पृ० 165

होगा ।[1] स्वयं दादूदयाल जी ने पृथक् पंथ को अधिक महत्व नहीं दिया। विश्वधर्म की एकता उनकी कल्पना थी ।[2]

जनश्रुति है कि परमात्मा ने ही बूढ़े मनुष्य के रूप में दादू को दीक्षित किया था। दादू ने एक साखी में स्वयं ही यह बात कही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बूढा रक्तमांस का आदमी नहीं था क्योंकि निर्गुण पन्थ में गुरु साक्षात् परमात्मा माना जाता है। म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का मत है कि दादू का गुरु कबीर-पुत्र कमाला था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं जान पड़ता। दादू ने स्थान स्थान पर कबीर का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है जिससे प्रकट होता है कि वह उनको उपदेष्टा गुरु से भी बढ़कर समझते थे, यहाँ तक कि साक्षात् परमात्मा मानते थे ।[3]

सबके प्रति दादू का भाई के जैसा व्यवहार रहता था, जिससे वे "दादू" कहलाये और उनके द्रवणशील स्वभाव ने उन्हें "दयाल" की उपाधि दिलाई ।[4]

दादू जी का शव जहाँ उनका देहान्त हो जाने पर डाल दिया गया था वह भैराणे का स्थान उनके अन्तिम स्मारक के रूप मे वर्तमान है। वहाँ पर एक चबूतरा है। इस स्थान को "दादूखोल" कहा जाता है ।[5]

दादू-वाणी

अनुमान है कि दादू ने लगभग 30 वर्ष की अवस्था में सं० 1619 मे सर्वप्रथम साँभर में उपदेश दिया। दादू-वाणी को उनके प्रिय शिष्य ने उनके जीवनकाल में ही लिपिबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था, जिसका नाम मोहनजी दफतरी था। ये वाणियाँ कितनी और किस रूप में लिपिबद्ध हुई थीं, आधारभूत सामग्री के अभाव में इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नही।

दादूवाणी को व्यवस्थित रूप देने में उनके शिष्य रज्जबजी, जगन्नाथदास तथा संतदास का योगदान उल्लेखनीय है। रज्जबजी के संकलन का नाम "अंगवंधु है, जिसके सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि—

अंगबंधु की यह विशेषता है कि उसमें संगृहीत सभी पद्यों को विशिष्ट शीर्षकों के नीचे वर्गीकृत करके भी, स्थान दिया गया है और उनमें से साखियों वालों को "अंग" तथा "पदों" को राग की संज्ञा दी गई है ।[6]

---

1. बवना जी की वाणी (जयपुर) सं० 1993
2. सुन्दरदास ने एक विश्वधर्म को हरिपंथ भी कहा है—सु० ग्र० प्र० 211
3. हि० का० में० नि० सं०—पृ० 130
4. वही—पृ० 131
5. दादूदयाल—परशुराम चतुर्वेदी—पृ० 12
6. दादूदयाल—पृ० 15

जगन्नाथ दास तथा संतदास के संग्रह का नाम हरडेवाणी है। "हरडे" का अर्थ सम्भवतः पुनः पुनः एक चरण की आकृति है। सर्वगी एवं गुण गंजनामा दादू वाणी के अन्य संकलन हैं। "पंचवानी" अर्थात् पांच संतो की वाणी के रूप में भी दादू वाणी का संकलन किया गया। किन्तु उक्त संग्रहों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इन का संकलन दादू के जीवन काल में हुआ। किन्तु संकलन काल की निश्चत घोषणा सम्भव नहीं है।

दादू की वाणी दो रूपों मे उपलब्ध है। मगजिया और कागजिया मगजिया उसे कहते है जो स्मृति में सुरक्षित है और कागजिया उसे कहते है, जो लिपिबद्ध है।

दादू वाणी पदों, साखियों और गीतों के रूप में उपलब्ध है। दादूवाणी का प्रथम सम्पादन शेषराम जी ने किया था। किन्तु सम्पादित कृत्ति अनुपलब्ध है।

दादूवाणी की सबसे प्राचीन उपलब्ध हस्तलिखित प्रति नराणा की है। दूसरी प्रति दादू महाविद्यालय जयपुर में है। तीसरी प्रति उदयपुर में लिखित सभा की प्रति है। चौथी और पांचवी हस्तलिखित प्रतियां भी "सभा" की है। अन्य प्रतियां भी उपलब्ध हैं।

प्रकाशित दादू वाणी सं०1904 ई० में ज्ञान सागर प्रेस बम्बई से छपी थी। इसके उपरान्त सं०1906 और सं०1907 में नागरी प्रचारिणी ग्रंथ माला के अन्तर्गत "श्री दादूदयाल की बानी" और "दादूदयाल का सबद" प्रकाशित हुआ। सं० 1964 में पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी के सम्पादन में दादू वाणी वैदिक यंत्रालय अजमेर से छपी। सं० 1975 में जेल प्रेस जयपुर से भी दादूवानी का प्रकाशन हुआ। वेलवेडियर प्रेस प्रयोग ने सं० 1928 मे, तथा सं०2003 में श्री दादू सेवक प्रेस जयपुर से दादू वाणी का प्रकाशन हुआ। इनके अतिरिक्त श्री स्वामी मंगलदास जी द्वारा सम्पादित दादूवाणी का प्रकाशन मंगल प्रेस जयपुर से हुआ।

दादू की साखियों की संख्या 2680 तथा पदों की संख्या446 बताई जाती है।[1] अधिकांश रूप से दादू वाणी रागों के अनुसार दी गई है। किन्तु स्व० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी ने शीर्षकों एवं उपशीर्षकों का प्रयोग किया है। किन्तु प्रयोग का आधार अज्ञात है।

अतः दादू की वाणी की मौलिकता हस्तलिखित प्रतियों में होने की सम्भावना अधिक है।

हस्तलिखित प्रतियों में नागरी लिपि प्रयुक्त हुई है। राजस्थानी, गुजराती, सिंधी और पंजाबी के कारण भाषा सधुक्कड़ी हो गई है।

श्री परशराम चतुर्वेदी के अनुसार जब तक दादू का वास्तविक जीवन, उद्देश्य तथा कार्य श्रम का सच्चा स्वरूप हमारे सामने है, उनके पदों एवं साखियों की व्याख्या भी स्वभावतः ठीक उसी ढंग से हो सकती है जो उनके सर्वथा अनुरूप

---

1. दादूदयाल—पृ० 41

हो और इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह स्वप्न में भी नहीं जान पड़ सकता कि उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता भी होगी। ये बानियां किसी वर्ग विशेष मात्र के लिये कभी रची ही नहीं गई थीं और न इनका क्षेत्र ही किसी प्रकार सीमित कहा जा सकता था। दादू वाणी के अंतर्गत एक सरल हृदय की ऐसी अनुपम अभिव्यक्ति है जो अधिकतर जादू का सा काम कर जाती है तथा जो इसी कारण कभी निरे उपदेश अथवा परामर्श का रूप ग्रहण करती नहीं जान पड़ती। दादू दयाल जी जहां कहीं अपने निजी अनुभव की चर्चा करते हैं वहां पर भी वे साधारणतः हमारी ओर से भी कहते प्रतीत होते हैं। इनकी भी वर्णन शैली प्रधान रूप से उसी प्रकार आपबीतिपरक है जैसी अन्य संतों की कही जा सकती है, किन्तु इनके शब्दों में जो, हृदयोद्‌गार के साथ ही साथ एक अनुरोध सूचक संकेत भी मिल जाता है, उसका उदाहरण कहीं और नहीं दीख पड़ता। दादूवाणी वस्तुतः स्वयं दादूदयाल जी का प्रतिनिधित्व भी करती है और इसकी ओर से उन्हें अन्तः प्रेरणा एवं स्फूर्ति भी मिला करती है।[1]

दादू जी की वाणियों की संख्या 20 हजार कही जाती है। जयपुर में महन्त जयराम दास ने स्वामी दादूदयाल जी की वाणी नाम से ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। काशी से चतुर्वेदी जी के सम्पादन में उनकी वाणियों का प्रामाणिक प्रकाशन हुआ है। सन्तपाल और जगन्नाथ दास ने हरडे बानी नाम से बृहत् संग्रह प्रस्तुत किया था। एक बात इस पंथ में विचित्र है और वह यह कि दादू जी की वाणी का पाठ केवल द्विज ही कर सकते है। उसके केवल 24 गुरु मन्त्र और 24 शब्दों पर ही शूद्रों का अधिकार है। लगता है यह व्यवस्था दादूजी को ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए की गई।[2]

दादूदयाल जी की वाणियां साखियों, पदों तथा गीतों के रूप में उपलब्ध होती हैं। मुख्य रूप से साखियों अथवा पदों में इनका संग्रह किया गया है। परन्तु आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि ऐसे संग्रह का नाम सर्वत्र एक ही जैसा दिया गया नहीं दीख पड़ता।[3]

दादू वाणी सम्बन्धी हस्तलिखित प्रतियों में उनकी लिपि के नागरी होने पर भी बहुधा लिखावट की विलक्षणता पाई जाती है। जिसके कुछ कारण तो राजस्थानी भाषा एवं गुजराती सिंधी या पंजाबी की प्रमुख विशेषताओं में ही ढूंढ लिए जा

---

1. दादूदयाल—पृ० 94-95
2. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 165
3. दादूदयाल—पृ० 39

सकते है। किन्तु शेष का पता हमें उस उच्चारण विशेष में भी लग सकता है जो प्राय: "सधुक्कड़ी" कही जाने वाली बोली से सम्बन्ध रखता है।[1]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने दादू की वाणी का मुख्य विषय सिद्धान्त सम्बन्धी प्रमुख बातें जैसे अद्वैत, ब्रह्म, शून्य, सृष्टि, भ्रान्ति, तथा साधना इसके अन्तर्गत अनुभूति का प्राधान्य, साम्यभाव तथा सामाजिकता है। कुछ वाणियां दादूमत सम्बन्धी भी हैं।

अतः दादू जी की वाणी का मुख्य उद्देश्य सात्विक जीवन का निर्माण है। इसकी बातें केवल सुने सुनाए सिद्धान्तों की अपेक्षा नहीं करती और न किसी अन्य से भी अन्धानुसरण की कोई आशा रखती है। इनकी अपनी परम्परा है जो संत कबीर के समय से प्रचलित संतवाणी परम्परा की एक अनमोल कड़ी है।[2]

सुन्दर दास

इनका जन्म सन् 1596 ई० में खण्डेलवाल जाति में जयपुर राज्य की पहली राजधानी धोसा नगर में हुआ था। इनके जीवन काल में अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब—चार मुगल बादशाहों का समय पड़ता है। इनकी मृत्यु 1699 ई० तिरानहें वर्ष की अवस्था में हुई। ये अपने गुरु दादू के सम्पर्क में पांच-छ: वर्ष की अवस्था में आये थे। इनकी शिक्षा की व्यवस्था इनके गुरु भाई रज्जब तथा जीवन साहब ने 1607 ई० में काशी में की। इनका अध्ययन सन् 1626-27 ई० तक चलता रहा जिसमे इन्होंने साहित्य तथा दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। इसके बाद बारह वर्ष का समय योग साधना में बिताया। अध्ययन के बाद ये काशी से शखावाटी में लौट आये। उस समय इस क्षेत्र मे जगजीवन दास, सन्त दास, भीषण और बषना जैसे सन्त रहते थे। यहां के फतहपुर क्षेत्र में इनकी ख्याति फैल गई और यहां के नवाब अफ़जल खां ने भी इनको सम्मान दिया। इन्होंने पूर्व में बंगाल, बिहार, उड़ीसा, दक्षिण में गुजरात और मालवा, उत्तर में बद्रिकाश्रम तथा सम्पूर्ण मध्य प्रदेश में भ्रमण किया। इनकी रचनाओं से इनके अध्ययन, भाषाओं के ज्ञान तथा श्रमणशीलता का परिचय मिलता है। अन्तिम समय में सुन्दर दास जयपुर के समीप सांगनेर नामक स्थान में चले गये और वहीं इनकी मृत्यु 1689 ई० में हुई।[3]

---

1. वही—पृ० 51
2. दादूदयाल—पृ० 94
3. सु० ग्र० भूमिका, पृ० 60 : सु० दर्शन, पृ० 3 : मुथरादास की प०, पृ० 16 : रि० पा० आफ मु०, पृ 120 : हि० सा० का आ० इति० : डा० रामकुमार पृ० 369 : उ० भा० सं० पं०, पृ० 428, 429, धर्म, अभि० ग्र०, पृ० 94, 95

इनके जन्म का वृत्तान्त बड़ा ही कुतूहलपूर्ण है। इनको अपने गुरु की आज्ञा से सती के गर्भ में रहना पड़ा। कहानियां हैं कि दादू के एक प्रेमी शिष्य जग्गा जी आमेर नगर में अपने वस्त्र बुनने के लिए सूत मांग रहे थे और अपनी उमंग में यह हांक लगा रहे थे—"दे भाई सूत, ले भाई पूत"। एक कवांरी कन्या ने सूत लाकर कहा, "लो बाबा जी सूत, जग्गा जी ने कहा लो भाई पूत।" गुरु को जब यह हाल मालूम हुआ तो, वे चिन्ता में पड़े, क्योंकि उस कन्या के भाग्य में बालक लिखा नहीं था। अन्त में जग्गा जी को ही उसके गर्भ में जाकर वास लेना पड़ा और दिन पूरे होने पर उस कन्या के गर्भ से उन्होंने जन्म लिया। पिता ने बालक को दादूदयाल के चरणों में डाल दिया। दादूदयाल उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"यह बालक बड़ा ही सुन्दर है। "सुन्दर" नाम आपका तभी से पड़ा। गुरु के दर्शन मात्र से सुन्दर दास का अन्तर्ज्ञान चमक उठा। सुन्दर दास दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में थे।[1]

सुन्दर दास के शिष्यों की 5 गद्दियां कही जाती हैं जो फतेहपुर, और राजस्थान में हैं। इनके पांच शिष्य प्रसिद्ध हैं—टिकतदास, श्यामदास, दामोदर दास, निर्मलदास तथा नारायण दास।[2]

सुन्दर दास की वाणी

सुन्दर दास की वाणी के 42 ग्रन्थ उपलब्ध है जो सुन्दर ग्रन्थावली में संग्रहीत हैं। "सुन्दर विलास" तथा "ज्ञान समुद्र" और "सवैया का पद" अधिक लोक प्रिय है। सुन्दर दास की वाणी में उनकी शिक्षा की झलक विद्यमान है। अत: रचनाओं मे काव्यात्मकता के गुणो का समावेश हो गया है। दोहा और पद शैली में रचित वाणी में इन्दव, मनहर, हंसाल और दुमिल आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है।

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने लिखा है कि सुन्दरदास शृंगार रस के कड़े विरोधी थे, अन्य रसों का प्रस्फुटन अच्छा हुआ है। इनकी उक्तियों में हास्य-व्यंग्य-विनोद की सुन्दर सृष्टि है। नारी की निन्दा जीखोलकर की है। सांख्य ज्ञान और अद्वैतवाद का निरूपण विराट् रूप से किया है। इनकी भाषा काव्य की मंजी हुई ब्रजभाषा है। सन्त कवियों की सी मस्ती और अल्हड़ता की अपेक्षा गम्भीरता, गुरुता, तीखापन, सुथरापन, काव्य शास्त्रोक्त शुद्धता और परिमार्जन इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।[3]

---

1. सन्त साहित्य और साधना—डा० भुवनेश्वर मिश्र माधव—पृ० 61
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० श्री वास्तव व सिन्हा—पृ० 137
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव तथा हरेन्द्र प्रताप सिन्हा—पृ० 137

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि—

"विषय अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों से संग्रहीत तत्ववाद है जो हिन्दी कविता में नई चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले सुहृदयों के लिये विशेष आकर्षक नहीं है। छत्र बंध आदि पहेलिकाओं से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। असल में सुन्दरदास संतों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं।[1]

मलूकदास

मलूकदास का जन्म इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक कस्बे में 1574 ई० में हुआ। इनके पिता सुन्दरदास कक्कड़ी खत्री थे। इनके भतीजे एवं शिष्य सुथरादास ने एक परिचयी लिखी है जिससे इनके जीवनवृत का पता चलता है। इनके तीन भाईयों की भी चर्चा की गई है। बचपन से ही वे उदार वृत्ती के तथा साधुओ का आदर करने वाले थे। इनके गुरू के बारे में मतभेद है। कुछ लोग इनको विट्ठल दास का शिष्य मानते है और कुछ लोग देवनाथ नामक महात्मा का शिष्य। कुछ के अनुसार मलूकदास, रामानन्द शिष्य परम्परा में किसी कोल्ह नामक महात्मा के शिष्य थे, पर इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। इनका जीवन प्रायः कड़ा में ही बीता और इनकी मृत्यु वहीं सन् 1682 ई० में हुई। मलूक दास का प्रभाव अपने जीवन काल में बहुत विस्तृत था। इनके अनुयायी नेपाल तथा पटना से लेकर काबुल तक फैले हुए थे। इनकी गद्दियां जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना आदि अनेक क्षेत्रो में स्थापित हुई थी जिससे इनका प्रभाव प्रकट होता है।[2]

मलूक का प्रारम्भिक नाम मल्लू था। इनका पैतृक व्यवसाय कम्बल बेचना था। ये आजीवन गृहस्थ में रहकर साधना पथ पर अग्रसर रहे।[3] जगन्नाथपुरी, पुरुषोत्तम क्षेत्र, कालपी तथा दिल्ली तक इन्होंने यात्रा की थी। 1679 में औरंगजेब से भेंट कर कड़ा से जजिया मुक्त करवाया। औरंगजेब इनका बड़ा सम्मान करता था। किदवंती है कि बादशाह ने इन्हें बुलाने के लिए दो आदमी भेजे थे। किन्तु उनके आने से पहले वे बादशाह के पास पहुंच गये थे। 1722 में इनसे तेगबहादुर की भेंट हुई थी। प्रयाग की गद्दी दयालदास कायस्थ, इस्फाहाबाद की हृदयराम ने लखनऊ में गोमतीदास, मुलतान में मोहनदास, आंध्र कालुलम में पूरनदास तथा

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ० 37
2. धर्मे० अभि० ग्र०, पृ० 92 :, मलूकबानी, पृ० 7
3. परिचयी साहित्य—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—पृ० 141

काबुल में रामदास ने मूलक पंथ प्राचार्य स्थापित की। मनिकपुर कड़ा की गद्दी रामसनेही जी द्वारा आगे बढ़ी। ये मलूकदास के भतीजे थे। फतहखां नामक औरंगजेब का सिपाही भी इनका शिष्य था जो मीर माधव के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

मलूकदास की बाणी—

डॉ० किशोरी लाल गुप्त ने सरोज सर्वेक्षण में मलूकदास के भगतबछल, भक्त बिरदावली, गुरुप्रताप, पुरुष विलास अलष बानी, रतनखान, ज्ञानबोध, रामावतार लीला, मलूक जस, विष्णु सत्यनाम, करवा, ज्ञानपरीक्षा, ध्रुव चरित्र, मयूर ध्वज चरित्र, विभुविभूति, साखी, सुखसागर नामक 19 ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[2] डॉ० त्रिलोकी नारायन दीक्षित ने ज्ञान बोध, रतन खान, भक्त बच्छावली, भक्ति विवेक, ज्ञानपयोधि, बारहखड़ी, रामावतार लीला, ब्रजलीला, ध्रुव चरित, विभय-विभूति, तथा सुखसागर को मलूकदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं।[3]

मालूम होता है कि मलूकदास ने कई ग्रन्थों की रचना की है। लाला सीता राम ने इनके रत्नखान और ज्ञानबोध का उल्लेख किया है और विल्सन साहब ने साखी, विष्णुपद और दशरतन का। इनके स्थान पर इनका सब से उत्तम ग्रंथ भक्तिवच्छावली माना जाता है। किन्तु इनके ये ग्रंथ हमारे लिए नाम ही नाम हैं। हमें तो इनकी उन्हीं कविताओं से संतोष करना पड़ा है जो लाला सीताराम जी के संग्रह में दी गई हैं अथवा जो वेल्वेडियर प्रेस ने मलूकदास की बानी के नाम से छपी हैं। इनकी रचनाओं में विचारों की पूर्ण उदारता तथा स्वतन्त्रता झलकती है। मलूकदास ने उक्तियाँ भी बहुत अच्छी-अच्छी कही है। कबीर के नाम से यह दोहा प्रसिद्ध है—

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोव।
दोउ पाटन के बीच में, साबित रहा न कोउ।

इसके जबाब में मलूकदास ने कहा है—

इधर इधर जेई फिरै तेई पीसे जायें।
जे मूलक कीली लगैं, तिनको भय कछु नाहिं।।

एक जगह कबीर ने कहा कि कोयला सौमन स'बुन से धोने पर भी सफेद नही होता। किसी ने इसके जवाब में कहा है कि अगर कोयला जलने के लिए तैयार हो जाए तो सफेद होने में कोई अड़चन नहीं। हो सकता है यह भी मलूक का हो।[4]

---

1. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 177-178
2. सरोज सर्वेक्षण—पृ० 559
3. हिन्दी साहित्य कोश—भाग 2—पृ० 406
4. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—पृ० 137-138

रतन खानि में दार्शनिक विचार, ज्ञान परीधि में वैराग्य, आत्मा की नित्यता तथा बच्छावली में ब्रह्म की वत्सलता का निरूपण है। विभव विभूति में अष्टांग योग का निरूपण है।[1]

मलूकदास सेवा भाव की प्रमुखता को मानसिक पवित्रता के लिए आवश्यक मानते हैं। विश्व कल्याण के लिए इनकी वाणी अपना सर्वस्य त्याग की प्रेरणा देती है। मुक्ति के लिए गृहस्थ को बाधक नहीं माना है।

गुरुनानक*

नानक का जन्म संवत् 1526 वि. वैसाख शुक्ल पक्ष की तीज को तलबंडी नामक ग्राम में हुआ था। पिता का नाम कालूचन्द खत्री तथा माता का नाम तृप्ता था। तलबंडी ग्राम लाहौर के दक्षिण-पश्चिम में 30 मील दूर है। पिता पटवारी थे और कृषि द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। करतारपुर में 1595 वि. आश्विन शुक्ला दशमी को इनका निर्वाण हुआ। इनका जन्म स्थान आज ननकाना साहब के नाम से प्रसिद्ध है।[2] डॉ० हरिराम गुप्त ने इनके जीवन को तीन भागों में विभाजित किया है—(1) 1469-1496 अर्थात् 27 वर्षों का गार्हस्थ्य जीवन अथवा आत्मबोध और ज्ञानकाल (2) 1497 से 1521 अर्थात् 25 वर्षों का पर्यटन काल अथवा दूसरे धर्मों का अध्ययन तथा अपने विचारों की व्याख्या का काल, (3) 1522-1539 अर्थात 18 वर्षों तक रावी किनारे कर्तारपुर में अवकाश का जीवन-काल, जब सिक्ख धर्म की नीव डाली गई।[3]

नानक ने एक ब्राह्मण शिक्षक से हिसाब तथा बहीखाते का कामलंडे महाजनी में सीखा तथा एक मौलवी से फारसी और अरबी सीखी।[4] सियार-उल मुतखरिज

---

1. उत्तर भारत के निर्गुण साहित्य का इतिहास—पृ० 178
   * 1. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 96, 97, 99
     2. गुरूनानक और उनका काव्य-सं० डॉ० महीपसिंह, डॉ० नरेन्द्र मोहन।
     3. गुरूनानक : जीवनी, युग एवं शिक्षाएं—सं० गुरमुख निहाल सिंह।
     4. गुरुनानक का संक्षिप्त जीवन चित्र—डॉ० हरीराम गुप्ता—ने० प० हा० दिल्ली
2. गुरू नानक: एक जीवनचित्र—डा० हरिराम गुप्ता (गुरूनानक और उनका काव्य) पृ० 12
3. वही—पृ० 12
4. वही—पृ० 12

के लेखक ने इस मौलवी का नाम सैयद हसन बताया है ।[1] इब्राहीम लोदी के अधीनस्थ पंजाब के राज्यपाल दौलतखान लोदी ने इन्हें मोदी खाने का निरीक्षक नियुक्त किया पर सन्त सेवा के कारण नौकरी छोड़नी पड़ी ।[2]

भारत में प्रचलित धर्मों के मुख्य केन्द्रों में जाकर उनके अध्ययन के लिए गुरु नानक ने कई स्थानों की यात्रा की । उन्होंने पांच यात्रायें कीं किन्तु इनकी 5वीं यात्रा को इतिहास सम्मत विद्वानों ने नहीं माना[3] गुरू नानक की इन यात्राओं को उदासिया कहा जाता है ।[4] अपनी 1510 से 1515 तक की यात्रा में उन्होंने बौद्ध तथा जैन तीर्थस्थलों की भी यात्रा की थी ।[5-अ] गुरूनानक ने लाहौर, स्यालकोट, दिल्ली, पटना, बंगाल, आसाम, राजपूताना तथा रामेश्वर, कश्मीर, आबूपर्वत [5-ब] आदि के अतिरिक्त मक्का, मदीना, ईरान आदि विदेशों की भी यात्रा की थी । बड़ी बहिन नानकी के अनुकरण पर इनका नाम नानक रखा गया ।

डा० जयराम मिश्र ने अपने शोध-पत्र "गुरु नानक और उनकी निर्गुण साधना में लिखा है कि—नानक के बहनोई भाई जयराम ने गुरु नानक को सांसारिक बन्धन में बांधने के लिए उनका विवाह उन्नीस वर्ष की अवस्था में बटाला निवासी (जिला गुरदासपुर) बाबा मूला की कन्या सुलक्खनी देवी से सम्पन्न करा दिया । उनके विवाह में उनके माता-पिता इष्ट मित्र सभी सम्मिलित हुए । उनके माता-पिता पूर्ण सन्तुष्ट थे ।[6] डा० ओमप्रकाश शर्मा ने विवाह 18 वर्ष की आयु में तथा नानक के श्वसुर का नाम मुल्ला बताया है ।[7] श्री चन्द और लक्ष्मीचन्द इनके दो पुत्र हुए ।

गुरु नानक की जीवनी को लेकर जन्म साखी साहित्य में लिखा गया । प्राय: विद्वानों का मत है कि जन्म साखी के लेखकों ने आदि गुरु की जीवनी भ्रष्ट कर डाली है । मिहरिवानु के पुरातन जनम साखी के आधार पर नानक की जन्म तिथि बैसाख शुक्ला तीज मानी है जब कि साखी साहित्य में कार्तिक पूर्णिमा मानी गई है । पुरातन जन्म साखी का सम्पादन भाई वीर सिंह ने 1911 ई० में किया ।

---

1. Translation of Siyar Mutkharin, 1, 1786 edition pp. 82-83.
2. उ० भारत के० नि० पं० सा० का इति०—पृ० 96
3. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० 218
4. गुरू नानक और भारतीय समाज-श्रीमती विजय चौहान पृ० 90
5. अ—गुरू नानक और उनका काव्य—पृ० 19
   ब—तपोभूमि (प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल)—पं० रामगोपाल मिश्र पृ० 19
6. गुरूनानक और उनका काव्य—पृ० 46
7. संत काव्य की लौकिक पष्ठ भूमि—पृ० 30-32

इसका रचनाकाल 1661 में माना गया है। दूसरी साषी भाई पैंडा मोषा की कही जाती है जिसका रचना काल 1582 वि० माना जाता रहा है। 1582 वि० में नानक और लहना जीवित थे अत: उनके जीवन काल में इस साखी में लिखे जाने का कोई औचित्य नहीं मालूम पड़ता। तीसरी साषी भाई मनींसिह कृत है। इनका निधन 1794 वि० में हुआ था। गुरुदास की पहली बार की टीका के रूप में यह साषी लिखी गई। पोथी सचुषंड पिरथी पुत्र मनोहरदास उर्फ मिहरिबानु का नाम-करण चौथे गुरु रामदास ने किया। यही जीवनी अन्यों की अपेक्षा तथ्य-शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती है। इसके 6 खण्ड तथा 167 गोसटियां है। नानक द्वारा करतारपुर बसाये जाने तक की घटना का उल्लेख है।[1]

गुरु नानक मानवता वादी मूल्य के व्यक्तित्व थे। उन्होंने समन्वय की साधना एवं सामाजिक व आध्यात्मिक उत्थान के लिये अपने जीवन का एक-एक पल, एक-एक छण लगाया। श्री प्रेमप्रकाश सिंह ने अपने शोध पत्र, "गुरु नानक का सर्जक व्यक्तित्व" में लिखा है—गत चार शताब्दियों के दौरान पंजाब में जो कुछ घटित हुआ और भविष्य में जो कुछ द्रष्टव्य होगा उसका विशद विवेचन गुरु नानक के व्यक्तित्व को ही उपलक्ष्य कर किया जा सकता है।[2] डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार गुरु नानक व्यक्ति नहीं थे, संस्था शब्द भी उनके सम्पूर्ण कृतित्व का अर्थ वहन नही कर सकता—वे एक समग्र देशकाल की चेतना के प्रतीक थे।[3]

गुरु नानक की वाणी

नानक के वाणी गान के समय मर्दाना रवाब बजाता था। नानक ने मुलतानी मिश्रित व्रजभाषा में उपदेशात्मक वाणियां लिखी। जपुजी इनकी प्रमुख रचना है जिसमें 38 छन्द तथा 2 श्लोक है। प्रात: काल जपुजी का पाठ अनिवार्य है। आसादीवार ईश्वर-स्तुति है तथा सोहिला, रहिरास रात्रि को पढ़ी जाने वाली रचनायें हैं। गुरु महिमा, नामजय, ईश्वर की एकता में विश्वास हुकुम (ईश्वर की आज्ञा का बोध) संगत तथा सर्वात्मवाद उनकी विचारधारा के मुख्य तत्व है।[4]

आदि ग्रन्थ मे 19 रागों मे 974 वाणियां नानक की संकलित है। आदि ग्रन्थ में प्रथम महला मे इन्हे स्थान दिया गया है। ग्रन्थ की वास्तविक वाणी जपुजी से प्रारम्भ होती है इनमें 38 पौड़ियां तथा 2 सलोकु है।[5]

---

1. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 99
2. गुरुनानक और उनका काव्य—पृ० 36 (Guru Nanak and the sikh Religion by W.H. Mcload, Oxford 1968, p. 231, 'The Person'.
3. गुरुनानक और उनका काव्य—भूमिका भाग से।
4. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 197
5. वही—पृ० 98

जपुजी की प्राचीनतम टीका सिभूनाथ कृत जपु परमारथ है जिसकी प्रतिलिपि 1956 वि० में की गई शामसिंह कृत जपूप्रदीप टीका में इनका उल्लेख हुआ है। प्रस्थान-भेद की दृष्टि से आनन्दधन कृत जपुजी टीका अद्वैतवादी विचार धारा की सूचक है। तथा संतोषसिंह कृत गरबगंजनी टीका सिखपंथ के पार्थक्य को सूचित करती है।[1]

डॉ० दलीपसिंह दीप के मतानुसार जपुजी एक सूत्रमयी दार्शनिक रचना है। आदिग्रन्थ की वाणी एक प्रकार से जपुजी का ही विस्तृत भाष्य है। संक्षिप्त और भावपूर्ण विचारों की दृष्टि से जपुजी की ईश उपनिषद "केन" "मुन्डक" "प्रश्न" "ऐत्रिय" और विशेष रूप से कठोपनिषद से समानता है। मुन्डक उपनिषद में 64 मन्त्र है। इस उपनिषद् को संक्षिप्त और सार रूप होने के कारण—गीता जैसा कहा गया है। इस दृष्टि से जपुजी और भी अधिक सूत्रमयी रचना है। जपुजी एक महान मनोवैज्ञानिक रचना कही जा सकती है जिसमें जिज्ञासु के मनोभावों तथा प्रश्नों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।[2] सत्य की खोज जपुजी का मुख्य विषय है। सत्य तक पहुंचने के लिये 5 पड़ाव बताये गये है— 1. धर्म खण्ड 2. ज्ञान खण्ड 3. सरम (श्रम) खण्ड 4. करम खण्ड और 5. सच खण्ड।[3]

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि आध्यात्मिक साधन के फलस्वरूप गुरु नानक की वाणी में अनायास ही दो ऐसे तत्वों का समावेश हो गया जिन्होंने मध्ययुगीन समाज और संस्कृति को ही समृद्ध नही किया वरन जो आधुनिक जीवन-दर्शन के भी अभिन्न अंग है। ये दो तत्व है मानवतावाद और सर्वधर्म-समभाव।[4]

डॉ० श्री.पी. शर्मा ने सन् 1676 में लिपिकृत, दादू संस्कृत महाविद्यालय जयपुर से प्राप्त एक पाण्डुलिपि के आधार पर "गुरु नानक वाणी" का संकलन किया है। डॉ० शर्मा का कथन है कि इस पुस्तक में दिए गए गुरु नानक जी के 15 पद, 75 साषियां—श्लोक एवं अन्त में "वेणी जी का पद" उन्हे उक्त पाण्डुलिपि से उपलब्ध हुए हैं। इस पाण्डुलिपि का विवरण इस प्रकार है—

वस्ता नं० 1 पुस्तक संख्या दो, आकार 18"×8", कुल पन्ने 480, लेखन काल संवत् 1733, वैशाख शुक्ला द्वितीया दिन बुधवार। लेखक, नरहरिदास। स्थान, पनावणा। इसमें अन्य संतों की वाणियां भी है। गुरु

---

1. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास—पृ० 98
2. जपुजी : एक अध्ययन—डॉ० दलीप सिंह दीप (गुरु नानक और उनका काव्य) पृ० 210
3. जपुजी की पांच आत्मिक अवस्थाएं-त्रिलोकदीप, पृ० 307-308
4. गुरुनानक और उनका काव्य—भूमिका भाग से।

नानक की वाणी पन्ना 137 से 144 तक अंकित है। इस पाण्डुलिपि की लिपि पुरानी देवनागरी है जो कि आधुनिक लिपि से कुछ भिन्न है।[1]

डॉ० शर्मा का कहना है कि गुरु ग्रन्थ साहिब में ये वाणियां नहीं हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन वाणियों का भी प्रयोग किया गया है।

डॉ० शर्मा का इन वाणियों के सम्बन्ध में कहना है कि गुरु नानक जी द्वारा इन वाणियों में रूढ़िवाद का खण्डन, पंजाबी भाषा एवं सभ्यता तथा ग्रामीण उपमाओं से भरे उपदेश और भाव-भक्ति पूर्ण विरह-वेदना परक साखियों-पदों में इनके निजी दैवी व्यक्तित्व की छाप है।[2]

संत साहित्य की विशेषतायें

संत साहित्य लौकिकता एवं पारलौकिक का समन्वय है। कला पक्षीय विशेषताओं के अतिरिक्त भाव जगत की दृष्टि से भी संत साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है। यहां संत साहित्य की दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विशेषताओं पर सामान्य दृष्टि से विचार करना लेखक का उद्देश्य है।

लोक परक अभिव्यक्ति

डा० ओमप्रकाश शर्मा के मतानुसार संत काव्य में संस्कृति की अभिव्यक्ति का स्तर लोक परक रहा है, अर्थात् अपने काव्य की अभिव्यक्ति में लोक संस्कृति से जीवन्त तत्वों को ग्रहण किया है और इसी कारण उनकी वाणी में एक ओर इतनी मुक्ति, स्वच्छन्दता तथा रूढ़िहीनता है और दूसरी ओर वे अपनी काव्याभिव्यक्ति को व्यापक मानवीय तत्वों से संवेदित कर सके हैं।[3] आध्यात्मिक जीवन के अलौकिक तत्व की प्रतिष्ठा और उसकी उपलब्धि उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की मूल प्रेरणा रही है। उसके लिए सांसारिक जीवन, उसकी व्यवस्था और आर्थिक सुख-सुविधायें उपेक्षणीय रही हैं।[4]

धार्मिक चेतना

संतों का सम्बन्ध युग की धार्मिक चेतना से विशेष रूप से रहा है यह अलग बात है कि धर्म को शास्त्रीय तथा साम्प्रदायिक परम्पराओं और उसके बन्धनों से मुक्त करने की दृष्टि से संतो ने ज्ञान पक्ष अर्थात् दार्शनिक चिन्तन को सर्वप्रथम स्वच्छन्द लोक जीवन के स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है फिर उन्होंने साधना पक्ष को प्रेम भक्ति के रूप लोक मानस का आधार ग्रहण कराया है। यद्यपि

1. गुरुनानक की वाणी—डॉ० बी०पी० शर्मा—पृ० 3-4
2. वही—पृ० 7
3. सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि—पृ० 323-177
4. वही—पृ० 318

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि संतों के चिन्तन तथा साधना की लोकतात्विक दृष्टि से एक सीमा तक ही देखा जा सकता है।[1]

विचार स्वातन्त्र्य

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार संतों की जीवन साधना में जो सबसे प्रमुख विशेषता दीख पड़ती है वह विचार स्वातन्त्र्य की समुचित महत्व की देन है और जिसकी पुरानी परम्परा प्राचीन वैदिक युग से भी किसी न किसी रूप में निरन्तर चलती आई है। संत विचार स्वातन्त्र्य का वही अधिकार देना चाहते हैं, जिसका उन्होंने स्वयं उपभोग किया है तथा जो उनके जैसा कथन तथा आचरण करने वाले सभी के लिए सर्वथा सुसंगत करा जा सकता है।[2]

व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता

व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता तो जैसे संतों की साधना का मूल मंत्र थी। उचित रहनी, ईश्वराभिमुख गुणों का विकास तथा अवगुणों का परित्याग ही जैसे उनकी साधना के दो चक्र थे।[3]

ज्ञान की अपेक्षा अनुभव का महत्व

संतों ने ज्ञान की अपेक्षा अनुभव को महत्व दिया है। डा० ओमप्रकाश शर्मा ने इसे सम्पूर्ण आन्दोलन (भक्ति आन्दोलन) को लोक के सहज मनोभाव पर प्रतिष्ठित माना है। उनका मत है कि अनुभव का अर्थ आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मसाक्षात्कार है और उपनिषदों के युग के परम तत्व के अन्वेषण में इसका महत्व स्वीकृत रहा है। पर अनुभव का लौकिक सन्दर्भ प्रत्यक्ष-बोध से है जो स्वयं आत्म साक्षात् के समय ही तर्कातीत स्थिति से सम्बद्ध है।[4]

प्रेमपरक लोकाश्रित साधना

साधना के क्षेत्र में सन्तों ने व्यापक रूप से प्रेम तत्व को स्वीकार किया है। ब्रह्म तत्व को निर्गुण परात्पर, असीम अगोचर और कभी-कभी द्वन्द्वातीत तथा द्वैता-द्वैत विवर्जित मानकर भी जब संत उस तत्व की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति के लिए प्रेम को स्वीकार करते हैं, तब उनके मूल में वही प्रवृत्ति मानी जा सकती है कि वे अपनी साधना को लोकपरक आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।[5]

शरीरधारी गुरु का महत्व

संत कवियों का कोई न कोई शरीरधारी गुरु अवश्य रहा है। जिसके प्रति

---

1. सन्त साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 39
2. सन्त रैदास—डॉ० योगेन्द्र सिंह—पृ० 70
3. सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि—316
4. वही—पृ० 317
5. सन्त साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 136

अपनी अपार श्रद्धा प्रकट करते रहे होंगे। अपितु जिसने उन्हें परमात्मतत्व की अनुभूति करा दी होगी किन्तु आचार्य परशुराम चतुर्वेदी को आश्चर्य है कि संत कवियों में से अनेक ने वैसे महापुरुष का कोई व्यक्तिगत परिचय देना तो दूर रहा, उसका नामोल्लेख तक भी नहीं किया।[1]

ध्यान एवं समाधि

ध्यान एवं समाधि की अन्तरंग साधना के प्रति संतों का झुकाव था। अपने दैनिक जीवन के बीच भी ध्यान की साधना उनके लिए सम्भव थी। अतः उन्होंने ध्यान पर बहुत ध्यान दिया है। समाधि तो सन्तों की साधना की चरम परिणति ही थी। अतः उन्होंने सहज समाधि, सूक्ष्म समाधि आदि का विस्तार से विवरण दिया है। समाधि सुख का वर्णन करते वक्त वे भाव विह्वल से हो गए और उन वर्णनो में अनूठा काव्य प्रस्तुत हो गया है।[2] सन्त कवियों के ध्यान के सम्बन्ध में डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह ने लिखा है कि—सन्तों ने ध्यान का विवरण नाथयोगियों एवं तान्त्रिकों के अनुसार यदि किया है तो बहुत कुछ उसमे ऐसा भी है जो पूर्णतः मौलिक है। उन्होंने ध्यान को ही सहज बनाने का प्रयास किया है। सामान्य जीवन के क्रिया कलाप के साथ ध्यान को भी अनुस्यूत करके उन्होने ध्यान पर योगियों यतियों का ही एकाधिकार नहीं दिया है। इतना ही नहीं उन्होने ध्यान के साथ भक्ति एवं निर्मलता को भी समन्वित किया है। इस प्रकार के सहजीकरण से ध्यान सर्व सुलभ साधन बन गया है।[3]

कर्म विवेचन

सन्तों के कर्म विवेचन में कर्म की अनिवार्यता बांधने की क्षमता स्वधर्माचरण पूर्वक कर्म प्रवृत्ति एवं कर्म मे ईश्वर का सन्निवेश किया गया है यद्यपि उन्होंने एकमात्र कर्म को मुक्ति का साधन नहीं माना है।[4]

परमतत्व, माया, जीवात्मा आदि

सन्त साहित्य के प्रमुख विषयों में सत् व परमतत्व रूपी राम के अनिर्वचनीय रूप का दिग्दर्शन, माया तत्व की व्याख्या, जीवात्मा के प्रकृत रूप तथा स्वानुभूति परक आत्मनिवेदन, नामस्मरण की साधना, सात्विक जीवन का महत्व, विडम्बनाओं की निस्सीमता आदि बहुत सी बातें गिनाई जा सकती हैं। वे न तो किसी दार्शनिक तर्क पद्धति को काम में लाते है न कोई व्याख्या ही करते जान पड़ते हैं।[4-अ]

---

1. सन्त काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 328
2. वही—पृ० 318
3. वही—पृ० 331
4. अ—संत साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 26.

सन्त कवियों ने शास्त्रीय ज्ञान पर आस्था न रखकर अपने अनुभूत ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है।[1-ब]

अहिंसा

सन्त अहिंसा के बहुत बड़े समर्थक रहे है। अकबर को प्रेरित कर इन सन्तों ने अनेक फरमान जारी कराए थे। अकबर ने ब्रज भूमि तथा अन्य स्थलों पर मोर और गोहत्या का निषेध कर दिया था और गायों की चरागाहों से कर उठा दिया था।[2] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा और प्रपत्ति के अतिरिक्त वैष्णवत्व का कोई अंश सन्त साहित्य में नही है।[3]

सामाजिकता

सन्तों ने सामाजिक आचरण निर्माण में अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से महत्व-पूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। उन्होंने कुसंगति से बचने की प्रेरणा दी है। उन्होंने बहुचर्चित दया, प्रेम आदि के मूल्यों की समाज में स्थापना की। संतों ने आध्यात्मिक मूल्यों का सामाजीकरण किया है। डॉ० ओम प्रकाश का मत है कि—बौद्ध परम्परा के विविध रूपों में अनेक श्रोतों से प्रभाव ग्रहण करके समाज की परम्परागत मर्यादा के प्रति जो विद्रोह किया है, उसमें या तो त्याग की मनोवृत्ति प्रधान है अथवा विध्वंस की। इसकी अपेक्षा संत अपने विद्रोह में भी समाज के निर्माण की भावना से उत्प्रेरित हैं।[4]

संतों का मुक्ति मार्ग समाज से होकर ही जाता है। उन्होंने समाज मे रहते हुए भी विरक्ति उत्पन्न करने को महत्व दिया है। इसी लिये उन्होंने अपने वंशगत पेशो को करते हुए ही साधना की।

उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की भूमिका में जिस सामाजिक जीवन को स्वीकार किया है वह मूलतः इसकी मूल्यगत भावनाओं से अनुप्राणित किया है। जिन मानवीय वृत्तियों और रागों से बचने का उन्होंने उपदेश दिया है वे सभी सामाजिक की दृष्टि से विशेष अहितकर हैं। यदि सन्तों की परिकल्पना नितान्त व्यक्तिगत साधनापरक जीवन की होती तो उसमें समाज त्याग की भावना भी स्वीकृत होती। ऐसी स्थिति में हिंसा, काम, क्रोध, असत्य, तृष्णा, मोह, अहंकार और परनिन्दा जैसी वृत्तियों से बचने का प्रश्न ही कहाँ आता है।[5]

आध्यात्मिक संदर्भ में राजनैतिक मूल्यों का प्रयोग—

मुख्य रूप से राजनीति उनकी उपेक्षा का विषय रही है। किन्तु उन्होंने

---

1. ब—मध्ययुगीन सूफी संत साहित्य—पृ० 186
2. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 72
3. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 268
4. संत काव्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 120
5. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 127

राजनैतिक मूल्यों का प्रयोग दो रूपों में किया है—एक तो तब जब मुगल शासन में धर्म नीति सहिष्णु तथा कठोर होती गई। डॉ० ओम प्रकाश शर्मा के मतानुसार संतों की स्वाधीन चेतना ने अपने सम्प्रदायों को राजशक्ति के विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी।[1] अत: संत राजनीतिक जीवन से अधिक दूर तक अलग और मुक्त रहकर भी एक दम उससे पृथक् नहीं रह सके हैं।[2] इस स्थिति में संत काव्य में प्रायः परिस्थितयों तथा घटनाओं के सीधे संकेतों का अभाव सा है। किन्तु अपेक्षाकृत अन्य राजनीतिक सन्दर्भ पर्याप्त मात्रा में संकलित हैं। तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का रूप इनके काव्य में यत्र-तत्र मिल जाता है।

संत कवियों ने दूसरे रूप में राजनैतिक मूल्यों का प्रयोग आध्यात्मिक संदर्भ में किया है। इन्होंने राम राज्य की कल्पना की है, परन्तु जिन मूल्यों पर यह व्यवस्था आधारित है, वे व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करते हैं।[3] संतों को राज दरबारों में जाने का कोई अवसर नहीं मिला। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी। फिर भी अपने आध्यात्मिक बादशाह के ऐश्वर्य विलास का जो वर्णन उन्होंने किया है उससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अपने समसामयिक राजाओं के दरबार तथा उनके ऐश्वर्य-विलास से उनका परिचय था। आध्यात्मिक रूपकों से तत्कालीन राज्य दरबार के ठाट-बाट का पूरा उपयोग किया गया है। उन्होंने अपनी कल्पना के प्रकाश से जिन सिंहासन पर आरूढ़ छत्र चंवर से आभूषित, ज्योति के प्रकाश से आभामय आध्यात्मिक सम्राट का वर्णन किया है, वह मूलत: उस समय के बादशाह के दरबार की कल्पना है।[4]

अत: स्पष्ट है कि संत आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए भी अपने काल की राजनीतिक परिस्थितयों, वातावरण तथा संघर्षों से स्वयं सम्बन्धित न होकर भी उनके प्रभाव से अलग नहीं कहे जा सकते। यह अलग बात यह है कि इस सारे सम्पर्क तथा प्रभाव को उन्होंने एक बिल्कुल भिन्न क्षेत्र में प्रयुक्त किया है।[5]

सत्यान्वेषण

सत्यान्वेषण के लिये संतों ने किसी भी धर्म ग्रन्थ को प्रामाणिक मानकर कभी भी उसका आश्रय नहीं लिया और न कभी उसकी दुहाई दी। उनकी मान्यता है कि सत्य की प्राप्ति के लिये वास्तव में स्वानुभूति की आवश्यकता है।[6]

---

1. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठ भूमि—पृ० 72
2. वही—पृ० 75
3. वही—पृ० 67
4. वही—पृ 76
5. वही—पृ० 115
6. मध्य युगीन सूफी और संत साहित्य—पृ० 186

संत साहित्य की विशेषताओं को सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि इन्होंने लोक सांस्कृतिक आधार पर आदर्श राज्य की कल्पना की है। समाज एवं व्यक्ति के मध्य मानवतावाद की स्थापना की है। धर्म को रूढ़ियों से मुक्त कराने का प्रयत्न किया है तथा दर्शन को जीवन के साथ जोड़ा है।

डॉ० मुक्तेश्वर तिवारी[1] ने संत कवियों की निम्न विशेषताओं पर प्रकाश डाला है—

1. वर्ग और सम्प्रदाय विहीनता।
2. सन्तों का ब्रह्मवादी होना।
3. सन्तों के ज्ञान में अनुभूति की प्रधानता।
4. नाम-स्मरण सन्त साधना की प्रमुखता।
5. संत कवियों की सर्वग्राही समन्वयवादी प्रवृति।
6. संत कवियों में रचना-शैली की अपेक्षा भावों की प्रधानता।
7. संत कवियों द्वारा मुक्तक एवं स्वान्त: सुखाय रचना।
8. संत कवियों के उपास्य निर्गुण और सगुण से परे अनिर्वचनीय तत्व।
9. संतों की माया का मोहिनी और विकराल दोनों रूप।

डॉ० शिव कुमार[2] ने संत काव्य की निम्न सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. निर्गुण ईश्वर में विश्वास।
2. बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध।
3. सद्गुरु का महत्व।
4. जाति पाति के भेद भाव का विरोध।
5. रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध।
6. रहस्यवाद।
7. भजन तथा नाम स्मरण।
8. शृंगार वर्णन एवं विरह की मार्मिक उक्तियां।
9. लोक संग्रह की भावना।
10. नारी के प्रति दृष्टिकोण (नारी माया का प्रतीक)
11. माया से सावधानता।
12. गेय मुक्त शैली का प्रयोग।

संत साहित्य पर जैन दर्शन का प्रभाव

संत साहित्य पर जिस प्रकार सूफी दर्शन का प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार जैन

---

1. मध्य युगीन सूफी और संत साहित्य—पृ० 211 से 214 तक
2. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ—पृ० 114 से 119

दर्शन का भी पड़ा है। श्री अगर चन्द नाहटा ने सन्मति वाणी पत्रिका में पं० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के एक निबन्ध "संत साहित्य में जैन संतों का योगदान" का उल्लेख किया है।[1] इस निबन्ध में श्री चतुर्वेदी ने स्पष्ट रूप से जैन संतों की वाणी में प्रयुक्त जैन दर्शन की मान्यताओं के प्रभाव को संत साहित्य पर स्वीकार किया है।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार जैन धर्म के अनुयायियों में भ्रष्टाचार की न तो वैसी प्रवृत्ति थी न उनके भीतर शुद्ध समाज ही काम करते थे। उनके कठोर आचार विचार तथा उदासीनता की प्रवृत्ति ने उच्च प्रकार के अनाचारों में लिप्त होने से उन्हें विरक्त रखा। किन्तु उनकी पूजा पद्धति का बाह्य विस्तार तथा उसमें क्रमश: प्रवेश करते गए अन्धविश्वास ने उन्हें अपने पूर्वकालीन उच्च स्तर से नीचे ला दिया था। उनमे भी केवल साधारण मतभेदों के आधार पर विविध सम्प्रदायों की सृष्टि होने लग गई थी और वे क्रमश: उत्तर से दक्षिण की ओर खिसकते जा रहे थे जहां उनका शैवों और वैष्णवों के सुधारक आन्दोलनों से सम्पर्क था संघर्ष भी होता जा रहा था। जैन धर्म को उनसे अपनी रक्षा करने के लिए ब्राह्मण धर्म की कर्मकाण्ड जैसी अनेक बातों को किसी न किसी रूप में ग्रहण भी करना पड़ा था।[2]

जैन मुनियों ने ब्रह्माचारवाद का खण्डन कर परवर्ती संत साहित्य के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। श्री अगर चन्द नाहटा ने उनके विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"जैन संत वाणी का प्रधान विषय आत्मानुभव की अभिव्यक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और धर्म एवं नीतिमय प्रेरणा देना है। जनता अधर्म और अनीतिमय मार्ग से हटे, दुर्व्यसनों से बचे, भगवत् भक्ति में मन लगाए, विषय वासनाओं में आसक्त न होकर विरक्त बने। परमात्मा के साथ आत्मा की एकानुभूति करते हुए महापुरुषों की भक्ति में लीन हो जाये, यही संत वाणी का प्रेरक सन्देश है और जैन साधुओं की रचनाएं भीइसी संदेश को सर्वदा प्रचारित करती रही है।[3]

जैन ब्रह्माचार बाद के विरोध में कुछ सतोगुणी धर्मावतारियों ने सुन्दर रचनाएं प्रस्तुत की। जैन मुनि राम सिंह (11 वीं शताब्दी) ने पाखण्ड का घोर खण्डन किया। सिद्धान्तों की व्याख्या मात्र करते फिरने वाले तर्क पर पंडितों के विषय में उन्होंने कहा है कि ऐसे लोग बुद्धिमान कहलाते हुए भी मानों अन्तक्रम से रहित पुआल का संग्रह किया करते हैं और कण का त्याग कर उसकी भूसी कूटा करते हैं। बहुत पढ़ने लिखने से क्या लाभ है। कई को चाहिए कि वे ज्ञान के उस अन्तकण को ही अपनालें, जो प्रज्वलित होने पर पुण्य या पाप दोनों को क्षण भर में ही जला देता

---

1. शोध त्रैमासिक पत्रिका—अप्रैल 1979—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्।
2. संत साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत—पृ० 19
3. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 59

है। उन्होंने तीर्थयात्रा करने वाले साधुओं एवं मुण्डनादिकर्म को महत्व देने वालों की भी निन्दा की।[1]

कृषि का प्रथम ज्ञान प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव ने दिया था किन्तु आगे चलकर कृषि करना जैनियों में ही हिंसा माना जाने लगा और सातवीं शताब्दी से तो अधिकतर वैश्यों ने इस कार्यों को छोड़ दिया। ह्वेनसांग ने इन्हें व्यापारी कहा है। डॉ० ओम प्रकाश शर्मा के मतानुसार संतों ने इसी कारण वैश्यों को केवल वाणिज्य-व्यवहार करने वालों के रूप में स्वीकार किया है।[2]

जैन मतावलंबियों की आत्मशुद्धि एवं आचार शुद्धि की दृष्टि से भी संत बड़े प्रभावित थे। मोक्ष से जोड़ने वाली साधना को जैनों ने योग कहा था और संतों का इस विचार से अविरोध था। जैनों के साहित्य में ध्यान का विस्तृत विवेचन मिलता है। आचार्य शुभ चन्द्र ने रूपस्थ, पिण्डस्थ, एवं रूपातीत ध्यान का जो भेद प्रस्तुत किया, संत चरनदास ने कुछ शब्दांतर से उसे स्वीकार कर लिया। हरिभद्र के अनालंबन योग और पंतजलिकी प्रज्ञान समाधि में अन्तर नहीं है। संतों के साहित्य में वह प्राप्त है। इसी प्रकार हरिभद्र ने योग साधना के रूप में जिन अष्ट दृष्टियों का विवरण दिया वे पंतजलि के अष्टयोग, योग के समकक्ष माने जा सकते हैं और संतों के साहित्य में उनका प्रभूत प्रयोग हुआ है।[3]

डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह की मान्यता है कि सामाजिक दृष्टि कोण से जैन और बौद्ध की दया को तथा आचार को संत कवियों ने अपनाया। डॉ० सिंह का स्पष्ट मत है कि जैन संत कवियों एवं इनके पूर्ववर्ती कुछ जैनाचार्यों ने हिन्दी के संत-काव्य को प्रेरित करने में प्रभूत योग दिया है। हिन्दी निर्गुण संत काव्य बहुलाशतः प्रेरित प्रभावित हुआ है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है।[4] भले ही जैन हटयोग के विरोधी रहे। कुछ लोग प्राणायाम से चित्त की क्षुब्धता का उत्पन्न होना मानते हैं और इसीलिए उसे अनिवार्य साधना स्वीकार नहीं किया गया। शुभ चन्द्र ने प्रत्याहार एवं धारणा का वर्णन किया है। डॉ० सिंह के शब्दों में उक्त आधार पर कहा जा सकता है कि जैन धर्म में भी योग साधना महत्वपूर्ण मानी गई है।[5]

जैनागमों में तो आसन, नाड़ी, चक्र, अनाहत नाद, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि, कुण्डिलिनी-उत्थापन आदि का विवरण प्राप्त होता है जिनका वर्णन संत साहित्य में भी वर्णित है। अतः कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का प्रभाव हिन्दी

1. वही—पृ० 58-59
2. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठ-भूमि—पृ० 138
3. संत साहित्य में योग का स्वरूप—पृ० 264-265
4. वही—पृ० 59
5. संत साहित्य में योग का स्वरूप—पृ० 124

संत साहित्य पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। यह विषय पृथक से शोध की अपेक्षा रखता है।

डॉ० मुक्तेश्वर तिवारी के मतानुसार जैन दर्शन का आधार नैतिक संयम है प्राचीन मत-मतान्तरों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होकर हमारे हिन्दी संत कवियों ने भी अपनी सम्पूर्ण साधना का मूल आधार नैतिक संयम को ही माना है। नैतिक संयम के अन्तर्गत उन्होने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, इन्द्रिय निग्रह, दया, क्षमा, कथनी करनी का एकत्व, विश्वास, श्रद्धा, विनय, मृदुवचन, धैर्य, स्वावलंबन, परिश्रम, सरल जीवन, परहित साधना, सेवा भाव, साधु संगति आदि सभी सृजनात्मक कर्मों को लिया है।[1]

डॉ० शिव कुमार[2] की मान्यता है कि सन्त काव्य पर जैन मुक्तक काव्य का प्रभाव देखा जा सकता है। डॉ० गोबिन्द त्रिगुणायत ने स्वीकार किया है कि संत लोग जैन दर्शन से परिचित थे।[3] उन्होंने जैन दर्शन के सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष रूप से अपनाने की संभवत: कोई चेष्टा नहीं की थी। फिर भी तत्कालीन जैन मुनियों की सत संगति के प्रभाव से जैन दर्शन के कुछ सिद्धान्तों की छाया उनकी विचार धारा पर पड़ ही गई है। अध्यात्मपक्ष की अपेक्षा संत लोग जैन दर्शन के आचार पक्ष से अधिक प्रभावित हुए है। उसमें सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र से सम्बन्धित अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। कुछ संतों में तेरह गुण स्थानों का भी संकेत मिलता है। जैन दर्शन के अध्यात्म पक्ष की दो एक बातों का भी संतों की बानियों पर प्रभाव ढूंढ़ा जा सकता है। जैन दर्शन में जीव को शरीर परिमाणी माना गया है अर्थात् जिस प्राणी का जितना बड़ा शरीर होता है उसका जीव भी उतना ही बड़ा होता है। संतों में एक आध स्थल पर जैन दर्शन के इस सिद्धान्त की छाया मिलती है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणाथ सन्त काव्य पर मध्ययुगीन तंत्र साधना के प्रभाव की सम्भावना भी बताते हैं।[4]

अचार्य हजारी प्रसाद[5] ने आठवीं और नवीं शताब्दी के जैन मरमी सन्तों पर

---

1. मध्य युगीन सूफी और संत साहित्य—पृ० 293
2. हिन्दी साहित्यः युग और प्रवृतियां—पृ० 124
3. हिन्दी की निर्गुण काव्याधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि—96-97
4. वही—पृ० 152-153
5. वही—पृ० 165
   "मध्यकालीन धर्म साधना" में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेख—"संत साहित्य और जैन हिन्दी कवि"—पृ० 52, 53, 54

शैव शाक्त मतों का प्रभाव स्वीकार किया है। नाथपंथियों के समान जैन मरमी सन्तों ने भी अलख निरंजन शिव का वर्णन किया है। वे समरस्य के सिद्धान्त में भी विश्वास करते थे। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में, योग का यह सिद्धान्त इन्हें भी मान्य है।

10वीं 11वीं शताब्दी में सुधारवादी संत परम्परा प्रारम्भ हुई। इस परम्परा के मुख्य कवि मुनिराम सिंह है।[1] इन्होंने मिथ्याचारों ओर पाखण्डों का कड़ा विरोध किया।[2] मुनिराम सिंह ने कहा कि एक भगवान के छः भेद करने से मोक्ष मिलने वाला नही।

छह दंसणघंघड् पडिय मणाहण फिहिय भंति
एक्कुदेउ छहमेउ किउ तेणण मोक्खं जन्ति।[3]

मूंड मुडाने के स्थान पर चित्त को मुड़ाने पर बल देते हुए वे कहते हैं—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरू मुंडिय
चितुण मुंडिय चितहं मुंडण कियट संसार खंडणुति कियउ।[4]

जैन सन्तों की प्रवृत्तियों ने निर्गुण कवियों को बहुत प्रभावित किया।

इस प्रकार इस अध्याय में नामदेव, कबीर, दादू, रविदास, सुन्दरदास, मलूकदास, तथा नानक के जीवनवृत्त, उनकी साधना के विशेष परिचय के साथ उनकी वाणियों का पूर्ण परिचय दिया गया है और यह प्रयत्न किया गया है कि मुद्रित और अमुद्रित कोई ऐसी सामग्री छूटने न पाये, जिसका उन संतों के साथ सम्बन्ध हो। इस प्रसंग में उन विद्वानों के ग्रंथों और लेखों का भी प्रयोग किया गया है जिन्होंने इन संतों का व्यष्टि रूप से या समिष्ट रूप से अध्ययन किया है। जहाँ कही उनके मत से हमारा वैमत्य रहा है उसका अत्यन्त आदरपूर्वक समाधान करने की चेष्टा भी की है। इस दृष्टि से उपर्युक्त संतों के विषय का कोई भी पक्ष अस्पष्ट नहीं रह गया है।

अगले अध्यायों में संतों की वाणी के विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन करके महाबीर की वाणी के आलोक में उनका अध्ययन किया जायेगा।

———

1. "भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं" में पं० परशुराम चतुर्वेदी का लेख संत साहित्य और जैन हिन्दी कवि।
2. पाहुण दोहा कायंजो सिरीज 3—दोहा 87—पृ० 27
3. वही—दोहा—116—पृ० 35

अध्याय—3

महावीर की दार्शनिक वाणी के आलोक में हिन्दी का संत काव्य

"दर्शन" शब्द दर्शनार्थक दृश् धातु से बनता है, जिसका अर्थ है, "देखना" या "अवलोकन करना"।[1] अतः इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया जाता है "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए, वह दर्शन है। किन्तु आँखों से रूप का ज्ञान देखना मात्र है, दर्शन नहीं। "देखना दर्शन का साधारण अर्थ है। दर्शन शास्त्र में दर्शन का एक विशेष अर्थ है, तत्व के प्रकृत स्वरूप का अवलोकन।[2]

यह संसार अनादि-अनन्त है। इसमें संयोग-वियोग, सुख-दुःख की अविरल धारा बह रही है। उसमें गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध में निकलता है। वहाँ जो हेय और उपादेय की मीमांसा होती है, वही दर्शन है।[3] अगम्य को गम्य बनाने वाली विचार-पद्धति भी दर्शन है तथा महा-पुरुषों की विचार पद्धति को भी दर्शन कहा जा सकता है। दर्शन का एक छोर आत्मा है तो दूसरा मोक्ष इनके मध्य अन्य शेष है।

डा० महेन्द्र कुमार जैन ने लिखा है कि प्रत्येक दर्शनकार ऋषि ने पहिले चेतन और जड़ के स्वरूप, उनका परस्पर सम्बन्ध तथा दृश्य जगत की व्यवस्था के मर्म को जानने का अपना दृष्टिकोण बनाया, पीछे उसी की सतत चिन्तन और मन-धारा के परिपाक से जो तत्व साक्षात्कार की प्रकृष्ट और बलवती भावना हुई उसके विशद और स्फुट आभास से निश्चय किया कि उनने विश्व का यथार्थ दर्शन किया है तो दर्शन का मूल उद्गम "दृष्टिकोण" से हुआ है और उसका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कार में।[4]

---

1. "दृशिर् प्रेक्षणे" अर्थात् दर्शनात्मक दृश् धातु के आगे करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय के योग से दर्शन बनता है।
2. भारतीय दर्शन—डा० बी० एन० सिंह—पृ० 1
3. इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसऽनेकातिककटुःखोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय हेयोपादेयपरिज्ञाने यत्नोविधेयः स च न विशिष्टविवेक ऋते। —आचरांगवृत्ति, 1/1
4. जैन दर्शन—पृ० 27

डा० बी० एन० सिंह ने भारतवर्ष में दर्शन की उत्पत्ति का कारण आध्यात्मिक असन्तोष माना है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक संसार को असार सांसारिक सुख को क्षणिक, अनित्य मानते हैं।[1]

डा० महेन्द्र कुमार जैन ने दर्शन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया है कि साधारणतया दर्शन का मोटा और स्पष्ट अर्थ है साक्षात्कार करना, प्रत्यक्षज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना। यदि दर्शन का यही अर्थ है तो दर्शनों में तीन और छह की तरह परस्पर विरोध क्यों है ?[2]

मुनि नथमल के शब्दों में कहा जा सकता है कि दर्शनों की विविध या विविध-विषयता के कारण "दर्शन" का प्रयोग एक मात्र आत्मविचार सम्बन्धी नहीं रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की "धर्म-दर्शन" संज्ञा रखकर चलें तो विषय के प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।[3]

जैन दर्शन का उद्‌गम भारत के अन्य दर्शनों के समान दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा ही है। महावीर और उनके शिष्य गौतम के मध्य जो तात्विक प्रश्नोत्तर हुए है, वे जैन दर्शन की महत्वपूर्ण निधि हैं। जैन दर्शन का प्रारम्भ भी अन्य दर्शनों के समान विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व से हुआ है। इससे पहले का समय आगमयुग कहलाता है।

डा० महेन्द्र कुमार जैन के मतानुसार "जैन दर्शन" का विकास मात्र तत्वज्ञान की भूमि पर न होकर आचार की भूमि पर हुआ है। जीवन शोधन की व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया और समाज तथा विश्व में शान्ति स्थापना की लोकैषणा का मूलमंत्र "अहिंसा" ही है।[4]

दर्शन का मुख्य कार्य सत्य के स्वरूप का अनावरण करना है। परम सत्य या परम तत्व भारतीय दर्शन में एक मात्र ब्रह्म या आत्मा को ही माना गया है। अतः डा० बी० एन० सिंह ने आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की उपलब्धि ही दर्शन का प्रयोजन माना है।[5]

जैन दर्शन (महावीर दर्शन) का ध्येय आध्यात्मिक अनुभव है। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ स्वतन्त्र आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतन्त्र

---

1. भारतीय दर्शन—पृ० 4
2. जैन दर्शन—पृ० 23
3. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 148-149
4. जैन दर्शन—पृ० 34
5. भारतीय दर्शन—पृ० 9

व्यक्तित्व का अनुभव करना है। "सत्य की शोध" भी जैन दर्शन का ध्येय है किन्तु केवल सत्य की शोध ही नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा में परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है।[1]

डा० बी० एन० सिंह ने भारतीय दर्शन को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है—आस्तिक और नास्तिक।[2]

प्रायः ईश्वर में विश्वास न रखने वाला तथा पूर्वजन्म आदि को न मानने वाले को नास्तिक कहा जाता है और इन्हें स्वीकार करने वाले को आस्तिक। इस आधार पर महावीर दर्शन आस्तिक हुआ किन्तु मनु[3] के आधार पर यह नास्तिक की कोटि में आता है क्योंकि उनके अनुसार वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक और न मानने वाले नास्तिक हैं।

मुनि नथमल जी[4] ने तार्किक विचार पद्धति, तत्वज्ञान आदि के आधार पर दर्शन के निम्न भाग किए हैं—(1) आत्म दर्शन (2) समाज दर्शन (3) धर्म दर्शन (जिसे नैतिक दर्शन भी कहा जा सकता है) (4) राजनीति दर्शन। सामाजिक दर्शन के अन्तर्गत आर्थिक दर्शन भी आ सकता है।

महावीर के दार्शनिक विचारों के मुख्य विवरण

आत्मा | जीव | सत्ता | लोक | धर्म | ज्ञान | कर्म | पुनर्जन्म | नरक | भ्रम (मरीचिका) | पाप पुण्य

वैराग्य | दुःख सुख | भक्ति (साधना) | तप | शान्ति | योग | मन | कुतर्क | कषाय | ध्यान | मृत्यु | निर्वाण (मोक्ष मुक्ति)

आत्मा: महावीर

तीर्थंकर महावीर ने कहा है कि मैं आत्मा को ज्ञान प्रमाण, दर्शन युक्त,

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 152
2. भारतीय दर्शन—पृ० 3
3. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्रनयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ मनु, 2/11
4. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 147

अतिन्द्रिय, महातत्व, ध्रुव, अचल तथा शुद्ध मानता हूँ ।[1] उनके मतानुसार जो आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही आत्मा भी है। जिसे जाना जा सकता है, वह आत्मा ही तो है। जानने की शक्ति के द्वारा ही आत्मानुभूति होती है।[2] आत्मा रूप रहित एक सत्ता है। उसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है।[3] अर्थात् वह रूप के अतिरिक्त स्पर्श आदि गुणों से पृथक् है, किन्तु वह रूप आदि गुण वाले पुद्गल द्रव्यों को और उनके गुणों को पहचानने की क्षमता रखता है। पुद्गल द्रव्य के साथ आत्मा का सम्बन्ध बन्धन निर्मित करता है।[4] महावीर कहते हैं अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है। यही इच्छानुसार दूध देने वाली धेनु है और यही नन्दन बन है।[5] यह आत्मा ही सुख-दुःख उत्पन्न करने वाली है। यह मित्र भी है किन्तु दुराचार में प्रवृत्त आत्मा शत्रु है।[6]

आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महावीर कहते हैं कि आत्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है।[7] वह लिंग के बन्धन से रहित है अर्थात् वह न स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है।[8] वह किसी आकार में भी बंधी नहीं है। न वह दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चौरस है और न ही मंडलाकार ही है।[9] आत्मा का स्वरूप शब्दों के माध्यम से सम्भव है ही नहीं, यहां तर्क की गति नहीं है। अतः बुद्धि उसे पूर्ण रूप से समझ नहीं पाती है।[10]

---

1. एवं णाणप्पाणणं दंसणभूदं अदिं दियमहृत्यं ।
   धुवमचलमणालंबं मण्णेठहं अप्पंग सुद्ध ।। —प्र० सा० 2 : 100
2. जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया ।
   जेण विजाणति से आया तं पडुच्च पडिसंखाय ।।
   —आ० 1, 5, (5) : 104
3. अरूवी सत्ता । अपयस्स पयं णत्थि । —आ० 1, 5 (6) : 138-39
4. रूवादिएहिं रहिदो ऐच्छादि जाणादि रूवमादीणी ।
   दव्वाणि गुणेय जधा तध बंधो तेण जाणी हि ।। —प्र० सा० 2 : 82
5. अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली ।
   अप्पा कामदुहा घेणु अप्पा ने नन्दणं वणं ।। —उ० 20 : 36
6. अप्पाकत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
   अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठियो ।। —उ० 20 : 37
7. से ण सद्देण रूवेण गंधे
   ण रसे ण फासे इच्चेताव । आ० 1, 5 (6) : 140
8. ण इत्थी ण पुरिसे ण अण्णहा—आ० 1, (5) : 135
9. ण वहेण तसेण चउंप्से ण परिमण्डले । —आ० 1, 5 (6) : 127
10. सव्वे सरा णियट्टंति
    तक्का जत्थण विज्जई
    मई तत्थ ण गहिया—आ० 105 (6) : 123-1235

महावीर ने आत्मा की चार स्थितियां बताई हैं। अन्तरात्मा, बहिरात्मा, विशुद्ध आत्मा और परमात्मा। शरीर धारियों की आत्मा तीन प्रकार की होती है— परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा को त्याग कर अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा का ध्यान किया जा सकता है।[1] महावीर के मतानुसार जो जीवन जिन-वचन में कुशल है, जीव और शरीर के भेद को जानते है और जिन्होंने जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुति, लाभ और ऐश्वर्य को जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं।[2] महावीर ने इन्द्रियों को ही बहिरात्मा कहा है। इन्द्रियों को ही आत्मा मानने वाला प्राणी बहिरात्मा है।[3] जिसकी आत्मा मिथ्यात्व में परिणमन करती है, जो तीव्र कषाय युक्त है तथा जीव और देह में अन्तर नही समझता वही बहिरात्मा है।[4] महावीर ने विशुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में कहा है कि यह मल रहित, शरीर रहित, इन्द्रियों से रहित केवल ज्ञान का रूप है। यह परमपद में स्थित, परम निज है तथा मोक्ष प्रदान करने वाला है, शाश्वत है।[5] जिनवर भगवान ने इसे सिद्ध पद प्राप्त कराने वाला सर्वज्ञ और सर्व-लोकदर्शी कहा है।[6] परमात्मा के सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि केवल ज्ञान को प्राप्त अर्हत ही परमात्मा है। उसे सर्वोत्तम सुख प्राप्त हो जाता है। शरीर ज्ञानमय हो जाता है।[7]

आत्मा ज्ञान, दर्शन, चरित्र, प्रत्याख्यान, संवर, योग में है। अतः इनका त्याग नही किया जाता है।[8] इस शरीर में नमस्कार योग्य, ध्यान करने योग्य

---

1. तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
   तत्थ परो झाइज्जई अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा—मो० पा० 4
2. जे जिण-वयणे कुराला भेयं जाणति जीव-देहाणं।
   णिजिजय-दुट्ठट्ठ-मया अंतरअप्पा य ते तिविहा।। —द्वा० अ० 194
3. अक्खार्रणे बाहिरप्पा अंतर अप्पा हु अप्पसकरपों। —मो० पा० 5
4. मिच्छत्त-परिणदकप्पातिव्व-कसाएण सुट्ठ अविट्ठो।
   जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा।। —द्वा० अ० 193
5. मलरहिओ कलचत्तो अणिदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
   परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो।। —मो० पा० 6
6. सिद्धे सुद्धो आदा सव्वणहू सव्वलोयदरसी या।
   सो जिणवरेहि भणि ओ जाण तुमं केवल णाणं।। —मो० पा० 35
7. स-सरीरा अरहंता केवल-णाणणं मुणिय-सयलत्पा।
   णाणा-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्खा-संपत्ता।। —द्वा० अ० 198
8. आदा हु मज्झणाने आदा मेदंसणे चरित्ते य।
   आदा पच्चक्खाणे आदा में संकरे जोए।। —मू० 46

तथा स्वतन करने योग्य यदि कुछ है तो वह आत्मा ही है।[1]

आत्मा के बन्धनों के सम्बन्ध में महावीर कहते हैं कि जिस प्रकार स्नेह से स्निग्ध शरीर से रेणु चिपट जाते हैं, उसी प्रकार राग, द्वेष रूपी स्नेह से भीगी हुई आत्मा को कर्म पुद्गल चिपट जाते हैं। अर्थात् कर्म आत्मा के बन्धन हैं।[2]

महावीर का स्पष्ट मत है कि जो कोई भी पापी है, उसे निश्चित रूप से अपनी आत्मा प्रिय नहीं है। आत्मा के द्वारा कृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं ही भोगती है।[3]

आत्मा को पाप से हटाने का मार्ग बताते हुए महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर मे समाहित कर लेता है, उसी प्रकार मेधावी पुरुष आध्यात्मिक भावना के माध्यम से आत्मा को पापों से अलग कर लेता है।[4]

चार कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पाँच इन्द्रियां—श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन आत्मा के महान शत्रु हैं।[5] महावीर इन शत्रुओं से युद्ध करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे प्राणी ! अपनी आत्मा के दुर्गुणों के साथ ही युद्ध कर। दूसरों से युद्ध करने से क्या प्रयोजन ? दुष्ट आत्मा के साथ युद्ध करने योग्य सामग्री बार-बार प्राप्त नहीं होती।[6] जो व्यक्ति इस दुर्जय संग्राम में सहस्त्र-सहस्त्र शत्रुओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो केवल अपनी आत्मा को जीतता है, उसकी विजय श्रेष्ठ है।[7]

अतः मुक्त आत्मा बाधा रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम और पुण्य-पाप से निर्युक्त

---

1. णविएहिजं णविज्जइ झाइज्जई अणवरयं।
   थुव्वेतेहि थुणिज्जई देहत्थं किं पितं मुणह।। —मो० पा० 103
2. णेहो अरिपदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे।
   तह रागदोससिणिहीलिदस्स कम्मं गुणेयव्वं।। —मू० 236
3. जे पुमं कुरुते पावं ण तस्सऽप्पा धुवं पिजो।
   आप्पण हि कडं कम्मं अप्पणा चेव भुञ्जती।। —इसि० 45 : 3
4. जहा कुम्मे सअंगाइं सए देहे समाहरे।
   एवं पावेहिं अप्पाणं अज्झप्पेण समाहरे।। —सू० 18 : 26
5. एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इंदियाणि य।
   ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी।। —उ० 23 : 38
6. इमेणं चेव जुज्झहि, किते जुंज्झेणबज्जओ।
   जुद्धारिहं खलु दुल्लहं। —आ० 1, 5, (3) : 45, 46
7. जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
   एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।। —उ० 9 : 34

है। आवागमन से रहित, नित्य, अचल, अनालम्बन है।[1]

आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है।[2] वह अरूपी सत्ता है।[3] मुनि नथमल जी ने महावीर के आत्मा सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते है तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है। जो आत्मा बालक शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध शरीर में स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है। इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर परिमाण मानने से वह अवयव सहित हो जाएगी और अवयव-सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव-सहित होता है, वह विशारणशील-अनित्य होता है। घड़ा अवयव-सहित है, अतः अनित्य है। इसका समाधान करते हुए मुनि नथमलजी ने कहा है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव है, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नही छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादि कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है।[4]

अतः जैन दर्शन के अनुसार आत्मा-चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला, कर्त्ता और भोक्ता स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और

---

1. अव्वाबाह मणि दिय मणोतमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमण विरहियं णिच्चं अचलं अणा लंब ।। —नि० सा० 178
2. आयारो, 5, 139
3. वही—5, 137
4. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 251-252

उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न सर्वव्यापक किन्तु मध्यम परिमाण का है।[1]

आत्मा : नामदेव—

नामदेव ने आत्मा के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा नहीं की है। एक स्थान पर नामदेव कहते हैं कि चौरासी लक्ष जन्म लेने के बाद अंत में एक बार आने वाले इस मनुष्य जन्म में आत्म तत्व की पहचान न हुई तो जीव फिर से फेरे में पड़ेगा।[2] उनके अनुसार स्वयं को उसमें मिला देने के बाद आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं।[3] जीव में आत्मा का वास इस प्रकार है जैसे कुंभ में जल समाया है अथवा समुद्र में घड़ा समाया है[4] नामदेव ने परमात्मा के मुरारी शब्द का प्रयोग किया है।[5] परमात्मा में लीन होने के लिये उन्होंने सुमिरन का मार्ग बताया है।[6] वह परमात्मा एक होते हुए भी अनेकों में व्याप्त है। एक धागे में जैसे सैकड़ों मणियाँ गूंथी जा सकती है, वैसे ही वह परमात्मा जगत् की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक वस्तु उसमें समाई हुई है। माया उसे समझने में बाधक है।[7]

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 244
2. अंतिमबारी है मनुष्यजन्म।
   मर्म चूकते ही पेंच में पड़ता है
   एक जन्म पहचानकर करो आत्माराम-नामदेव-माधव गोपाल देश मुख
   पृ० 42
3. चालक माझे मन पांगुला चै जाले। हारपोनी गेलें साक्षात्कारे।
   मन हारपलें कस आतां काय। पहावया गेलें तो परतोनी का नये॥
   भक्ति ज्ञान वैराग्य अवधेचि आहे। अवधेचि हरोये अवधें येणें।
   नामाम्हणे जनाबाई आहे वो कैसा, बाबा उद कीं घट बुडोनी ठेला जैसा॥
   —श्री नामदेवगाथा—355
4. जल भीतरि कुंभ समानिया। समरामु एकु करि जानिया।
   गुर चेले है मनु आनिया। जन नामैतत्तु पछानिया॥ 3॥
   संतों की बानी—दास चरन सिंह—पृ० 145
5. घट घट अंतरि सरब निरंतरि केवल एक मुरारी॥ —वही—पृ० 146
6. नामदेइ सिमरनु करिजानां। जगजीवन सिउ जीव समानां (2)
   —वही—पृ० 146
7. एक अनेक सु व्यापक पूरकजित देखौं तित सोई।
   माया चित्र-विचित्र विमोहिनि बिरला बूझै कोई॥
   सब गोविंद है सब गोबिंदु है' गोबिंद बिनु नाहिं कोई।
   —संक्षिप्त संत सुधा सार—वियोगी हरि—पृ० 23

कबीर : आत्मा—

कबीर काव्य का मुख्य उद्देश्य आत्म विचार को अग्रसर करना है। कबीर ने कहा है—अपने स्वरूप अर्थात् आत्म-विचार करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।[1] अपने स्वरूप को जान लेने पर मनुष्य जन्म-मरण से छूट जाता है।[2] उसे जान लेना ब्रह्म को जान लेना है और परमपद की उपलब्धि हो जाना है।[3]

अनुभव के आधार पर कबीर ने कहा है—"जब से मैंने आत्म-तत्व को जाना तब से काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारों से छुटकारा हो गया तथा निर्वैर एवं निस्संग होकर मैं निर्भय हो गया।[4]

कबीर के अनुसार आत्मा अन्ततम सत्य है। वह मैं हूं, वही तू है। इस संसार में आत्म तत्व व्याप्त है। आत्मा सत्य, अनन्त एवं त्रिकालातीत है। वही दृश्य है और द्रष्टा भी। वही ज्ञाता है, वही ज्ञेय भी।[5] कबीर की मान्यता है कि आत्मा सर्वव्यापी तत्व है। विभिन्न प्रकार के माटी के घड़े दीखते हैं किन्तु बने है सभी एक मिट्टी से विभिन्न रंग की गायों को दुहने पर दूध तो स्वेत ही मिलता है। इसी प्रकार विभिन्न प्राणियों में एक ही आत्मतत्व व्याप्त है।[6]

आत्मतत्व सर्वव्याप्त है।[7] और सकल उसमें व्याप्त है। यह आत्म तत्व सब घटवासी अद्वैत है।[8] आत्मा नाम रूप से भिन्न है। कबीर के अनुसार आत्म-तत्व ब्रह्म का अंश है और जिस प्रकार पक्की स्याही का कागज पर किया गया धब्बा नहीं मिटता उसी प्रकार उसका मिटना सम्भव नहीं।[9]

---

1. आप ही आप बिचारिये तब केता होइ आनन्द रे॥ —क० ग्र० पृ० 89
2. कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जांनां। —क० ग्र० पृ० 90
3. आया जानि सांई कूंजानैं, तब ह्वै मिस्त सरीकी॥ —क० ग्र० पृ० 175
4. षम सब मांहि सकल हम मांही, हम थैं और दूसरा नांही।
   तिनि लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा॥
   षट दरसन कहियत हम भेखा, हम हीं अतीत रूप नहीं रेखा।
   हम हीं आप कबीर कहावा, हम हीं अपनौं आप लखावा॥
   —क० ग्र० पृ० 201
5. नांनां भाँति घड़े सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै॥ —क० ग्र० पृ० 151
6. पंच वरन दस दुहिये गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ। —क० ग्र० पृ० 105
7. कहै कबीर व्यंदहु नरा, ज्यूं जल पण्या सकल रस॥ —क० ग्र० पृ० 56
8. मैं सबनि मैं ओटरनि मैं हूं सब। —क० ग्र० पृ० 104
   अबर एक अकल अबिनासी, घट घट आप रहै॥ —क० ग्र० पृ० 144
9. बूंद समाना बूंद मैं, सो कब हेरी जाइ।
   समद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्‍या जाइ॥ —क० ग्र० पृ० 17

कबीर आत्मा को अछेद्य, अकाट्य तथा अवलेद्य मानते हैं। शरीर ही कट सकता है आत्मा नहीं।[1] उनके मतानुसार आत्मा अद्वैत है। स्वयं प्रकाशक है, चैतन्य एवं आनन्द स्वरूप है। वह अनूप, निर्विकार तथा आकाश की भांति अनन्त है।[2] आत्मा के कारण ही शरीर कार्यरत है। इसके बिना शरीर निस्तेज हो जाता है।[3] कबीर की मान्यता है कि नामरूपादि का उत्पन्न होना तथा नष्ट होना निश्चित है। इस नियम का प्रतिकार करना सम्भव नहीं।[4] आत्मा अजय-अमर है। कबीर कहते हैं कि जो वस्त्र धारण किया गया है, वह अवश्य फटेगा और उसके स्थान पर नवीन वस्त्र धारण किया जायेगा। जो उत्पन्न हुआ, वह मृत्यु को भी प्राप्त अवश्य होगा।

कबीर का विश्वास है कि आत्मा एक है। जो द्वैतवाद में विश्वास रखते हैं, वे उसे अज्ञानता के कारण जान नहीं पाते और नर्क के भागी होते हैं।

कबीर ने आत्म स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अपने काव्य में विभिन्न माध्यमों को अपनाया है—

1. आत्मा का प्राण रूप में वर्णन[5]
2. ज्योति रूप में आत्मा का वर्णन[6]
3. वाणी रूप में आत्मा का वर्णन[7]
4. पवन रूप में आत्मा का वर्णन[8]

---

1. पकरि जीउ आन्या देह बिनासी, माटी कौ बिसमल कीया।
   जोति स्वरूप अनाहत लागी, कहु हलालु क्यों कीया॥
   —क० ग्र० पृ० 323
2. आनन्द मूल सदा परषोत्तम, घट बिनसैं गगन न जाई ले॥
   —क० ग्र० पृ० 187
3. सरीर सरोवर भीतरै, आछे कमल अनूप। —क० ग्र० पृ० 327
4. विनसि जाइ कागद की गुडिया,
5. प्राण पंड कौ तजि चलै, मूवा कहै सब कोई।
   जीव छतां जामैं मरै, सुषिम लखै न काई॥ —क० ग्र० पृ० 32
6. मन्दिर मांहि झबूकती दीवा कैसी जोति।
   हंस बटाऊ चलि गवा काढौ घर की छोति॥—क० ग्र० पृ० 73
7. कबीर हंसा जीव मैं, कोइ न कहै समझाइ।
   बिधि बिधि वाणीं बोलता, सो कत गया बिलाइ॥—क० ग्र० पृ० 56
8. पवन थक्यौ गुड़िया ठहरानी।
   सीस धुनै धुनि रोवै प्रानी॥ —क० ग्र० पृ० 117

5. शब्द रूप में आत्मा का वर्णन[1]
6. मन रूप में आत्मा का वर्णन[2]
7. प्रकाश रूप में आत्मा का वर्णन[3]
8. आनन्द रूप में आत्मा का वर्णन[4]

आत्मा की व्यावहारिक प्रतीति को कबीर ने जीव के नाम से पुकारा है। आत्मा अपने स्वरूप-लक्षण के अनुसार नित्य, मुक्ति, शुद्ध, चैतन्य, अजर-अमर है, परन्तु माया के कारण भ्रम से अपने को कर्ता, शरीरी समझ लेता है और जीव कहलाता है।[5]

कबीर के अनुसार आत्मा के दो रूप हैं—साधक तथा साध्य।[6] निरति आत्मा अपने शुद्ध-मुक्त रूप में है। सुरति जीवात्मा के रूप में, जो अपने शुद्ध स्वरूप की जानकारी के लिए प्रयत्नशील है। साधना की पराकाष्ठा पर पहुंच कर जीवात्मा और आत्मा का तादात्म्य हो जाता है।[7]

डॉ० रामजीलाल सहायक[8] ने कबीर के आत्म वर्णन की निम्न विशेषता बताई हैं—

1. कबीर का आत्म-वर्णन स्वानुभूतिपरक है।
2. आत्मा शरीर नहीं है, न वह विश्व के नामरूपदात्मक पदार्थों में से कुछ है।
3. आत्मा स्वयं प्रकाशमान आनन्द स्वरूप है।

---

1. कबीर सबद शरीर में, बिनि गुण बाजै तंति।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, या थैं छूटि मरंति॥ —क० ग्र० पृ० 63
2. मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, खनल अकासा जोइ॥ —क० ग्र० पृ० 28
3. पावक कहयां पाव जे दाझे, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कहयां भूष जे भाजै, तो सब कोई तिरि नाई।
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जाने।
जो कबहूं उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आने॥—क० ग्र० पृ० 101
4. आनन्द मूल सदा पुरूसोत्तम
घट बिनसै गगन न जाई ले। —क० ग्र० पृ० 187
5. जीवा को राजा कहैं माया के आधीन —क० ग्र० पृ० 34
6. आप पिछाने आपै आप। —क० ग्र० पृ० 318
7. सुरति समानी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यम्भ दुवार। —क० ग्र० पृ०—14
8. कबीर दर्शन —पृ० 184-185

4. आत्मा निर्गुण, निर्विकार, निराकार, अचिन्त्य है।

5. कबीर ने अनेकत्व को मिथ्या और एकत्व को सत्य कहा है।

6. अनादि अविद्या के कारण आत्मा भ्रमवश अपने को *स्थूल या सूक्ष्म* शरीरी समझ लेता है। यही बन्धन है।

आत्मा : रविदास

सन्त रविदास के विचारानुसार जीव-ईश्वर से प्रथक् न होकर उसी का रूप है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि मेरे जीव और तेरे (तोही=ईश्वर=ब्रह्म) में कोई अन्तर नहीं। मैं और तू मूलतः ठीक उसी प्रकार एक है, जिस प्रकार सोना तथा गहना तथा जल अथवा उससे उत्पन्न होने वाली तरंग मूलतः एक है। वह परम तत्व एक रूपता में सब जगह, सब में विद्यमान है और वस्तुतः द्वैतता का भाव ही नहीं, ज्ञान चाहिए। सन्त रैदास ने इस प्रश्न (आत्मा) को कही भी दार्शनिक गुत्थी या व्याख्या में न उलझाकर उसे व्यवहारिक रूप में ग्रहण कर लिया है। वे एक ओर जीव को ब्रह्म या आत्म रूप मान लेते है तो दूसरी ओर उसको *पुण्य का भोग* करने वाला भी मानते हैं। इस विरोधाभास जैसी दीखने वाली बात करते समय निश्चित ही रविदास के मस्तिष्क में यह लिप्त-अलिप्त जीव आत्मा रूप की बात स्पष्ट रही है और उनके मतानुसार पृथकता भी मैं-तू (या माया) अविद्या जनित है। जिसके तिरोहित होते ही जीव आत्मा-ब्रह्म रूप है।[1]

सन्त रविदास ने आत्मा को ब्रह्म के अतिरिक्त राम नाम से भी पुकारा है। *उनके काव्य में प्रयुक्त* राम, दशरथ पुत्र राम नहीं है।[2] उनके अनुसार ब्रह्म (आत्मा) अनिर्वचनीय है, वह सदा एक रस है। वह निर्गुण, निर्विकार, उद्य अस्त से रहित, सर्वव्यापक, निश्चल, अजन्मा, अनुपम, निर्भय, अगोचर, अजर, अतर्क्य, अनादि, अनन्त और अविनाशी है। वह ब्रह्म (आत्मा) न रूप रहित है, न रूप वाला है। वह चन्द्रमा, सूर्य, रात-दिन, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ भी नहीं है। उसमें न कर्म है न अकर्म, न शुभ, न अशुभ है, न शीत है न, उष्ण न योग, न भोग। वह निरन्जन

---

1. रविदास—डॉ० योगेन्द्र सिंह—पृ० 67-68

2. (अ) एकै ब्रह्म हइ सकलमंहि, अरू सकल ब्रह्म मांहि।
   रविदास ब्रह्म सम भेष महि' ब्रह्म बिना कुछ नाहिं॥

   (ब) रविदास हमारे राम जी, दशरथ करि सुत नाहिं।
   राम हरउ महिं रमि रह्यो, बिसब कुटन्जह मंहि॥
   —वीर, 15 मार्च 1982—पृ० 2

निराकार, निरलेष, निर्विकार तथा निष्काम है।[1]

आत्मा : दादू

दादू ने परमात्मा के लिये प्रेम[2], ब्रह्म[3], नूर[4], राम[5], शून्य[6], सहज[7], गोविन्द[8], और सह[9], आदि शब्दों का प्रयोग किया है तथा इनमें एकता स्थापित की है।

---

1. अबरन बरन रूप नहिं जाकै सु कहां लौ लाई समाई।
चंद सूर नाहि राति दिवस नहिं, धरनि अकास न भाई।।
करम अकरम नहि शुभ अशुभ नहिं का कहि देहु बड़ाई।
सीत न उस बाल बाउ नही सरवत काम कुटिल नहीं होई।।
जो न भोग भोग से नहीं जावै, कहो नांव संत सोई।
निरंजन निराकार निरलेपी, निरवीकार निरासी।।
—रविदासडॉ० योगेन्द्र सिंह—पृ० 2

2. दादू इसक अल्लह की जाति है इसक अल्लह का अंग।
इसक उल्लह औजूद है इसक अल्लह को रंग।
—संत सुधासार, भाग।—पृ० 426

3. परंब्रह्म परात्परं, सो मम देव निरंजनम्।
निराकारं निर्मलं, तस्य दादू वन्दनम्।।
कृतम वही सो ब्रह्म है, घटे बधै नहिं जाइ।
पूरण निहचल एक रस, जगति न नाचै आइ। (15)
स्वामी दादू दयाल जी की वाणी—अंग—2

4. इकलस एकै नूर है एकलस एकै तेज। एक लस एकै ज्याति है दादू खेलै सेज।।
वही—भाग—2, पृ० 135

5. अ—दादू के दूजा नही एकै आतम राम। —दादू वाणी, भाग।—पृ० 14
ब—आतमा मा है राम है पूजा ताकी घेइ। सेवा बंदन आरती, साध करै सब कोइ।। —वही पृ० 44
म—जहँ आतम तहँ राम है, सकल रह्या भरपूर। अंतरगति ल्यौ, लाइ रहु, दादू सेवग सूर।। वही पृ० 45
द—आत्म आसन राम का, तहाँ बसै भगवान। दादू दून्यूं परसपर, हरि आतम का यान।।—वही पृ० 41

6. सहज सुन्नि सब गैर है, सब घट सब ही माहि—वही पृ० 58

7. वही—पृ०21

8. दादू सब घटि में गोविन्द है, संगिर है हरि पास।
कस्तूरी मृग में बसै, सूंघत डोलै घास।।—वही—पृ० 47

9. ईयें ख रूहन्नि में, जीये रूह रगान्नि।
जीयें जैसो सूर में ठेटो चन्द्र बसन्नि।।—वही—पृ० 41

उन्होंने आत्म अनुभव के सिद्धान्त पर बहुत बल दिया है। आत्मदृष्टि प्राप्त होने पर आत्म अनुभव प्राप्त होता है।[1] परमात्मा कहीं बाहर नहीं है। वह तो पिण्ड में ही विद्यमान है। उस पर मोह-माया का परदा पड़ा हुआ है। परदा उठते ही आत्मा और परमात्मा का अन्तर समाप्त हो जाता है। परमात्मा से मिलन हो जाता है।[2]

दादू कहते हैं कि आत्मा रूपी दुल्हन और परमात्मा रूपी प्रियतम दोनों एक ही सेज पर हैं, किन्तु फिर भी उनका मिलन नहीं हो रहा है, इसका कारण है कि आत्मा प्रियतम से गाफिल होकर सो रही है। झूठे भ्रम में भूली है, फिर मिलन हो भी तो कैसे?[3]

दादू के अनुसार जिस प्रकार तिलहन में तेल, फूलों में गंध, दूध में मक्खन विद्यमान है उसी प्रकार परमात्मा आत्मा में और पिण्ड मे आत्मा है।[4]

दादू कहते है कि आत्म तत्व ऐसा अनुपम है कि वह न मरता है, न जन्म लेता है। अग्नि उसे जला नही सकती, कोई भी उसे काट नहीं सकता। जल में वह डूब नहीं सकता। मिट्टी में मिल और आकाश में खो नहीं सकता।[5]

अतः अंधे को दीपक देने से उसका कुछ भी लाभ होना सम्भव नहीं है। दीपक से अंधेरे दूर नहीं होंगे। जिन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं है, उन्हें आत्म-तत्व कौन समझा सकता है?

---

1. चरम दृष्टि देखे बहुत आतम दृष्टि एक।
   —दादूदयाल की वाणी—भाग—1, पृ० 62
2. मुझ में ही मेरा धनी परदा खोल दिखाय।
   आतम सो परमात्मापरगल आन मिलाय॥
   —दादूदयाल की वाणी—भाग—1 पृ० 5
3. गाफिल नींद न कीजै। आव घटै तन छीजै।
   दादू जी व अयाना। झूठे भरम भूलना॥—वही पृ० 17
4. जीयें, तेल तिलन्नि में, जीयें गंध फूलन्नि।
   जीयें माखण पीर में, ईयें रब रूहान्नि। वही पृ० 41
5. ऐसा तत्व अनूप भाई, मरै न जीवै काल न खाई॥
   पावक जरै न मारयो मरई, काट्यो कटै न टाल्यो टरई॥
   आखिर सिरै न लागे काई, शीत घामजल डूबै न जाई॥
   माटी मिले न गगन रहाई, अघट एक रस रह्यो समाई॥
   ऐसा तत्व अनुपम कहिये, सो गहि दादू काहे न रहिये॥
   —स्वामी दादू दयाल जी की वाणी—पृ० 59

आत्मा : सुन्दरदास

सुन्दरदास के अनुसार जब आत्म चिंतन द्वारा आत्मा के दर्शन होते हैं, तब द्वैत बुद्धि नष्ट हो जाती है। किसी दूसरे को तो आभास मात्र भी नहीं होता।[1] जिस प्रकार भिन्न पदार्थों से भरे हुए विविध घंटों में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब विविध रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर में भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता है।[2]

सुन्दरदास आत्मदर्शन की उपलब्धि आत्म विचारण से मानते हैं। आत्मा अतिसूक्षम[3] चैतन्यरूप[4] है। आत्मा नहीं, शरीर भोगता है।[5] आत्मा तो अचल, शुद्ध एवं एक रस है। देह व्यवहार में वह देह ही है। जिस प्रकार चन्द्र मंडल से उसकी कला पृथक नहीं तथापि घटती व बढ़ती रहती है। वृक्ष नदी के तट पर स्थित होता है किन्तु वह नदी के प्रवाह में नहीं बहता। वैसे ही आत्मा अनंत देह को प्रकाशित करती है।[6]

---

1. आत्म विचार किए आत्म ही दीसै एक।
   सुन्दर कहत कोउ दूसरों न आन। —संतवाणी—भाग-2—पृ० 106
2. सुन्दर विलास—पृ० 112
3. आत्मा आरूप अति सूछम से सूछम है—सुन्दर विलास—पृ० 112
4. आत्मा चैतन्यरूप व्यापक साक्षी अनूप— वही—पृ० 107
5. देहडी कू बंध मोक्ष, देहडी अपरोक्ष प्रोक्ष।
   देहडी के क्रियाकर्म, सुभासुभ ठान्यो है।।
   देहडी में और देह, सुखी ह्वै विलास करै।
   ताही कू समझे बिना, आत्म बखान्यो है।।
   दोउ देह तें अलिप्त दोउको प्रकाशक है।
   सुन्दर चैतन्य रूप, न्यारों करि जान्यो है।।
   देह हलै देह चलै, देहडी सूं देह मिलै।
   देह खात देह पिवै देहडी मरत है।।
   देह ही हिमालय गलै, देहही पावक जलै।
   देह ही राम माहिं जूझे, देहही परत है।।
   देहही अनेक कर्म करत, विविधि भाँति।
   चमक की सत्ता, लोह ज्यू फिरत है।।
   आत्मा चैतन्य रूप, व्यापक साक्षी अनूप।
   सुन्दर कहत सो तो, जनमैं न मरत है।।—सुन्दर बिलास—पृ० 99
6. आत्मा अचल सुद्ध एक रस रहै सदा। देह व्यवहारन में देहही सों जानिये।।
   जैसे ससिमंडल अभंग जहीं भंग होइ। कला आवै जाइघट बढ़ सो बखानिये।।
   जैसे दुमइस्थिर नदि के तट देखियत। नदी के प्रवाह माहिं चलत सोमानिये।।
   तैसे आत्मा अनंत देह सों प्रकास करै। सुन्दर कहत प विचार भ्रम मानिये।।
   —वही पृ० 101

सुन्दरदास के अनुसार आत्मा और जीव में बहुत अन्तर है ।[1] उन्होंने आत्मा एवं अनात्मा में भिन्नता नहीं मानी है ।[2] आत्मा और जीव के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि आत्मा जीव, प्राण, मन, बुद्धि और देह से विलक्षण है। जब आत्मा शरीर के संयोग से इन्द्रियों के अधीन होकर अपने को भूल जाता है तभी जीव कहलाता है ।[3] जब आत्मा जीव नाम धारण कर लेती है, उस समय आत्मा से उसका वही सम्बंध रह जाता है जैसा आकाश और घटाकाश का होता है। आत्मा शुद्ध आकाश की भाँति है ।[4]

जैसा प्राणी का शरीर होता है, वैसी ही उसमें चेतना (आत्मा) होती है ।[5] सुन्दर दास कहते है कि जब तक अंतःकरण में अज्ञान है तभी तक आत्मा और शरीर में भेद है। अंधेरी रात में घर में भी अंधेरा हो जाता है, किन्तु नेत्रों में प्रकाश विद्यमान रहता है फिर भी कुछ दिखाई नहीं देता। एक चन्द्र ही ज्ञान का प्रकाश है ।[6]

सुन्दरदास ने परमात्मा को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने उसे

---

1. पचकोस आत्मा को जीव नाम कहियत।
सुन्दर संकर भाषय सांख्य यं बखानिये ॥ —सुन्दर विलास—पृ० 103
2. तैसेहि सुन्दर मित्थो आत्मा अनातमाजु भिन-भिन करै सो साख्य ही कहतु है ॥
—वही—पृ० 103
3. देह की संयोग पाइ इंन्द्रिन के बस पर्‌यो।
आप ही कूं आप भूलिगयो सुख चाहे तें। —वही—पृ० 94
4. देह को संयोग पाइ जीव ऐसे नाम भयो।
घट के संयोग घटा कास ही कहायो है। —वही—पृ० 106
5. जा घट की उनहार है। जैसे हिसाघट चेतन तैसेहिं दीसै ॥
—वही—पृ० 96
6. आत्मा शरीर दोऊ एक मेक देखियत। जब लगि अंतःकरण में अज्ञान है ॥
जैसे अंधियारी रैन घर में अंधेरों होय। आंखिन को तेजजा को त्यूंही विद्य-मान है
यद्यपि अंधेरे माहि नैन सूंन सूझे कछु। तदपि अंधेरे सू अलेपसौ बखान है ॥
सुन्दर कहत त्वै लौं एकमंक जीनियत। जौ बौं नाहि प्रगट प्रकाश विज्ञान-मान है। —सुन्दर विलास—पृ० 101

अद्वैत एवं अखंड माना है ।[1] उन्होंने उसे नकारात्मक शैली में निसित किया है ।[2] इनके लिये उन्होंने तांत्रिकों के चने और दाल के दृष्टांत भी दिये हैं ।[3]

सुन्दरदास का स्पष्ट मत है कि आत्मा तो बुद्धि और चित्त से भिन्न है । इसके द्वारा उनकी वास्तविक अनुभूति सम्भव नही है । अनुभव से प्राप्त ज्ञान में तर्क नष्ट हो जाते हैं ।[4] सुन्दरदास के अनुसार मान के समान माला और आत्मा के समान देव और शरीर के तुल्य देहरा नहीं है ।

आत्मा : मलूकदास

मलूकदास लोक वेद से हटकर आत्मा के सम्बन्ध में कहते हैं कि जो पाषाण पूजता है, जिसके हृदय में दया नहीं है, वह आत्मा का हनन करता है ।[5] मलूकदास जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि कृतिम देव को पूजने से क्या लाभ है, वह तो तनिक सी ठेस लगने से फूट सकता है । आत्मा को जानना चाहिये जो सर्वत्र विद्यमान है ।[6]

---

1. ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुण नित्य निरंजन ओर न भासै ।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै ।।
ब्रह्माहि सूच्छम स्थूल जहाँ लगि ब्रह्माहि साहिब ब्रह्म हि दासै ।
सुन्दर और कछू मत जान हु ब्रह्मा हि देखत ब्रह्म तमसै ।
—वही—पृ० 129

2. पादन पुन्न नस्थूल न सन्य न बोलै न मौन न सोवै न जागै ।
एक न दो इन पुर्ष न जोइ कहै कहाँ कोई न पीछे न आगे ।।
वृद्ध न बाल न कर्म न काल न ह्रस्व न विसाल न जू झै न मागै ।
बंध न मोक्ष अमोक्ष न प्रोक्ष न सुन्दर छै न असुन्दर लागै ।
—वही—पृ० 168

3. जैसे कोई अर्धनारी न नटेसुर रूप धरै । एक बीजछूतें दोइ दालिनामु पाए हैं ।
तैसे ही सुन्दर वस्तुज्यू हेत्यू ही एकरस । अभय प्रकार होई आपही दिखाए हैं ।।
—वही—पृ० 129

4. अ—बुद्धि विचार करै निसि वासर । चित्त-चित्ते सुअंह अभिमाने ।।
सर्व को प्रेरक सर्वको सादिजु । सुन्दर आप कूं न्यारोहि जानै ।।
—सुन्दर विलाश—पृ० 103

ब—चौथे ब्रह्म को विलास तिहू के अभाव जहाँ ।
सुन्दर कहत वह अनुभव तेंलह्यो है ।।—वही—पृ० 162

5. लोक बेद का पैंडा और हि, इनकी कौन चलावै ।
आत्म मरि षषा में पूजें, हिरदे दया न आवै ।।
संतबानी संग्रह, भाग—2, पृ० 92

6. किरतिम देव न पूजिये तेसलगे फुटि जाय ।
कहै मलूक मुभ आत्मा चारो जुग तहराया ।।—वही भाग 1, पृ० 99

वह व्यक्ति चाहे कितना ही मूर्ति को पूजे, चाहे कितना ही नाम लेकर रात दिन पुकारे, किन्तु यदि वह आत्म हनन करता है तो, वह कसाई के तुल्य ही है।[1]

मलूकदास जी के अनुसार सभी की आत्मा समान हैं। हाथी में, चींटी में, पशु में और मनुष्य में एक ही आत्मा है, एक ही परमात्मा है।[2] मालिक (आत्मा) का रंग महल हृदय है और यह शरीर ही पवित्र मस्जिद है।[3]

अनुभव के द्वारा ही आत्मा को जाना जा सकता है। आत्मा की जागृत अवस्था आने पर उजियारा फैल जाता है।[4]

आत्मा : नानक (परमात्मा)

गुरुनानक जीवात्मा और परमात्मा में भेद मानते हैं, किन्तु जब जीवात्मा अपने कुसंस्कारों को त्याग कर परमात्मा के साथ एक हो जाता है, तो वह परमात्मा हो जाता है। उन्होंने जीव और ब्रह्म के बीच एकता सिद्ध की है। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने इस साधन पर भी बल दिया है कि आत्मा और परमात्मा को एक करें। अर्थात अद्वैत ज्ञान की स्थिति के लिए प्रयास किया जाय जब आत्मा और परमात्मा में अद्वैत भाव स्थापित हो जाता है, तभी आन्तरिक द्वैतभाव की निवृत्ति होती है। जब जीवात्मा अपने को परमात्मा में मिला देता है, तो विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है और परमात्मा में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। अकाल पुरुष के साथ मिलकर वह अकाल रूप हो जाता है। इसी से काल उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता।[5]

गुरु नानक कहते हैं कि ऐ (हंसा) जीवात्मा सोऽहं का जप करो जिसमें तीनों लोक समाए है।[6]

---

1. मूरत पूजे बहुत मति नित नाम पुकारें।
   कोटि कसोई तुल्य हैं, जो आत्म मारें॥ —मलूकदास की बानी—पृ० 8
2. कुंजर चींटीपसू नर, सब में साहिब एक,
   काटै गला खुदायका, करे सूरमा लेख॥ —सन्त-वाणी—पृ० 92
3. महल मियां का दिलहि में, औमसजिद काया। —वही—पृ० 46
4. अनुभय उपजा भय गया, हद तज बेहद लागा।
   घर उजियारा होय रहा, अब आत्म जागा॥
   —मलूकदास की बानी—पृ० 20
5. आत्मा परातमा एको करै। अतरि दुविधा अंतरि मरै।
   गुर परसादी पाइआ जाइ। हरि सिउ चितु लागै फिर कालु न खाई॥
   —श्री गुरू ग्रंथ साहिब—पृ० 661
6. गुरमति अलख लखाईऐ ऊतम मति तराहि।
   नानक सोहं हंसा जपु जापहु त्रिभवण तिसे समाहि॥ —वही पृ० 1093

गुरुनानक देव ने कहा है कि माता, पिता, सुत-कन्या, पुत्रकलत्र सब बन्धन स्वरूप है।[1] घर के सारे सम्बन्धी, बहिन, भाई, सास, फूफी, नानी, मौसी, देवर, जेठानी, मामे मामी, माता-पिता आदि पथिक के समान चलने वाले हैं। इनमें कोई भी सच्चा सम्बन्ध नही निभा सकता। सच्चा सम्बन्ध निभाने वाला एक परमात्मा है।[2]

जीव : महावीर

तीर्थकर महावीर ने जीव को प्रकाश पुंज कहा है। जिस प्रकार दूध में पड़ा हुआ पद्मराग रत्न दूध को अपनी ज्योति से दीप्तिमान कर देता है, उसी प्रकार जीव शरीर में रहता हुआ भी अपने शरीर को प्रकाशित करता है।[3]

अतः जीव अन्तरतत्व है, अवशेष सारे बाह्यतत्व हैं। द्रव्य ज्ञान विहीन होने से हिताहित को नही जानते।[4] जीव को उत्तम द्रव्य मानते हुए महावीर ने कहा है कि जीव ज्ञान आदि उत्तम गुणों से परिपूर्ण है। वह चैतन्य रूप है। आराध्य होने से सब तत्वों में परमतत्व है।[5] वह ऐसा तत्व है जो रस, रूप, गन्ध रहित, अव्यक्त, चैतन्य गुण से युक्त शब्द रहित। इन्द्रियों से अगोचर और अनित्य आकार वाला है।[6]

महावीर ने संसारी जीव की इन्द्रियों को जीव नही माना है। उनके अनुसार छः प्रकार के शरीर जीव नहीं हैं। इन इन्द्रियों और शरीरों में जो ज्ञानवान द्रव्य है वही जीव है।[7] क्योंकि देह से युक्त जीव ही समस्त कर्म कर्ता है अतः इसलिये कर्मों में प्रवर्त्त बहिरात्मा को दोनों देह और जीव एक प्रतीत होते हैं।[8]

---

1. बन्धन माता-पिता संसारि। बन्धन सुत कंनिआ अरू नारि॥
—वही पृ० 416
2. ना भैणा भरजाईआ········॥ —वही पृ० 1015
3. जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देह देहत्यो सदेहमेत्तं पभासयदि। —पंच० 33
4. अन्तर-तच्चं जीवो बाहिर-तच्चं हवंति सेसाणि।
णाण-विहीणंदव्यहियाहियं णेय जाणेदि॥—द्वा० अ०—पृ०5
5. उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परम-तच्चं जीव जाणेह णिच्छयदो।—वही पृ० 204
6. अरससरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणसमद्दं।
जागमलिगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं॥—भा० पा० 64
7. णहि इन्दियाणि जीवा काया पुण छाप्पयार पणण्त्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवोत्तिय तं परूवंति—पंचा० 121
8. देह-मिलिदो विजीवो सव्व-कम्मणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणे एयत्रं बुज्झदे दोण्हं॥—द्वा० अ० 185

यह जीव इस संसार में अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है। सर्व कर्म रज से रहित यह अकेला जीव ही सिद्ध अर्थात मुक्त होता है।[1]

महावीर के अनुसार जीव चार प्राणों के कारण वर्तमान, भविष्य तथा भूतकाल में विद्यमान रहता है। ये चार प्राण बल, मन, वचन, काय हैं। इन्द्रिय (श्रोत' चक्षु, प्राण, रसन, स्पर्शन) आयु और श्वासोच्छवास हैं।[2] जो जीव पांच समितियों से समित, तीन गुणियों से युक्त, चार कषायों से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनास्तव हो जाता है।[3] जीव और पुद्गलस्कंध परस्पर सघन रूप में रहते हैं और उदय काल आने पर पृथक हो जाते हैं। पुद्गल-कर्म ही सुख-दुःख देते हैं और जीव उन्हें भोगता है।[4]

महावीर ने मुख्य रूप से दो प्रकार के जीव बताये हैं—संसारी और निर्वाण प्राप्त। दोनों ही चैतन्य स्वरूप और उपयोग लक्षण वाले होते हैं। संसारी जीव देह सहित और मुक्त जीव देह रहित होते हैं।[5] संसारी जीवों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बीज (तृण, घास, धान) तथा त्रस प्राणी (जिनमें चलने फिरने की सामर्थ्य न हो)। महावीर ने इन्हें छः जीव निकाय नाम दिया है और कहा है कि संसार में इनके अतिरिक्त अन्य जीव नहीं हैं।[6]

---

1. एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झाइ णीरओ॥ —सू० 47
2. पाणेहि चदुहि जीवदि जीविस्सदि जो हुजीविदोपुव्वं।
सो जीवो पाणापुण बलमिदियमाउ उस्सासो॥ —पंचा० 30
3. पचंसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारबो य निस्सल्लो जीवोहोइ अणासवो॥ —उ० 30, 3
4. जीवा पुग्गल काया अण्णोण्णागाढमहण पहिबद्धा।
काले विणुज्जमरणा सुहदुक्खं दिति भुंजति॥ —पंचा० 67
5. जीवा संसारत्था णिव्वादा चेद्णप्पगा दुविहा।
अवओगलक्खण विय देहादेहप्प वीचारा॥ — पंचा० 109
6. (अ) पुढवीजावा पुढो सत्तां आउजीवा तहागणी।
याउजीवापुढो सत्तातण रूक्खा सबीयगा॥
अहावरे तसा पाणा एवं छक्काय अहिया।
इत्ताव एव जोवकाए णावरे विज्जती कए।
सव्वे अकतदुक्खा य अतां सव्वे अहिंसया॥—सू० 1, 11, 7, 8, 9
(ब) पुढविदग अणाणि मारूय तणरूक्ख सवीयगा।
तसाय पाणा जोवत्ति इइ वुत्तं महेसिणा॥ —द० 8:2

यह जीव ही क्षत्रिय, चाण्डाल, वोक्कस तथा कीट, पतंग, कुन्थु और चींटी के रूप धारण करता है।[1]

महावीर के अनुसार जीव सब कुछ जानता है। तथा देखता है। वह सुख की इच्छा करता है तथा दुःख में भयभीत होता है। वह हित भी करता है और अहित भी। वही फल को भोगता है[2] इस प्रकार यह जीव अपने कर्मों के द्वारा कर्त्ता-भोक्ता हुआ मोह में डूबकर अनन्त संसार में भ्रमण करता है।[3] यह जीव त्रिमावादी मुक्त है, उपयोग से विशिष्ट है, प्रभु है, कर्त्ता और भोक्ता है शरीर-प्रमाण, अमूर्त है किन्तु कर्म युक्त है।[4] यह जीव अपने रागादि रूप भावों का कर्त्ता है। भावों का निमित्त पाते ही यह वहीं स्थित कर्म-योग्य पुद्गल जीव के प्रदेशों में परस्पर एक क्षेत्र अवगाह रूप से दूध पानी की तरह मिलकर कर्म रूप हो जाता है।[5] जीव भाव का कर्ता होता है।[6]

जीव के सम्बन्ध में महावीर की धारणा है कि जीव उपयोगमय है। वह अनेक के इष्ट-अनिष्ट विषयों को पाकर उनसे मोह करता है। आसक्ति अथवा द्वेष करता है। वह राग, द्वेष और मोह के द्वारा बन्ध जाता है।[7] जीव अयोगस्वरूप है। उपयोग जानने तथा देखने वाला है। महावीर कहते है कि जीव का उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है।[8]

महावीर कहते हैं कि हे जीव तू जन्मांतरों के मरण को मार। जरा और मरण का अन्त करने वाले मरण की भावना कर।[9]

---

1. एगया खत्तिओ होइत्ताओचण्डाल-वोक्कसो।
   तओकीड-पयंगो यतओ कुन्थु-पिवीलिया॥ —उ० 3:4
2. जाणदि परसदिसव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खाओ।
   कुव्वदि हिदमहिदंवा भुंजदि जीवो फलं तेसि॥ —पंचा० 122
3. सवं कत्ता मोक्षा होजजं अप्पा सगेहिं कम्मोहिं।
   हिंडदि पारमपारं संसार मोह संछण्णें॥ —पंचा० 69
4. जीवोत्ति हवादि चेदा उपओग विसेसिदो यहूकत्ता।
   भोत्ता य देहमत्तो ण हिमुत्तो कम्मसजुत्तो —पंचा० 27
5. अत्ता कुणदि सभावंतत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
   गच्छंति कम्मभावं अणोण्णामाहाहमवगाढा : —पंचा० 65
6. कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
   सो तस्स तेण कत्ता हवदित्ति यसासणे पटिदं॥—पंचा० 57
7. उवओगमओजीवो मुज्झदि रजजोदि वापदुस्तेदि।
   पप्पा विविहो जिसये जोहि पुणोहहि संबंधो॥ —प्र० सा० 3:83
8. अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
   सोहि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणोहवादि॥ —प्र० सा० 2:63
9. अण्णे कुमरण मरणं अणेय जम्मंतराइं तरिओत्ति।
   भवहि सुमरणमरणं जलरणनिणसणं जीव॥ —भा० पा० 32

साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गलसमूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपयोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते है। उनके आहार विहार, उच्छ्वास-निश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं।[1]

मुनि नथमल ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र निरोध स्थूल पोद्गलिक* वस्तुएँ ही करती है। साधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक नहीं होते। जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसीलिए एक सुई के अग्रभाग जितने छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं। रसायन शास्त्र के पंडित कहते हैं कि आल्पीन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकड़े में 10,00,00,00,00,00,00,000 अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति-शरीर जीवमय होता है।[2]

जीव के फंसाने वाला दूसरा कोई नहीं। जीव कर्मजाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वांछा से रच लेता है। कर्म की बहुलता है, जन्म मृत्यु की बहुलता है। इसीलिए एक परमाणु मात्र भी लोक में ऐसा स्थान नहीं, जहाँ जीव न जन्मा हो और न मरा हो। ऐसी जाति, योनि स्थान या कुल नहीं, जहाँ जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हों। जीवों का उत्पत्ति-क्रम एक सा नहीं होता। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाएँ नही हैं। ये तीन है—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात।[3]

मुनि नथमल[4] महावीर की जीव सम्बन्धी वाणी का स्पष्टीकरण करते है कि जीवों के चौदह भेद और उनके आधार इस प्रकार बतायें हैं—

---

1. एक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाण तं चेव।
 जं बहूयाणं गहणं, समासओ तं पि एयस्स ॥
 सहारण माहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।
 माहारणजीवाणं, साहारण लक्खणं एयं ॥
 समयं बच्छंताणं, समयं तेसिं सरीर निव्वत्ती।
 समयं आणुगाहण, समयं उस्सासनिस्सासं ॥ —पन्नापना-पद-1

* वे द्रव्य जिनके संघात् से शरीर तथा मन, प्राण आदि का निर्माण होता है उन्हें पुद्गल कहते हैं।

2. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा-पृ० 214
3. वही—पृ० 227-228
4. वही—पृ० 229

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
संज्ञी के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त

मुनि नथमल[1] ने जीव और अजीव का अन्तर पंचास्तिकाय और हिन्दी विश्व भारती खण्ड—1 के आधार पर इस प्रकार किया है—

जीव	अजीव
1. प्रजनन-शक्ति	— प्रजनन शक्ति नहीं।
2. वृद्धि	— वृद्धि नहीं।
3. आहार-ग्रहण। स्वरूप में परिणमन विसर्जन	— नहीं।
4. जागरण, नींद, परिश्रम, विश्राम	— नहीं।
5. आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	— नहीं।
6. भय-त्रास	— नहीं।

जीव तत्व चेतनायुक्त है और अजीव तत्व जड़ है।[2] जिस द्रव्यों में चैतन्य नहीं पाया जाता, वे अजीव द्रव्य कहे जाते हैं।[3] अजीव द्रव्य के पांच भेद हैं—पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गल जीव के बन्धन का कारण है।[4] कर्म पुद्गलों के संयोग से ही समस्त संसारी जीवों की उत्पत्ति होती है।[5] अचेतन होने पर भी पुद्गल परमाणु अपनी शक्ति से आत्मा को प्रभावित करते हैं।[6] कर्म-पुद्गल जीव की शिवत्व-उपलब्धि में

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा-पृ० 227-228
2. चेतन जीव अजीव जड, यह समान्य स्वरूप-पार्श्वपुराण-पृ० 141
3. जैन धर्म—पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री —पृ० 92
4. जग मैं जीव अनादि, बंध संजोग तें।
   छूट्यो कब ही नाहिं, कर्म फल भोगतें॥ —पार्श्वपुराण—पृ० 149
5. वही, पृ० 148
6. जैन दर्शन : एक चिंतन-हीरा कुमारी (गुरुदेव श्री रत्न मुनि स्मृति ग्रंथ, पृ० 167)

बाधक है ।[1] कर्म-पुद्गल आत्मा के शत्रु हैं । आत्म बोध होने पर आत्मा जब दृष्टि पसार कर देखता है तो निज पर में भेद स्थापित कर लेता है और अनादिकाल से साथ में लगे कर्म-पुद्गलों से पृथक् होने का प्रयास करता है ।[2]

पुद्गल का साहचर्य जीव के लिए घातक और उसकी मुक्ति में बाधक है। इसीसे उसकी ज्ञान-दृष्टि पर परदा पड़ा रहता है और अपनी चरम अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता ।[3] इसीसे वह कर्मों में आबद्ध होता हुआ, भोग-मग्न होकर दुर्गतियों में भटकता है ।[4] अतः पुद्गल से पृथक् हुए बिना जीव का उद्धार सम्भव नहीं है ।[5]

जीव यदि स्वयं को अन्तरदृष्टि से देखता है तो शुद्ध आत्मतत्व प्राप्त कर लेता है । किन्तु बाह्य दृष्टि से उसे पोद्गलिक छाया के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता ।[6] जीव सम्यक् दृष्टि से स्वपर के भेद से अवगत होकर पुद्गल रागादिक का परिहार कर सिद्ध समाज हो जाता है ।[7]

पुद्गल के अतिरिक्त धर्म अधर्म भी अजीव तत्व के भेद हैं । धर्म जीव और पुद्गल की गति में योग देने वाला है । वह उसे उसी प्रकार योग देता है, जैसे जल मछली को इच्छापूर्वक विहार करने के लिए सहारा देता है ।[8]

जिस प्रकार जीव और पुद्गल की गति के लिए साधारण कारण है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म द्रव्य साधारण कारण है ।[9] जैसे

---

1. देखहिं दृष्टि पसारि कें, निज पर सब को आद वह मरे कौन है, जड़ से लगे अनादि ॥ —शतअष्टोत्तरी, पृ० 55
2. इस विध ये कर्मकरत जोर । नाहिं जानदेत शिव वधु और ।
—चेतन कर्मचरित्र-पृ० 82
3. भैया भरम न भूलिये, पुद्गल के परसंग ।
अपने काज संवारिये, आय ज्ञान के अंग ॥
आय ज्ञान के अंग, आप दर्शन गहि लीजै ।
कीजै थिरता भाव, शुद्ध अनुभौ रस पीजै ॥ —शतअष्टोत्तरी, पृ०-24
4. जीव देह बस कर्म विध करै । भोग मगन ह्वै दुरगति फिरै ॥
—सीता चरित-पृ० 126
5. चेतन कर्म चरित्र-पृ० 73
6. अन्तर की दृष्टि खोल चिदानंद पाइये गा ।
बहिर की दृष्टि सों पौद्गलिक छाया है ॥ —शतअष्टोत्तरी-पृ० 21
7. सूआ बत्तीसी-पृ० 270
8. पार्श्वपुराण-पृ० 150
9. द्रव्यसंग्रह गाथा-पृ० 17

मार्ग में चलते हुए पथिक को वृक्षों की छाया विराम देने का निमित्त है, वैसे ही अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति का निमित्त है।[1]

आकाश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देता है।[2]

जीव : नामदेव

नामदेव के अनुसार समस्त जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है। सकल जीवों में उसी का बास है। किन्तु माया और मोह ने भ्रम उत्पन्न कर दिया है। अन्यथा घट-घट में वही व्याप्त है।[3] वह जल की प्रत्येक तरंग में विद्यमान है।[4] यह जीव अत्यन्त अल्प है। उसकी गति वही जानता है। जीव ज्ञान से बहुत दूर है। क्योंकि जैसा कहा जाता है, वैसा वास्तव में है नहीं। वह लूण नीर से न्यारा है।[5]

नामदेव जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे जीव माया के भ्रम से जाग अन्यथा इस संसार में आना जाना लगा ही रहेगा।[6] जीव जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर अमृत्व को पा लेता है।[7]

कबीर : जीव

कबीर के अनुसार संसार के अधिकांश जीव अज्ञानी की कोटि के हैं; माया रूपी दीपक के ये नर पतंग अज्ञान के कारण फंसते रहते हैं। कोई भाग्यवान तो विरला ही होता है, जिसे सद्गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त होता है और वह माया के चंगुल

---

1. पार्श्वपुराण-पृ० 152
2. वही-पृ० 153
3. जामैं सकल जीव की उतपति। सकल जीव मैं आप जी।
   माया मोह करि जगत भुलाया। घटि-घटि व्यापक बाप जी॥
   —संतनाम देव की हिन्दी पदावली-पद 48
4. बदहु की न छेड़ माधऊ मोसिऊ।
   ठाकुर ते जनु जनने ठाकुरन खेलु परिउ है तोसिऊ॥
   जल ते तरंग तरंग ते है जल कहन सुनन कऊ इजा॥ —वही-पद 161
5. तेरी गति तूं ही जाने। अल्प जीव गति कहा बषानैं।
   जैसा तू कहिये तैसा तूं नाहिं। जैसा तूं है तैसा आछि गुसाईं॥
   लूण नीर थे नाहू वैं न्यारा ठाकुर साहिब प्राण हमारा।
   साध की संत सू भेंटा। प्रणवंत नांमा रामं सहेटा॥—वही-पद 14
6. जागि रे जीव कहा भुलाना। आगै पीछे जाना ही आना॥
   भणत नामदेव चेति अयाना। औघट घाट अरण दूरि पयाना॥
   —वही-पद 112
7. प्रणवति नामादेउ इंहु जीउ चित वै सुले है।
   अमरू होइ सद आकुल रहै॥ —वही-पद-116

से मुक्त होता है ।[1] माया के चंगुल में फंसे जीव को कबीर ने अज्ञानी जीव कहा है ।[2] जीव में जब विवेक जागृत होता है तब वह विश्व के नामरूप से परे एक अनुपम तत्व की ओर उन्मुख होता है उसकी बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होने लगती है। ज्ञान के प्रकाश से मन एवं बुद्धि निश्चल हो जाती है। संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। साधना द्वारा वह अपने स्वरूप का चिंतन करने लगता है ।[3] साधना की परिपूर्ण अवस्था में जीव समदर्शिता युक्त हो जाता है ।[4] कबीर के अनुसार जीवन्मुक्त साधना की दशा पागल एवं मूर्छित मनुष्य जैसी हो जाती है। वह निज रूप में निमग्न रहता है। उसे देह की सुध-बुध नहीं रहती और न किसी प्रकार की इच्छा ।[5]

कबीर ने जीव की स्थिति के आधार पर चार कोटियां निश्चित की हैं—

जीव

अज्ञानी जीव——जिज्ञासु जीव——साधक जीव——मुक्त जीव

जीव : रविदास—

रविदास जी के अनुसार ब्रह्म जड़-चेतन पदार्थों तथा कीट-पतंगों आदि छोटे-बड़े सभी प्राणियों में समाया हुआ है। जगत के सारे पदार्थ तथा जीव उसके अंग रूप हैं ।[6] आपकी मान्यता है कि ब्रह्म और जीव में अद्वैत भाव निहित है। ब्रह्म और जीव ऐसे हैं जैसे सोना और उससे बने आभूषण, जल और उसमें उत्पन्न लहर, सूत और उससे बना कपड़ा, पत्थर और उससे बनी मूर्ति ।[7] जिस प्रकार तरंग समुद्र

---

1. माया दीपक नर पंतग, भ्रमि-भ्रमि इवै उड़न्त ।
कहै कबीर गुरु ग्यान थैं, एक आध उबरन्त ।। —क० ग्र० पृ० 3
2. मीठी मीठी माया तजी न जाई ।
अज्ञानी पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ।। —क० ग्र० पृ० 166
3. समझ विचारि जीव जब देख्या, यहु संसार सुपन करि लेखा ।
भई बुधि कछु ग्यांन निहारा, आप आप ही किया विचारा ।।
—क० ग्र० पृ० 234
4. सर्व भूत एकै करि जान्या, चूकै वाद-विवाद ।। —क० ग्र० पृ० 294
5. मैंमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति ।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ।। —क० ग्र० पृ० 17
6. आदिमध्य औसान ऐक रस, एक तार है भाई ।
थावरजंगम पीट पतंगा, पूरि रहै हरि राई ।।
—रविदास दर्शन-आजाद-पृ० 77
7. कनक कुटक सुत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा ।
जलतरंग पाहन प्रितिमाज्यों, ब्रह्म जीव दुति जैसा ।।
तोही मोही मोही तोही अंतरू जैसा, कणक कटिक जल तरंग जैसा ।
वही—पृ० 80

से मिलकर जलमय हो जाती है, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में द्वैत भाव समाप्त हो जाता है।[1]

रविदास कहते हैं कि अविद्या अर्थात् माया या अज्ञान के कारण ज्ञान का दीपक मलिन हो जाता है। जीव भी माया में फंसकर ब्रह्म को भूल जाता है।[2]

जीव : दादू—

दादू के अनुसार जीव कर्मों के वश में है। जो जन्म लेता है और मरता है वही जीव है। तथा जो जन्म मरण से रहित है वही स्वामी अथवा परमात्मा है। जीव जब तक बंधन में बंधा रहता है तभी तक जीवात्मा है। मुक्त हो जाने पर ब्रह्म के समान हो जाता है। जब तक कर्मों के वश में रहता है, तभी तक जीव है, कर्म रहित जीव ही ब्रह्म कहलाता है।[3] दादू ने कहीं-कहीं जीव के लिए "प्राण" शब्द का भी प्रयोग किया है।[4] उन्होंने जीव को सुरति से भिन्न मानते[5] हुए लिखा है कि

---

1. (अ) जब हम होते तब तू नांही, अब तूं ही मैं नाही।
अनल अगम जैसे लहरि मइओदधि, जल केवल जल मांही।
—वही पृ० 81

(ब) तोहि मोहि, मोहि अंतरू कैसा। कनक कटिक तरंग जैसा।
सबमें हरि हैं, हरि में सब है, हरि अपने जिन जाना।
अपनी आप सारणि नहीं, दूसरे जानै जानन हारा॥
संत रैदास—डॉ० योगेन्द्र पृ० 67

2. माधो अबिदिआ अहित कीन, बिबेक दीप मलीन।
तृगद जोनि अचेत संभव, पुंन पाप असोच॥
मानुखा अवतार दुलभ, तिहीं संगति पोच।
जीअ जंत जहां जहां लगु, करम के बसि जाइ॥
—रविदास दर्शन-पृ० 81

(ब) माधो, भ्रम कैसे न बिलाई, तायैं दुती दरसै आइ।
—गुरु रविदास-आजाद—पृ० 83

3. जनमें मरै से जीव है, रमता राम न होइ।
जामण मरण यें रहित है, मेरा साहिब सोइ॥
दादू बंध्या जीव है, सूता ब्रह्म समान।
करमों के बस जीव है, कर्म रहित सो ब्रह्म॥
—स्वामी दादूदयाल जी की वाणी-12, पृ० 61

4. घट परिचैं सब घट लावै प्राण परीचैं प्रण।
ब्रह्म परचि पाइए दादू है हैराण॥
—दादूदयाल जी वाणी-भाग 1, पृ० 87

5. विरह जगावै दरद को दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को पंच पुकारै पीव॥ —वही-पृ० 43

सुरति जहां रहती है वहीं उसे विश्राम मिलता है। यदि किसी ने अपनी सुरति माया में लगा रक्खी है तो उसे उसी में आनन्द मिलता है और जिसने आत्मरूपी राम में केन्द्रित कर रखा है, उसे वहीं शान्ति मिलती है।[1] दादू ने जीवों के प्रति निर्वेर भाव की कामना की है।[2]

जीव : सुन्दर दास

सुन्दर दास ने ईश्वरा द्वैती प्रति बिबवाद के आधार पर ब्रह्म की जीव से एकता मानी है।[3] जब ब्रह्म स्वरूपनी आत्मा अहंकार से विमोहित हो जाती है तो जीव कहलाती है। जीव को कर्म बन्धन ही संसार में बांधने वाले हैं।[4] अहंकार के जाते ही जीव ब्रह्म हो जाता है।[5]

जीव : मलूकदास

मलूकदास ने "जीव" शब्द का प्रयोग सामान्य रूप में चलाता हुआ किया है।

---

1. जिस की सुरति जहां रहै तिस का तहे विश्राम।
   भावै माया में भावै आतम राम ॥
   —दादूदयाल की वाणी भाग 1 पृ० 112
2. सब घटि एकै आतमा, जाणौ सो नीका।
   आपा पर मैंचीन्हि ले, दरसन है पावका।
   आये एकंकार सब, सांई दिये पठाइ।
   दादून्यारो नावं घरि, भिन्न-भिन्न ह्वै जाइ ॥
   —दादूवाणी-मंगल, पृ० 413
3. (अ) देह को संजोगपाइ जीव ऐसे ना, भयो,
   घट के संयोग घटाकास ही कहायो है।
   ईश्वर सकल विराट में विराजमान,
   मठ के संजोग घटाकास ही कहायो है।
   महाकास माँहि सब घटमठ देखियत"
   बाहरि भीतर एक गगन समायो है।
   तैसे ही सुन्दर ब्रह्म ईश्वर अनेक जीव।
   त्रिविध उपाधि भेट ग्रंथन गायो है ॥
   —सुन्दर विलास, पृ० 103
   (ब) तू ही जीव रूप तू ही ब्रह्म है अकाशवत।
   —संतवानी संग्रह, पृ० 105
4. (अ) सुन्दर विलास —पृ० 99
   (ब) गोविन्द के लिए जीव बस करमनि के। —संत सुधासार, पृ० 612
5. सुन्दर कहत अहंकार ही ते जीव भयो।
   अहंकार गए यह एक ब्रह्म आपु है ॥ —सुन्दर विलास, पृ० 99

जीव को प्राण रूप में प्रयोग किया गया है ।[1]

जीव : नानक

गुरु नानक ने जीव की उत्पत्ति परमात्मा के "हुकम" से मानी है ।[2] वहीं से आते है और उसी में विलीन हो जाते है ।[3] जीव के अनेक रूप रंग भी उसी के हुकम से हुए हैं ।[4] परमात्मा का अंग होने के कारण जीव भी अमर है ।[5]

माया मोह के कारण ही जीव को अनेक योनियों मे भ्रमण करना पड़ता है। जिस प्रकार मछली जाल में पड़ जाती है उसी प्रकार जीव भी माया में पड़ जाता है ।[6]

गुरु नानक ने जीवात्मा को स्त्री रूप में चित्रित किया है ।[7] वे स्त्री रूपी जीवात्मा के चार प्रकार बताते है ।[8]

1. वह जो परमात्मा रूपी पति से अनभिज्ञ होती है ।
2. वह जो जानती है कि उसका एक ही प्रियतम है जो गुरु कृपा से प्राप्त हो सकता है ।
3. वह जिसे ससुराल पहुंच कर प्रियतम का ज्ञान प्राप्त होता है ।
4. वह जो परमात्मा के भय से उसकी ओर जाती है ।

---

1. मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौंपिव पीव ।
   जो जोगिया नहिं मिलि हो, तो तुरत निकासूं जीव ।।
   गुरुजी अहेरी मै हिरनी, गुरु मारैं प्रेम का बान ।
   जेहि लगै सोई जानई हो, और दरद नहिं जान ।।
   कहै मलूक सु नु जोगिनी रे, तनहिं में मनहिं समाय ।
   तेरे प्रेम के कारने जोगी सहज मिला मोहिं आय ।।
   —संक्षिप्त संत सुधासार, वियोगी हरि, पृ० 389
2. हुकमी होयनि जीव हुकमि मिलै वडिआई ।। —श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृ० 1
3. हुकमी आवै हुकमै जाइ । आगै पीछे हुकमि समाइ ।। —वही, पृ० 151
4. जीअ जाति रंगा के नाव । सभना लिखिया वुड़ी कलाम । —वही पृ० 3
5. देहि अंदरि नामु निवासी । आपै करता है अविनासी ।
   ना जिउ मरै न मारिआ आई करि देखै सबदि रजाई है ।।
   —वही पृ० 1029
6. केते रूख विरख हम चीने, केते पसू उपाए ।
   केते नाग कुली महि आए, केते पंख उडाए ।। —वही पृ० 156
   जिउ मछी तिउ माणसा पवै अचिन्ता जाकु ।। —वही पृ० 55
7. मनु मोती जे महराय होवै, पउणु सूत-धारी ।
   खिमा सीगारु कामणि तन पहिरै, रावै लाल पिआरीं —वही पृ० 359
8. श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ०357

सत्ता (ईश्वर) : महावीर

महावीर के अनुसार सत्ता एक है जो सब पदार्थों में स्थित है तथा विश्वरूप है। वह अनन्त पर्यायवाली है। उत्पाद-व्यय* ध्रौव्यात्मक** है। प्रतिपक्ष*** सहित है।[1]

प्रायः कहा जाता है कि महावीर ईश्वरवादी नहीं हैं। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। वे ईश्वरवादी हैं किन्तु ईश्वरकर्तव्यवादी नहीं हैं। मुनि नथमल ने महावीर के सत्ता सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण विकास (परमलक्ष्य या मोक्ष) का अस्वीकार है। मोक्ष का अस्वीकार अपनी पवित्रता (धर्म का) अस्वीकार है। अपनी पवित्रता का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है। धर्म साधन है। ईश्वर साध्य है। प्रत्येक मुक्त आत्मा ईश्वर है। मुक्त आत्माएं अनन्त हैं, इसलिए ईश्वर अनन्त है। एक ईश्वरकर्त्ता और महान्, दूसरी मुक्तात्माएं अकर्त्ता और इसीलिए अमहान् कि वे उस महान ईश्वर में लीन हो जाती हैं —यह स्वरूप और कार्य की भिन्नता निरूपाधिक दशा में हो नहीं सकती। मुक्त आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता को इसीलिए अस्वीकार करने वालों की स्वतन्त्र सत्ता मानने पर मोक्ष में भी भेद रह जाता है, एक निरूपाधिक सत्ता को अपने में विलीन करने वाली और दूसरी निरूपाधिक सत्ता को उसमें विलीन होने वाली मानते है—क्या यह निर्हेतुक भेद नहीं ? मुक्त दशा में समान-विकासशील प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार वस्तु स्थिति का स्वीकार है। ईश्वर में कर्त्तव्य का आरोप करना उचित नहीं।[2]

डॉ० महेन्द्र कुमार जैन ने लिखा है कि जब संसार में अनन्त जड़ और चेतन पदार्थ, अनादिकाल से स्वतन्त्र सिद्ध हैं, ईश्वर ने भी असत् से किसी एक भी सत् को उत्पन्न नहीं किया, वे सब परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्री के अनुसार अपना परिणमन करते हैं तब एक सर्वाधिष्टता ईश्वर मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? यदि ईश्वर कारुणिक है, तो उसने जगत् में दुःख और दुखी प्राणियों की सृष्टि ही क्यों की ? अदृष्ट का नाम लेना तो केवल बहाना है, क्योंकि अदृष्ट भी तो

---

1. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
   भंगुपाद धुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥ —पंचा० 8

* किसी भी वस्तु में नई प्रयाय अथवा अवस्था या हालात का उत्पन्न होना उत्पाद हैं तथा व्यय का अर्थ है पहली अवस्था का विनाश या परिवर्तन।

** किसी द्रव्य का नित्य या सदा उसी रूप में बने रहना, जिससे यह पता चले कि यह वस्तु वही है।

*** विरोधी या विपरीत।

2. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 421-422

ईश्वर से ही उत्पन्न होता है। सृष्टि के पहले तो अनुकम्पा के योग्य प्राणी ही नहीं थे, फिर उसने किस पर अनुकम्पा की ? इस तरह जैसे-जैसे हम इस सार्वनियन्वृवाद पर विचार करते हैं, वैसे-वैसे इसकी निःसारता सिद्ध होती जाती है।[1]

सत्ता : नामदेव

सत्ता का पार पाना अत्यधिक कठिन ही नहीं असम्भव है। गहनता का नाम ही तत्त (सत्ता) है। उसे भजन से ही पाया जा सकता है।[2]

कबीर : सत्ता

कबीर के अनुसार मनुष्य के भीतर एवं ब्रह्माण्ड में जो तन्त्र बज रहा है और ध्वनि हो रही है अर्थात् व्यष्टि और समष्टि में जो विकास और क्रम है उसके पीछे एक अदृश्य सत्ता है, जो इन सबका कारण है। उसका कर्म दृष्टिगोचर होता है किंतु स्वयं नहीं।[3] कबीर ने सत्ता को द्रव्य रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यह द्रव्य भौतिक द्रव्य से भिन्न एवं उत्कृष्ट है। यह आध्यात्मिक पिपासा शान्त करने का मार्ग है। इसका सम्बन्ध मन की गहराई से है। इसका वर्णन शब्दों के माध्यम से सम्भव नहीं है।[4] आन्तरिक सत्य के सम्बन्ध में वाणी मूक हो जाती है। वह सत्य मन और वाणी की सीमाओं से दूर है। वह तो इन्द्रियातीत एवं अनिवर्चनीय[5] अनुभव से ही जाना जा सकता है।[6]

उस सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है। शेष समस्त ज्ञान उसके सामने निम्न हैं। उससे सबकी उत्पत्ति है, स्थिति है, पर सबसे एक का ज्ञान भी असम्भव है।[7] कबीर ने सत्ता को मूल तत्व माना है। उसकी मान्यता है कि उस मूल तत्व के ज्ञान से अन्य सभी पदार्थों का ज्ञान हो माना सम्भव है। मूल ज्ञान तो वही

---

1. जैन दर्शन —पृ० 81
2. तत्त गहन को नाम है, भजि लीजै सोई।
   लीला सिंघ अगाध है, गति लखै न कोई।।
   —संतबानी संग्रह, भाग-2 पृ० 25
3. बाजै तंत्र नाद धुनि होई, जे बजावै सो औरै कोई।
   बाजी नाचौ कौतिक देखा, जो बचावै सो किनहूं न पेखा।।
   क० ग्र० पृ० 231
4. तन भीतरि मन मांणियां, बाहरि कह्या न जाइ।
   ज्वाला तैं फिरि जल भाया, बुझी बलंती लाइ।। —क० ग्र० पृ० 15
5. कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।। —क० ग्र० पृ० 93
6. कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवांन।। —क० ग्र० पृ० 12
7. कबीर एक न जांणियां तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
   एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होई।। —क० ग्र० 19

है।[1] कबीर ने उस सत्ता के लिए साहब,[2] ब्रह्म[3] तथा पार ब्रह्म[4] आदि नाम भी दिए हैं।

डा० रामजीलाल सहायक के मतानुसार कबीर का मूल तत्व (सत्ता) अव्यक्त, अरूप है। वह परमगति है और वही है अन्ततम ज्ञान, संत्। सत्ता अकथ एवं अनिवर्चणीय है। वही परमतत्व है जिसकी प्रेरणा-मात्र से सकल विश्व का व्यापार चल रहा है। इस अन्ततम सत्य को जानना ही परम लक्ष्य है।[5]

सत्ता : रविदास

रविदास ने उस परम सत्ता को पहचानने, उस सान्निध्य प्राप्त करने, उसको प्राप्त करने के प्रति एक विकलता अनुभव की भी जो एकांगी होकर अधूरी और अपूर्णता अनुभव करती हुई बहुधा प्रवाहमान हुई है। इस विविधता में अंतर्विरोध न होकर एक विकल अनुभूति। अत: उनकी "बानी" में भी हमको एक विकलता के साथ लगभग यह सभी अनुभूतियां दृष्टिगोचर होती हैं। उन्होंने उस परम सत्ता को पहचानने, उससे सान्निध्य प्राप्त करने, उसको प्राप्त करने के प्रति एक विकलता अनुभव की थी जो एकांगी होकर अधूरी और अपूर्णता अनुभव करती हुई बहुधा प्रवाहमान हुई है। इसी विविधता में अंतर्विध न होकर तारतम्य है।[6]

सन्त रविदास के द्वारा अभिव्यक्त ब्रह्म विषयक अनुभूतियों को यदि मोटे रूप में श्रेणीबद्ध किया जाए तो उनकी अनुभूतियां विधेयात्मक, निषेधात्मक दोनों ही रूपों में अभिव्यक्त हुई हैं और उनकी अभिव्यक्ति इन विधेयात्मक-निषेधात्मक दोनों ही विधियों को असमर्थ पाकर उस सत्ता को परात्पर रूप में नितांत व्यक्तिगत और कभी-कभी अव्यवस्थित विशेषण भी देने लगी है। भावना के आवेग में यह सत्ता कभी उसकी भक्ति का पात्र बनी तो चिंतन के क्षणों में वह केवल परम ज्ञान का विषय रही है।[7]

सत्ता : नानक

उस परम सत्ता को गुरु नानक ने अकाल मूरति और निरंजन नाम से पुकारा

1. जे वे एक जांणियां, तौ जांण्या जांण ॥ —क० ग्र० 19
2. साहिब सेवा मांहि है, बे परवाही दास ॥ —क० ग्र० 12
3. अंतरि कंवल प्रकासियां, ब्रह्म वास तंह हाई ॥ —क० ग्र० 13
4. पार ब्रह्म ते तेज का कैसा है परवान ॥ —क० ग्र० पृ० 12
5. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहाय। —118
6. संत रैदास—डा० योगेन्द्र, पृ० 49
7. वही—पृ० 49

है। वह निराकार, सच्चा, भयविहीन, जन्म-मरण से मुक्त है।[1]

लोक (संसार) : महावीर

तीर्थंकर महावीर के कथनानुसार यह लोक अकृत्रिम, अनादि और निधन है। यह नित्य है तथा स्वभाव से ही निष्पन्न है। महावीर ने इसे ताड़ वृक्ष के आकार का बताया है।[2] अनन्त आकाशों के बहुत से प्रदेशों के मध्य लोक स्थित है। न वह किसी के द्वारा निर्मित है और न किसी पर आधारित।[3] यह लोक पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। यहाँ तक कि त्रसजीव त्रसनाडी में भी है।[4]

जहां पर मिथ्यात्व और कषाययुक्त जीव अनेक शरीर धारण करके भ्रमण करता रहता है उसे महावीर ने संसार कहा है।[5] जिस प्रकार महासमुद्र को दो भुजाओं से तैर कर पार पाना कठिन है, उसी प्रकार संसार सागर को भी पार करना कठिन है। अतः महावीर के अनुसार इसका त्याग करना ही उचित है।[6] शरीर

---

1. (अ) ओं
सतिनामु
करता पुरख
निरभउ निरवैर
अकाल मूरति अजूनी सैभं
गुर प्रसादि ॥ —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 79

(आ) थापिया न जाइ,
कीता न होई।
आपे आप निरंजनु सोई।

2. लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पंण्णो।
जीवाजीवेहि भुडो णिच्चो तालरुक्खसंगणो ॥ —मू० 712

3. सव्वायासमणतं तस्स य वहुमज्झसंठियो लोओ।
सोकेणविणेय कओण य धरियो हरिहरादिहिं ॥ —द्वा० आ० 115

4. (अ) एइंदिएहि भरिदो पंचपयाणेहि सव्वदालोओ।
तसणाहिए वि तसा ण वाहिरा होंति सव्वत्थ ॥ —द्वा० अ० 122
(ब) आगाढमाढणिचिदो पोग्गलकायोहै सव्वदोलोगो।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहि विविधेहि ॥ —पंचा० 64

5. एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुचेदि बहुवार ॥
एवं जं संसरण णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
मो संसारों भण्णादि मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स ॥ —द्वा० अ० 32-33

6. जमाहु ओहें सलिल अपारगं महासमुद्दवं भुआहि दुत्तरं।
अहे य ण परिजाणाहि पंडिए सेमुणी अंतकईत्ति वुच्चइ ॥
—आ० चू० 16 : 10

नौका, और इस नौका का नाविक जीव है। जीव रूपी नाविक के द्वारा शरीर रूपी नौका के द्वारा संसार सागर को पार किया जा सकता है।[1]

ज्ञान निर्णायक है, ध्यान पवन तथा चरित्र नौका है। जब इन तीनों का संयोग हो जाता है तो जीव भव्य संसार सागर से पार उतर जाता है।[2]

महावीर ने लोक को तीन भागों में विभाजित करके विचार किया है—लोक, अलोक (अलोकाकाश, अनन्त आकाश) तथा सिद्धि लोक। उन्होंने आकाश के उस भाग को, जिसमें जीव और अजीव दोनों हैं, लोक कहा है और उस भाग को, जहां केवल अजीव का देश—आकाश ही है और कोई जीव अजीव द्रव्य नहीं, उसे अलोक कहा है।[3] अपने मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा है जहां धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य है तथा लोकाकाश है और जितने में जीव द्रव्य और पुद्गलों का गमन आगमन है उतना ही लोक है। इसके बाद केवल अनन्त आकाश है, यही अलोकाकाश है।[4] एक स्थान पर गौतम को सम्बोधित करते हुए सिद्धिलोक का उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि सिद्ध पुरुषों की श्रेणी (क्षपक श्रणी-कर्मों का विशिष्ट रूप से क्षय करने वाली विशुद्ध विचार श्रेणी) के अनुसरण से तू क्षेम, कल्याणयुक्त और श्रेष्ठतम सिद्धिलोक को प्राप्त करेगा।[5] जीव सिद्ध अलोक में रहते हैं। लोक के अग्र भाग में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते है और लोक के अग्र भाग में जाकर सिद्ध होते हैं।[6]

लोक और अलोक की स्थिति को स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा है कि लोक और अलोक पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादिकाल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पहले पीछे का क्रम नहीं है।[7] क्षेत्र के सम्बन्ध में महावीर का कहना है कि लोक सीमित है। धर्मास्तिकाय,

---

1. सरीरमाहु जावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
   संसारो अण्णवो वत्तो जं तरंति महेसिणो॥—उ० 23 : 73
2. णिज्जावगो य णाणं वादी झाणं चरित्त णावा हि।
   भवसागर तु भविया हरंति तिहि सण्णिपायेण॥ —मू० 892
3. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
   अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए॥ —उ० 36 : 2
4. धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाणं च।
   जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं॥ —मू० 713
5. अकलेबर सेगिमुस्सिया सिद्धिगोयम लोयं गच्छासि।
   खेमं च सिवं अणुत्तर समयं गोयम। मा पमायए॥ —उ० 10 : 35
6. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
   इहं वोंदि चइत्ताणतत्थ गतूण सिज्झई॥ —उ० 36 : 56
7. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 186

जो गति में सहायक होता है, वह लोक प्रमाण है। इसीलिए लोक के बाहर कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता।[1]

लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। तीन शरावों में से एक शराव ओंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे ही सुप्रतिष्ठक संस्थान अथवा त्रिशराव संपुटसंस्थान कहा गया है। लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह रज्जू लम्बा है। उसमें ऊँचा लोक सात रज्जू से कुछ कम है। तिरछा लोक अट्ठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जू से अधिक है।[2]

महावीर ने देवताओं की शीघ्रगति की कल्पना के आधार पर लोक की मोटाई समझाने का प्रयत्न किया है—छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा। उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढ़ियां बीत गईं। उनके नाम, गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुंचे। वे चलते-चलते अधिक भाग अवश्य पार कर गये। जितना भाग चलना बाकी रहा है उसमें उसंख्यात् गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो।[3]

अतः जीव और अजीव की समष्टि विश्व है। जीव और पुद्गल के संयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम सृष्टि है।[4] जीव की वैभाविक दशा का नाम संसार है। संसार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग, द्वेष हैं।[5] यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है न बढ़ती है केवल रूपान्तर होती है।[6]

सं० 1700 से 1900 तक के जैन कवियों द्वारा रचित प्रबन्ध काव्यों में स्थान-स्थान पर संसार की अनित्यता प्रकट की गई है। इसे स्वप्न के समान बताया

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 189
2. भगवती, 11/10
3. कालतो लोए अणते, भावतो लोए अणं ते—भगवती 2/1
4. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 196
5. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 223
6. वही—पृ० 223

गया है ।[1] यह संसार लगता तो बड़ा मधुर है किन्तु वास्तव में विषयुक्त है । यह शुक के सेमल पुष्प के समान है ।[2] यह तो दुखों का कारण है । यहाँ पर न धनी सुखी है और न निर्धन ।[3] समस्त सांसारित सम्बन्ध लोभ, भय और स्वार्थों पर आधारित है ।[4]

विषयों में फंसा संसारी इनसे सब कुछ जानते हुए भी विमुख नहीं होता । अतः उसे नरक में भटकना पड़ता है । यदि वह विमुख नहीं होता तो उसे अपार दुख भोगने होंगे ।[5]

लोक (संसार) : नामदेव

नामदेव इस संसार को विष से भरा हुआ मानते हैं । झूठी माया में फसा हुआ मानव इसका पार नहीं पा सकता । गुरु कृपा से ही पार उतर सकता है ।[6] इस संसार में लोभ की लहर तेज झरने की तरह बह रही है । तूफानी हवाएँ चल रही है । नामदेव इसमें डूबा जा रहा है । केवल सद्गुरु और परमात्मा ही पार उतार सकते हैं ।[7]

यह संसार उसका रचा हुआ एक खेल है इसमें जन्म-मृत्यु भी खेल है । जीव स्वंय जीवात्मा और संचालक है । उसकी शरण ही जन्म-मृत्यु से छुटकारा दिला सकती है ।[8] यह संसार तो क्षण भंगुर है । पानी और पवन पर

---

1. शतअष्टोत्तरी—पृ० 25
2. वही—पृ० 25
3. पार्श्वपुराण—पृ० 26
4. श्रेणिक चरित्र—पृ० 106
5. सीता चरित्र—पृ० 115
6. पारब्रह्मु जि चीनसी आसा ते न भावसी ।
   रामा भगतह चेतीअले अचित मनु राखसी ।।
   कैसे मन तरहिगारे संसारू सागरु बिरो का बना ।
   झूठी माइआ देखिके भूलारे मना ।।
   छीपेकं धरि जनमु दैला गुरु उपदेसु मैला ।
   संतह के परसादि नामा हरि भेटुला ।। —आदि ग्रंथ, पान-486
7. लोभ लहरि अति नीझर बाजै काइआ डूबै केसवा ।
   संसारू समुन्दे तारि गोबिंदे तारिलै बाप बठिला ।। —वही— 1196
8. बाजीस्वी बाप बाजी रची । मैं बलि तरकी जिन सूं बची ।।
   बाजी जामन बाजीमरना । बाजी लागि रह्यो रे मना ।।
   बाजीमन में सोचि बिचारि । आपै सुरति आपै सुत्रधारी ।।
   नामदेव कहै तेरी सरनां । मेटि हमारै जांमन मरना ।।
   —हिंदी पदावली-40

आधारित है ।[1]

लोक (संसार) : कबीर

कबीर वाणी में सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में वर्णन प्राप्त होते हैं। कबीर के अनुसार उस समय न वायु थी, न पानी था, न सृष्टि ही उत्पन्न हुई थी। न प्राण थे न था शरीर। न पृथ्वी थी न आकाश था। न बीज था, न फल-फूल। न विद्या थी, न वाद-विवाद था। न गुरू था, न शिष्य ही था। उस समय केवल वही एक इन्द्रियातीत अपने स्वरूप में स्थित था।[2]

कबीर ने सृष्टि की रचना के चार कारणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति चैतन्य तत्व ओंकार से हुई है।[3] एक अन्य स्थान पर कबीर ने नूर से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी है।[4] जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूपवाली सहस्त्रों चिनगारियां प्रकाशित होती हुई प्रकट होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन भी हो जाते हैं। इसी प्रकार जगत भी उसी से उत्पन्न होकर उसी में लय हो जाता है। कबीर ने माया से भी सृष्टि की रचना का उल्लेख किया है।[5] उन्होंने गुणोत्कर्ष द्वारा भी सृष्टि

---

1. पानी का चित्र पवन का थंगा। कौन उपाइ रच्यौ आरंभा।
   इहां का उपज्या इहां बिलाना। बोलन द्वारा ए कहां समाना ॥
   कहै नराइन सुनिजन नांमा। जहां सुरति जहां पूरन करमा ॥
   —हिन्दी पदावली-42
2. जब नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होती सृष्टि उपानीं।
   जब नहीं होते रयंड न वासा, तब नहीं होते धरनि अकासा।
   जब नहीं होते गरभ न भूला, तब नहीं होते कली न फूला।
   जब नहीं होते सबद न स्वाद, तब नहीं होते विद्या न वाद।
   जब नहीं होते गुरु न चेला, गम अग में पंथ अकेला।
   —क० ग्र० पृ० 238
3. ओंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला ॥ —क० ग्र० पृ० 244
   ओंकारे जग ऊपजै बिकारे जय जाइ।
   अनहद बेन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाइ। —क० ग्र० पृ० 126
4. अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
   ता नूर थै सन गज कीया, कौन भला कौन मंदा —क० ग्र० पृ० 104
5. एक बिनांनी रच्या बिनांन, सब अयांन जो पापै जांन ॥
   सत रज थै किन्हीं माया, चारि खानि विस्तार उपाया ॥
   पंच तत ले कीन्ह बंधान, पाप पुनि मांन अभियान ॥
   अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपत्ति विपति दीन्हीं सब काहू ॥
   —क० ग्र० पृ० 229

की उत्पत्ति बताई है।[1] अतः डॉ० रामजीलाल सहाय ने कबीर के सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण को अव्यवस्थित बताया है।[2]

अतः कबीर के अनुसार ब्रह्म अजन्मा है, उसका कोई आधार नहीं और वह सम्पूर्ण जगत का आधार है। वह अनन्त है तथा अकर्ता है। फल रूप संसार है जो बिना फूल अर्थात विकार के हो गया।

कबीर के मन में सृष्टि को लेकर अनेक जिज्ञासायें थीं।[3] भौतिक जगत् परिवर्तनशील तथा विनाशशील है। उसमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन होते ही रहते हैं। जगत् का इन्द्रियगोचर रूप बड़ा ही आकर्षक और मनमोहक है। मनुष्य इसी में उलझ कर इसका आस्वादन करने में लिप्त रहता है। इसके अधिष्ठान, पारमार्थिक सत्य की ओर उसका ध्यान जा भी नहीं पाता।[4]

प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य भांति-भांति के स्वप्न देखता है। जागने पर वे स्वप्न उसके लिए व्यर्थ हो जाते हैं। स्वप्न क्षण-भर के लिए ही सत्य से थे, यों वे असत्य हैं। इसी प्रकार यह संसार भी स्वप्न के समान असत्य हैं।[5]

भौतिक जगत् दु खमय है। मनुष्य इसमें उलझ-पुलझ कर अनेक प्रकार के दुःख, संताप, क्लेश, व्याधियों का ग्रास बनता है। कोई निर्धनता से दुःखी है, तो

---

1. सतरज तम थै कीन्हीं माया, चारि खानि विस्तार उपाया।
   पंच तत्त ले कीन्ह बंधान, पाप पुंनि मांन अभिमान॥
   —क० ग्र० पृ 229

   पृथ्वी का रगुंण पांणी सोष्या, पानी तेज मिलांवहिगे।
   तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिगे॥
   —वही पृ० 137

   पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे काम जौ आहि अंबधू॥ —वही पृ० 229
2. कबीर दर्शन —डॉ० रामजीलाल सहायक —पृ० 209
3. प्रथमें गगन कि पुहमि प्रथमें प्रभू, प्रथमें पवन कि पाणी।
   प्रथमें चंद कि सूर प्रथमें प्रभु, प्रथमें कौन विनांणी॥
   प्रथमें प्राण कि रयंड प्रथ में प्रभु, प्रथमें रक्त कि रेत।
   प्रथमें पुरिष कि नारि प्रथमें प्रभु, प्रथमें बीज कि खेत॥
   प्रथमें दिवस कि रैंणि प्रथमें प्रभु, प्रथमें पाप कि पुन्यं।
   कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कुछ आदि कि सून्यं॥
   क० ग्र० पृ० 142-143
4. ऐसा तेरा झूठां मीठा लागा, ताथैं सांचो सूंमन भागा॥ —वही पृ० 171
5. समझि विचारि जीव जब देखा, यहु संसार सुपनि कर लेखा॥
   —वही पृ० 234

कोई धन-लिप्सा से व्याकुल है । कोई काम-क्रोधाग्नि में झुलस रहा है, तो कोई तृष्णा के पीछे भागा फिरता है । एक क्षण के लिए यहां शान्ति एवं सुख का नाम नहीं । कबीर इस जगत् को दुःख का भण्डार कहते हैं । जिन लोगों पर भगवान की क्रूर दृष्टि होती है, वह इसके दुःख में व्याकुल ही रहते है ।[1] कबीर भौतिक जगत् को बाजार-स्वरूप मानते हैं । बाजार में सौदा लेकर सब अपने-अपने घर को प्रस्थान कर जाते हैं । कुछ ही समय तक वहां रहते हैं । कुशल व्यापारी कुछ कमा लेता है और मूर्ख तो घर से भी दे बैठता है ।[2] सेमल का फूल तनिक-सा ठसका लगते ही टूट जाता है । संसार भी विनाशशील है । इसके असत्य स्वरूप में उलझना व्यर्थ है ।[3]

कबीर ने अनेक उद्धरणों के द्वारा जगत् की निस्सारता बतायी है । जगत् का यह मिथ्यात्व पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से है । भौतिक जगत् स्वप्नवत् और सारहीन होते हुए भी वास्तविक रूप में दिखाई पड़ता है । साधक हो या गृहस्थ, ज्ञानी हो या ध्यानी, सभी को जगत्-व्यवहार करने ही पडते हैं । इसे मिथ्या और सारहीन कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । कबीर इस आशंका का निराकरण करते हैं ।[4]

कबीर ने जगत् के नामरूप-स्वरूप के लिए कहा है कि जो तुम जिस रूप में सत्य समझ कर इस जगत् को समझ बैठे हो, यह सत्य नहीं है । यह तो सब पारमार्थिक सत्य, जिसका भेद गहन है उसकी अभिव्यक्ति है, वह इन्द्रियातीत है, वही सत्य है ।[5]

लोक (संसार) : रविदास

रविदास संसार की उत्पत्ति और उसके विषय में अस्तित्वहीनता मानते दिखाई देते हैं । यह संशय विशेषत: ऐसे स्थानों पर उत्पन्न होता है जहां वे संसार को कष्टों और दुःखों का मूल मानते है या उसे नश्वर कहते है । प्रश्न यह हो सकता है कि जब यह संसार है ही नही तब यह कष्ट या उसके नष्ट होने का प्रश्न ही क्यों उठता है, किन्तु यदि उनके विचारों को भली प्रकार समझा जाए तो संसार को भ्रम रूप

---

1. दुनिया भांडादुख का, भरी मुहांमुह भूष ।
   अदया अलहराम की, कुरहै अंगी कूण ।। —वही पृ० 25
2. यह संसार हाट करि जानू, सब को वणिजण आया ।
   चेति सकै तो चतौ रै भाई, मूरखि मूल गंवाया ।। —क० ग्र० पृ० 168
3. यह ऐसा संसार है, जैसा संबल फूल ।
   दिन दस के व्यौहार कौ, झूठे रंगि न भूलि ।। —वही पृ० 21
4. कहन सुनन कौ जिहि जग कीन्हा ।
   जग भुलांन सो किनहूं न चीन्हां ।। —वही पृ० 115
5. जो तुम देखो सो यह नांही, यह पद अगम अगोचर मांही । —वही

मानने और दुःख रूप मानने में कोई विपर्यय नही मिलेगा। मनुष्य को भ्रमवशात् स्वप्न में भी दुःख हो सकता है और वह दुःख-सुख पूर्ण रूपेण सत्य भी आभासित होता है। निद्रा भंग हो जाने पर उस अथवा तदुत्पन्न सुख-दुःख से मुक्त हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार यह भ्रम रूप संसार भी सुख-दुःखमय है और वस्तुरूप ज्ञान उत्पन्न होने पर भ्रम निकाश होने पर मूलावस्था विद्यमान रहती है।[1] उन्होंने संसार के मिथ्यात्व को स्पष्ट किया है। इसका कारण अविद्या है।[2]

जिस समय रविदास व्यावहारिक रूप में जगत् की बात करते है, उसको एक दुःख का आधार कष्ट का कारण तथा भ्रमरूप मानते हुए भी स्पष्टतः एक सत कर्म क्षेत्र भी मानते है, विभिन्न सामाजिक गुणों को जीवन में ग्रहण करने का उपदेश देते है और कर्म की पवित्रता का आग्रह करते है। कर्म की पवित्रता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेरणा मोक्ष एवं दुष्कर्म के विरुद्ध दण्ड की व्यवस्था कर्म और पुनर्जन्म का ज्ञान देते हैं। उनका कथन है कि मानव जीवन इस रूप में एक दुर्लभ उपलब्धि है और इसी मानव शरीर से हम सत्कर्म करते हुए अपने को पुनर्जन्म से मुक्त करा सकते हैं। वे मनुष्य शरीर को कच्चे घड़े के समान नष्टप्रायः बताते हुए यह चेतावनी देते है कि इस जन्म को वृथा न गंवा कर उसका सद् उपयोग किया जाना चाहिए। अनेक स्थानों पर तो वे पूरे मानव जीवन को विभिन्न (चार) खण्डों में बांटते हुए प्रत्येक जीवनाश या आयु का उपयोग हरि स्मरण में कर दुष्कर्मों से बचे रहने का उपदेश देते है और कहते हैं कि अबकी बार तो यह अवसर मिला है (मानव शरीर) दुबारा नहीं मिलेगा। अतः इसका सदुउपयोग सत्कर्म (हरि-स्मरण) में ही होना चाहिए। यदि वह न होगा तो मृत्यु के उपरान्त प्रभु (साहब) के सम्मुख सम्पूर्ण जीवन का लेखा जोखा देना होगा। उस समय यम के हाथ दण्डित होने के अतिरिक्त कोई उपाय न रह जाएगा।[3]

मानव जीवन को रविदास ने एक हीरे की भांति माना है, किन्तु उसका यदि सदुपयोग भौतिक सुखों के अर्जित करने में किया जाय तो रविदास के अनुसार यह जीवन को नष्ट करना ही होगा।

दार्शनिक रूप से संसार के विषय में अद्वैतवादी रहकर भी व्यावहारिक रूप से रविदास ने जीवन की इहविधता को पूर्ण रूपेण स्वीकार कर संसार को विधेयात्मक रूप में कर्म क्षेत्र माना है और मानव जीवन को कर्त्तव्य एवं उचित कर्मों हेतु सुविधा प्राप्त अवसर माना है।[4]

---

1. रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह—पृ० 64-65
2. वही—पृ० 34
3. रविदास—डा० योगेन्द्र सिंह—पृ० 65-65
4. वही—पृ० 66

लोक (संसार) : दादू

संसार के अधिकांश दार्शनिकों और तत्व चिन्तकों के समान दादू ने भी संसार को मिथ्या माना है। सम्भवतः यह भारतवर्ष ही नही समस्त संसार की विचार परिपाटी रही है। हमारे यहां जब भी कभी संसार की स्थिति पर विचार किया गया है, संसार को रज्जु, अजंग, मरीचिका जल और स्वप्न के समान मिथ्या और भ्रामक माना है।[1] दादू ने संसार को सेंवर के फूल के समान कहा है।[2] यह संसार एक दरिया है और राम का नाम नौका। संसार को पार करने का अवसर बार-बार नही आता।[3]

लोक (संसार) : सुन्दरदास

सुन्दरदास की मान्यता है कि मन ही जगत है।[4] तथा जगत और ब्रह्म में कोई अन्तर नही है। ये दोनों भी एक ही हैं।[5] जगत का अस्तित्व भ्रम के कारण है। यह नाम रूपात्मक जगत उसी अधिष्ठान (ब्रह्म) पर आध्यारोपित है।[6]

लोक (संसार) : मलूकदास

मलूकदास के अनुसार यह संसार एक विशाल सागर है। प्रलय काल से भी

---

1. मन रे तू देखै सो नांही, है सो अगम अगोचर मांही।
   निस अँधियारी कछू न सूझे, संसै सरप दिखाना।
   जैसे अंध जगत नहिं जानै, जीव जेवड़ी खाना।
   मृगजल देखि तहां मन धावै, दिन-दिन झूठी आसा।
   जँट-जँह जाइ तहां जल नाटीं, निहचै मरै पिपासा।
   भर्म विलास बहुत विधि कीन्हा, ज्यों सुपिनें सुख पावै।
   जगत झूठ तहां कुछ नाहीं, फिर पीछे पछि तावै।
   जब लग सूता तब लग देखै, जागत भर्म विलाना।
   दादू अन्ति इहां कछु नाही, है सो सोधि सयाना।
   (—स्वामी दादूदयाल की वाणी : राग सोरठ : 105)
2. दादूबानी-भाग-2, पृ० 14
3. दादू दरिया यहु संसार है, रामनाम निज नाव।
   दादू ढील न कीजिए, यह अवसर यहु डाव॥ —दादूबानी-पृ० 27
4. मन के भ्रम ते जगत यह देखियत है।
   मन ही भ्रम गए जगत यह विलात है॥ —सुन्दरविलास-पृ० 63
5. तैसे सुन्दर यह जगत है ब्रह्ममय।
   ब्रह्म सो जगतमय वेद कहतु है॥—संतबानी संग्रह-भाग-2, पृ० 103
6. सुन्दर कहत यह एक ही अखण्ड ब्रह्म।
   ताहि यूं पलट कर जगतनाम धरयों है॥ —सुन्दर विलास-पृ० 124

अधिक भारी है। केवल करतार ही इससे बचाने वाला है।[1] क्रिया, कर्म, आचार तथा भ्रम ही संसार के फंदे हैं। मनुष्य तो अंधा है जो माया जाल में बंध कर संसार में फंस जाता है। मलूकदास को उसकी शरण का बड़ा भरोसा है वहां पहुंचने पर सभी भय समाप्त हो जाते हैं।[2]

लोक (संसार) : नानक

सृष्टि निर्माण परमात्मा ने अपने आप बिना किसी की सहायता के किया। सृष्टि रचना का समय गुरु नानक देव के अनुसार अनिश्चित है। कहीं-कहीं सृष्टि और परमात्मा के बीच अभिन्नता दिखाई है और यह बतलाया है कि परमात्मा स्वयं सृष्टि बना है। गुरु नानक देव ने सृष्टि को मिथ्या न मानकर सत्य माना है।[3]

गुरु नानक के अनुसार युगों पर्यन्त महान् अन्धकार था। न तो पृथ्वी थी और न आकाश था। प्रभु का अपार हुकम मात्र था। न दिन था, न रात थी। न तो चन्द्रमा था, न सूर्य। केवल शून्य मात्र था······वेद-पुराण, स्मृति-शास्त्र कुछ भी न थे। पाठ पुराण तथा सूर्योदय और सूर्योस्त भी न थे। वह अगोचर, वह अलख स्वयं अपने को प्रदर्शित कर रहा था।[4]

गुरुनानक का मत है कि सृष्टि के मूलारंभ में कोई भेद नहीं था। जो कुछ भी था वह सारे पदार्थों से विलक्षण था। वह अकेला अपने आप में प्रतिष्ठित था। वह निरंकार ब्रह्म निर्लिप्त भाव से बैठा था। उस समय किसी भी भाँति की दृश्य-मान सृष्टि का विस्तार नही है।[5]

गुरु नानक की वाणी के अनुसार सृष्टि निर्माण का क्रम कुछ इस प्रकार दिया

---

1. यह संसार बड़ो भोसागर, प्रलय काल ते भारी।
   बूडत ते या सोई बाचै, जेहिराखे करतारी॥
   —मलूकदास की बानी—पृ० 15
2. किरिया करम अचार भरम है, यही जगत का फंदा।
   माया जाल में बाँधि अंडाया, क्या जाने नर अंधा॥
   यह संसार बड़ा भौ सागर, ता को देखि सकाना।
   सरन गये तोहिं अब क्या डर है, कहत मलूक दिवाना॥
   —सन्तबानी संग्रह भाग—2, पृ० 92
3. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन—डा० जयराम मिश्र—पृ० 58-59
4. श्री गुरुग्रन्थ साहिब, मारू सोलह, पहला। पृ० 1035-36
5. केते जुग बरते गुबारै। ताड़ी लाई अपर अपारै॥
   धंधुकारि निरालयु बैठा ना तदि धंधु पसारे हैं।
   —श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, मारू 1—पृ० 1026

जा सकता है—"चरम सत्य परमात्मा की निर्गुणावस्था है ।[1] उसी निर्गुणावस्था को "अफुर" ब्रह्म भी कहा जा सकता है ।[2] अफुर शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए डा० जयराम मिश्र ने लिखा है कि 'अफुर' का अर्थ अभाव समझना भूल होगी । 'अफुर' शब्द से केवल नाम रूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्था का अभाव ही अपेक्षित है ।[3]

गुरुनानक के अनुसार दृश्यमान् जगत्-हुकम से उत्पन्न हुआ लगता है। इसी से जगत् के सभी प्राणी परमात्मा से पृथक् होते हैं और हुकम से ही फिर उसी में लीन होते हैं । स्वर्ग लोक, मर्त्य लोक, पाताल लोक, धरती, पवन, पानी, आकाश, जल-थल, त्रिभुवन के सारे निवासी, सास, ग्रास, दस अवतार, अगणित देव और दानव रूपी परमात्मा के हुकम के अधीन है ।[4]

जैनियों के अनुसार मूल तत्वों-काल, देश, आत्म व पदार्थ के मेल से सृष्टि बनी है । किन्तु आदि ग्रन्थ के अनुसार ईश्वर ही अकेला अनादि सत्ता है, उसी ने प्रकृति और पुरुष की रचना की है । वही तीन गुणों का उद्भावक अर्थात् रजस, तमस तथा सत्वका । यह पुरुष अन्य पुरुषों (जीवों) से भिन्न है ।[5]

वह कौन सी बेला थी, कौन समय था, कौन तिथि थी, कौन बार था, कौन सी ऋतु थी, कौन महीना था, जिस समय सृष्टि रचना हुई ? गुरु नानक का उत्तर है कि सृष्टि रचना की निश्चित घड़ी कोई भी नहीं जानता । पंडितों को भी पता नहीं है, यदि वे जानते तो पुराणों में अवश्य लिखते । काजियों को भी पता नहीं है अन्यथा वे कुरान में अवश्य लिखते । कोई भी इस रहस्य को नहीं जानता । केवल सृष्टि निर्माता ही इस रहस्य को जानता है ।[6]

पृथ्वी को धारण करने वाला कोई बैल है वास्तव में वह धर्म रूपी बैल

1. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब-अरबद नरबद धुंधूकार पाठ पुराण उदै नहिं आसत ।।
   —मारू सोलहे महक्त—1 पृ० 1035-36
2. फिलासफी आफ् सिक्खिज्म—शेरसिंह—पृ० 185
3. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन—पृ० 106
4. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन—पृ० 1037
5. गुरु नानक व्यक्ति और विचार—पृ० 24-25
6. कवणु सु बेला वखतु कवणु कवण तिथि कवणु वारू ।
   कवणि सि रूती माहु कवण जितु होवा आकास ।।
   वेल न पाईआ पंडती जि होवै लेखु पुराणु ।
   वेखतु न पाइओ कादीआ जि लिखनि लेखु कुराणु ।।
   थिति वारू न जोगी जाणै सति माहु ना कोई ।
   जा करता सिरठी कउ साजै आपे जाणो सोई ।।

—नानक वाणी-पृ० 88

पृथ्वी को धारण नहीं करता बल्कि परमात्मा का धर्म ही बैल है और वह परमात्मा की दया का पुत्र है। धर्म के साथ सन्तोष की स्थापना करके परमात्मा ने सारी सृष्टि-रचना को एक सूत्र में पिरो रखी है। पृथ्वियां बहुत सी हैं। उनसे भी परे अनेक पृथ्वियां हैं। उनके भार के नीचे कौन सी शक्ति है? परमात्मा की सृष्टि में अनन्त जीव हैं, अनन्त जातियां हैं, अनन्त रंग हैं और अनन्त नाम हैं। सभी के भाग्य उसकी आज्ञा की लेखनी से लिखे गये हैं। हे परमात्मा तेरी कितनी शक्ति है और कितना सुन्दर स्वरूप है। एक वाक्य से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है लाखों नद उत्पन्न हुए है। शाश्वत तू रहने वाला और निरंकार है।[1]

धर्मः महावीर

महावीर के अनुसार धर्म दीपक के समान अज्ञान के अन्धकार को नष्ट कर देता है।[2] समभाव में ही धर्म है।[3] धर्म का मूल विनय और मोक्ष उसका फल है।[4] यह उत्कृष्ट मंगल है तथा अहिंसा-संयम-तप रूप है।[5] इससे आत्मा की शुद्धि होती है तथा शुद्ध आत्मा में ही धर्म का वास होता है।[6]

किन्तु खेद है कि सदा विषय-वासनाओं में डूबा हुआ मूढ़ मनुष्य धर्म के

---

1. धौलु धरमु दइआ का पूतु। सन्तोखु थापि रखिया निजि सूति ॥
   जे को बूझे होवै सपिआरू। धवलै उपरि केता भारू ॥
   धरति होरू परै होरू होरू। तिसते भारू तलै कवणु जोरू ॥
   जीज जाति रंगा के नाव। सभना लिखिआ बुड़ी कलाम ॥
   एहु लेखा लिखि जाणै कोइ। लेखा लिखिआ केता होइ।
   केता ताणु सुआलिहु रूपु। केती दाति जाणै कौणु कुतु ॥
   कीता पसाउ एको कवाउ। तिसते होए लख दरिआउ ॥
   कुदरति कवग कहा वीचारू। वारिआ न जाव एक वार ॥
   जो तुधु भावै साई भली कार। तू सदा सलामति निरंकार ॥ ॥ 6 ॥
   —नानक वाणी—पृ० 85
2. दीवे व धम्मं-सूत्र० 6/4-भगवान महावीर: एक अनुशीलन—पृ० 619
3. समियाए धम्मे आरिएहं पवेइए।—आया० 1/8/3-वही—पृ० 619
4. धम्मस्स विणओ मूलं।—दशवे० 9/2/2-वही-पृ० 620
5. धम्मो मंगलमुक्किट्ठ, अहिंसा संजमो तवो।
   देवावित्तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥ —दश० 1/1-वही० 619
6. (अ) सोही अज्जुअभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
   —उत्तरा० 3/12-वही पृ० 620
   (ब) एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए।
   —स्था० 1/1/40-वही 619

तत्व को नहीं जानता ।[1] महावीर का कहना है कि जरा और मरणरूपी महा उदक के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, आधार, आश्रय और उत्तम शरण है ।[2] एक धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवाय संसार में कोई भी मनुष्य का रक्षक नहीं है ।[3] बुद्धिमान पुरुष को धर्म का परिज्ञान होना ही चाहिये ।[4]

धर्म में पुरुषार्थ की स्थापना करते हुए महावीर ने कहा है कि कदाचित् धर्म को सुनकर उस में श्रद्धा भी प्राप्त हो जाय तो धर्म में पुरुषार्थ होना और भी दुर्लभ होता है । धर्म में रुचि होने पर भी बहुत से लोग धर्म को स्वीकार नहीं करते ।[5]

महावीर ने धर्म के दो रूपों का उल्लेख किया है —श्रुत धर्म तथा चरित्र धर्म ।[6]

मुनि नथमल ने "स्त्रुत धर्म" के स्थान पर "ज्ञान" शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है कि श्रेयस् की साधना ही धर्म है । साधना ही चरम पर पहुंचकर सिद्ध बन जाती है । श्रेयस् का अर्थ है—आत्मा का पूर्ण विकास या चैतन्य का निर्द्वन्द प्रकाश । चैतन्य सब उपाधियों से मुक्त हो, चैतन्य स्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है । इसके दो, तीन, चार और दस—इस प्रकार अनेक रूप है । आत्मा ही धर्म है । ज्ञानमय और चरित्रमय आत्मा के ही धर्म हैं । इस प्रकार धर्म दो रूपों में बँट जाता है—ज्ञान और चरित्र । ज्ञान के दो पहलू है—दर्शन और जानकारी । सत्य का दर्शन हो तभी सत्य का ज्ञान और सत्य का ज्ञान हो तभी इसका स्वीकरण हो सकता है । इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं—दर्शन, ज्ञान और चरित्र । चरित्र के दो प्रकार हैं—संवर(अक्रिया) और निर्जरा । इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार बन जाते है—ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप । चरित्र धर्म के दस प्रकार भी होते हैं—क्षमा, मुक्त, अजिव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य ।[7]

---

1. समयं मूढे धम्मं नाभिजाणइ ।—आचारांग-3/1 वही पृ० 619
2. जरामरणवेगेणं बुज्झमाणाय पाणिणं ।
   धम्मों दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं ।।—उ० 23 : 68
3. एक्को हु धम्मो नरदेव । ताणं, न विज्जई अन्नमिहेइ किंचि ।
   —उत्तराध्यान 14/40
4. मेहावी जाणिज्ज धम्मं ।—आचा० 6/4-वही पृ० 619
5. सुइं च लद्धुं च वीरियं पुण दुल्लाहं ।
   बहवे रोयामाण वि नो एणं पडिवज्जए ।। उ० 3: 10
6. दुविहे धम्मे-सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव । स्थानांग— 2/1
7. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा —पृ० 399-400

महावीर की धर्म की धारणा बहुत व्यापक थी । उसका कारण उनकी आस्था का अहिंसक परम्परा में विकसित होना है । उन्होंने कहा था कि—

(1) धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक ओर श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए ।

(2) धर्म की आराधना में जाति-पाति का भेद नहीं हो सकता । फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए ।

(3) धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गांव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है । फलस्वरूप उनके साधु अरण्य वासी कम संख्या में थे ।

(4) धर्म की आराधना में वेश का भेद नहीं हो सकता । उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है ।

(5) धर्म का उपदेश जैसे पुण्य को दो, वैसे ही तुच्छ को दो ।[1]

तीर्थंकर महावीर की व्याख्या में व्रत धार्मिक जीवन की आधार शिला है । धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खड़ा किया जा सकता है । महावीर ने मुनि-धर्म के लिए पांच महाव्रत, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह की व्यवस्था की तथा गृहस्थ के लिए पांच अणुव्रत बताये हैं—एकदेशिय अहिंसा, सत्य अचौर्य, स्वदार संतोष और इच्छा परिमाण ।[2]

अतः आत्मा से आत्मा को देखना धर्म का सूत्र है और राजनीति का सूत्र इससे भिन्न है । उसका सूत्र है दूसरों को देखो । जो आत्मा को देखता है, सुनता है तथा उसी की वाणी बोलता है वह धार्मिक है। इसीलिये उसे दूसरों की दृष्टि से अन्ध, बधिर और मूक कहा गया है ।[3]

धर्म : कबीर

कबीर ने सब धर्मों को एक धरातल पर लाने के लिए ही नहीं वरन् एक बनाने के लिए जो प्रयत्न किए उन सबका सम्बन्ध ईश्वर से है ।[4] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने षटदर्शनों को अनेक पाखण्डों के जनक तथा जन के नाम पर

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा —पृ० 49
2. वही —पृ० 55-56
3. स्वगुणाभ्यासरत मतेः परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य ।
मदमदनमोहमत्स रोषविषादैरघृष्यस्य ।
—प्रशमरतिप्रकरण-उमास्वामी-235
4. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन —पृ० 191

धार्मिक जगत् में फैल हुए आडम्बरों को निर्दिष्ट किया है।[1] उन्होंने पाखण्डी पण्डितों की भी खबर ली है।[2] कबीर ने गंगा आदि नदियों के प्रति रूढ़िवादी भावना तथा काशीमरण आदि अन्धविश्वासों का भी विरोध किया।[3] व्रत-उपवास पर भी व्यंग्य करने से वे नहीं चूके।[4] उनका मत है कि सुकर्म से ही शिवत्व प्राप्त किया जा सकता है।

धर्म : नानक

राधाकृष्णन का कथन है कि प्रत्येक मौलिक धर्म-संस्थापक अपनी व्यक्तिगत, समाजगत, तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने धार्मिक संदेश देता

---

1. छह दर्शन छयांनवे पाषंड, आकुल किन्हूं न जानां ।
जप-तप संयम पूजा अरचा, जो तिग जग बौरानां ।
कागद लिखि-लिखि जगत भुलानां, मन हीं मन न समानां ।।
—कबीर ग्रंथावली : पद 62

2. पाडे कौन कुमति तोहि लागी, तू रांम न जपहिं अभागी ।
वेद सपुरांन पढ़त अस पांडे, खर चन्दन जैसें भारा ।
रांम नांम तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुखि छारा ।
वेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखै रांमा । —वही, पद 19

3. चली है कुबबोरनी गंगा नहाय ।
सतुवा कराइन बहुरी भुंजाइन, घूघंट ओटे मसकत जाय ।
गठरी बांधिन मोटरी बांधिन, खसम के मूंड़े दिहिन धराय ।।
विधुवा पहिरिन ओंठ पहिरिन, लरत खसम के मारिन धाय ।
गंगा नहाइन जमुना नहाइन, नौ मन मैल है लिहिन चढाय ।।
पांच-पचीस के धक्काखाइन, धरहुं की पूंजी आइ गंवाय ।
कहत कबीर हेतकर गुरु सों, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाइ ।।
—कबीर वचनावली 144

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं, जोति पिछांणि ।।
—कबीर ग्रंथावली अंग 23, सा० 10

4. तीरथ व्रत सब वेलड़ी, सब जग मेल्या छाई ।।
कबीर मूल निकंदिया, कौण हलाहल खाइ ।।—वही अंग 23, साखी 9

5. जिन दुनियां महं रचि मसजीदा । झूठा रोजा झूठा ईदा ।
सांचा एक जल्लाह कोनांमा । जाको नय-नय करहु सलामा ।।
—कबीरबीजक, शब्द 50

है ।[1] गुरु नानक द्वारा संस्थापित धर्म उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है । डॉ० जयराम मिश्र[2] ने गुरु नानक द्वारा संचालित धर्म की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) यह निवृत्ति मूलक न होकर प्रवृत्ति मूलक है ।
"एतीमारपई करलाणैं तैं की रवदु न आइया (1) (5) (39)
(2) इसमें पाखण्डों एवं बाह्याडम्बरों का खंडन किया गया है ।
(3) इसमें सामाजिक कुरीतियों का भी खंडन किया गया है ।
(4) स्त्रियों के खोए हुए अधिकारों को वापस दिया है ।
(5) सिक्ख धर्म में विकासोन्मुखी प्रवृति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी ।
(6) इस धर्म में भक्ति मार्ग को उसके दोषों से बचाया गया ।
(7) इस धर्म में जनता को आशा, विश्वास और पोरुष का मार्ग दिखाया गया ।
(8) हिन्दू-मुसलमान में समन्वय का प्रयत्न ।
(9) यह धर्म निर्माणकारी प्रवृत्तियों से ओतप्रोत है ।
(10) इसमें सभी धर्मों के प्रबल व्यावहारिक पक्ष उदारता से संगृहीत है ।

धर्म : नामदेव

नामदेव ने धर्म की उत्पत्ति मन से मानी है । हरिनाम के सामने वेद-पुरान का पाठ फीका है ।[3] उनके धर्म में षट्कर्म आदि को कोई स्थान नहीं है ।[4] जो लोग आशा रखते हुए धर्म आदि करते हैं वे वास्तव में इसके मर्म को नहीं जानते ।[5] उनके अनुसार बाह्य पूजा आदि धर्म न होकर भ्रम है, वास्तव में देह धारण के समान

---

1. द हिन्दू व्यू आव् लाइफ्—राधाकृष्ण—पृ० 25
2. श्री गुरु-ग्रन्थ दर्शन—पृ० 53 से 58 तक
3. (अ) अनेक धरम मन तैं उपजावै । अगली पिछली बात बतावै ।
कंठ पाठ मुख बेद पुरान । नहीं नहीं रे हरिनाम समान ।। पृ० 15
(ब) नाम कहै इस नाम सम । तुलै न तोलै कोय ।
सकल धरम यग्यादि दे । अधिक सबनतें साये ।।—पृ० 183
4. प्राणी सकल धरम अछता । गुरु ज्ञानइन्द्री दढ़ता षटकर्म सहितरहित ।
तउ न तुलै दूरि कीरती नामा ।।—पृ० 152
5. जग जोग तप धरम नेम व्रत । जवलग इन की आशा ।
वसुधा आदि देही दहिनावत । नहीं मम चरण निवासा नारद ।।
—पृ० 162

दूसरा धर्म नहीं है।[1] धर्म में रुचि होने से दुख का नाश होता है।[2]

धर्म : रविदास

रविदास जी ने तत्कालीन युग के परम्परागत धर्म के रूढ़ि रूप की स्पष्ट किन्तु शालीन आलोचना की है।[3] रविदास जी के अनुसार विविध प्रकार से धर्म निरूपित किया गया। वास्तविक धर्म वही है जो जीव को कर्म बन्धन से मुक्त कर दे। जिस की साधना से परम सिद्धि सिद्ध हो जाय।[4] धर्म के द्वारा अधर्म, जरा और मरन नष्ट हो जाते हैं।[5]

धर्म : दादूदयाल

धर्म का सहजीकरण करते हुए दादू ने कहा है कि निर्मल रहने कहने तथा लेने व देने में ही सहज धर्म है।[6]

धर्म : मलूकदास

मलूकदास जी की मान्यता है कि संसार में धर्म के सौदे से अच्छा दूसरा कोई सौदा नहीं है।[7]

ज्ञान : महावीर

महावीर के अनुसार ज्ञान, आत्मा है अतः वह आत्मा से अभिन्न है। यह एक गुण है। और आत्मा गुणी है।[8] आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है।

---

1. आन देव सब भ्रम की पूजा। देह धरैं कौं धरम न दूजा ॥—पृ० 177
2. आन धरम अन सरिको। अन रुचि अति दुखवंत।
   सद पारद क्यो बधि लियो। ऐसो भजन भगवंत ॥—पृ० 183
3. जग में वेद बैद मानी, पांडे कैसी पूज रची रे।
   —संतरैदास—डा० योगेन्द्र सिंह पृ० 72
4. बहु विधि धरम निरूपीये, करता दीसै सभ लोई।
   कवन करम ते छूटीऐ, जिह साधे सभ सिधि होई ॥
   —रविदासदर्शन-आजाद—पृ 185
5. धरम अधरम मोछि नाहिं बन्धन, जुरा मरन भव नासा।
   द्रिस्टि अद्रिस्टि गये अरु ग्याता, एक मेक है रविदास ॥
   —संत गुरु रविदास वाणी—डा० वी०पी० शर्मा—पृ० 81
6. निर्मल लहिए निर्मल कहिए।
   निर्मल लीजी निर्मल दीजी अनत न बहिए रे।
   —संतसुधासार—खंड 1—पृ० 448
7. मलूकदास की बानी—पृ० 33
8. पाणे पुण णियमं आया—भगवती, 12/10
   —जैन धर्म: मनन और मीमांसा—479

कर्त्ता और करण की दृष्टि से भी ये भिन्न है।[1] भाषा में भी आत्मा ज्ञानमय है और यह आत्मा का स्वरूप है।[2] जिसके द्वारा तत्व जाना जाये, चित्त का निरोध हो, आत्मा की विशुद्धि हो, जीव राग से विरक्त हो, श्रेय में रक्त हो, मैत्री भाव की वृद्धि हो महावीर ने उसे ज्ञान कहा है।[3]

ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। वह सब आत्माओं में समान है। वह स्वयं प्रकाशी है, सदा जानता है। यह सिद्धान्त की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवों में ज्ञान की तन्मयता है। वह बाहरी साधनों के अभाव में नहीं जानता और कभी जानता है और कभी नहीं जनता।[4]

ज्ञान की उत्पत्ति नहीं, प्रवृत्ति होती है। शत्रु को देखकर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई। यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं उसका प्रयोग है। इसी प्रकार मित्र को देखकर प्रेम उमड़ आया यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के समान आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है।[5]

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इसके सम्बन्ध में स्पष्ट है कि इन्द्रिय ज्ञान बाह्य विषय से होता है तथा मन का ज्ञान बाह्य विषय के अतिरिक्त भी हो सकता है। ज्ञान तथा ज्ञेय (जिसने जाना है) में "विषय-विषयी-भाव" सम्बन्ध है।

महावीर के अनुसार जो मनुष्य ज्ञान के प्रकाश के बिना मोक्ष-मार्ग पर चलता है, वह उस अंधे के समान है, जो अंधकार में दुर्गम जंगल में चलना चाहता है।[6] ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही सिद्धिफल (मोक्ष) मिलता है। केवल एक चक्के से रथ नहीं चलता अंधा और पंगु यदि जंगल में मिल जाते हैं तो एक दूसरे से संयुक्त होकर

---

1. जेण विजाणति से आया-आयारी—1/5/104—वही, पृ० 480
2. वही, पृ० 480
3. (अ) जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
   जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥—मूल : 5 : 85
   (ब) जेण रामा विरूज्जेज्ज जेण सेएसु राजजदि।
   जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥—मूल० 5 : 86
4. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 501-502
5. वही—पृ० 5480
6. णाणुज्जोगए विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं।
   गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्भि ॥—भग० आ० 779

नगर में पहुँच ही जाते हैं ।[1]

मुख्य रूप से महावीर वाणी में ज्ञान के दो प्रकार—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी ज्ञान का उल्लेख प्राप्त होता है। पानी को देखकर आंख को पानी का ज्ञान प्राप्त होता है इसे अर्थाश्रयी ज्ञान कहा गया है और "पानी" शब्द द्वारा जो "पानी द्रव्य" का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है।[2] इनके अतिरिक्त तीर्थंकर महावीर ने अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान पर भी प्रकाश डाला है।

अवधि ज्ञान मूर्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्तिमान द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताएं बनती हैं। जैसे—इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।[3]

मनः पर्याय ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसी के अनुरूप चिन्तन प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां-पर्यायें बन जाती हैं वे मनः पर्याय के द्वारा जानी जाती हैं, इसीलिए इसका नाम है—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।[4]

"केवल ज्ञान" में केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है।[5] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिटकर ज्ञान एक हो जाता है। फिर उसे इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।[6] महावीर के अनुसार "रत्नत्रय" आराध्य है और जीव आराधक है अनुष्ठान आराधना है। आराधना करने का फल केवल ज्ञान प्राप्ति है।[7]

जो ज्ञान को सीखता है, उस का चिन्तन करता है तथा दूसरों को भी ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता है, महावीर के अनुसार वह जीव ज्ञानवान

---

1. संजोग-सिद्धीय उमोयमा फलं न हु एग-चक्केणरहोपयाइ।
अंधो य पंगु य वणेसमेच्चा ते संयउत्ता नगरं पविट्ठा॥
—महा०नि० 1 : 36
2. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 494
3. वही—पृ० 496
4. नन्दी, सूत्र 23
5. केवल मेगं सगलमसाहारणं अणंतं च —विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 84
6. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—498
7. रयणत्तमाराहं जीवो आराह ओ भुणोयव्वो।
आराहणाविहाष्णं तस्स फलं केवलं णाणी। —मो० पा० 34

होता है ।[1]

ज्ञान : नामदेव

नामदेव वास्तविक ज्ञान के सम्बन्ध में कहते हैं कि मुझे न तो जगत में भोग चाहिये, न मुक्ति । मैंने अपने आपको पा लिया है । ध्यान, ब्रह्म ज्ञान, स्तुति आवश्यकताओं की पूर्ति हो गई । अब न काया को कष्ट दूंगा, न इन्द्रिय दमन करूँगा । मुझे प्राप्त हुआ ज्ञान तो इनसे भिन्न है ।

ज्ञान : कबीर

भ्रम, अविद्या अथवा अज्ञान का उच्छेद हो जाने पर आत्मा का शुद्ध-बुद्ध, निष्पमुक्त स्वभाव की जानकारी हमें हो जाती है । जो ज्ञान हमें हमारे निजस्वरूप को बताए, अथवा जिस ज्ञान के द्वारा जीव निज-रूपावस्थान की स्थिति को प्राप्त हो वही सत्यज्ञान है, वही चरम साध्य है । कबीर के अनुसार जो माया, मोह, अज्ञान की स्थिति से ऊँचा उठ जाता है और अपनी साधना के फलस्वरूप अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप को जान लेता है, वही सच्चा व्यक्ति है, विद्वान है, साधक है और सच्चा ज्ञानी है ।[2]

ज्ञाता और ज्ञेय की अभिन्न स्थिति ही सत्यज्ञान है । इसे ही आत्मज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान कहा जाता है । कबीर के अनुसार ज्ञान, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की स्थिति एवं ज्ञान का चरमलक्ष्य, ज्ञाता और ज्ञेय की अभिन्न स्थिति ही है । जिस स्थिति में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान अभिन्न होकर एक रूप हो जाते हैं, वही सच्चे ज्ञान की अथवा निज-स्वरूपवस्थान की अवस्था है, वह अद्वैतावस्था है ।[3]

निज-स्वरूपावस्थान की अवस्था मृत्यु पर विजय है और इसी से कहा जाता है कि आत्मज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं रहता । कबीर ने आत्मज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान को ही चरम साध्य कहा है ।[4]

---

1. न लगे तुझी मुक्ति न लगे तुझी भुक्ति । मज आहे विश्रांति वेगलीच ।
 माझे माज कलले माझे मज कलले । माझें मज कललें प्रेमसुख ।।
 न करी तुझें ध्यान न लगे ब्रह्मज्ञान । माझी आहे खूण वेगलींच ।।
 न करी सुझी स्तुति न वाखाणीं कीर्ति । धरलासि ते युक्ति वेगलींच ।।
 न करी काया कलेश इन्द्रिया निरोध । माझा आहे बोध वेगलाची ।।
 —श्री नामदेव गाथा—1472
2. कथता, बकता, सुरता सोई, आप विचारै सो ज्ञानी होई ।।
 —क० ग्र० पृ० 102
3. कबीर राम मैं राम कहु, कहिवे मांहि विवेक ।
 एक अनेकै मिलि गया, एक समाना एक । —क० ग्र० पृ० 259
4. कबीर दर्शन—डॉ० रामजीलाला सहायक—पृ० 255

ब्रह्मज्ञान कहो या आत्मज्ञान कहो अथवा सत्यज्ञान कहो, ये सब उस स्थिति को बताते हैं जहाँ दुःख और मृत्यु का भय नहीं होता। निर्मल और पवित्र हृदय सत्य के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। भय और अज्ञान का लेश मात्र भी अंकुर नहीं रह जाता है और ज्ञाता तथा ज्ञेय की अभिन्न स्थिति हो जाती है। वहां परम सत्य का प्रकाश ही प्रकाशित रहता है। यह परम मुक्तावस्था होती है।[1]

कबीर का निर्वाण पद अथवा मुक्ति यही आत्म प्रतीति ही है। आत्मज्ञान अथवा आत्म प्रतीति से तात्पर्य है सर्वभूतान्तरात्माओं में मूलतत्व को देखना और सबके प्रति समान एवं समदर्शिता के भाव से व्यवहार करना। अपने और पराए के भेद भाव को भुलाकर सबको अपने समान देखना। यही अभेद-स्थिति है, यही है भिन्न-भिन्न प्राणियों में एक ही अविभक्त, अभिन्न आत्मा के दर्शन। इसी अभिन्न स्थिति में अथवा अद्वैतावस्था में सभी दु.ख, सभी दोष, सभी क्लेश तथा सभी भय का लोप हो जाता है। यह ब्रह्मात्मैक्य स्थिति है जिसे पाकर कुछ भी शेष नहीं रह जाता। यही ब्रह्मज्ञान है, यही है आत्मज्ञान, सत्यज्ञान और यही है पद निर्वाण।[2]

कबीर के अनुसार सत्यज्ञान वही है जो साधक के भ्रम और माया का उच्छेद कर देता है और निजस्वरूपावस्थान की स्थिति को उपलब्ध करा देता है। आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान या सत्यज्ञान ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है।[3]

कबीर के अनुसार ज्ञान वही है जो हमारे हृदय, मस्तिष्क और चित्त से निम्न प्रवृत्तियों, कलुषित भावनाओं और सभी वासनाओं को हटाकर, इनमें वह ज्योति जागृत कर दे कि जो अन्धकार में प्रकाश का संचार करती है। जो ब्रह्म का स्वरूप प्रदर्शित कर देती है, जो जीवन को माया की परिधि से ऊपर उठा देता है, वही ज्ञान, ज्ञान है जो आत्मज्ञान, ब्रह्म ज्ञान करा सके।[4]

कबीर कहते हैं कि सत्यज्ञान अपनी अभिन्न अवस्था में स्थित होकर निर्भय, निर्विकार और निर्लेप हो जाता है।[5]

---

1. अब मैं पाइबो रे पाइबो उल गियांन।
   सहज समाधें सुख में रहिबौ, कोटि कलप विश्राम ॥
   गुरु कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा।
   भागा भ्रम दसौं दिस सुझ्या, परम ज्योति प्रकासा ॥ —क० ग्र० पृ० 89
2. आपा परसब एक समान, तब हम पाया पद निर्वाण।
   कहै कबीर मन्य भया संतोष, मिले भगवतं गया दुख दोष ॥
   —क० ग्र० पृ० 144
3. कबीर दर्शन—डॉ० रामजीलाल सहायक पृ० 256
4. डॉ० त्रिलीकी नारायण दीक्षित—मलूकदास—चरणदास का दार्शनिक दृष्टिकोण —पृ० 404
5. आप पछानै आपै आप, रोग न कापै तीनों ताप।
   कहु कबीर सुख सहज समाओ, आपि न डरो न अवर डराओ ॥
   —क० ग्र० पृ० 318

कबीर ने जगत की व्यवहारिक सत्ता स्वीकार की है। नाम रूपात्मक जगत् स्वप्नवत[1], असत्य[2], विनाश शील[3] है कबीर उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार नामरूपात्मक जगत् जैसा दिखाई पड़ रहा है, वैसा है नहीं। उसके मूल में जो इसका अधिष्ठान है, वही सत्य है वह अगम है, अगोचर है।[4]

कबीर ने आत्म तत्व को ज्ञानरूप, अविगत ब्रह्म, अपरम्परा कहा है।[5] यहां कबीर का मन्तव्य यही है कि आत्मतत्व अथवा ब्रह्म स्वयं ज्ञान है जो निराकार, निर्विकार रूप में सर्वत्र व्याप्त है।

जीव का अथवा स्वयं प्रत्यक्ष होता है और इसी कारण अहं प्रत्यक्ष को इन्द्रियों का विषय नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान स्वरूप आत्म तत्व परमप्रकाश है जिसके प्रकाश से सकल जगत प्रकाशित होता है। वही सत्यज्ञान है। उससे सभी भ्रम दूर होते हैं। माया का उच्छेद हो जाता है।[6]

उस परम प्रकाश, परम ज्योति, सत्यज्ञान के लिए इन्द्रिय एन्निकर्म द्वारा प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ विषयवादी सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। यथार्थ का सिद्धान्त व्यावहारिक सत्ता के लिए ही है। आत्म तत्व का प्रत्यक्ष इन स्थूल चक्षु आदि इन्द्रियों से असम्भव है क्योंकि वही ज्ञाता है और वही है ज्ञेय तथा ज्ञान। सब रूप में वही व्याप्त है। वही ज्ञान है और वही है ज्ञातव्य।[7]

जहां एक अनेक में मिलि गया, एक समानां एक[8] की स्थिति हो जाती है जिस स्थिति की प्राप्ति पर द्वैत का नाश हो जाता है, वहां यथार्थ की कसौटी ठहर ही नहीं सकती। ब्रह्मात्मैक्य की स्थिति ही सत्यज्ञान की स्थिति है और वहां परीक्षक तथा परीक्षति दो भिन्न-भिन्न स्वरूप नहीं रहते।[9]

कबीर के अनुसार सत्य ज्ञान के लिए कोई कसौटी नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनन्त है, अमर है, सभी भेदों से, सभी कोटियों से परे है।[10]

---

1. संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समान। —क० ग्र० पृ० 175
2. ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा ताथैं सांचे सूं मन लागा। —क० ग्र० पृ० 171
3. यहु ऐसा संसार है जैसा सेंमल फूल।
   दिन दस के व्यौहार कौं झूठैं रंगि न भूलि॥ —क० ग्र० पृ० 121
4. जेतुम्ह देखौ सो यहु नांही, यहु पद अगम अगोचर मांही।—वही, पृ० 133
5. अविगत अपरंपार ब्रह्म, ज्ञान रूप सब होय। क०ग०पृ० 241
6. भागा भ्रम दसौं दिस सुझया, परम ज्योति प्रकासा। वही—पृ० 89
7. इनमें आप सबहिन में, आप आप सूं खेले।—वही 251
8. वही पृ० 259
9. कबीर दर्शन—डा० रामजी लाल सहायक—पृ० 259
10. ग्यान अमर पद बाहिरा, नेडा ही थे दूरि।—क०ग्र० पृ० 240

ब्रह्म अथवा आत्मा की ही पारमार्थिक सत्ता है, वही सत्यज्ञान है, अमर ज्ञान है, उसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। कबीर के अनुसार जैसे किसी कोठरी में धरे हुए दीपक के प्रकाश से दीपक स्वयं भी प्रकाशित होता है तथा सम्पूर्ण कोठरी को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सत्य ज्ञान स्वरूप आत्मा के प्रकाश से समस्त जगत् प्रकाशित होता है।[1]

कबीर ज्ञान के परत: अप्रमाण्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं इसके लिए उन्होंने रज्जु की उपमा दी है।[2]

अंधकार में भ्रम से रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है। सूर्य का प्रकाश हो जाने पर रज्जु दिखाई पड़ती है और पूर्व का सर्प वाला भ्रम दूर हो जाता है। थोड़ी देर के लिए यह भ्रम अथवा मिथ्याज्ञान प्रामाणिक सा था। परन्तु बाहरी वस्तु अथवा प्रकाश के द्वारा वह बाधित हो गया अर्थात परतः अप्रामाणिक सिद्ध हुआ। यहां रज्जु को देखकर सर्प समझ लेने का ज्ञान दूषित है अथवा यह मिथ्या ज्ञान परतः अप्रामाणिक है। इसको उत्पन्न करने वाले कारण दूषित हैं इसी से यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। ब्रह्म के स्थान पर नामरूपात्मक जगत् की कल्पना भी मिथ्याज्ञान है इसी प्रातीतिक ज्ञान के द्वारा जीव इसके मायामोह में फंस जाता हैं और अनेक असफल कर्मों में प्रवृत्त होता है।[3]

साधना द्वारा उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब नामरूप का प्रपंच ध्वंस हो जाता है और सत्यज्ञान रूप ब्रह्म ही अव्यवस्थित होता है, दूसरा कुछ होता ही नहीं[4] ज्ञानक्षेत्र में कबीर ने अद्वैत वेदान्त का ही अनुसरण किया है।

ज्ञान की श्रेणियां

प्रतिभज्ञान के लिए तर्क-वितर्क की कोई अपेक्षा नहीं होती। प्रतिभज्ञान के भोक्ता ऋषियों ने कहा "नेषा तर्केण मति रापने या" अर्थात् केवल तर्क के बल पर किसी मत का निर्णय करना ठीक नहीं। कबीर ने भी यही कहा है।[5]

---

1. मांटी का मंदिर, ज्ञान का दीपक, पवन बाति उजियारा।
तिहि उजियारे सब जग सूझै, कबीर ज्ञान विचारा।।
—वही पृ० 172
2. ज्यू रजनी रजु देखत अंधियारी उसे भुवंगय बिन उजियारी।
रजनी गत भई रवि परकासा, भरमकरम क्यूं करे विनासा। —वही 140
3. कहन सुनन कौ कीन्ह जग, आपै आप भुलांन। क० ग्र० पृ० 227
4. अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यान रूप सब थंम।
बहुविचार करि देखिआ, कोई न साखि रांम।।—वही पृ० 241
5. अन्धे कूप कू दिया बताई। तरकि पडै पुनि हरि न पत्याई।।
—वही पृ० 134

कबीर ने जन्मजात, बुद्धिग्राह्य तथा प्रतिभज्ञान—इन तीन ज्ञानों के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया है ज्ञानदृष्टि[1] अर्न्तदृष्टि[2] और आत्मदृष्टि ।[3]

कबीर के अनुसार ज्ञानदृष्टि के द्वारा मनुष्य सत्य असत्य का निर्णय करता है । उलटी चाल से तात्पर्य है बहिर्वृत्तियों को बाहरी विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना । वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने पर अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि होती है और साधक चरम सत्य का रहस्य समझने के निकट पहुंच जाता है । जिस साधक को आत्मदृष्टि की उपलब्धि हो गई है वही सच्चा साधक है । उसी के द्वारा अनुभूत तथ्यों के उद्घाटन सत्य हो सकते हैं । साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचकर ही आत्मदृष्टि साधक परिपूर्ण हो जाता है । उसे ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति हो जाती है । उसे यहां कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता । कबीर के शब्दों में वह अद्वैतावस्था होती है ।[4]

प्रतिभज्ञान चर्यदृष्टि या अर्न्तदृष्टि की साधना के उपरान्त उपलब्ध होता है । इसीसे इसे सर्वोत्तम कहते हैं । कबीर के द्वारा प्रयुक्त सहज भाव, सहजज्ञान तथा सहजावस्था प्रतिभज्ञान प्राप्ति की सीढ़ियां हैं ।[5]

कबीर ने कहा है कि सहजभाव जिस साधक में उत्पन्न हो जाता है, वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, उसे ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव होने लगता है ।[6]

कबीर ने इस अवस्था का वर्णन किया है इस अवस्था में साधक अपना सर्वस्व भूल जाता है । अपने ही सत्यज्ञान, प्रकाश के उजाले में अपने में तल्लीन हो जाता है ।[7]

कबीर के शब्दों में परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है ।[8]

प्रतिभज्ञान की उपलब्धि पर कबीर ने उससे उद्भूत रसानन्द से आनन्दित होकर यही कहा ।[9] निजस्वरूपावस्थान की इस दशा में कहा ही क्या जा सकता

---

1. ज्ञान द्रिष्टि निज पेखैं जोई । इनका चरित जांनैं पैं सोई ।—वही पृ० 226
2. उलटी चाल मिलै पार ब्रह्म सौं, सो सतगुरु हमारा ।—वही पृ० 145
3. जाके आत्म द्रिष्टि है, सांचा जन सोई । वही पृ० 149
4. कागद लिखै सो कागदी की व्यौहारी जीव ।
   आतमद्रिष्टि कहां लिखै जित देखै तित पीव ॥—क०ग्र० पृ० 100
5. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहायक—पृ० 262
6. सहज भाइ जिहिं ऊपजै । ते रमि रहे समाई ॥ क०ग्र०पृ० 93
7. तन मन सीस समरपन कीन्हा । प्रगट जोति तहां आतम लीनां ॥
   —क०ग्र०पृ० 222
8. लीन निरन्तर बपु बिसरापा । कहै कबीर सुख सभार पाया ॥—वही 136
9. कोही है रे संत सहज सुख अन्तरि । जाकौं जय तप देउ दलाली रे ।
   एक बूंद भरि तन मन देवो । ज्यौं मद देई कलाली रे ॥
   —वही 276

है। परमानन्द के रसानन्द की खुमारी मूर्च्छा से भी अधिक होती है। इस सहज सुख के साथ जरामरण की शंका नष्ट हो जाती है। कुछ कहते नहीं बनता। कबीर ने कहा है कि इस अवस्था में कहना कहने वाले का ही स्वरूप होता है। वहां कौन, किस से, क्या कहे, सभी रहस्यों का उद्‌घाटन रहस्यमय होता है।[1]

ज्ञान की सात भूमिका

कबीर के ज्ञान-अज्ञान की इन सात भूमिकाओं के लिए सात सुरति का नाम दिया है। उसके अनुसार ज्ञान की सात भूमिकाएं साधक के लिए कल्याणकारी हैं। यदि इनकी उपलब्धि साधक नही कर पाता तो उसका अहित होता है। इन सात भूमिकाओं के द्वारा साधक मूलतत्व-दर्शन कर सकता है और इन्हीं के विलोम अज्ञान की भूमिकाओं द्वारा प्रलय को प्राप्त हो सकता है।[2]

कबीर का स्पष्ट मत है कि साधक के लिए अज्ञान की सात भूमिकाओं का निराकरण होना तथा ज्ञान की सात भूमिकाओं का अनुकरण करके ज्ञान साधना में संलग्न होना अनिवार्य है। ज्ञानी साधक के लिए सत्यज्ञान की उपलब्धि अमृततत्व है, कल्याणकारी है।

कबीर की उन्मनी दशा, सहजावस्था, अथवा प्रतिभाज्ञान प्राप्ति की स्थिति जीवन्मुक्त दशा ही है। इस दशा में अज्ञान का नाश हो जाता है। द्वैत का भाव लुप्त हो जाता है तथा ब्रह्मात्मैक्य की उपलब्धि हो जाती है।[3]

प्रत्यक्ष प्रमाण

कबीर प्रत्यक्ष प्रमाण को व्यावहारिक सत्ता के ज्ञान के लिए स्वीकार करते हैं। नामरूपात्मक विषयों का ज्ञान उन्हें इन्द्रिय संयोग से हुआ।[4]

इन्द्रियातीत एवं निराकार सत्य की साक्षात् अनुभूति के लिए वे इन्द्रियों का सन्निकर्ष स्वीकार नहीं करते। जो इन्द्रियातीत है, अगति, अगोचर है, उसे इन्द्रियों के सन्निकर्ष से नहीं जाना जा सकता। उसका तो परिशुद्ध भावना के कारण नहीं अनुभव किया जा सकता है। कबीर यहां अलौकिक प्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं।

---

1. कहत कबीर कछु कहत न आवै। परचै बिना मरम को पावै ॥—वही 218
2. सात सुरति सब मूल हैं, प्रलयहुं इनहीं मांहि।
   इनही मां से ऊपजै, इनही मांहि समांहि ॥
   —श्री परमानन्द दास-कबीर मंसूर—पृ० 977
3. जब हम होते तब तुम नाही अब तुम इहु हम नाहीं।
   अब हम तुम एक भए हहि, एकै देखति मन पतियाही ॥—क०ग्र०पृ० 319
4. कहो भैया अम्बर का सूं लागौं, कोई जाणैया जाननहार सभागा।
   अम्बरि रीसैं केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरनहारा ॥
   —क०ग्र०पृ० 133

सहज वृत्तियों के माध्यम से निर्मल हृदय में भावों द्वारा उसका सुदर्शन पाया जा सकता है।[1]

कबीर में योगज प्रत्यक्ष अधिक पाया है। कबीर एक महान साधक और योगी थे। अपने योगाभ्यास और प्रातिभ ज्ञान से उन्हें अलौकिक शक्ति की प्राप्ति हो गई थी। योग साधना के अपने विलक्षण वर्णन कबीर ने प्रस्तुत किए हैं। ये योगज प्रत्यक्ष के अनुपम उदाहरण हैं।[2]

चरमसत्य कबीर को प्रत्यक्ष हुआ, पर लौकिक भाषा में उसे कैसे बताते। उसकी झलक मात्र से ही वे गद्गद् हो गये।[3]

अनुमान प्रमाण

कबीर अनुमान प्रमाण को मानते हैं। कबीर के अनुसार जड़ जगत के विषय जड़ है। वे स्वत: किसी कार्य के करने में असमर्थ हैं। उनके भीतर चेतन तत्व है। जो उन्हें प्रकाशित करके कार्य सम्पादन के योग्य बनाता है। जब चेतनतत्व मनुष्य के शरीर से निकल जाता है तो शरीर व्यर्थ हो जाता है। अत: मानव शरीर में चेतनतत्व की व्याप्ति अवश्य है। यह ज्ञान का अनुमान-प्रमाण है। कबीर का मत है कि मनुष्य का शरीर कागज की गुड़िया के समान है। बिना चेतनतत्व के यह जड़वत् है। उस चेतनतत्व के प्रकाश से ही यह प्रकाशित होकर काम करता दीखता है। चेतनतत्व के अलग होते ही यह निर्जीव हो जाता है और तब साथी-सम्बन्धी रोते ही दिखाई पड़ते हैं।[4]

यहां शरीर के कार्य करने की शक्ति को देखकर तथा निर्जीव होने पर उसकी जड़ता को देखकर "परोक्ष" चेतन सत्ता की विद्यमानता का ज्ञान होता है। यह "अनुमान" है।

---

1. जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव बिना अभि अन्तर दूरी ॥
—वही पृ० 236

2. कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न आई।
तेज पुंज पारस धणीं, नैन्यूं रहा समाई ॥—वही पृ० 105

3. उलटे पवन चक्र षट् बेधा, मेर डण्ड सरपूरा।
गगन नरजि मन सुनि समांना, बजि अनहद तूरा ॥
सुभति सरीर कबीर विचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनन्द काल में, छूटें, सुख में सुरति समांनी ॥—क०ग्र०पृ० 90

4. विनसि जाप कागद की गुड़िया, जब लग पन तबै लग उड़िया।
गुड़िया को सबद अनाहृद बोलै, खसम लियै कर डोरी डोलै ॥
पवन धक्यौं गुडिया ठहरानी। सीस धुनै धुनि रोवै प्रानी ॥
—वही 117

हरिमोहन मरणशील है, क्योंकि वह मनुष्य है और सभी मनुष्य मरण शील हैं। हरिमोहन के मनुष्यत्व के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह मरणशील है क्योंकि मनुष्य में तथा मृत्यु में व्याप्ति का सम्बन्ध है और यह "अनुमान" है।

कबीर का कथन है कि जो उत्पन्न होता है, वह मरता भी अवश्य है। जो मृत्यु को प्राप्त होगा, वह जन्म भी अवश्य लेगा, क्योंकि मनुष्य मरणशील है तथा जन्म धारण करने वाला है। जन्म के साथ मृत्यु का सम्बन्ध है और मृत्यु के साथ जन्म का। अतः किसी एक को देखकर दूसरे का ज्ञान होता है, जो "अनुमान" हो।

उपमान प्रमाण

कबीर में उपमान प्रमाण भी पाया जाता है। यह प्रमाण व्यावहारिक सत्ता के क्षेत्र में ही प्रयुक्त हुआ है। अतीन्द्रिय क्षेत्र में इसका प्रयोग कठिन ही है। किन्तु कबीर महान ज्ञानी थे। उन्होंने चरमसत्ता के ज्ञान के लिए अनेक नाम सुन रखे थे। राम शब्द का अर्थ है सर्वत्र रमने वाला अर्थात् व्याप्त तत्व। जो सबमें व्याप्त है उसका ज्ञान उसके लिए प्रयुक्त किए गए शब्दों के द्वारा ही हो जाता है। कबीर का कथन है कि यद्यपि वह अज्ञात है, फिर भी उसके नाम के सहारे उसका ज्ञान पाया जा सकता है और उसका स्मरण किया जा सकता है।[1]

अनुपलब्धि प्रमाण

कबीर में अनुपलब्धि प्रमाण नाम रूपात्मक जगत के लिए प्रयुक्त हुआ है जगत् मिथ्या है, विनाशशील है, परिवर्तनशील है। यह चरमसत्ता नहीं हो सकता। सत्ता के विचार से इसकी उपलब्धि नहीं हो पाती।[2] यह बाधित हो जाता है। अतः इसका अभाव हो जाता है। यह स्वप्न के समान है जिसकी उपलब्धि नहीं होती है।[3]

चरमतत्व के ज्ञान के लिए कबीर अनुपलब्धि नहीं मानते। सत्यतत्व का अभाव नहीं माना जा सकता। सर्वव्याप्ततत्व जो सबका अधिष्ठान है, उसका अभाव नहीं हो सकता। कबीर के अनुसार उस परम सत्य को अपने भीतर देखा जा सकता है। हां, द्रष्टा में उसके रखने की साधना और ज्ञान होना चाहिए।[4]

अनुपलब्धि प्रकाश के सम्बन्ध में कबीर का अपना मौलिक दृष्टिकोण है।

---

1. जो उपज्या सो बिनसिहै। तार्थं दुख करि मारै बलाइ।
जहां बिनस्या तहां फिरिस्या रे। पीवत मरदन लाग॥—क०ग्र०पृ० 117
2. सुमिरत हूं अपनं उपमांनां, क्यंचित जोग रांम मैं जांना॥—वही 235
1. समझि विचार जीव जब देखा, यह संसार सुपर करि लेखा। क०ग्र०पृ० 234
2. घटि वधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरपूरि।
निजि जान्यां तिनि निकर है, दूरि कहैं तो दूरि॥—वही पृ० 81

शब्द प्रमाण

कबीर में शब्द प्रमाण पाया जाता है। कबीर धार्मिक ग्रंथों के प्रति अधिक श्रद्धालु नहीं हैं, फिर भी वेद के प्रति उन्होंने आस्था प्रकट की है।[1] उन्होंने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए श्रुति प्रमाण नहीं लिए, फिर भी उनके सभी सिद्धान्त वेद, उपनिषदादि की परम्परा के अनुकूल है, और पुरुषों में कबीर गुरु के उपदेश को *सत्य मानते हैं।*[2]

गुरु के उपदेशामृत से उन्हें ज्ञान हुआ और वे सत्यज्ञान पाने में समर्थ हो सके। विश्वास योग्य साधकों के शब्दों को भी कबीर ने "शब्द प्रमाण" के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने कई स्थलों पर नारद, व्यास मुनि, शुकदेव मुनि आदि की साक्षी दी है। इनके शब्दों को कबीर ने प्रमाण स्वरूप व्यक्त किया है।[3]

अर्थापत्ति प्रमाण

कबीर अर्थापत्ति प्रमाण को भी मानते हैं। मनुष्य के भीतर से ध्वनि होती है। वह बोलता है, रोता है, गाता है, चिल्लाता है, पर इस ध्वनि को करने वाला दिखाई नहीं पड़ता, इसे बजाने वाला है अवश्य जो देह के समान नहीं है।[4]

वह दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि हम बाजीगर की करामात के आश्चर्य में ही उलझ जाते हैं, हमें बाजीगर का खेल ही अच्छा लगने लगता है और हम उसकी चतुराई की ओर ध्यान न देकर आश्चर्यचकित ही होते रहते हैं। बिना बाजीगर के खेल कैसे हो सकता है और इसीलिए इस जगत् के कार्य को चलाने वाला भी अवश्य है। इस प्रकार जगत् और चरमसत्य दो विलोम तथ्य हैं। एक नामरूपात्मक, दूसरा अरूप। दोनों को तीसरी उपपत्ति अर्थात् बिना अरूप जादूगर के यह संसार नहीं चल सकता क्योंकि वहीं सत्य है, जो स्थिर है। मरण शील, विनाशशील, परिवर्तन शील कभी सत्य नहीं हो सकता।[5]

अतः इसके मूल में अरूप सत्ता अवश्य है जो अज्ञान के कारण हाथ नहीं आती।[6]

---

1. वेद कतेब कहदु मत झूंठा, झूंठा जो न विचारै।—वही पृ० 323
2. सतगुरु सांचां सूरिवां, सबद जु बासा एक।
   लागत ही मैं मिलि गया, पड़्या कलेजे छेक॥—वही पृ० 1
3. नारद कहै व्यास यों भाखै, सुखदेव पूछौ जाई।
   कहे कबीर कुमति तब छूरै, जे रहौ रांम त्यों लाई॥—क०ग्र०पृ० 109
4. बाजै तमं नाद धुनि होई, जे बजावै सो औरै कोई।
   बाजी नाचे कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहू न देखा॥—वही पृ० 231
5. सांच सोई जे थिरह रहाई, उपजै विनसै झूठ छ जाई॥—वही पृ० 233
6. माया मोह सब लोई। क्यंचित लाभ मानिष्य दियौ खोई।—वही पृ० 233

इस प्रकार कबीर में छ: प्रमाण पाए जाते हैं। प्रमाण विचार में कबीर ने मीमांसकों एवं अद्वैत वेदान्त का अनुकरण किया है। कबीर ने प्रमाण विचार व्यावहारिक जगत् सत्ता तथा पारमार्थिक सत्ता के विचार से किया। पारमार्थिक सत्य की ओर उनका अधिक ध्यान रहा है। क्योंकि कबीर परमसत्य के ज्ञान को ही सत्यज्ञान कहते हैं।[1]

ज्ञान विचार का विशिष्ट मन्तव्य

कबीर के अनुसार साधना पक्ष में ज्ञान की उपयोगिता है। ज्ञान-विचार बुद्धि कौशल अथवा बुद्धि विलास के लिए नहीं होना चाहिए, वरन माया अथवा अविद्यापरक मिथ्याज्ञान के उच्छेद के लिए होना चाहिए। कबीर का मत है कि ज्ञान का प्रयोजन ही है माया का उच्छेद।[2]

माया के उच्छेद तथा परमसत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान विचार होना चाहिए।

जिस ज्ञान मे बुद्धि की उपलब्धि है, जहां अन्धानुसरण नहीं है, परन्तु जिसमें स्वानुभूति का पूर्ण संयोग है। वही ज्ञान, ज्ञान है। बुद्धि और अनुभव के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे सूक्ष्मतिसूक्ष्म अतीन्द्रिय चरमतत्व की उपलब्धि की जा सकती है।—चरमतत्व के ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है और यही सत्य ज्ञान है।[3]

कबीर के अनुसार सत्यज्ञान का प्रादुर्भाव होते ही साधक में अलौकिक दृष्टि का अथवा चर्मचक्षुओ का प्रादुर्भाव होता है। सत्यज्ञान का कार्यक्षेत्र नामरूपात्मक जगत अथवा व्यावहारिक सत्ता से आरम्भ होता है तथा परमसत्य की अनुभूति तक है। सत्यज्ञान निस्सीम, अनन्त, अखण्ड, निराकार रूप है। वही ज्ञान सात्विक एवं सत्यज्ञान है जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणियों में एक ही अभिन्न चरमतत्व की अभिव्यक्ति होती है। सत्य ज्ञान से द्वैतभाव का लोप हो जाता है और पूर्ण परमानन्द की प्राप्ति होती है।[4]

तर्क वितर्क सत्यज्ञान नही हो सकता। चरमतत्व की उपलब्धि के लिए स्वानुभूतिपरक ज्ञान ही आवश्यक होता है। कबीर अनुभव सांच पंथी ज्ञानी है। अनुभव के द्वारा ही अनूप तत्व का ज्ञान पाया जा सकता है।[5]

---

1. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहायक—पृ० 272
2. हरि हिरदे इक ज्ञान उपामा, तार्थं छूट गई सब माया।—क०ग्र० पृ० 189
3. तिहि उजियारे सब जग सूझै। कबीर ग्यांन विचारा।।—वही 172
4. सर्वभूत राकै करि जाना, चूकै वाद नियारा।
   कहि कबीर मैं पूरा माया भए राम परसादा।। —क० ग्र० पृ० 284
5. ज्ञानी भूलै ग्यान कथि, निकट रह्यौ निजरूप।
   बाहर खोजै बापुरे, भीतर वस्तु अनूप।। —वही पृ० 146

कबीर का ज्ञान विचार नाम रूपात्मक जगत अथवा व्यावहारिक सत्ता के लिए नहीं है बरन् पारमार्थिक तत्व एवं आध्यात्मिक परिपूर्णता के हेतु है।

ज्ञान : रविदास

रविदास जी की उदासी का कारण ज्ञान से विमुखता है। इसीलिए जीव अविद्या, अहित आदि पंच दोषों में उलझा हुआ है। वह जल, थल अथवा जहां कहीं भी है मोह एवं कर्म श्रृंखला में बंधा हुआ है। विभिन्न योनियों में भटकता रहता है। मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है। इसमें ही वह गुरु ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[1]

ज्ञान : दादूदयाल

दादू के अनुसार शब्द ही सूक्ष्म माया और शब्द ही निर्मल ज्ञान है। उन्होंने नारद की महिमा का वर्णन शब्द के नाम से किया है।[2] जब जीव को आत्मदर्शन द्वारा अद्वैतानुभूति होने लगती है, तब ज्ञानोदय के चिन्ह प्रगट होने लगते है।[3] सहज समदर्शिता से सहज ज्ञान की अखंड स्थिति प्राप्त होती है।[4] सहज ज्ञान के द्वारा ही शरीर एवं आत्मा का अन्तर ज्ञान होता है।[5] सुना हुआ ज्ञान, ज्ञान नहीं आंखों देखा

---

1. माधव अविद्या अहित कीन, तातैं विवेक दीप मलीन ।। टेक।।
   मृग, मीन, भृंग, पतंग, कुंजर एक दोष विनाश ।
   पंच दोष असाध्य जार्माह, कौन ताकी आस ।। 2 ।।
   जल-थल जीव जहां तहां लौ, करम वा संग जाइ ।
   मोह कांस जबद्ध बांध्यो करिय कौन उपाइ ।। 2 ।।
   त्रिगुण योनि अचेत सम्भव, पाप पुण्य असोच ।
   मानुषावतार दुर्लभ, तिहुं संगति पांच ।। 3 ।।
   रैदास दास उदास, तजि भ्रम, जय न जप गुरु ज्ञान ।
   भजन जन भव हरन परमानन्द काहू निदान ।।4।।
   संत रैदास—डॉ॰ योगेन्द्र सिंह—पृ॰ 185
2. सबद ही सूषिम माया सब दै सहज समान ।
   सबदैं ही निगुर्ण मिले सबदैं निर्मल ज्ञान ।।
   —दादूवाणी—भाग—1 पृ॰ 199
3. दादू एकैरह गया तब जानी जागा ।
   —दादू साहब की बानी—भाग—1 पृ॰ 114
4. निर्खैरी सब आत्मा परमातम जानैं ।
   सुखदाई समित गहै आपा नहीं आनैं ।।
   —संतबाणी संग्रह—भाग—1 पृ॰ 508
5. दादू काया अंतर पाइया, निरंतन निरधार ।
   सहजैं आप लखाइया, ऐसा समरथ सार ।। —वही—पृ॰ 13

ही सत्य है। जब जीव अन्दर की विषय वासना, आदि को जान लेता है तो उसके दिन फिर जाते हैं।[1] दादू कहते हैं कि जो कोई भी ज्ञान के मार्ग को जान लेता है, उसका काम बन जाता है।[2]

ज्ञान : सुन्दरदास

सुन्दरदास जी के अनुसार जब साधक विचारों में निमग्न होकर ब्रह्म के दर्शन करने लगता है तो इसे अखंड ज्ञान कहते हैं।[3] सुन्दरदास जी कहते हैं कि "ओर उपाय थके सब तब सन्तन उद्धयज्ञान है।[4] "उन्होंने यह भी कहा है कि "द्वैत कछू नहिं देखिये सुन्दर ब्रह्म अखण्डित एक को एका"[5] सुन्दरदास के मतानुसार "सुन्दर विचारत यू उपजै अद्वैत ज्ञान।[6] उन्होंने पति को ही ज्ञान आदि स्वीकार किया है।[7] वे आदि अन्त, मध्य, तीनों में ब्रह्म की भावना कहते हैं तथा उसी को ही ज्ञान, ज्ञाता सब कुछ समझते हैं।[8]

बिना ज्ञान प्राप्ति के हृदय की ग्रंथियों से छुटकारा नहीं मिलता अज्ञान ही द्वैत का कारण है। अज्ञान के अंधकार में मनुष्य आत्मा को भूल जाता है।[9] जिस

---

1. दादू देखा दीदा सब कोई कहत शुनीदा।
   हवा हिरस अंदर बस कीदा, तब यह दिन भया सीधा॥ —वही० पृ० 22
2. नहिं वह जोग ज्ञान, मुद्रातत यह गत और पदीदा।
   जो कोई चीन्हा चीन्हा यह मारग, कारज हो गया जीदा॥—वही० पृ० 20
3. आदिहु अंतहु मध्यहु ब्रह्मादि है, सव ब्रह्म वही मतिठानी।
   संदर ह्रेय अरू ज्ञानहु ब्रह्माई, आपहु ब्रह्माहि जावत ज्ञानी॥
   सुन्दर विलास —पृ० 146
4. वही—पृ० 125
5. वही० पृ० 106
6. पति ही है ज्ञान ध्यान, पति हि है पुन्त दान।
   पति ही तीर्थ स्नान, पति ही को मत है। —वही पृ० 72
7. आहिदु अंत हूँ मध्य हूँ ब्रह्माहि यही मति गनी।
   सुन्दर द्वेय और ज्ञान हु ब्रह्माहि आपहु ब्रह्मैं जानत ज्ञानी।
   —वही० पृ० 146
8. बिन ज्ञान पाएनहिं छूटत हृदय ग्रंथी। – सुन्दर विलास—पृ० 64
9. छाइ अज्ञान रह्यो आभियन्तर जानि सके नहीं आतम भूला।
   सुन्दर यूं उपजे मन के मल ज्ञान बिना निज रूपहिं भूला॥
   —संतवाणी संग्रह भाग—2 पृ० 103

प्रकार स्वान की गति कांच के भवन में होती है वही गति मनुष्य की होती है।[1] तात्विक दृष्टि से जगत् ब्रह्म या वास्तुरूप है किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से दृश्य जगत नश्वर है। अज्ञान के कारण जीव ब्रह्म पर ही जगत का अरोप कर लेता है।[2]

साक्षात ज्ञान तो प्रलय की अग्नि के समान है। इसमें समस्त द्वंद और संपूर्ण प्रपंच विलय को प्राप्त हो जाते हैं।[3]

ज्ञान : मलूकदास

मलूकदास के अनुसार ज्ञान, हरि हीरा है। किन्तु यह बहुमूल्य हीरा छिपा पड़ा है। जौहरी ही इसे प्राप्त कर सकता है।[4] उनका कहना है कि दिल मियां (हरि) का महल और काया महजिद है। जब उससे लौ लग जाती है तो मानव ज्ञान की धूनी देता है।[5] जब ज्ञान की लहरें उठती हैं तो मुक्ति-मोतियों की वर्षा होने लगती है। मानव गगन गुफा में बैठ कर जगमग जोती को देखता है।[6] मन तो मृग है जो

---

1. "जैसे स्वान काच के सदन मध्य देखि और।
भूंकि-भूंकि मरत करत अभिमानजू॥
जैसे गज फटिक सिला सूंलरि लौरै दंत।
जैसे सिंह कूप माहिं उझक भुलान नू।
जैसे कोउ फेरी खात फिरत सु देखै जग,
तैसे ही सुन्दर सब ते रोही अज्ञानजू॥
अपनौ ही भ्रम सो तो दूसरो दिखाई देत।
आप कूं विचार कोऊ देखिये न आन जू॥
—संतबानी संग्रह भाग—2, 104

2. आदि हुनो नहीं अंत रहै मध्य सरीर भयो भ्रम कूपा।
मानत है कुछ और कुं औरहिं ज्यों रजु में अंहि सरीपि में रूपा॥
देखि मरीच उठायों विचि विभ्रम जानत नाहि बहै रवि धुपा।
सुन्दर ज्ञान प्रकाश भयो जब वह अंखडित ब्रह्म अनूपा॥
—सुन्दरविलास -पृ० 157

3. अनुभव साक्षात ज्ञान प्रलय की अगिन सम।
सुन्दर कहत द्वैत प्रपंच बिलात है॥ —वही पृ० 164

4. वस्तु अमोलक गुप्त पाई, ताती वायु न लाओं।
हरि हीरा मेरा ज्ञान, जौहरी, ताही सों परखाओं॥
—मलूकदास की वाणी-पृ० 7

5. महल मियां का दिलहिं में औ महजिद काया।
धूरी देता ज्ञान की, जब ते लौ लाया॥ —वही पृ० 7

6. लहरैं उठतीं ज्ञान की बरसैं रिमझिम मोती।
गगन गुफा में बैठ के, देखै जगमग जोती —वही पृ० 19

संसार में चारों दिशाओं में चरता फिरता रहता है। ज्ञान ही इसे हांक कर दूसरी ओर ले जा सकता है।[1]

ज्ञान : नानक

गुरु नानक के मतानुसार अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति ही ज्ञान है।[2] उन्होने जीव और ब्रह्म की एकता को भी स्वीकार किया है।[3] उन्होंने ब्रह्म और सृष्टि के मध्य सम्बन्ध भी स्थापित किया है।[4] गुरु नानक ने ज्ञान प्राप्त करने के साधनों में विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अहंकार, त्याग, गुरु कृपा एवं परमात्मा कृपा आदि का उल्लेख किया है।[5]

ज्ञान केवल बात करने मात्र से नहीं प्राप्त होता। वह सरल नहीं है। ज्ञान-कथन उसी को शोभा देता है, जिसने ज्ञान पर आचरण किया हो। इसके अभाव में वह तो चंचु ज्ञान मात्र है। सत्य ज्ञान लोहे के समान कठिन है। ज्ञान-प्राप्ति के सम्बन्ध में मनुष्य की सारी हिकमतें, सारी युक्तियां, सोर तर्क, सोर पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होते हैं। ज्ञान परम्परा की कृपा पर निर्भर है।[6]

कर्म : महावीर

महावीर ने कर्म की उत्पत्ति मोह से मानी है तथा राग और द्वेष को कर्मों का बीज कहा है। उन्होंने कर्म को जन्म और मरण का मूल और जन्म-मरण को दुःख

---

1. मन मिरगा बिन मूड का चहुँ दिसि चरवे जाय।
   हांक लेआया ज्ञान, तब बाधा तांत लगाय॥ —वही पृ० 98
2. आपे पटी कलम आपि ऊपरि लेख भी तू।
   एको कहीऐ नानका दूजा काहे कू॥ —कलार की बार, महला 1
   गुरु परसादी दुरमति खोई। जह देखा तह एको सोई।
   —रागु आस, शब्द 28' महला 1
3. सागर महि बूंद' बूंद महि सागर—रामकली, सबद 9, महला 1
   आतम महि रामु राम महि आतम चीनसि गुरबीचारा।
   —भेरउ, असटपदी 9, महला 1
   आतम परामता एको करै, अंतरि दुविधा अंतरि मरै।
   —धनासरी, सबद 4, महला 1
4. अपीन्है आयु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ। —आसा की वार, महला—1
5. नानक वाणी—डॉ० जयराम मिश्र-पृ० 68-69
6. गिआनु न गलीई ढूढीऐ, कथना करड़ा सारु।
   करमि मिलै ना पाईऐ, होर हिकमत हुकमु खुआरु॥
   —श्री गुरु ग्रंथ साहिब-पृ० 465

का मूल स्वीकार किया है।[1] बन्ध तथा उदय कर्म की मुख्य अवस्थाएं हैं। इन्हें दूसरे शब्दों में ग्रहण करने में तो जीव स्वतन्त्र है किन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है वह चढ़ने में स्वतन्त्र है किन्तु प्रमादवश गिर जाए तो गिरने में स्वतन्त्र नहीं है।[2]

कर्म मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं—निकाचित और दलिक। इन्हें क्रमशः निरूपक्रम तथा सोपक्रम भी कहा जा सकता है। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलित की अपेक्षा दोनों बातें हैं—जहां जीव उस को अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहां वह उस कर्म के अधीन होता है और जहां जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहां कर्म उसके अधीन होता है।[3]

कर्म आठ प्रकार के है। जिनमें बंधा हुआ जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। ये आठ प्रकार के कर्म निम्नलिखित है[4]—

1. **ज्ञानवरणीय**—इसके उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता। जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता। जानकर भी नहीं जानता पहले जानकर फिर नहीं जानता इसका ज्ञान आवृत हो जाता है।[5]

2. **दर्शनावरण**—इसके उदय से जीव द्रष्टव्य-विषय को नहीं देखता, देखने का इच्छुक होने पर भी नहीं देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है।[6]

---

1. रागो य दोसो वि य कम्मबीय कम्मं च मोहप्प भवं वयेति।
   कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरण वयंति॥ —उ० 32:7
2. कम्मं चिणंति सवसा, तस्पुदयम्मि उ पखसा होन्ति।
   रूक्खं दु रूहइ सवसो, विगलसपखसो तत्तो।, —विशेषावश्यक भाव—1/3
3. जैनदर्शन: मनन और मीमांसा—पृ० 295
4. (अ) अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूय होइ सव्वजीवाणं।
   तं कम्ममरि हंता अहित तेण वुच्चंति॥ —आ० नि० 914

   (ब) अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं।
   जेहि बद्धो अयं जीवो संसारे परिवत्तए॥
   नाणस्सावरणिज्जं देसणावरणं बहा।
   वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तेहेव य॥
   नामकम्मं च गोयं च अंतरायं तहेव य।
   एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ॥ —उ०33:1, 33:2—3
5. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा—पृ० 284
6. वही—पृ० 284

3. **वेदनीय**—ये दो प्रकार के होते हैं—सातवेदनीय और असातवेदनीय प्रथम के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है। द्वितीय के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है।[1]

4. **मोह-कर्म**—इसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चरित्रहीन बनता है।[2]

5. **आयु कर्म**—इसके उदय होने पर जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है।[3]

6. **नाम**—यह दो प्रकार का होता है—शुभनाम और अशुभनाम। शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वांछित उत्कर्ष पाता है और अशुभनाम कर्म के उदय से जीव अपकर्ष पाता है।[4]

7. **गोत्र**—ये भी दो प्रकार के होते हैं—उच्च गोत्र और नीचगोत्र। उच्च गोत्र जीव को विशिष्ट और नीचगोत्र हीन बनाता है।[5]

8. **अन्तराय**—कर्म के उदय से वर्तमान लब्ध वस्तु का नाश और लभ्य वस्तु के आगामी-पथ का अवरोध होता है।[6]

आत्मा को विकृत करने वाले पुद्गलों को मोहनीय कहते हैं तथा प्रतिरोधक पुद्गलों को अन्तराय कहा गया है। ये चार धात्य कर्म हैं तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु अधात्य कर्म है। धात्य कर्म के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना पड़ता है। ये चारों कर्म अशुभ ही होते हैं। इसके आंशिकक्षय से आत्मा का स्वरूप आंशिक मात्रा में उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय से आत्मस्वरूप का पूर्ण विकास होता है।

आठ प्रकार के कर्मों में महावीर ने मोहनीय कर्म को सर्वाधिक बाधक माना है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय होने से सर्व कर्म का नाश हो जाता है।[7]

सुख की कामना करने वाला राग-द्वेषादि से मलिन तथा कामभोगों में मूर्च्छित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भोगों को भी न भोगते हुए, परिणामों के कारण कर्मों से

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 285
2. वही—
3. वही—
4. वहीं—
5. वही—
6. वही—
7. सेणावतिम्मि निहते जहा सेणर पणस्सती।
   एवं कम्माणि पणस्संति मोहणिज्जे खयं गए॥ —दशा० 5 : 12

कर्म और उनके अनुभावों का वर्गीकरण इस रूप में किया जा सकता है—

कर्म

- **ज्ञानावरण**
  - अनुभाव
    - श्रोत्रावरण
    - श्रोताविज्ञानावरण
    - नेत्रावरण
    - नेत्राविज्ञानावरण
    - घ्राणावरण
    - घ्राणाविज्ञानावरण
    - रसावरण
    - रसाविज्ञानावरण
    - स्पर्शवरण
    - स्पर्शविज्ञानावरण
- **दर्शनावरण**
  - निद्रा
  - निद्रा-निद्रा
  - प्रचला
  - प्रचल-प्रचला
  - स्त्यानर्द्धि
  - चक्षु दर्शनावरण
  - अचक्षु दर्शनावरण
  - अवधि दर्शनावरण
  - केवल दर्शनावरण
- **वेदनीय**
  - सातवेदनीय
    - अनुभाव मनोज शब्द
    - मनोज रूप
    - मनोज गन्ध
    - मनोज रस
    - मनोज स्पर्श
    - मन: सुखता
    - वाक् सुखता
    - करय सुखता
  - असातवेदनीय
    - —इन आठ के विपरीत
- **मोह**
  - सम्यक्त्व वेदनीय
  - मिथ्यात्व ,,
  - सम्यक्मिथ्या ,,
  - कषाय ,,
  - नोकषाय ,,
- **आयु**
  - नैरयिकायु
  - तिर्यचायु
  - मनुष्यायु
  - देवायु
- **गोत्र**
  - जाति विशिष्ट
  - कुल ,,
  - बल ,,
  - रूप ,,
  - तप ,,
  - श्रुत ,,
  - लाभ ,,
  - ऐश्वर्य ,,
- **नाम**
  - शुभनाम
    - अनुभाव
      - इष्ट शब्द
      - ,, रूप
      - ,, गन्ध
      - ,, रस
      - ,, स्पर्श
      - ,, गति
      - ,, स्थिति
      - ,, लावण्य
      - ,, यश-कीर्ति
      - ,, उत्थान
      - ,, बलवीर्य पुरुषकार पराक्रम
      - ,, स्वरता
      - ,, कान्तस्वरता
      - ,, प्रिय स्वरता
      - ,, मनोइस्वरता
  - अशुभनाम
    - —इनके विपरीत
- **अन्तराय**
  - अन्तराय
  - दानान्तराय
  - लाभान्तराय
  - भोगन्तिराय
  - उपभोगान्तराय
  - वीर्यन्तिराय

बंध जाता है[1] और संसार रूपी भयानक अटवी में भ्रमण करता है।[2] कर्म द्वारा मलिनता प्राप्त जीव एक के बाद एक योनि में भ्रमण करते हुए भी संसार के प्रति उसी प्रकार निर्वेद को प्राप्त नहीं होते जिस प्रकार सर्वसम्पन्न क्षत्रिय सभी प्रकार के धन, कनक, भूमि और वनिता एवं संग्रह से मुक्त नहीं होता।[3] कर्म के कारण मूढ़, दुखित और अत्यधिक पीडित प्राणी मनुष्येतर योनियों में पतित होकर पीडित होते हैं।[4] पाप कर्म के वश में होकर राजा भी विष्टा का कीड़ा हो जाता है और वहीं पर क्रीड़ा करता है।[5]

अतः अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है।[6] प्राणी-मात्र अपने कृत कर्मों के कारण ही विविध योनियों में भ्रमण करते है।[7] कर्म से ही समस्त उपलब्धियां उत्पन्न होती हैं।[8] अपने कर्मों के अनुसार जीव कभी देवलोक में तो कभी नरक में तथा कभी असुर योनि में जन्म ग्रहण करता है।[9]

महावीर के अनुसार जिस प्रकार इस लोक में कोई भी ऐसा नही है जो उगते हुए सूर्य को रोक सके। इसी प्रकार ऐसा इस संसार में कोई भी नही जो उदय में आए हुए कर्म को रोक सकता है। किन्तु[10] कर्म बन्धन से मुक्ति के लिये मनुष्य जन्म ही श्रेष्ठ है।

---

1. कांखिदकलुसिदभूदों कामभोगेसु मुच्छिदो संतो।
   अमुंजतोवि य भोगे परिमामेण णिवज्झइ।। —मू० 81
2. कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोर कांतारे।। —कुन्द० अ० 37
3. एवमावट्ट-जोणीसु पाणिणो कम्म-किब्बासा।
   न निविज्जन्ति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया।। —उ० 3 : 5
4. कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
   आमाणुसा जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो।। —उ० 3 : 6
5. (अ) दुक्कियकम्मवसादो राया वि य असुइकीउओ होदि।
   तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह मोहस्स माहप्पं।। —द्वा० अ० 63
   (ब) होऊण तेयसत्ताधियो दु वलविरियरूवसंपरणो।
   जादो वच्चधरे किमि धिगत्थू संसाखासस्स।। —मू० 317
6. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
   दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति।।
   —सूत्र० 1/20/20, भगवान महावीर : एक अनुशीलन-पृ० 634
7. सव्वे सयकम्मकप्पिया। —सूत्र० 1/2/3/18-वही पृ० 634
8. कम्मुणा उवाही जायइ। —आचा० 1/3/1 वही पृ० 634
9. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
   एगया आसुर काय आहाकम्मेहि गच्छई।। —उ० 3 : 3
10. जह आइच्चमुदेंतं कोई वारेतउ जगेणत्थि।
    तह कम्ममुदिरंतं कोई वारेंतउ जगे णत्थि।। —भग० आ० 1740

कर्मों के क्रमशः क्षय से शुद्धि को प्राप्त हुए जीव कदाचित् बहुत लम्बे काल के बाद मनुष्य-भव को पाते है।[1] मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्म को सुनता है और श्रद्धा करता हुआ उनके अनुसार पुरुषार्थ करता है वह तपस्वी नये कर्मों को रोकता हुआ संचित कर्म रूपी रज को धुन डालता है।[2] परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी कर्म रूपी महाकल के ढेर से मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मों को ग्रहण नहीं करता।[3] इस प्रकार जीव हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरक्त होकर नए कर्मों से रहित हो जाता है।[4]

अतः महावीर ने कहा है कि पुरुष कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर नवीन पाप कर्म न करे और पूर्वकृत कर्मों को धुन डाले।[5]

जैन दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं। यह उनकी बध्यान अवस्था है। बंधने के बाद उसका परिपाक होता है, वह सत् अवस्था है। परिपाक के बाद उससे सुख-दुःख रूप तथा आवरणरूप फल मिलता है; वह उद्यमान अवस्था है।[6]

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म हैं। कर्म के संयोग से आन्तरिक योग्यता होती है। कर्म के विलय से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नहीं। शुद्ध या कर्म मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नही होता। अशुद्ध या कर्म बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है। यह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से।[7]

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह स्थिति का नाम ही परिस्थिति है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टि यह है कि रोग

---

1. कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
   जीवा सोहिमणुप्पत्ता आयन्ति मणुस्सयं॥—उ० 3 : 7
2. माणुसत्तंमि आयाओ जो धम्मं सच्च सहहे।
   तवस्सी वीरियं लदुधुं संबुडे निद्धुणे रयं॥—उ० 3 : 11
3. परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
   णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि॥—मो०पा० 48
4. णणवहमुसावाया अदत्त मेहुणपरिग्गहा बिरओ।
   राई भोयणविरओ जीवो भवइ अणासओ॥—उ० 30 : 2
5. पाडिए वीरियं लदधुं णिग्धायाय पवत्तंग।
   घुणे पुव्वकड कम्मं णवं चाखि ण कुव्वइ॥—सू० 1, 15, 22
6. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 275
7. वही—पृ० 275

देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देशकाल की स्थिति से कर्म की उत्तेजना होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं।[1]

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्रय और दुःखों का हेतु है, गुणों का विघातक है। इसलिये वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। बेड़ी से मनुष्य नहीं बंधता है। सुरापान से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं। इसलिये वह भी पौद्गलिक है।[2]

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियां मूर्त हैं। उनसे होने वाले सुख-दुख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त है। मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश रूप हो जाता है।[3]

कर्म के हेतुओं को भाव कर्म या "मल" और कर्मपुद्गलों को द्रव्य कर्म या "रज" कहा जाता है। उनमें निमित्त नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म तीव्र होता है।[4]

जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीर-धारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म का बन्ध करता है। स्थानांक और प्रज्ञापना में कर्मबन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण हैं।[5] प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकते हैं। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है। यह स्थिति बंध कहलाता है।[6]

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म-योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं। इसे ही बंध कहा जाता है। जब आत्मा का कर्म परमाणुओं से विलगाव होता है तो इसे निर्जरा कहा जाता है।

कोई फल डाली पर पककर टूटता है, दूसरा प्रयत्न से पकता है। प्रथम का पाक काल लम्बा तथा द्वितीय का छोटा होता है। कर्म का परिपाक भी ऐसा ही है।

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 276
2. वही—पृ० 277
3. जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
   जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्मणि मुत्ताणि······
   मुत्तोफासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
   जीवो मुत्ति विरहिदो, गाहिद तेतेदिं उग्गहदि···पंचस्तिकाय्—141, 142
4. जीवपरिपाकहेउ कम्मता पोग्गला परिणमति।
   पोग्गल-कम्म-निमित्तं जीवो वि तहेव परिणमई॥
   —प्रवचनसार, वृद्धि पृ० 455
5. (क) ठाणं, 4/92
   (ख) प्रज्ञापना, 23/1/290
6. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 280

निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिये कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिये इसका हेतु न धर्म है न अधर्म।[1]

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय-काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के अनेक अद्भुत कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता हैं।[2]

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अबन्ध्य कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्व है भी और नहीं भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है। वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।[3] कोई एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पाकर, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं।[4]

मुनि नथमल ने लिखा है कि जैन दर्शन कर्म-फल का मिथमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक प्रदर्शन से समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है, कर्म परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अवश्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग पाकर उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खाने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान शक्ति के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता।[5]

कर्म: नामदेव

नामदेव सब कर्म, धर्म, आदि का मूल "नाम" मानते है। वह सभी भ्रमों को दूर करने वाला तथा संसार का आधार है।[6]

---

1. जैन धर्म : मनन और मीमांसा—पृ० 299
2. (क) भगवती, 8/9
   (ख) स्वामी कर्तिकेयानुप्रेक्षा, 81
3. जैन धर्म : मनन और मीमांसा—पृ० 293
4. वही—पृ० 286
5. वही—पृ० 286
6. अवघी हेचि क्रिया अवघें हेंचि कर्म। अवध्या हाचि धर्म सत्य जाणा।
   अवधा हासंसार सर्वकाल। अवधा जेणेंदूरी ठाकं भवभ्रम॥
   —श्री नामदेव गाथा—1988

कर्म : कबीर—

कबीर का ईश्वर पर विश्वास है किन्तु अकर्मण्यता उनका आदर्श नहीं। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति को शारीरिक श्रम करना ही चाहिए। धन्धा करने से जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राप्ति हो जाय वही उत्तम है। अकर्मण्य जो किसी काम में हाथ नहीं लगाते वे भार स्वरूप एवं निर्मूल हो जाते हैं।[1] कबीर की मान्यता है कि शारीरिक श्रम द्वारा धनोपार्जन तो होता ही है, साथ-साथ आत्मग्लानि भी नहीं होती और स्वास्थ्य की वृद्धि भी होती है। कबीर स्वयं जुलाहे का काम करते थे।[2]

कबीर ने निष्काम कर्म करने का भी संदेश दिया है। उनका मत है कि सच्चा भक्त वही है जो घर में और गृहस्थ धर्म का पालन करता हुआ साधना में तल्लीन रहता है।[3] कबीर की मान्यता है कि लाखों की संख्या में साधक घर छोड़कर जंगल में चले जाएं तो उनका भार अन्य लोगों पर पड़ता है, जो आर्थिक ढांचे में असन्तुलन उत्पन्न कर देता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को समाज में रहते हुए निष्काम कर्म करना चाहिए।[4]

कर्म : रविदास—

संत रविदास कहते हैं कि मानव जो भी कर्म करे धर्म के निमित्त करे। जब रविदास कहते हैं कि "धर्म समुझि जो कार हुई, उह कर फल होई इस्ट" अर्थात् जो मनुष्य केवल धर्म समझकर निष्काम भाव से कर्म करता है उसे इच्छित फल प्राप्त हो जाता है। तब उसकी दृष्टि लोह परक हो जाती है। इसका कारण यह है कि रविदास ने संसार मे रहते हुए मुक्ति मार्ग खोजा है।[5]

रविदास जी स्वीकार करते हैं कि सांस्कारिक प्राणी कर्म बन्धन में ही फंसा रहता है वह कर्म का फल चाहता है। उसका धर्म तो कर्म करना मात्र है फल तो भगवान के हाथ में है।[6] मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार जो भी कर्म करता है वह

---

1. कबीर जे धन्धे तौ धूलि, बिन धन्धैं धूलै नही।
   ते नर बिनते, भूलि, जिनि धन्धैं मैं ध्यांया नहीं—
   —कबीर ग्रन्थावली अंग 12—सा० 21
2. कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा। —वही—पद 109
3. अवधू भूले को घर लावे, जो जन हम कूं भावे।
   घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि बन नहिं जावे।—वही० पद० 214
4. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन—पृ० 79
5. वीर, 15 मार्च 1982—पृ० 6
6. कमर बन्धन महं रमि रहयो फल को तज्यो न आस।
   करम मनुष्य का धाम है, सन्त भाषै रविदास॥
   —वीर, 15 मार्च 1982—पृ०6

स्वयं प्रकृति उससे कराती है। अतः कर्म का अभिमान क्यों? मनुष्य तो निमित्त मात्र है।[1]

निष्काम भाव से किया हुआ कर्म ही, महावीर का कर्म बन्धन मुक्ति है। कर्म रूपी शत्रु को नष्ट करने पर जिस प्रकार जिनवर पद प्राप्त होता है, उसी प्रकार निष्काम कर्म से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। रविदास जी कहते हैं कि राग और द्वेष से उत्पन्न होकर निष्काम कर्म करने से दुःख-सुख अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं में मन स्थित रहता है।[2] रविदास ने कर्म मार्ग को ज्ञान की अग्नि में जला देने का उपदेश दिया है।[3]

कर्म : दादूदयाल—

दादू की मान्यता है कि कर्मों के कारण ही जीव संसार में भटकता है। इन कर्मों से मुक्ति सम्भव है।[4] जिस प्रकार चन्द्रमा को राहु और सूर्य पर ग्रहण लगता है, उसी प्रकार ग्रहण तुल्य जीव पर कर्म है।[5] मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार फल पाता है।[6] दादू कहते हैं कि अणकीया लगता नहीं और किया हुआ लग जाता है।[7] दादू के अनुसार उद्यम करना कोई अवगुण नहीं है। जो उद्यम करता है, वही जानता है कि उद्यम में कितना आनन्द है।[8]

संसार से जुडी कर्म श्रृंखला को काटने की प्रेरणा देते हुए दादू कहते हैं कि शरीर रूपी कुल्हाड़े से कर्मश्रृखला काटी जा सकती है।[9]

---

1. वीर, 15 मार्च 1982—पृ० 6
2. वही—
3. संतसुधासार—पृ० 185
4. कर्म फिरावै जीव कौ, कर्मों कौ करतार।
   करतार कौं कोई नहीं, दादू फेरनहार॥
   —संतवाणी संग्रह भाग—1 पृ० 80
5. राहु मिलै ज्यों चंद कौं, गहन गिलै ज्यों सूर।
   कर्म गिलै यौं जीव कौं, नखसिख लागै पूर॥ —वही पृ० 92
6. घटि-घटि दादू कहि समझावै, जैसा करै सो तैसा पावै।
   को काहू की सीरी नाहीं, साहिब देखै सब घट माहीं॥ —वही० पृ० 103
7. अनकिया लागै नहीं, कीया लागै आइ।
   साहिब के दरि न्याय है, जे कुछ राम रजाइ॥ —वही० पृ० 103
8. दादू उदिम औगुण को नहीं, जेकरि जाणै काई।
   उदिम में आनन्द है, जे सांई सेती होई॥—दादूवाणी—पृ० 339
9. कर्म कुहाड़ा अंग बन काटत बारम्बार।
   अपने हाथों आप कौं, काटत है संसार॥—संतवाणी संग्रह भाग—1-104

कर्म : सुन्दरदास—

सुन्दरदास जी ने ब्रह्म और जीव के तादात्म्य में कर्म को कोई विशेष महत्व नहीं दिया है।[1] उनके अनुसार साधना एक वृक्ष के समान है। कर्म उस वृक्ष के पत्ते तथा ज्ञान फूल और योग फल है।[2] सुन्दरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य तेरे सभी कर्मों का हिसाब-किताब किया जायेगा। तुम्हें अपने प्रत्येक कर्म का जवाब देना होगा तू अपने बुरे कर्मों के लिये खुदा के सामने उत्तरदायी होगा।[3]

कर्म : गुरु नानक—

समना कादरि लेखा होई। करणी बाझहु तरै न कोई।
सचो सच बखाणै कोई। नानक अगै पुछ न होई॥[4]

नानक कहते हैं कि मानव तुझे अपने कर्मों का उत्तर देना होगा। सत्कर्मों से ही मुक्ति मिल सकती है। अन्त में सत्य की ही विजय होती है। भगवान के सामने सत्य ही ठहर सकता है।

गुरु नानक के अनुसार निर्गुण ब्रह्म से ही कर्मों की उत्पत्ति हुई है।[5] उन्होंने समष्टिगत कर्म का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। उनके द्वारा सृष्टि के समष्टि कर्म परमात्मा के भय अथवा उसके द्वारा स्थापित मर्यादा के अन्तर्गत होते रहते हैं।[6]

गुरु नानक के अनुसार मनुष्य व्यक्तिपरक कर्म ही करने का अधिकारी है और वे कर्म पूर्व जन्मों के परिणाम हैं। उन्होंने भले और बुरे कर्मों को माना है।[7] गुरु

---

1. हि० नि० का० ध० ओ० उ० दा० पृ० 465
2. कर्मपत्र कर जानिए मंत्र पुष्प पहिचान।
   अन्तर्ज्ञान फलरूप है काण्ड तीनियों जान॥ --संतसुधासार—पृ० 580
3. होवैगा हिसाब जब तब न आवैगा जवाब कुछ।
   सुन्दर कहत गुनहगार है खुदाय का।—सुन्दरविलास—पृ० 21
4. रामकली की वार, म० 1
5. सुंनहु उपजे दस अवतारा। सृसटि उपाइ कीया पासारा।
   देव दानव गण गंधरब साजे सभि लिखिया करम कमाइदा॥
   --मारू, सालहे 17, महला 1
6. मैं विचि पवणु वहै सद वाउ। नानक निरभउ निरंकार सचु एकु॥
   आसाकी वार महला 1
7. करणी कागदु मनु मसवाणी, बुरा भला दुर लेख पए।
   जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलीए तउ गुण नाहि अंत हरे।
   —मारू, सबद 3, महला 1

नानक ने कर्मों का एक अन्य वर्गीकरण इस प्रकार किया है।[1]

- कर्म
  - बन्धनप्रद कर्म
    - कर्मकाण्ड युक्त कर्म
    - अहंकार युक्त कर्म
    - त्रैगुणी त्रिविध कर्म
  - मोक्षप्रद कर्म
    - हरिकीरत कर्म
    - अध्यात्म कर्म
    - हुकुम-रजाई कर्म

बन्धन कर्म वे हैं जो अहंकार से किये जाते हैं और मोक्षप्रद कर्म वे हैं जो निष्काम से परमात्मा की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। गुरू नानक ने "हुकुम-रजाई" कर्म पर सबसे अधिक जोर दिया है। यह वह कर्म है जो परमात्मा की प्रेरणा से होते हैं। ये गुरू की अनुकम्पा से होते हैं।

गुरू नानक ने कर्म के आधार पर मानव-मानव में भेद स्वीकार नहीं किया। धर्म, अर्थ, कर्म, जाति, प्रदेश, रूप या रंग के आधार पर उन्होंने मानव का मूल्यांकन नहीं किया, उनकी कसौटी मानवीय गुण रही है।

गुरू नानक का मत है कि मनुष्य स्वयं अपने कर्मों का उत्तरदायी है। अतः यदि उसे अच्छे कर्मों का सुख मिलता है अथवा बुरे कर्मों का दुःख मिलता है, तो उसे "काल कर्म" पर मिथ्या दोष नहीं लादना चाहिए, बल्कि उसे कर्मों के फलों को भोगना चाहिए।[2]

सारे, कर्म, धर्म परमात्मा के हाथ में हैं। वह परमात्मा अत्यन्त निश्चिन्त है[3]

---

1. गुरू नानक और उनका काव्य—सं० डॉ० महीप सिंह (गुरु नानक और उनकी निर्गुण साधना डॉ० जयराम मिश्र)—पृ० 55
2. सुखु-दुखु पुरब जनम के कीए।
   सो जासौ जिनिदाते दिए।
   किस कउ दोसुदेहि तू प्राणी सहु अपना कीआ करारा है।।
   —गुरू ग्रन्थ साहब—पृ० 1030-31
3. करमु धरमु सचु हाथि तुमारै।
   बेपरवाहु आखुट भंडारै।।
   तू दइआलु किरपालु सदा प्रभु आप मेलि मिलइदा।।—वही पृ० 1034

और उसका भण्डार अनन्त है। उसी की हुकमि की कलम मनुष्य के कर्मों का निर्णय करती है।[1]

कर्मकाण्डी और अहंकारी पंडितों को गुरू नानक ने खुली चेतावनी दी है कि जिस कर्म से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है, वह तो आत्मिक तत्व विचार है और कर्मकाण्डी पण्डितों के अहम् भावना प्रेरित कर्म आसुरी भाव से युक्त होते हैं। ये कर्मकाण्डी मकड़ी के जाल की मकड़ी के समान उस जाल में स्वयं फंस जाते हैं।[2] उसकी आसुरी प्रवृत्तियां उसे मृत्यु के द्वार पर लाकर खड़ा कर देती हैं।[3] शुभ कर्म पार उतारने वाले हैं।[4] कृत कर्म भोगने ही पड़ते हैं, मिटाये से मिटते नहीं। कर्मों के योग लिए कर्मों की कृत भाग्य में लिख दी जाती है।[5]

गुरू नानक ने कहा है कि जिनकी वृत्ति "तैलधारावत्" ब्रह्म में रमी हुई हैं, उनके सारे सांसारिक कर्म व्यर्थ हैं; अर्थात् उनके सारे सांसारिक कर्म दग्ध हो जाते हैं।[6]

गुरू नानक स्पष्ट [illegible] में कहते हैं कि मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। बिना गुणों के मनुष्य जन्म नष्ट हो जाता है।[7]

मनुष्य इस संसार में आता है, जाता है और भटकता रहता है। मनुष्य की जो "किरत" पड़ती है उसी के अनुसार वह कर्म करता है।[8]

---

1. हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाई अहि ।।—वही पृ० 1
   हुकम चलाए आपणे करमी वहे कलाम। —वही पृ० 124
2. इन विधि डूबि माकुरी भाई ऊंडी। सिर के भारी।—वही पृ० 635
3. गुरू ग्रन्थ साहिब—पृ० 596
4. विणु करमा कैसे उतरसि पारे। —वही पृ० 903
   अथवा
   कणी बाझहु तरै न कोई। —वही पृ० 952
   अथवा
   कणी बाझहु भिसति न पाइ। —वही पृ० 952
5. आवै जाइ भवाईऐ पइऐ किरति कमाइ।
   पूरबि लिखिआ किउ मेटीऐ लिखिआ लेखु रजाइ।
   बिनु हरि नाम न छुटीऐ गुरमति मिलै मिलाइ ।। —वही पृ० 59
6. जे जाणसि ब्रह्म करमं। सभि फोकट निसचउ करमं ।। —वही० पृ 470
7. जेहा राधे तेहा लुणै बिनु गुण जनमु विणासु ।। —नानक वाणी—पृ० 140
8. आवै जाइ भवाईऐ पइये किरति कमाई। —वही० पृ० 147

पुनर्जन्म : महावीर—

मृत्यु के बाद क्या होगा ? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा ? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त होने पर कुछ भी नहीं है। पांच मतों में प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्म का सिद्धान्त है।[1] पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है।[2]

महावीर के अनुसार क्रोध, मान, माया और लोभ-पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं।[3] नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उनका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है।[4] नव-शिशु स्तनपान करने लगता है। यह भी पूर्वजन्म में किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता है।[5] जिस प्रकार युवक का शरीर बालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, जैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद होने वाली अवस्था है। यह देह प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा देही है।[6]

महावीर कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि मृत्यु जिस लिंग में हो पुनर्जन्म भी उसी लिंग में हो। इस संसार में माता, पुत्री हो जाती है और पुत्री माता। पुरुष, स्त्री हो जाता है और स्त्री, पुरुष नपुंसक हो जाता है।[7] जो जीव जिस पर्याय को ग्रहण करता है, वह पर्याय राग, द्वेष, मोह के वश ग्रहण करता है।[8] जीव इस संसार में अनेक शरीर ग्रहण करता है और उन्हें छोड़ता है।[9] इस प्रकार बार-बार तिर्यंच, कुदेव

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा--पृ० 267
2. भगवती – 2-5
3. दसवेअलियं, 8-3
4. न्यायसूत्र, 3-1-11
5. वही, 3-1-12
6. बाल सरीरं देहं तरपुव्वं इंदिया इमत्ताओ ।
   जुवदेहो बालादिव स जस्स देहो स देहित्ति ॥
   —विशेषावश्यक भाष्य गाथा
7. मादाय होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि ।
   पुरिसोवि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जगे ॥ —मू० 716
8. जं जं जे जे जीवा पज्जायं परिणमंति संसारे ।
   रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा ॥ —मू० 986
9. गहिउज्झियाइं मणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
   ताणं णत्थि पमाणं अणंत भवसायरे धीर ॥ —भा० पा० 24

और कुमनुष्य गति में जन्म लेकर भयंकर नरक के दुःख को भोगता है।[1] मनुष्य का जीवन तो मूल धन है और देवगति लाभ स्वरूप है। मूल धन के नाश हो जाने से जीव की हार होती है तथा उसे नरक एवं तिर्यंच गति मिलती है।[2]

अत: महावीर ने कहा है कि सर्व इन्द्रियों को भली प्रकार वश में करके आत्मा को पापों से रक्षा करनी चाहिये। अन्यथा आत्मा जाति-पथ में विभिन्न योनियों में जन्म-मरण (पूर्वजन्म) ग्रहण करती है। जो आत्मा सुरक्षित होती है, वह पूर्वजन्म के सभी दुखों से मुक्त हो जाती है।[3]

ब्रजभाषा के जैन कवियों का भी विश्वास है कि यदि जीव में मुक्ति की क्षमता नहीं है, तो वह जन्म लेता है, मरता है और फिर जन्म लेता है। वह चौरासी लाख योनियों में भटकता है, जहां उसे अगणित कष्ट सहने पड़ते हैं।[4] इसीलिए जन्म, जरा और मरण[5] दुःख स्वरूप हैं। जन्म-मरण (पुनर्जन्म) का चक्र आदिकाल से चला आ रहा है। पंचेन्द्रियों का दास बनकर मानवात्मा सदैव इस चक्र के नीचे पिसता रहता है।[6] जो जन्म धारण करता है, निदान वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[7] प्राणी के कर्म ही पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। कर्म के अनुसार ही वह मनुष्य तिर्यंच, नारक या देव जन्म धारण करता है।[8] जिसने तप और काम-क्लेश से घातिया कर्मों का विनाश कर लिया है, फिर पुनर्जन्म का भय नहीं रहता।[9]

पूर्वजन्म : नामदेव—

नामदेव कहते हैं जिस मनुष्य की एकाग्र वृत्ति और प्रेम परमेश्वर के नाम में

---

1. मीसणणरय गई ए तिरिय गई ए कुदेव मणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिण भावणा जीव ॥ —मा० पा० 8
2. मणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुव ॥ ॥ —उ० 7:16
3. अप्पा खलु समयं रक्खियव्वो सीव्विदिए हिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइयहं उवेइ सुरक्खिओ सुव्वदुहाण मुच्चइ ॥ —द० चू० 2:16
4. बंकचोर की कथा—पृ० 30
5. मरण समान न मै को होय। मरण समान दुष नहिं कोय-सीताचरित —पृ० 60
6. पंचेन्द्रिय संवाद पृ० 250
7. पाश्वंपुराण—पृ० 55
8. सीता चरित—पृ० 126
9. चेतन कर्म चरित्र—पृ० 83

हो, वह फिर गर्भ में कैसे आ सकता है अर्थात् उसका पुन: जन्म नहीं हो सकता । नाम में दृढ़ श्रद्धा रखने से ही आत्म हित हो सकता है ।[1]

नामदेव कहते हैं कि जो मनुष्य राम नाम में रंग जाता है और करम की आशा त्याग देता है वह आवागमन से मुक्त हो जाता है। नामदेव विभिन्न उपमाओं के प्रयोग द्वारा कहते हैं एक बार दधि मथ जाने पर पुन: एकत्रित नहीं होती । लकड़ी में उत्पन्न अग्नि पुन: लकड़ी में नहीं समाती । पारस द्वारा कंचन हुआ लोहा पुन: लोहा नहीं बन सकता । आक पलास बेधीया चंदन को लकड़ी कोई नहीं कहता । इसी प्रकार आवागमन से मुक्त जीव पुन: संसार में नहीं आता [2]।

नामदेव ने 84 लाख योनियों में भटकती हुई आत्मा के कष्ट की ओर भी संकेत किया है यह आत्मा कभी पेड़ तो कभी कीड़े का रूप लेती है । इससे मुक्ति का उपाय सतगुरू की शरण तथा परमेश्वर की भक्ति है ।[3]

नामदेव चेतावनी देते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य जन्म का सदुपयोग नहीं किया गया तो बन्दर के रूप में भी जन्म हो सकता है तब करमों की डोर बाजीगर के हाथ में होगी और घर-घर नाचते फिरना पड़ेगा । बाजीगर लाठी दिखा-दिखा कर तुझे भयभीत करेगा तथा जन-जन के तुझे पैरों पर पड़ना पड़ेगा । जन्म-मृत्यु तो कुम्हार के चक्र के समान है । न जाने कितनी बार तुम्हें इसके चक्कर में फंसना पड़ेगा ।

---

1. ज्याची एकवृत्ति रामनामीं प्रीति । असतां कैसे होती गर्भवास ।।
नामाम्हणे नामीं हढभाव धरा । आत्महित करा जाणते हो ।।
—श्री नामदेव गाथा—1882

2. दधि बिलोइ जैसे घृत लीजे । बहुरि न ऐकठ थाई ।
पावक दार जतन करि काढ़्या । बहुरि न नार समाई ।।
पारस परसि लोह जैसे कंचन, बहुरि न त्र्यंबक होई ।
आक पलास बेधीया चंदन, कास्ट कहै नहीं कोई ।।
—हिन्दी पदावली—82

3. अनेक बार पसुह्वै अवतर्यो । लष चौरासी भरमत फिरयौ ।।
पायौ नहीं कहीं विश्राम । सतगुरू सरनि कहयो नहीं राम ।।—वही—124

तथा

अंतरि गर्भ सहयौ दुषभारी । आवत जात परयो मैं हारी ।
भणत नामदेव हरिगुण गाऊं । बहुरि न भवजल नीरौ आऊं ।। —वही—84

भगवंत ही मुक्ति के दाता हैं ।[1]

पूर्वजन्म : कबीर—

पूर्वजन्म की धारणा कबीर की बहुत स्पष्ट है उनके अनुसार जीवन विभिन्न योनियों में पड़ता रहता है ।[2] कबीर दर्शन में आवागमन को सहज ही स्थान प्राप्त हो गया है । विलियन ड्रायर के मतानुसार कबीर ने वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार कर आवागमन की धारणा भिन्न साधार पर प्रस्तुत की है ।[3] उनके अनुसार सिद्ध और अंततः मुक्ति का हेतु वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं, वरन राम की भक्ति की अवहेलना करता है ।[1]

इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण तनिक निराशावादी है । उनकी दृष्टि में इस दुःखमय जगत की परिस्थितियाँ विषम हैं, उनसे जूझना अथवा उन्हें सुधारने का प्रयास व्यर्थ है ।[2] चौरासी लक्ष योनियों में निष्फल भ्रमण के पश्चात वराक नंद थक गये ।[3] ऐसा जीवन दर्शन निराशावादी ही माना जाएगा । कबीर का मानव मात्र ऐसा भ्रांत पथिक है जो असंख्य जन्म ग्रहण करने के पश्चात भी यथास्थित है ।[4]

कबीर के अनुसार भवचक्र में पड़े हुए मानव की स्थिति हारे हुए जुआरी जैसी है, जो बहुत दुःख भोगता है ।[5] मानव अनिच्छा से इस संसार में आता है । यह

---

1. जौ ऐसौ औसर बिसरैगो, तो मरकटकौ औतार धरैगो ।।
   करमडोरि बाजीगर के बसि, नाचत घरि घरि बार फिरैगो ।
   ले लुकटी तोहि त्रास दिखावै, जन जन कं तू पाइ परैगो ।
   ज्यूं हमाल सिर बोझ बहत है लालच के संगिलरगि मरैगो ।
   ज्यूं कुलाल चक्री कूं फेरै ऐसे तू के बार फिरैगो ।
   मजि भगवन्त मुक्ति के दाता, राम कहया कछुना बिमरैगो ।

   श्री नामदेव गाथा—178
2. बहुतें रूप भेख बहु कीन्हां ।—र० 17·41
3. कबीर की भक्ति भावना-विलियम ड्रायर—पृ० 75

1. पूरब जनम बांह्मन होते ओछे करम तप हींना ।
   रामदेव की सेवा चूका पकरिजुलाहा कीन्हां । —पृ० 188·5
2. कबीर की भक्ति भावना-विलियम ड्रायर—पृ० 76
3. नंद थाको—पद 155·3
4. उपजि बिनसि फिरि जोइनि आवै ।
   सुखकर लेस न सपनेहु पावै ।। —र० 17·5
5. मानुख जनमहि पाइ कै, चूकै अब घात ।
   जाई परै भवचक्र में सहै घनेरी लात ।। —सा० 15·6

उसके लिये कारावास ही है। क्योंकि वह अपने पिछले जन्मों के कर्मों का फल भोगने के लिए ही संसार में आता है। गर्भ में देह धारण करना दंड है।[1] इससे बचने का एक मात्र उपाय जन्म से बचना है। कबीर ने वर्तमान जीवन के प्रति ग्लानि व्यक्त की है।[2] कबीर ने भ्रामक जीवन से बचने का उपदेश दिया है। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अभावात्मक है। यदि यह जीवन राम की भक्ति में बीते तो यह मूल्यवान हो सकता है। रत्नरूपी जीवन को मोक्ष मार्ग पर लगाना चाहिये![3] कबीर कहते हैं कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। ध्यान रहे कि यह व्यर्थ ही न बीत जाये।[4] उनके अनुसार मानव देह काठ की हांडी है जो चूल्हे पर एक ही बार चढ़ाई जा सकती है।[5]

पूर्वजन्म : रविदास—

रविदास का पौराणिक रूप से परलोक तथा पुनर्जन्म और विभिन्न योनियों में जन्म लेने में भी विश्वास था। अनेक स्थलों पर उन्होंने हरि भक्ति तथा कर्मों की पवित्रता की प्रेरणा देते हुए यह भय दिखाया है कि पवित्र जीवन को ग्रहण करके न चलने वाले को यमपुर जाना होगा। एक स्थल पर वे चेतावनी देते हुए कहते हैं कि मृत्यु के उपरांत तुझसे कर्मों का हिसाब लिया जायेगा। उन्होंने यमपुर या मृत्यु के उपरान्त जीवन के पथ को पर्याप्त कठिन बताया है और जीव को सचेत किया है (या स्वयं को) कि वह सत्कर्म करने के लिये अभी से चेत जाये। कई स्थलों पर रविदास ने अपने लिये भी यह कहा है कि उन्हें अब यमपुर नहीं जाना है उन्होंने सारे जंजालों से मुक्ति पा ली है।[6]

पूर्वजन्म : मलूकदास –

मलूकदास के अनुसार सत गुरु मिल जाने से आवागमन के चक्र से जीव मुक्ति

---

1. सुर नर मुनि औ देवता, सात दीप नौ खंड।
   कहै कबीर सब भोगिया, देह धरे का दंड॥ —सा० 16·6
2. अलपै सुख दुख आहि अंता।
   मन मैंगर भुलांन मेंमंता॥ —र० 15
3. प्रांनीं काहे कैं लोभ लागे रतन जनम खोयौ।
   पुरुष जनमि करम भूमि बीज नांहि बोयौ॥—पद 60. 1-2
4. मानुख जन्म दुर्लभ है, होइ न बारंबार।
   पाका फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार॥ —सा० 15·5
5. काया हांडी काठ की, नां ऊ चढै बहोरि॥ —सा० 15·18

पाकर मोक्षगामी हो सकता है। मन इस मुक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।[1] आवागमन से मुक्त होते ही सभी प्रकार का संशय तथा मृत्यु का भय समाप्त होता है।[2]

पूर्वजन्म : नानक—

गुरू नानक ने विभिन्न योनियों में जीव के भटकने का कारण अहंवादियों के कर्म माना है।[3] उनके अनुसार तीनों गुणों से प्रेम करने वाला बार-बार जन्मता और मरता है। चारों वेद त्रिगुणात्मक माया के दृश्यमान आकार का ही वर्णन करते हैं। वे जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति अथवा सत्व, रज, तम ही की अवस्था का वर्णन करते हैं, तुरीय अवस्था केवल सद्गुरू से ही जानी जा सकती है।[4] पूर्व जन्मों का लेख किसी के मिटाए नहीं मिटता, क्योंकि वह परमात्मा के रजा के अनुसार लिखा जाता है। वह ही उनसे मुक्ति दिला सकता है।

गुरू नानक देव ने अपनी कामना प्रकट की कि मैं चाहे जिस योनि में पड़ूं—चाहे कोकिला होऊँ, चाहे मछली होऊँ, चाहे सर्पिणी होऊँ—पर मैं परमात्मा को किसी दशा में न भूलूं।[5]

नानक के विचार से सुख या दुख मनुष्य को पूर्वजन्म के प्रभाव से मिलते हैं। उनकी दृष्टि में कर्म दो प्रकार के हैं—भले और बुरे। एक कर्म बाँधता है, एक मुक्त करता है। निष्काम भाव वाले कर्म मोक्ष प्रदायक है, अहंकार भावयुक्त कर्म बंधन कारक। मोक्ष प्रदायक कर्म हरिकीरत कर्म (हरिकृत कर्म) और 'अध्यात्मकर्म' कहे गये हैं। पूर्वजन्म के कर्म, जिनका फल भोगना पड़ता है "किरत कर्म" (कृत कर्म) कहे गए हैं, इस "किरत कर्म" को मिटाने का तरीका है सर्वश्रेष्ठ "हरिकीरत कर्म"।

---

1. आवागमन मिटाया सतगुरू, पूंजी मन की आसा।
   जीवन मुक्त किया परमेसुर, कहत मलूका दास ॥
   —मलूकदास की बानी—पृ० 1
2. आवागमन का संसय छूटा, कारी जम की फांसी।
   कह मलूक मैं यही जानिके, मित्र किया अबिनासी ॥—वही० पृ० 21
3. हउमै एहा जाति है, हउमै करम कमाहि।
   हउमै एई बधना, फिरि फिरि जोनी पाहि।
   —श्री गुरूग्रंथ साहिब—पृ० 466
4. तुरी आवसथा सतिगुर तें हरि जसु ।।—वही पृ० 154
5. श्री गुरू ग्रंथ साहिब—पृ० 157

परमात्मा के नाम का गुणगान हरिकीरत कर्म है जो "किरत कर्म" के प्रभावों को मिटा डालता है। नानक ने एक और प्रकार का कर्म माना है जिसे वे "हुकुम रजाई" अर्थात परमात्मा की प्रेरणा से किया जाने वाला कर्म कहते हैं। यह कर्म सिद्धावस्था का कर्म है। भुना हुआ बीज जैसे नहीं उगता वैसे ही "हुकुम रजाई" कर्म बंधनों में नहीं बाँधता।[1]

नरक : महावीर

महावीर ने नरक के सम्बन्ध में कहा है कि नरक में क्षेत्र-स्वभाव के कारण सभी वस्तुएं दुखदायक तथा अशुभ होती है।[2] पाप के उदय के कारण ही जीव को नरक मे जन्म लेना पड़ता है। जहाँ उसे बहुत दुःख सहन करने पड़ते हैं।[3] नारकी जीव के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि नारकी जीव हमेशा क्रोधित ही होते रहते हैं।[4]

प्रचुर रूप से पापकर्मों के फलस्वरूप अनेकों प्रकार के असह्य दुःखों को भोगने वाले जीव विशेष नारकी कहलाते हैं। उनकी गति को नरक गति कहते है और उनके रहने का स्थान नरक कहलाता है, जो शीत, उष्ण, दुर्गन्धि आदि असंख्य दुःखों की तीव्रता का केन्द्र होता है।

नरक : नामदेव

नामदेव के अनुसार नरक इस दुनिया में ही है जो बड़ा दुखदायी और अपार है। केवल परमात्मा का नाम ही इससे बचा सकता है।[5]

नरक : नानक

अपने किए हुए अत्याचारों के लिए परलोक में बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ेंगे।

---

1. संत काव्य में योग का स्वरूप—आ० रामेश्वर प्रसाद सिंह —पृ० 330-331
2. सव्वं दि होदिणरए खेत्त—सहावेण दुक्खदं असुहं।— द्वा० अनु० 38
3. पाव उदयेण-णरए जायदि जोवी सहेदि बहु दुक्खं। —वही 34
4. कुविदा विसब्य-कालं अण्णोण्णं होंति णेरइयां। —वही 38
5. मनसा बाचा कर्मना कलि केवल नांव आधार।
   दुनिया में दोजगा बना दारन दुष अधि अपार॥ —हिन्दी पदावली 51

उन्हें नंगे दोजख में भेजा जायेगा। उस समय उन्हें उसका स्वरूप बड़ा भयावना दिखाई देगा।[1]

भ्रम (मरीचिका) : महावीर

महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार प्यास से संतप्त आंखों वाले हरिनों को मरीचिका में जल का भ्रम होने लगता है, वैसे ही मोह के बस जीव असत् पदार्थ को सत् मानने लगता है।[2] इस भाव को और अधिक स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार हित के विवेक को भूल कर मृग विषमान्त में पहुँच कर बन्धन में बंध जाता है और मर जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी लोभ, मान, माया तथा क्रोध में फँस जाता है।[3] वे रक्षित स्थान में अरक्षा और अरक्षा में रक्षा अनुभव करते हैं और फँस जाते हैं। बन्धन काट कर ही मृग (जीव) बन्धन मुक्त हो सकते हैं किन्तु वे ऐसा नहीं करते।[4]

---

1. नंगा दोजकि चालिआ ता दिसै खरा डरावणा।
   करि अउगण पछोतावणा (12) —नानक वाणी 345
2. मयतण्हियाओ उद्‌यत्तिमया मण्णंतिजह सतण्हयगा।
   सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्जंति मोहेण॥ —भग० आ० 726
3. अहियप्पाऽहियप्पणाणे विसमंतेगुवागए।
   से बद्धं पयपासाइं तत्थ घायं णियच्छइ॥
   घम्मपण्णवणा जा सा तं तु संकति मूढगा।
   आरंभाइं ण सेकति अवियत्ता अकोविया॥
   सव्वप्पंग विउक्कस्सं सव्वे णूमं विहूणिया।
   अप्पत्तिय अकम्मंसे एयमट्ठं मिगे चुए॥
   जे एयं णाभिजरणति मिच्छदिट्ठी अणारिया।
   मिगा वा पासबद्धा ते घायमेसंतऽणंतसो॥
   —सू० 1, 1 (2) : 9, 11, 13
4. जविणो मिगा जहा संता परिताणेण तज्जिया।
   असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणों॥
   अण्णाणभयसं विग्गा थीसियाणि असंकियाँ।
   परिताणाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं॥
   अह तं पवेज्ज वज्झं अहे वज्झस्स वा कए।
   मुच्चेज्ज पयपासाओ तं तु मंदोण देहई॥ —सू० 1, 1 (2) : 6 8

भ्रम : नामदेव

नामदेव भ्रम को वास्तविक ज्ञान में बाधक मानते हैं और भ्रम से मुक्ति की प्रेरणा देते हैं ।[1] भ्रम समाप्त होने पर ही सच्ची पहचान हो सकती है ।[2]

भ्रम : रविदास

भ्रम क्या है ? इसके उत्तर में रविदास जी ने कहा है कि उसे जैसा माना गया है वास्तव में वह वैसा नहीं है । वह ऐसा है जैसे एक राजा सपने में भिखारी हो जाये, जबकि वह भिखारी नहीं होता । जब हम होते हैं तो तुम नहीं होते, जब तुम होते हो तो हम नहीं होते जब तक जल सागर में होता है तो सागर ही होता है सागर से बाहर होते ही जल कहलाने लगता है । रात्रि में रस्सी भी भ्रम के कारण सर्प हो जाती है । स्वर्ण अलंकृत भूमि को, स्वर्ण नहीं कहा जाता ।[3]

रविदास जी कहते हैं कि भ्रम जल की तरंगों में पाहन की प्रतिभा और ब्रह्म में जीव जैसा है । उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि असंख्य भ्रमों को त्यागने की प्रेरणा दी है ।[4]

---

1. सभ ते उपाई भरम भुलाई ।
   जिस तूं देवहि तिसहि बुझाई ।।—संतनामदेव की पदावली—पृ० 99
2. जिन भाऊ भ्रमु भागा ।
   गुरू पूछे मनु पति आइगा ।।—वही पृ० 100
3. माधवे का कहिए भ्रम ऐसा, जैसा मानिये होइ न तैसा (टेक)
   नरपति एक सेज सुख सूया, सुपने भयो भिखारी ।
   अछत राज बिछुरत दुख पायो सो मति भई हमारी (1)
   जब हम होते तब तुम नाहीं, अब तुम हो हम नाहीं ।
   सलिल प्रबन कीयो बहर महोदधि, जल केवल जल माहीं (2)
   रज भुवंग रजनी पराकास, अस कधु गर्मे जनावा ।
   कनक अलंकृत भूमि परैं जस, कहते कहक न आवा (3)
   करता एक अनेकैं स्वामी, सब विधि सघ घट साईं ।
   कह रैदास भक्ति एक उपजी, सहजै होई सहाई (4)
   —संतरैदास—डा० योगेन्द सिंह—पृ० 186
4. माधौ, भ्रम कैसैं न बिलाई, तार्थं दुतीदर सै आई (टेक)
   कनक कुटक सुत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा ।
   जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यूं, ब्रह्म जीव दुति ऐसा (1)—पृ० 98
   आदि हुं ऐक अंता फुंनि सोई, मधि उपाधि सु कैसा ।
   अहै येक पै भ्रम सूं दूजौ, कनक अलंक्ति जैसे (4)—पृ० 98

रविदास जी के अनुसार यह काया, माया, पण्डित और वाणी सब कुछ थोथा है। मंदिर, भोग तथा विलास भी थोथा है। सत्य है तो केवल उसका स्मरण (सुमिरन) है।[1]

भ्रम : दादूदयाल

दादुदयाल कहते हैं कि भ्रम का परदा पड़ा हुआ है, जिसके कारण अंधकार छाया हुआ है। गुरु तथा गोविंद की कृपा से ही यह भ्रम का अंधेरा मिट सकता है।[2] यह संसार जिसे ढूंढता फिरता है वह तो हृदय में ही विद्यमान है किन्तु "मैं"-"तू" के भ्रम के कारण उसे नहीं पहचानता है।[3]

दादुदयाल की मान्यता है कि सारा संसार भ्रम में बंधा हुआ है। सतगुरु ही मार्ग दिखा सकते हैं।[4] रामनाम और "गुरु" शब्द मन में धारण करने से भ्रम समाप्त हो सकता है तथा इस प्रकार कर्म-बंध कट सकते हैं।[5]

(पृ० 181 का शेष)

तुझ देव कंवलापति जन सरनि आया।
मंझा जनम संदेह भ्रम छेदि माया (टेक)
अतिर संसार अपार भौ सागर, तां मैं जांमण मरण संदेह भारी।
काम भ्रम, क्रोध भ्रम, लोभ भ्रम, मोह भ्रम,
अनंत भ्रम छेदि मरे करसि पारी (1)—पृ० 110
—संत गुरू रविदास वाणी—डा० वी.पी.शर्मा

1. थोथा ज्ञान पधारो रे कोई जोई रे पद्योगे जामें निज कण होई।
थोथी काया, थोथी माया थोथा हरि बिन जनम गंवाया (1)
थोथा पण्डित थोथी बानी, थोथी हरि, बिन सबे कहानी (2)
थोथा मंदिर भोग विलासा, थोथी आन देव की आसा (3)
सांचा सुमिरन नावं विलासा, मन वच-कर्म कहै रैदास (4)
—संत रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह—पृ० 167

2 दादू पड़दा भरम का, रहा सकल घटि छाई।
गुरु गोविंद किरपा करैं, तौ सहजै ही मिटि जाइ॥
—संतवाणी संग्रह—भाग 1 पृ० 56

3 दादू जा कारनि जग ढूंढ़ि या, सो तौ घट ही माहिं।
मैं तैं पडदा भरम का, ता थैं जानत नाहिं।—वही पृ० 85

4. राम नाम गुरु शब्द सूं, रे मन पेलि भरम।
निहकरमी सूं मन मिल्या, दादू काटि करम॥—वही पृ० 76

5. भरम करम जग बंधिया, पंडित दिया भुलाइ।
दादू सतगुरु जा मिलै, मारग देइ दिखाइ॥—वही पृ० 56

दादुदयाल कहते हैं कि भ्रम तो आरसी के समान है जिसमें अपना मुख देखते ही एक "मैं" दो हो जाते हैं। जब भ्रम समाप्त हो जाता है तो द्वत्व भाव दूर हो जाता है। तब केवल "मैं" शेष रह जाता है।[1]

भ्रम : सुन्दरदास

सुन्दरदास का मत है कि भ्रम के कारण मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता। अपने भ्रम से अपने आपको ही दूसरा समझता है। जिस प्रकार कांच के भवन में स्वान अपना ही रूप देखकर, उसे दूसरा स्वान समझकर भौंकता है। जैसे हाथी फटिक शिला पर अपनी छाया देखकर अपने दांतों से उस पर प्रहार करता है और अपने दांत तोड़ लेता है। जैसे सिंह जल युक्त कूंवे में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर उसे दूसरा सिंह समझ लेता है। जैसे कोई संसार में व्यर्थ फिरता है उसी प्रकार भ्रमवश जीव की गति है।[2]

सुन्दरदास जी भ्रम के स्वरूप को अन्य उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते है, जैसे कोई बालक कामनी के स्तनपान करे किन्तु स्वप्न में वह कहे मेरा पुत्र खो गया है। जैसे किसी पुरुष के कंठ में मणियों की माला पड़ी हो और उसे भ्रम हो कि कहीं खो गई है तथा उसे गले में लटकाये बाहर ढूंढता फिरे। जैसे वायु के कारण कोई बावला बकता फिरे। इस प्रकार मनुष्य अपना निज रूप भूलकर भ्रम में पड़ जाता है।[3]

---

1. दादू संसा आरसी, देखत दूजा हेइ।
   भरम गया दुविध्या मिटी, तब दूसर नाहीं कोई ।।—वही पृ० 80
2. जैसे स्वान कांच के, सयने मध्य देखि और।
   भूंकि भूंकि मरत, करत अभिमान जू ।।
   जैसे गज फटिक, सिला सूं लरि तोरै दंत।
   जैसे सिंह कूप माहि, उझक भुलान जू ।।
   जैसे कोउ फेरी खात, फिरत सु देखै जग।
   तैसे ही सुन्दर सब, तेरोही अज्ञान जू ।।
   अपनो ही भ्रम सो तौ, दूसरों दिखाई देत।
   आप कूं विचारे कोऊ, देखिये न आन जू ।।

   —संतबानी भाग 2 पृ० 98
3. जैसे कोऊ कामिनी के हिये पर चूसे बाल।
   सुपने मे कहै मेरो पुत्र कहूं गयो है ।।
   जैसे काहू पुरुष केकंठ हुती मणि सोहि।

(शेष पृ० 184 पर)

अतः सुन्दरदास जी कहते हैं कि कोई भी भ्रम के चक्कर में न आवे। भ्रम में फंसा मनुष्य चिरकाल तक भी अपने स्वरूप को नहीं पा सकता। भ्रम अति प्रबल है भूत समाप्त होते हुए भी वर्तमान में बना रहता है।[1]

भ्रम : मलूकदास

मलूकदास जी कहते हैं कि ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में भ्रम सबसे बड़ी बाधा है। भ्रम आदि छोड़ने पर सहज धुन बजने लगती है तथा अनहद नाद झंकरित होने लगता है।[2] वे कहते हैं कि जब से मैंने हरी की ओट ली है भ्रम की पोटली छूट गई है और मैं सुख की नींद सोता हूं।[3]

पाप-पुण्य : महावीर

पुण्य और पाप दोनों आत्मा की अन्तर्वृत्तियां हैं। देव पूजा, गुरू उपासना, दया, दान, व्रत, शील, संयम आदि के प्रशस्त परिणाम (शुभ भाव) पुण्य कहे जाते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह संचय आदि के भाव पाप हैं। जब क्रिया शुभ होती है, तो शुभ कर्म के परमाणु तथा जब वह अशुभ होती है तो अशुभ कर्म के परमाणु आत्मा से चिपकते हैं। पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्व होने के कारण

(पृ० 183 का शेष)

ढूंढत फिरत कछु ऐसो भ्रम भयो है॥
जैसे कोउ वायु करि बावरो बकत होलै।
औखी की और कहै सुधि भूलि गयो है॥
तैसे ही सुन्दर निज रूप कूं बिसारी देत।
ऐसो भ्रम आपही कूं आप करी लयै है॥--सुन्दरविलास—पृ० 19

1. भ्रमत भ्रमत कहूं, भ्रम को न आवै मां।
चिरकाल बीत्यो पै, स्वरूप कूं न लह्यो है॥
सुन्दर कहत देखो, भ्रम की प्रबल ताई।
भूतन में भूत मिलि, भूत होइ रह्यो है॥
—संतबानी भाग 2 पृ० 98

2. भरम करम सब छांड, अनूठा यह मत पूरा।
सहजै धुन लागी रहै, बाजै अनहद तूरा॥
—मलूकदास की बानी—पृ० 19

3. कह मलूक हम जबहिं तें लीन्ही हरी की ओट।
सोवत है सुख नींद भरी डारी भरम की पोट॥—वही पृ० 94

दोनों ही आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। अतः जो आत्मा को अशुभ से बचाये वह पाप है और जो आत्मा को पवित्र करें ऐसे शुभ कर्म पुण्य हैं।

तीर्थंकर महावीर ने कहा है कि पाप और पुण्य, इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है।[1] क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म परमाणु और अशुभ होती है तो अशुभ-कर्म परमाणु आत्मा से चिपकते हैं। पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। उन्होने पुण्य कर्म की सोने और पाप कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है।[2]

महावीर ने अठारह प्रकार के पापों का उल्लेख किया है—

1. हिंसा 2. झूठ 3. चोरी 4. मैथुन 5. परिग्रह 6. क्रोध 7. मान 8. माया 9. लोभ 10. राग 11. द्वेष 12. कलह 13. दोषारोपण 14. चुगली 15. असंयम में रति (सुख) संयम में अरति (असुख) 16. निन्दा 17. माया-मृषा कपट-पूर्ण मिथ्या 18. मिथ्यादर्शन-शल्य।[3]

जिस प्रकार बन में हिरण आदि सिंह से बचकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार मेघावी पुरुष को पाप से दूर रहना चाहिये।[4] आत्मा के हित के लिए मनुष्य पापों का संचय न करे।[5] स्वयं पाप न करने वाला और दूसरों को पाप की ओर प्रेरित न करने वाला देवताओं द्वारा भी वंदनीय होता है।[6]

महावीर ने कहा है कि पुण्य की कामना करने से पुण्य बंध नहीं होता। वांछारहित पुरुष को ही पुण्य का लाभ प्राप्त होता है। अतः पुण्य में आदर आदि की वांछा उचित नहीं।[7] जो पुण्य को चाहता है, वह संसार को भी चाहता है, क्योंकि

---

1. उत्तरज्झयणाणि, 21/24
2. परमात्मप्रकाश, 2/53
3. पाणाइवायमलियं चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं।
   कोहं माण मायं लोभं पिज्जं तहा दोसं।।
   कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं।
   परपरिवायं मायमोसं मिच्छत्तसल्लं च।। —महावीर वाणी—पृ० 123
4. सीहं जहां खुद्दमिगा चरंता दूरे चरंती परिसंकमाणा।
   एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं दूरेण पावं परिवज्ज एज्जा।।
   —सू० 1, 10, 20
5. आताकडाण कम्माणं आता भुजति जं फलं।
   तम्हा आतस्स अठ्ठाए पावमादाय वज्जए।। —इसि० 15 : 17
6. जे इमं पावकं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवे।
   देवा वितं णमंसंतिधितिमं दित्तजेजस्सं।। —इसि० 39 : 1
7. पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसं पत्ती।
   इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणाह।। —द्वा० अ० 412

पुण्य सुगति के बन्ध का हेतु है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से ही होता है ।[1] पूर्ण रूप से पुण्य का फल प्राप्त हो, यह आवश्यक नहीं ।[2]

पाप-पुण्य : (नामदेव)

नामदेव के अनुसार संसार की सब चीजें मैली है । पाप-पुण्य भी मैले हैं, देवी देवता भी इसी कोटि के हैं । अतः त्याज्य हैं । इन्हें त्यागने पर ही ठाकुर मिल सकता है ।[3]

पाप-पुण्य : कबीर

कबीर ग्रंथावली में पाप शब्द कोई बीस बार मिलता है । वहां अपराध शब्द भी पाप के अर्थ में आया है ।[4] कबीर प्रत्येक प्रकार की भक्तिहीनता और भक्ति विरोधी भावना को पाप समझते हैं ।[5] एक स्थान पर कबीर झूठ को भी सबसे बड़ा पाप मानते हैं ।[6] उन्होंने काम और क्रोध का अधिक उल्लेख करते हुए कहा है कि मानव स्वभाव के उन्नयन के लिए इन पर नियंत्रण आवश्यक है । यदि इन पर नियन्त्रण नहीं होता तो तीर्थाटन आदि भी व्यर्थ हैं ।[7] कबीर ने पाप,[8] अहंकार,[9] लोभ[10]

---

1. पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि ।
   पुण्णं सुग्गईहेदु पुण्णखएणेव णिव्वाणं ।। —द्वा० अ० 410
2. सयलट्ठ विसयजोओ बहुपुण्णस्स विण सव्वहा होदि ।
   तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जोणिच्छिदं लहादि ।। —द्वा० अ० 50
3. सब जग मैला आनहि भाई । जन निर्मल जब हरिगुन गाई ।।
   मैला पुनि अरू मैला पाप । मैला आवदेव का जाप ।।
   मैला तीरथ मैला दख । व्रत मैला पूजा सनांन ।।
   मैला सुर मैली सुरसुरि । नामदेव को ठाकुर निर्मल हरी ।।
   हिन्दी पदावली—121
4. कबीर की भक्ति भावना—विलियम द्वायर—पृ० 137
5. जिहिनर रांमभगति नहिं साधी । सरे जनमत कस न मुओ अपराधी ।।
   — पद 64
6. सांच बरोबरि तप नहीं, झूठ बरोबरी पाप । —सा० 15-16
7. अपराधी तीरथि चले तीरथ कहा तारैं ।
   कांम क्रोध मल भरि रहें कहां देह पखारैं ।। —पद 3, 3-4
8. जहां दया तंह धर्म है, जहां लोभ तहं पाप । —सा० 15 : 33
9. परिहरू लोभ अरु लोकाचारू । परिहरू कामु क्रोध हंकारू ।। —पद 77 : 4
10. पर निंदा पर धन पर दारा पर अपवादहिं सूरा । —पद 40 : 5

और परनिंदा को भी पाप की श्रेणी में रखा है।

कबीर के अनुसार पाप से मुक्ति का अर्थ है प्रभु से मिलन के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं का अन्त होना। पाप मुख्यत: नैतिक अव्यवस्था न होकर भगवान के साथ व्यक्तिगत संबंध का विच्छेद है। भगवान से मिलने पर पाप अनायास समाप्त हो जाते हैं।[1]

पाप-पुण्य युग्म भी कबीर वाणी में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। कबीर पाप और पुण्य दोनों को संघाती मानते हैं।[2] प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? इसका कारण यह है कि साधना में पाप और पुण्य दोनों ही बाधक हैं। आसक्ति कैसी भी हो अवरोध ही उत्पन्न करती है।[3]

पाप-पुण्य : रविदास

रविदास जी ने पाप-पुण्य को जप-तप आदि के समान माया की कोटि मे रखा है।[4] वे कहते हैं कि हम पाप से विमुख हैं और आप पतित पावन हो। अंतस् में मेरी-तेरी की भावना, इस प्रकार है जैसे कनक कटक में जल की तरंगे।[5] पाप तो निबौली है, तू क्यों उसको फल समझने की भूल करता है।[6]

पाप-पुण्य : सुन्दरदास

सुन्दरदास जी ने तमोगुण रजोगुण और सत्वगुण के अन्तर्गत पाप-पुण्य का

---

1. सकल पाप सहजै गए जब सांई मिला हजूरि। —सा० 9 : 11
2. पाप पुन्न दोइ जनम संघाती—पद 104 : 7
   हह जिउ रांम नांम लिव लागै। तौ जरा मरन छूटै भ्रम भागै॥
   साहं हंसा ताको जाप। ताहि न लियै पुन्नि अरू पाप॥ —पद 130 : 14
   तहां पाप पुन्नि नहिं लगै छोति। —पद 148 : 7
   सुख कै बिरखि यह जगत उपाया। समुझि न परै बिखम तेरी माया॥
   साखा तीनि पत्र जुगचारी। फल दाइ पाप पुन्नि अधिकारी —र० 11, 1-2
3. कबीर की भक्ति भावना, विलियम ड्रायर —पृ० 139
4. जप तप बिधी निषेध नाम करू पाप-पुण्य दोऊ माया।
   ऐसा मोहिं तन मन गति बीमुख जनम जनम तुंह काया हो हरि॥
   —रैदास की बानी—पृ० 9
5. देपा: हम न पाप करंता अहौ अनंता, पतितपावन तेरा विड़द यूं हुंता।
   तोही मोही मोही तोही अंतरू ऐसा, कनक कटक जल तरंग जैसा॥
   —संत गुरु रविदास वाणी-डॉ० शर्मा पृ० 84
6. पाप गुन्यौ छै धरम निबौली, तूं देखि-देखि फल चाखि रे।
   परत्तिय संग भलौ जौ होवे, तो राणौं रावन देखिरे॥ —वही पृ० 94

विचार किया है ।[1]

तमोगुण बुद्धि काले तवे के समान, जिसमें सूर्य का तनिक भी प्रकाश नहीं चमकता, रजोगुण बुद्धि उलटी आरसी के समान होती है जिसमें सूर्य का कुछ-कुछ प्रकाश चमकता है और सत्व गुण वाली बुद्धि आरसी की सीधे ओर होती है किसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। किन्तु त्रिगुणातीत (सत्व, रज, तम) तीनों से रहित है। स्थिति वह है जिसमें से प्रतिबिम्ब मिट जाता है और सूर्य रह जाता है।

पाप-पुण्य : मलूकदास

मलूकदास जी कहते हैं कि तेरे पाप और पुण्य का हिसाब किताब मांगा जायेगा तो उस समय तू उसमें कुछ हेर-फेर नहीं कर सकेगा। अतः पाप-पुण्य का संकलन सोच समझ कर करना चाहिये ।[2]

वैराग्य : महावीर

महावीर ने कहा है कि जो मनुष्य अंतरंग में विरत है, वही वास्तव में विरत है। बाह्य में जो विरत है उसे सुगति प्राप्त नहीं होती। अत: विषय रूपी बन में क्रीडालंपट मन रूपी हाथी को वश में करना चाहिए ।[3] वैराग्य परायण पुरुष यदि कम पढ़ा-लिखा भी है, तो भी उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वैराग्यहीन को अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।[4] यह नहीं भूलना चाहिए कि हे पुरुष ! तू अनेक माताओं की अशुचि, वीभत्स और गन्दे मैल से भरी हुई गर्भ-

---

1. तमोगुण बुद्धि सो तौ, तवाके समान जैसे ।
ताके मध्य सूरज की, रंचहू न जाते है ।।
रजोगुण बुद्धि जैसे, आरसी की औंधी ओर ।
ताके मध्य सूरज की, कछुक उद्योत है ।।
सत्वगुण बुद्धि जैसे, आरसी की सूधी ओर ।
ताके मध्य प्रतिबिंब, सूरज को पोत है ।।
त्रिगुण अतीत जैसे, प्रतिबिंब मिट्टि जात ।
सुन्दर कहत एक, सूरजती होत है ।। —संतबानी, भाग-2 पृ० 102
2. पाप और पुन्य जमा कर बूझत ।
देत हिसाब जहां धरि फेंकै ।। —मलूकदास की बानी—पृ० 25
3. भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलीलो धरियव्वो तंण मणहत्यो ।। —मू० 985
4. धीरो वइरगपरी थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु ।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणी पडिदूण सव्वसत्थाइं ।। —मूल० 9 : 3

वसति में चिरकाल तक रहा है[1] तथा इस अनन्त संसार-समुद्र में तुम्हारे शरीरों से काट कर फेंके हुए केश, नख, नाल और हड्डियां को कोई देव जगत में इकट्ठा करे तो मेरु पर्वत से भी ऊँचा ढेर बन जाये।[2] तुम्हारे मरने पर दुःख से व्याप्त तुम्हारी माताओं के रोने से आंखों के आँसुओं का जल समुद्र के पानी से भी अधिक होगा।[3] अतः महावीर ने वैराग्य मार्ग दिखाते हुए कहा है—तुम जिन वस्तुओं से सुख की अभिलाषा करते हो, वस्तुतः वे सुख के हेतु नहीं हैं।[4]

वैराग्य : नामदेव

नामदेव जी कहते हैं कि राम वैराग्य जब टपकता है तो उसकी फुवार में सब भीग जाता है। सब अँधेरे दूर हो जाते हैं और जीव जाग जाता है।[5] वे कहते हैं कि मैंने दस बैरागनियों पर सिद्धि पाई है।[6]

वैराग्य : कबीर

कबीर वैरागी से अधिक गृही को महत्व देते है। वे उसी को योगी पुरुष मानते हैं जो गृह, वैराग को समान समझता हो।[7] जिसके पास न झोली पत्र, विभूति की झंझट हो और न तीर्थव्रत मेलादि में विश्वास रखता हो, न मांगकर खाता हो और न भूखा सोता हो, कोई भी सत्कर्म करके शाम तक अपने घर आ जाता हो। जो स्वयं कमा कर अपना और अपने परिवार का खर्चा चला लेता हो वही सच्चा

---

1. असुईवीहत्थेहिय कलिमल बहुलाहि गब्भवसहीहि।
वसिओ सि चिरं कालं अणेयणणीण मुणिपवर॥ —भा० पा० 17
2. भवसायरे अणंते हिणणुज्झिय के सणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमछिया रासी॥ —भा० पा० 20
3. तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णरायां अणेयजणणीणं।
रूण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं॥ —भा० पा० 19
4. जेणसिया तेण णो सिया—आचा० 1/2/4-भ० म० ए० अ०
5. दस बैरागनि मोहि बसि कीनी पंचहु का मिट नावऊ।
सतदि-दोइ भरे अम्रित-सरी बिखु कउ मारि कढ़ावऊ॥ 1॥
—संतबानी संग्रह-पृ० 100
6. राम बैराग म्हारै मंडल चूबै, कारण क्या भीजै जी।
निस अंधियारा भौ सब मागा, सुनि मैं सूता जागूंजी॥ —वही पृ० 127
7. बनह बसे का कीजिए जे मन नहीं तजे विकार।
घर बन तत सम निनि किया ते विरला संसार॥
—कबीर ग्रंथावली—पृ० 142

और अकेला योगी (बैरागी) हैं।[1]

बैराग्य : रविदास

रविदास जी के अनुसार वैराग्य परम तत्व है।[2] यह शरीर मिट्टी का बना पुतला है। यह देखता है, सुनता है और बोलता फिरता है। जब इसे कुछ प्राप्ति होती है तो गर्व करने लगता है और खोने पर रोने लगता है। यह मन, बचन, क्रम और रस से आकर्षित होता है।[3] यह शरीर घास की गठरी के समान है। गठरी खुलते ही घास, घास में मिल जाती है। ऊँचे-ऊँचे भवन, भाई, बन्धु, परिवार आदि कोई भी स्थाई नहीं। घर की नारि को मरने के बाद पति, भूत नजर आने लगता है और वह भूत-भूत कहकर दूर भागती है।[4]

रविदास जी कहते हैं कि जल, पवन और रक्त के गारे से बने शरीर के भरोसे तेरा-मेरा करता है। वह यह नहीं जानता कि शरीर रूपी वृक्ष पर प्राण रूपी पक्षी का बसेरा पल भर का है। इस हाड़-मांस और नाड़ियों से निर्मित शरीर रूपी

---

1. बाबा जोगी एक अकेला।
   जाके तीर्थव्रत न मेला।
   झोली पत्र विभूति त बटवा अनहद बेन बजावै।।
   मांगि न खाइ न भूखा सोवै घर अंगनां फिरि आवै।
   पांच जना की जमाते चलावै तासु गुर में चेला।।
   —कबीर ग्रंथावली—पृ० 118
2. कह रैदास यह परम बैराग, राम नाम किन जपदु सभाग।
   —संतबानी संग्रह भाग 2—पृ० 30
3. माटी को पुतरा कैसे बनचतु है।
   देखे-देखे सुनै बोलै दउरिओ फिरतु है।। टेक।।
   जब कछु पावै तब गरबु करतु है, माइआ गई तब रोवनु लगतु है
   मन बच क्रम रस कसहिं लुभाना, बिनसि गइ आ जाइ कहूं समाना
   कहि "रविदास" बाजी जगु भाई, गाजीगर सइं मोहिं प्राति बनि आई।।
   —गुरु रविदास आजाद—पृ०95
4. इहु तनु ऐसा जैसे घास की टाटी।
   जलि गइओ घासु रलि गइयो माटी।। टेक।।
   ऊँचे मंदर साल रसोई, एक घरी फुनि रहनु न होई।
   भाई बंध कुटम्ब सहेरा, ओहु भी लागै काढु सबेरा।।
   घर की नारि उरहि तन लागी, उह तउ भूत करि भागी।
   कहि "रविदासु" सभै जगु लूटिया, हम तउ एक राम कहि छूरिआ।।
   —गुरु रविदास—आजाद पृ० 96

पिंजड़े में प्राण रूप पक्षी का बास है। इस शरीर की सीमा साढ़े तीन हाथ मात्र है। अन्ततः सिर के बाल पक जायेंगे और समस्त साज-सज्जा समाप्त हो जायेगी और यह शरीर जलकर राख की ढेरी हो जायेगा।[1]

रविदास जी कहते हैं—तेरे शरीर रूपी कंचन गढ़ में विषयवासना रूपी चोर लग गये हैं किन्तु तू अनभिज्ञ होकर, टांग पसारे सो रहा है आंख खोल कर देख तेरा जन्म व्यर्थ ही नष्ट हो रहा है। अतः राम से लौ लगा।[2]

वैराग्य : दादू

दादू ने वैराग्य के सम्बन्ध में सार रूप में कहा है कि वैराग्य के लिये एक राम के अतिरिक्त समस्त विकारों को त्याग देना चाहिये।[3] जो वास्तव में वैरागी है, वह सदैव उन्मनी ध्यान में लीन रहता है।[4]

वैराग्य : सुन्दरदास

सुन्दरदास जी कहते हैं कि बच्चा माता के उदर से जन्म लेते ही माता के स्तन से दूध पीने लगता है और दिन पर दिन मोह के बन्धन में बंधता जाता है। तरुण होने पर स्त्री प्रेम में रस लेने लगता है। इस प्रकार पुत्र, प्रपुत्र और परिवार

---

1. प्रानी किआ मेरा किआ तेरा, जैसे तरवर पंख बसेरा।। टेक।।
   जल की भीति पवन का थंभा, रक्त बुंद का गारा।
   हाड़ मांस नांड़ी को पिंजरू, पंखी बसै बिचारा।।
   राखहु कंध उसारहु नीवां, साढ़े तीनि हाथ तेरी सीवा।
   नंके बाल पाग सिर डेरी, इहु तनु होइगो भसम की ढेरी।। —वही पृ० 96
2. हुसिआरी हुसिआरा रे।
   मन जपि लै राम पिआरा से।। टेक।।
   गढ़ि कांसा तसकर लागा रे, तुं काहे न जान अभागा रे।
   नेत्र पसारि न देखै रे, तेरा जनम मरण केहि लेखे रे।
   पाऊं पसारि क्या सोया रे, तैं जमन अकारथ खोया रे।।
   जन "रविदास" राम मिलजैरे, कछु जागति पहरा कीजै रे। —वही पृ० 97
3. एक राम छांड़ै नहीं छाड़ै सकल विकार।
   दादू सहजै होय सब दादू का मतसार।।
   —दादूसाहब की बानी—भाग-1 पृ० 191
4. जुगिया बैरागी बाबा रहै अकेला उन्मनी लणा।
   —दादू बानी भाग-2 पृ० 166

में बन्ध कर रह जाता है। तीनों अवस्थायें यों ही बीत जाती हैं।[1] ग्रीव, त्वचा और कमर लटक जाती हैं। काले बाल सफेद हो जाते हैं। वाणी थक जाती है। मुंह में दांत नहीं रहते। सब कुछ बदल जाता है, किन्तु मनुष्य भगवंत नहीं भजता।[2]

सुन्दरदास जी मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि इस शरीर रूपी सुन्दर वृक्ष पर पंछी का बसेरा पल भर का है। रात्रि में उसे रहना है और प्रातः सब कुछ त्याग कर उड़ जाना है।[3] सुन्दर दास जी कहते हैं यह जीवन का अवसर बार-बार नहीं प्राप्त होता। लुहार का लोहा गर्म होने पर ही फैलता है। अब भी समय है चाहे तो सिरजनहार को भज ले अन्यथा पछताना पड़ेगा।[4]

वैराग्य : मलूकदास

मलूकदास जी के अनुसार जप, तप, धोती, नेती सभी कुछ त्यागकर वैराग्य

---

1. पेट तें बाहर होताहि बालक,
 आइ के मातु पयोधर पीनो।
 मोह बंध्यो दिनहीं दिन और,
 तरण भयो तिय के रस भीनो॥
 पुत्र प्रपुत्र बंध्यो परिवार सु,
 ऐसिहि भांति गये पन तीनों।
 सुन्दर राम को नाम बिसारि के,
 आपहि आप कूं बंधन कीनो॥ —सुन्दरविलास—पृ० 16
2. ग्रीव त्वचा करि है लटकी,
 कच हूं पलटे अजहूं रत बानी।
 दंत गये मुख के उख रे नख,
 रैन गये सु खरोखर कामी॥
 कंपत देह सनेह सु दंपति,
 संपत जंपत है निसि जामी।
 सुन्दर अंतहु भौन तज्यो,
 न भज्यो भगवंत सु लौणहरामी॥ 16॥
 —सुन्दरविलास—पृ० 14
3. सुन्दर पंछी विरछ पर लियौ बसेरा आनि।
 राति रहे दिन उठि गये त्यों कुटुंब सब जानि॥
 —संतबानी संग्रह भाग-1 पृ० 104
4. सुन्दर यह औसर भलो भजि ले सिरजनहार।
 जैसे ताते लोह कौं लेत मिलाइ लुहार॥ —वही पृ० 104

भावना धारण करने पर निरंकार ब्रह्म की उपलब्धि हो सकती है।[1]

मलूकदास जी कहते हैं कि मनुष्य संसार के समस्त सुखों को बटोरने में लगा रहता है किन्तु वह कंकर ही अधिक एकत्रित करता है। वह अन्तर नहीं जानता।[2] वह लाखों की संख्या में लकसर, हाथी और घोड़े जोड़ता है किन्तु अन्त में सभी कुछ बिछड़ जाता है।[3] कोई साथ नहीं देता।[4] अपने सुन्दर शरीर को देखकर अनुराग से भर जाता है। मलूकदास कहते हैं यदि शरीर पर सुन्दर चाम न मढी होती तो, इस शरीर को काग खाते।[5]

वैराग्य : नानक

नानक के अनुसार सांसारिक विषयों में वैराग्य-भावना ज्ञानप्राप्ति का साधन है। धन सम्पत्ति, पद, नाम, ऐश्वर्य, यश सभी के प्रति गुरु नानक देव ने वैराग्य-भावना प्रदर्शित की है। गुरु नानक देव ने सांसारिक संबंधों के प्रति वैराग्य भावना दिखाते हुए कहा है कि सभी सम्बन्ध नश्वर हैं और साथ निभाने वाले नहीं हैं।[6]

---

1. "नावह रीझे जप तप कीन्हें ना आतम को जारे,
   ना वह रीझे धोती नेती न काया के परजारे।
   दया करै धरम मा राखे घर में रहै उदासी,
   अपना दुख सब का जानै ताहि मिले अवि नासी।
   सहै कुसवद वादहू त्यागै छाड़ि गर्व गुमाना,
   यही रीझ मेरे निरंकार की कहत मलूक दिवाना।
   —संतबानी संग्रह—भाग 2, पृ० 92
2. जेते सुख संसार के इकट्ठे किये बटोर।
   कन थोरे कांकर घने, देखा फरक पछोर॥
   —मलूकदास की बानी—पृ० 35
3. (अ) कई लाख तुम लसकर जोड़े केत घोड़े हाथी।
   तेऊ गये बिलाय छिनक में, कोई रहा न साथी॥—वही पृ० 1
   (ब) बन्दे दुनिया की दीन गंवाया।
   सो दुनिया तेरे संग न लागि मूड़ अजाब चढाया॥ —वही पृ० 23
4. सुन्दर देंही देखि के, उपजत है अनुराग।
   मढ़ी न होती चाम की, तो जीवन खाते काग॥—वही पृ० 35
5. नानक वाणी, मारूकाफी, अष्टपदी—10
6. इला पिंगुला बिबर मध्ये, सुषमनां वैराग निंधे।
   पंच भूत आतमा राखै सूइ कै छिद्रा।

(शेष पृ० 194 पर)

नानक ने हठयोग की क्रियाओं की ज्ञान के लिए निन्दा की है उनमनी मुद्रा ही ज्ञान की श्रेष्ठ मुद्रा है।[1]

दुःख-सुख : महावीर

महावीर के अनुसार संसार दुःखमय है। जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु दुःख है।[2] तथा अज, अमर, अजर, अरूज सुख है। जिस प्रकार बलाका से अण्डे और अण्डे से बलाका पैदा होते हैं, उसी प्रकार मोह तृष्णा से और तृष्णा मोह से पैदा होती है।[3] तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।[4] इसी प्रकार चोरी करने वाला भी दुःख मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि वह भी लोभ आदि में फंस जाता है।[5] जब कर्म विलीन हो जाते हैं तो दुख का निरोध हो जाता है।[6] सुख एवं दुःख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनों से होती है।

महावीर ने यह भी कहा है कि शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भावों के प्रति अनुराग और मूर्च्छा के कारण उनके उत्पादन, रक्षण और प्रबन्ध में चिंता होती है। विनाश तथा वियोग में शोक होता है। संभोग से भी तृप्ति नहीं होती तब इनमें सुख प्राप्त न होकर दुःख ही प्राप्त होता है।[7]

दुःख-सुख रविदास—

रविदास दुःख-सुख में समान भाव रखने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि सुख-दुःख में समान भाव होने से दुःख भी सुख बन जाता है। जब मनुष्य सुख को

(पृ० 193 का शेष)

मिलै प्रांण-प्रांण, उदिक जलें स मान ग्यानं।
कोटि मंधे ऐक पावं, उनमनी मुद्रा ॥ 2 ॥
—गुरु नानक वाणी (गु०ग्र०सा०के०अ०)—पृ० 40

1. जन्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणि य। —उत्तरज्झयणाणि 19/15
2. वही—23/81
3. उत्तरज्झयणाणि 32/6
4. वही 32/30
5. वही 32/30
6. सूयगडो, 1/14/16
7. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए वियोगे य कहिं सुहं से संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥ उ० 32 : 41

दुःख मान लेता है तो सुख भी दुःख में परिणित हो जाता है।[1] अतः सुख सरिता में डूबकर सूझ-बूझ नहीं खोनी चाहिए और दुःख की बदरी देखकर रोना नहीं चाहिए।[2]

दुःख-सुख: सुन्दरदास—

सुन्दरदास जी ने दुःख के कारण पर गम्भीरता से विचार किया है उनके अनुसार अज्ञान सभी दुःखों का कारण है।[3]

श्रीमद्भागवत के अनुसार सृष्टिकाल में ही ब्रह्मा ने पांच प्रकार के अज्ञानों की कल्पना की थी—तम्, मोह, महामोह, तामिस्र, अंधतामिस्र। तम् का तात्पर्य है प्रकृति के तीन गुणों (सत्, रज व तम) में से अन्तिम अर्थात् भ्रम, भ्रान्ति और मन को विकृत करने वाली प्रवृति। मोह अर्थात् असत्य, अनित्य तथा नाशवान पदार्थों के प्रति आसक्ति। महामोह का तात्पर्य यह है कि समझाने पर भी सत् को असत और अनित्य मानने का आग्रह। तामिस्र अर्थात् मन की वह अवस्था जिसमें उसे कुछ भी न सूझ पड़े कि क्या उचित है और क्या अनुचित। अंधतामिस्र मन की वह स्थिति है कि परमज्ञानी के उपदेश देने पर भी मन की अनिश्चितता बनी रहे और वह अपना पथ निर्धारित न कर पाये। वेदान्त के अनुसार सत् और असत् को समझने के लिये जो त्रिगुणात्मक भावरूप ज्ञान है उसके विरोधी तत्व को अज्ञान कहते हैं। व्यापक रूप से संसार को अनित्य और नश्वर समझना और एकमात्र परमात्मा को नित्य समझना ज्ञान है तथा संसार को नित्य और सत्य समझना ही अज्ञान है। सुन्दरदास का यही भाव है।

दुःख-सुख : नानक—

गुरु नानक के मतानुसार दुःख को छोड़कर सुख मांगना व्यर्थ है। दोनों ही प्रभु के दरवाजे से मिले हुए वस्त्र हैं, जिन्हें मनुष्य जन्म धारण कर इस संसार में

---

1. सुख दुख समकरी जानहु तउ दुखह सुख होय।
   रविदासजी सुखहि दुख कहै तछु सुख भी दुख होय।।
   —रविदास दर्शन—आजाद—पृ० 169
2. सुख सरिता मंह बूडि करि सूझ-बूझ मति खोय।
   दुख की बदरी पेखी कै रविदास नंह दीजिये रोय।। —वही पृ० 168
3. छाय अज्ञान र रह्यो अमि अंतरजानि सकै नहीं आतम मूला।
   सुन्दर यूं उपजेमन के मलज्ञान बिना निज रूपहि भूला।।
   —सुन्दरविलास—पृ० 100

पहनता है ।[1] दुःख देने वाला ही दुःख दूर करने वाला है ।[2]

भक्ति : महावीर

भक्ति के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए महावीर ने कहा है कि भक्ति वही है जो भय, माया, मिथ्यात्व (जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अन्य रूप से मानना, करना, अथवा कहना । उसका विपर्यास मिथ्यात्व है ।) और फल की कामना से रहित हो । ये तीनों भक्ति मार्ग में शूल के समान बाधक है । भक्ति सुमेरू पर्वत के समान निष्कंप होनी चाहिये ।[3] किसकी भक्ति करनी चाहिये ? इसका उत्तर देते हुए महावीर ने कहा है कि ज्ञानादि गुणों से युक्त अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की भक्ति उत्तम है ।[4] केवल जिन भक्ति मात्र ही जीव की दुर्गति निवारण में समर्थ है । वह पुण्य जगा कर मुक्ति का सुख देने वाली है ।[5] महावीर के अनुसार विद्या भी भक्ति-सम्पन्न को ही सिद्ध होकर फल प्रदान करती है । भक्ति रहित मनुष्य को निर्वाण के बीज ज्ञानादि प्राप्त नहीं हो सकते ।[6] विधि-पूर्वक बोये हुए बीज जिस प्रकार पर्याप्त वर्षा का जल पाकर फल रूप धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार अरिहंत आदि की भक्ति ज्ञान, चरित्र, दर्शन तप के फल देने वाली है ।[7]

---

1. सुखु दुखु दुइ दरि कपड़े पहिरहि जाइ मनुख ।
   जिथै बोलणि हारीऐ तिथै चंगी चुप ।। 44 ।।—नानकवाणी—195
2. दुष लागा दारु घणां, वैद षड़ा है आई ।
   काया कूकै हंस पुकारै, वैद न दारु लाई ।
   जात वैद घर आषणै, अरु जाणें जहिं कोइ ।
   जिहि दुष लाया मानका, भला करैगा सोइ ।। 15 ।।
   —गुरु नानक वाणी (गु०ग्र०के०अ०) डॉ० बी०पी० शर्मा, पृ० 22
3. संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंया ।
   जस्सा बढा जिणभत्ती तस्स भवं णत्थि संसारे ।। —भग०आ० 745
4. ते अरिहंता सिद्धाऽऽयरिओवज्झाय साह्वो नेया ।
   जे गुणमयभावो गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं ।। —वि०आव०भा० 2942
5. एसावि सासमत्था जिणभत्ती दुग्गइंणिवारेउं ।
   दुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धि परंपर सुहाणं ।। —भग०आ० 746
6. विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धि मुवयादि होदि सफलाय ।
   किह पुण णिव्वुदिवींज सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ।। —भग०आ० 748
7. विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वास ।
   तह अरहादिगभत्ती णाणचरणंदसणतवाणं ।। —भग० आ० 751

महावीर की मान्यता है कि जो मनुष्य संयम में दृढ़ होते हुए भी सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं के नायक पंच परमेष्ठी की भक्ति नहीं करता वह ऊसर जमीन में धान बोने का निष्फल प्रयत्न करता है।[1] अतः स्पष्ट है कि महावीर ने भक्ति को मोक्षमार्ग स्वीकार किया है।

भक्ति : नामदेव—नामदेव के अनुसार प्रेम भक्ति द्वारा ही परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।[2] वह शास्त्रों, धर्म-ग्रन्थों के पठन मात्र से नहीं मिलता।[3] पूजा, अर्चना आदि बाह्य कर्म न केवल निरर्थक हैं अपितु खोजी को भरमाने वाले भी हैं।[4] परमेश्वर को पत्ते-पत्ते में देखा जा सकता है।[5]

नामदेव की भक्ति, साधना युक्त है। उसमें नाम-साधना का महत्व है। उन्होंने सेव्य-सेवक भाव को भक्ति में महत्व दिया है।[6] उनके अनुसार भक्ति में जाति-पाँति के झगड़े व्यर्थ हैं।[7]

---

1. तेसि आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति।
   धत्ति पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे, ववादि॥ —भवा०अ० 749
2. राम भगति बिन गति न तिरन की। कोटि उपाइजु करही रे नर॥
   उल सींचै करि जनत प्रवालै। आंब बबूल न फलही रे नर॥
   चरन कंवल अनुराग न उपजै। तब लगी झूठी आसा रे नर॥
   —हिन्दी पदावली—92

   तथा

   भक्ति वीण मोक्ष नव्हे हा सिद्धान्त। वेद बोले हाट उभारव्ली॥
   —श्रीनामदेव गाथा—1925
3. घृगते बकता घृघते सुरता। प्राणनाथ कौ नांव न लेता॥
   नाद वेद सब गालि पुरांना। राम नाम को भरम न जाना॥
   पंडित होई सो वेद वषानै। भूरिष नामदेव राम ही जानै॥
   —हिन्दी पदावली—पृ० 10
4. सेवा पूजा सुमिरन ध्यान। झूठा कीजे बिन भगवान॥
   तीरथ बरत जगत की आस। फीकट कीजे बिन विश्वास॥—वही पृ० 56
5. पाती तोहि न पाहन पूजौं। देवल देव न ध्याऊंगा॥
   पांनि-पांनि परसोतम राता। ताकूं मैं न सताऊंगा॥ —वही पृ० 99
6. भगति भाव सूं सीवनि सीवों।
   राम नाम बिनु घरी न जीवों॥
   भगति करौ हरि के गुण गावौ।
   आठ पहर अपने खसम को ध्यावो॥ —संतसुधासार-खंड 1 पृ० 46
7. कहा करौ जाति कहा करौ पांती।
   राम को नाम जपो दिन राती॥ —संतसुधासार-भाग 1 पृ० 46

कबीर : भक्ति—कबीर ने भक्ति भाव के लिए अव्यक्त, अचिन्त्य ब्रह्म के सापेक्ष गुण अर्थात् जगत व्यवहार के लिए, परब्रह्म के आरोपित गुणों वाला स्वरूप अपनाया। सत्ता के कुछ गुण अपने होते है। जिन्हें निरपेक्ष गुण कहा जाता है। और कुछ गुण दूसरी सत्ताओं के सम्बन्ध से उस पर आरोपित किये जाते हैं, उन्हें सापेक्ष गुण कहते हैं। भक्तों ने भगवान के तीन भाव माने है। प्रथम गुणातीत, निराकार भाव, दूसरा—चिन्मयी शक्ति युक्त सगुण भाव तथा तीसरा—विश्वरूप विराट् भाव। भक्त अपनी अपनी-अभिरुचि के अनुसार भगवान के इन तीन भावों में से किसी भी भाव को उपचय के रूप मे ग्रहण कर उस भाव की भक्ति में लगाते हैं।

कबीर ने अपनी भक्ति को "भाव भक्ति" की संज्ञा दी है। भाव भक्ति के साधन के लिए सभी कुछ सम्भव हो जाता है।[1]

प्रतीक व्यक्त, अव्यक्त हो अथवा कुछ भी हो, भक्ति मार्ग का फल प्रतीक में नहीं है किन्तु उस प्रतीक में जो हमारा अन्तर्भाव होता है, उसमें है। इसीलिए कबीर ने भाव भक्ति को ही सच्ची भक्ति बताया है।[2]

भाव भक्ति के द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्य सम्भव है और यह सच्ची मुक्ति है। श्रीमद्भागवत में भावों द्वारा हरि से सम्मिलन सम्भव बताया है।[3]

कबीर सदाचारणशील साधक थे। उन्होंने सर्वाधिक बल निश्छल एवं निष्कपट हृदय पर दिया है। कबीर का मत है कि हृदय को निर्मल किए बिना हरिदर्शन दुर्लभ हैं।[4]

जब तक हृदय में मल है, विकार है उस समय तक शरीर शोधन, ज्ञान, साधना, उपदेश आदि सभी व्यर्थ है, पानी से घी निकालने के समान निस्सार है।[5]

कबीर ने भाव भक्ति को ही परम उत्कृष्ट बताया है। इस भक्ति के सामने उपदेश, ज्ञान, चर्चा आदि सब व्यर्थ हैं। भाव भक्ति के द्वारा ही अव्यक्त चरम भगवान से तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है।[6]

---

1. जो जनभावभगति कछु जानै। ताकउ अचरजु काहो।
   संत कबीर—डॉ० रामकुमार—पृ० 143
2. संत कबीर—राग गउडी 63—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृ० 66
3. श्रीमद्भागवत 11/12/8
4. हरि न मिलै बिन हिरदै सुध॥ क०ग्र०पृ० 214
5. क०ग्र०पृ० 332
6. कथणीं बदणी सब जंजाल। भाव भगति औ राम निरांल॥
   —वही पृ० 156

भगवान का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए भक्त अपने भाव जगत को परिशुद्ध करके अनन्य अनुराग के साथ भगवान में नियोजित करता है। शरणागत होने के लिए भक्त की साधना जारी रहती है। भगवान के प्रति भक्त को नौ प्रकार से आत्मनिवेदन करना होता है। साधना में साधक अपनी भावदशा से भगवान की शरण जाता है। एक भावदशा दूसरी भावदशा से ऊँची एवं उत्कृष्ट होती जाती है और साधना की परमावस्था में भक्त के भाव भगवान में केन्द्रीभूत होने लगते हैं। कबीर में ये सभी भाव पाए जाते हैं। ये हैं शरणागत भाव, कान्ता भाव, पतिव्रता भाव, नवोढाभाव, चातक-भाव, अनसाभाव, मधुरा भाव, विशुद्ध प्रतीति भाव, तन्मयता भाव। कान्ता भाव की साधना में कबीर ने प्रेममग्न होकर कहा—

हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव ॥[1]

कबीर की भक्ति की मौलिक देन है एकान्तिक से लोक संग्रहात्मक होना। कबीर की भक्ति व्यक्ति को सदाचरण तथा सहजशील द्वारा उसके भक्तित्व में विकास करके उसे लोक संग्रहार्थ निष्काम करने की प्रेरणा देती है। यह भक्ति अत्यन्त लोकोपयुक्त है। उसके विधान में पूजापाठ, वेशभूषा, आडम्बर एवं पाखण्ड का कोई भी स्थान नहीं। वह निर्गुण भाव भक्ति है। किसी समय, किसी स्थान में, सदासर्वदा बिना किसी विशेष प्रकरण के भक्त के भावों द्वारा की जा सकती है। इसमें किसी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं। अधिकारी अनधिकारी का कोई झमेला नहीं।

कबीर ने भाव भक्ति का यह द्वार सभी वर्णों के लिए उन्मुक्त किया था। जब भगवान सबमे व्याप्त है और सब भगवानमय है फिर यहां वर्ण-अवर्ण का भेद कैसा। सबका मूलतत्व एक है। छोटे-बड़े सब मूलत: एक है। हममें और दूसरों में एक-सा रक्त और प्राण संचार कर रहे हैं। अशुद्ध हों चाहे पवित्र हों, सवर्ण हों अथवा अवर्ण हों, सब एक ही प्रकार से उत्पन्न होते है। अत: सब अभिन्न है, एक हैं, कबीर का मत निश्चित मत था।[2] किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध न होने के कारण ही कबीर की भक्ति जन साधारण के बीच प्रसारित हो सकी और अनेक भक्तों का जीवन सफल कर सकी।[3] समस्त विश्व हमारा ही स्वरूप है। हम सब चिर सत्य एकत्व से बंधे हैं। सब भेद भाव का परित्याग करके परस्पर सहानुभूति

---

1. कथणीं बदणीं सब जंजाल। भाव भगति और राम निरांल॥ —पृ० 25
2. अं कार आदि है मूला। राजा परजा एकहि सूला॥ —क०ग्र०पृ० 244
3. एते औरत मरदा साजे, ये सबरूप हमारे।
   कबीर पंगुरा राम अजत का, सब गुरु पीर हमारे॥ —वही पृ० 267

एवं प्रेम का व्यवहार करें, तो यहाँ विश्व आनन्द से भर जाएगा।[1]

कबीर की भक्ति की विशिष्टता है अनेकत्व से एकत्व की सिद्धि। द्वैत भाव को नष्ट करके अद्वैत की स्थापना।[2]

इस भांति एक में अनेक और अनेक में एक को देखने को कबीर ने सच्चा ज्ञान और सच्ची भक्ति कहा है। भक्ति भी सच्ची वही है जो जगत में रहते हुए निरासक्त एवं निष्काम भाव से लोक संग्रहार्थ करके ही की जाए।[3]

कबीर जगत में निरासक्त रहते हुए लोक कल्याण के लिए निरन्तर निष्काम कर्म की ओर उन्मुख हुए जिससे नरहरिदर्शन सहजरूप में नित्यप्रति होने लगे।

भक्ति : रविदास—रविदास की भक्ति में शास्त्रीय भक्ति के सम्पूर्ण उपादान सांगोपाग स्वतः ही विद्यमान थे किन्तु यह उनके लिए अनायासता थी। उन्होंने इसके समावेश करने की चेष्टा कभी नहीं की थी। उनकी भक्ति में शास्त्रीय वर्गीकरणों से भी ऊपर उठकर दैन्य की अनुभूति की आत्यांतिक गहराई थी। इस दैन्य, एकांतिक समर्पण में आत्यान्तरिक विकल अनुभूति के अनेक स्थल रविदास की वाणी में देखे जा सकते हैं। अनुभूति की इसी आत्यान्तिक सफलता ने रविदास की अभिव्यक्तियों को कहीं रहस्यात्मक उक्तियों में अभिव्यक्तियाँ देने के लिए विवश कर दिया।[4] इसके अतिरिक्त रविदास ने भक्ति मार्ग पर अकेले ही चलने की प्रेरणा दी है।[5]

डॉ० बी०पी० शर्मा ने "संत रविदास की भक्ति साधना"[6] के सम्बन्ध में लिखा है कि उन्होंने राम भक्ति के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को अपनाया है। राम भक्ति के बिना मानव जन्म व्यर्थ है। भक्ति से विलग जीवन छल-कपट व निन्दा में डूब जाता है। संत रविदास ने अपनी वाणी में वेद-शास्त्रों के अनुसार भक्ति-पद्धति एवं आचार संहिता का अनुसरण किया है। उनको भक्ति मार्ग इतना प्रिय था कि अनेक बाधाएं एवं कठिनाइयां भी उन्हें इन मार्ग से हटा नहीं सकीं। रविदास जी कहते हैं कि प्रभु राम के दर्शन किए बिना प्रभु की आशा करना व्यर्थ है। संसार तो नश्वर है, केवल राम भक्ति ही सतत एवं स्थायी है। जो प्राणी "र" वर्ण सहित "र रामाय नमः" का जाप करता है केवल वही निष्काम योगी एवं

1. कबीर हरिरसयो पिया। बासी रही न थाकी ॥ —क०ग्र०पृ० 16
2. कबीर राममैं राम कहु। कहिबे मांहि विवेक ॥
   एक अनेकैं मिलि गया। एक समांना एक ॥ —वही पृ० 259
3. घर छांडे जिनि बाहर जाई। नहीं तरखरौ रिसावै राई ॥ —वही पृ० 209
4. संत रविदास—डॉ० योगेन्द्र सिंह—पृ० 92
5. संत सुधासार—पृ० 184
6. संत रविदास की भक्ति साधना पृ० 56 से 71 तक

परम भक्त है। भक्त के मन में "मैं" "तू" की भावना भी नहीं रहती।[1]

रविदास जी प्रकृति के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि वृक्षों पर फल लगने के लिए फूल खिलते हैं, परन्तु जब फल उभर आते हैं तो फूल नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार राम के मिलन के लिये भक्त जन सत्कर्म-राम की अर्चा, पूजा, सेवा एवं उपासना करता है। फिर उसे कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे तूंबा पानी में रहते हुए भी उसके ऊपर ही ऊपर तैरता है। प्रभु-भजन एवं उसके साक्षात्कार से भक्त जन सांसारिकता में फंसता नहीं।[2]

रविदास जी कहते हैं कि चंचल मन पर नियन्त्रण करने वाला भक्त ही निर्लिप्त, निर्भय होकर भजन में मस्त रह सकता है।[3] रैदासी भक्ति के नाम जप की बड़ी महिमा है।[4] भक्ति का आधार हरि कीर्तन स्मरण है धन या सम्पत्ति नहीं।[5] राम नाम के बिना जो कुछ किया जाता है वह भ्रम है।[6]

रविदास जी भक्ति में लोक दिखाने के विरुद्ध है।[7] नकली भक्तों का नाम स्मरण, भजन आदि प्रदर्शन मात्र होता है। प्रभु-प्रेम में डूबे बिना भक्ति सम्भव नहीं है।[8]

---

1. संत रविदास की भक्ति साधना पृ० 57
2. वही—पृ० 63-64
3. संत रविदास की भक्ति साधना—पृ० 64
4. सतजुगी सतु तेताजुगी तत्तु, दुआपरि पूजाचार।
   तीनों जुग तीनौदिढ़े, कलि केवल नाम उधार॥
   —सं० र० की० म० सा० वाणी पद 30—पृ० 60
5. मोहि अधारू नाम नाराइन, जीवन प्रान धन मोरे।
   —वही—वा० प० 14—पृ० 62
6. (अ) राम-नाम बिनु जै कछु करिए, सो सब भरम कहई।
   वही वा० प० 27 पृ० 62

   (ब) नाम तेरो आरती, भजनु मुरारे।
   हरि के नाम बिनु झूठे सगल पसारे॥
   —वही वा० प० 114 पृ० 63
7. कोऊ सुमिरन देखो, ऐ सब उपली चोभा।
   जाको जैसी सुमिरन, ताको तेसी सीमा॥
   —वही० वा० प० 29, पृ० 64
8. (अ) नाथ! योनि सहंस्रेयु येषु व्रजाम्यहूंम्।
   तेषु-तेषु अचला भक्तिर्मय सदास्तु त्वयि।
   या प्रतिः अविवेकानां विषयेषु अनप्स्तयिनी।
   त्वामनुसरतः सा मेहृदयात् मा अपसर्पत॥ —वही पृ० 64

(शेष पृ० 202 पर)

भक्ति : दादूदयाल—दादू ने भक्ति में मलरहित प्रेम को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।[1] उनके अनुसार भक्ति के बिना जीवन निरर्थक है।[2] उन्होंने भक्ति में पवित्रता को स्थापित किया।[3] दादू कहते हैं जब तक हृदय में कपट रहेगा, भक्ति हो नहीं सकती, फिर ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है।[4] भक्ति के क्षेत्र में दादू ने प्रतिमा-पूजन तथा देवतावाद का खण्डन किया है।[5] उनके अनुसार भाव भक्ति ही सार है।[6]

भक्ति : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने भक्ति में प्रेम के महत्व को स्वीकार किया है।[7] उनके अनुसार भावभक्ति में वैराग्य का योगदान है। भक्त को भक्ति में आस्था रखनी चाहिए।[8] उन्होंने भक्ति के लिए प्रेम लक्षण शब्दों का प्रयोग किया है।[9] सुन्दरदास जी भक्ति मार्ग में ईश्वर के प्रति अविश्वास, भेष तथा कुसंगति

(पृ० 201 का शेष)

(ब) जहं-जहं भीर परि जग महं, भगतन के काज संवारे।
हम से अधम उधारि किये नरक तै न्यारे।
सुर नर मुनि गंध्रव रहैं, साहिव चरण निवास।
मनसा वाचा करमणा, इहु गांवै जन रैदास॥
—वही वा० प० 18 पृ० 64

1. निरमल भगति प्रेम रस आनि न दूजा भाव धरे।
—संतबानी संग्रह भाग-2 पृ० 89
2. दादू हरि की भगति बिन धिक जीवन कहि मांहि।
—दादूदयाल की वाणी भाग-1, पृ० 105
3. पतिव्रता के एक हैं, दूजा नहीं। —वही पृ० 93
4. एक कहै दादू मोहि अचरज भारी।
हृदय कपट क्यों मिलै मुरारी॥ —वही पृ० 138
5. ब्रह्मा का वेद विष्णु की मूरति पूजै सब संसार।
महादेव की सेवा लागै, कहाँ है सिर जन हार॥ —दादू वाणी, पृ० 245
6. आंकार थे ऊपाजै विनसै बहुत विकार।
भाव भगति ले थिर रहै दादू आतम सार॥ —वही पृ० 199
7. चित एक ईसुर सों जेकहुं न न्यारो होय।
वहै भक्ति कहियत वहि प्रेम मार्ग है॥ —सुन्दर विलास, पृ० 148
8. सुन्दर कहत एक प्रभु के विश्वास बिनु।
बादहिं के वृथा सठ पचि के मरतु है॥
—संतवाणी संग्रह भा-2, पृ० 108
9. शिष्य सुनाऊ तोहि प्रेम लक्षण भक्ति का। —संत सुधासार पृ० 577

को बाधक मानते हैं ।[1]

भक्ति : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार वास्तव में भगवान को वे ही भक्त अपने अधीन कर पाते हैं जो निष्काम भाव से भक्ति-साधना करते हैं ।[2]

भक्ति : नानक—श्री प्रेम प्रकाश सिंह के अनुसार गुरु नानक अन्य साधनाओं की अपेक्षा भक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं भाव-प्रधान भक्ति ही रागानुगा भक्ति है । यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि जब हम रागानुगा कहते हैं तो इस समास के राग में विराग का निषेध ध्वनित है किन्तु गुरु नानक की अध्यात्म-साधना में मंगलमयी विरक्ति का भी स्थान है । इसीलिए भक्ति में विरक्ति का पुट गुरु नानक के भक्त रूप की विशेषता है ।[3]

गुरु नानक ने रागात्मिका भक्ति को माना है और वैधी भक्ति का खण्डन किया है । उन्होंने वैधी भक्ति के समस्त विधि-विधानों-तिलक, माला आदि की निस्सारता प्रदर्शित की है ।[4] उन्होंने प्रेमा भक्ति के विरह की तड़फन का भी वर्णन किया है ।[5]

गुरु नानक की भक्ति स्वामी के प्रति सेवक की भक्ति है । वे अपने आपको परमात्मा द्वारा खरीदा हुआ सेवक मानते है ।[6] एक स्थान पर मित्र भाव भी स्थापित

---

1. संतवाणी संग्रह भाग-2, पृ० 108
2. मलूकदास की बानी—पृ० 19
3. गुरु नानक और उनका काव्य—सं० डा० महीप सिंह (गुरुनानक का सर्जक व्यक्तित्व) पृ० 33
4. पड़ि पुस्तक संधिआ बादं । सिलपूजसि बगुल समाधं ।।
   मुखि झूठ विमूखण सारं । त्रैपाल तिहाल विचारं ।।
   गलि माला तिलकु ललांट । दुइ धोती बसत्र कपांट ।।
   जो जाणासि ब्रह्मं करम । सभि फोकट निसचउ करमं ।।
   —श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 470
5. नानक मिलहु कपट दर खोलहु एक घड़ी खटु मास ।। —वही पृ० 1109

   तथा

   बैदु बुलाइआ वैदगी पकड़ि ढंढोले बहि ।
   भोला बैदु न जाणाई करक कलेजे माहि ।। —वही पृ० 1279
6. मुल खरीदी लाल गोला मेरा नाउ सभागा ।। —वही पृ० 991

   तथा

   मेरे लाल रंगीले हम लालन के लाले ।। —वही पृ० 1112

किया है।[1]

साधना : महावीर—

महावीर ने कहा है कि जो मनुष्य तप, नियम, संयम, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि में पूर्ण रूप से प्रवृत है वही वास्तव में साधना—रत है।[2] साधक को चाहिए कि "स्व" और "पर" का ज्ञान प्राप्त करे तथा आत्मार्थ और परमार्थ को जानने का भी प्रयत्न करें।[3]

महावीर के अनुसार शब्द श्रोतेन्द्रिय का विषय है, रूप चक्षु का विषय है, गंध नाक का विषय है, रस जिह्वा का विषय है और स्पर्श का सम्बन्ध शरीर से है। इनका परित्याग करने वाला ही साधक है।[4]

महावीर ने यह भी स्पष्ट रूप से कहा है कि ऐसा ज्ञान, जिसके साथ चरित्र नहीं, ऐसा वेश, जिसके साथ दर्शन नहीं और ऐसा तप जो संयम से रहित है, जो मनुष्य इस रूप में साधना करता है, उसकी साधना निरर्थक है।[5]

अतः महावीर के अनुसार साधना दो भुजाओं से सागर तैरने[6] तथा लोहे के चने चबाने के समान कठिन है।[7]

साधना : नामदेव—नामदेव कहते हैं कि समझ में नहीं आता कि किसकी पूजा (साधना) करूँ। क्योंकि यहां लोग जिस पत्थर की साधना करते हैं, दूसरे पत्थर पर पैर रखकर चलते हैं। यदि पत्थर ही साधना का लक्ष्य है, तो हम भी देवता क्यों नहीं हो सकते।[8] मुझे तो एक के अतिरिक्त दूसरा दिखाई ही नहीं देता।

---

1. हरि सा मीतु नाही मैं कोई। —वही पृ० 1027
2. जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणाऽवस्सय।
   मादीएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता। —भग० 18/10
3. आतं परं च जाणेज्जा सव्वभावेण सव्वधा।
   आयट्ठं च परट्ठं च पियं जाणे तहेव य॥ —इसि० 35 : 12
4. आ० चू० 2, 15 : 72/वही-2, 15 : 73/वही 74/वही 75
5. णाणं करणविहूणं लिगग्गहणं च दंसणविहूणं।
   संजमहीणो य तवो जो कुणादि णिरत्थयं कुणादि॥ —भग० आ० 770
6. बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही। —उत्त० 19/37
7. जवा लोहमया चेव. चावेयव्वा सुदुक्कां। —उत्त० 19/39
8. किसहूं पूजूं दूजा नजर न आइ।
   एकै पाथर किज्जे भाव दूजे पाथर धरिवे पाव।
   जो वो देव तो हम बी देव कहै नामदेव हम हूर की सेव।
   —संत सुधासार पृ० 54

अत: मेरा साध्य तो वही है।

कबीर : साधना—कबीर महान् साधक थे और उनका सम्पूर्ण जीवन सत्य की साधना में ही व्यतीत हुआ था। भारतीय साधना पक्ष की चारों धाराओं—ज्ञान, योग, भक्ति एवं कर्मयोग से वे पूर्णतया परिचित थे। इन चारों मार्गों का अनुसरण करके उन्होंने अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया और साधना-पक्ष को बहुमूल्य देन दी।[1]

कबीर के मतानुसार ज्ञान विचार जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है।[2] बिना बुद्धि के ज्ञान होना असम्भव है। जो मनुष्य भले-बुरे का विचार नहीं करता, अंधानुसरण करता है, किसी तथ्य को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसता, वह भू-भार और अज्ञानी है।[3]

तथ्यों के निश्चित करने के लिए बुद्धि का प्रयोग परमावश्यक मानते हुए भी बुद्धि कौशल, बुद्धिविलास अथवा तर्क-वितर्क के द्वारा किसी तथ्य का निर्णय करना कबीर को मान्य नहीं है। बिना स्वानुभव के, केवल बुद्धि-विलास, किसी सत्य-निर्णय में असमर्थ है। अतएव कबीर के अनुसार केवल बुद्धि ज्ञान ही सत्य ज्ञान नहीं है।[4]

सद्गुरु के प्रति कबीर को अनन्य श्रद्धा है। गुरु उपदेश को वे महत्व देते है। उपदेशामृत पर विचार एवं मनन करना और उसके स्वानुभूति की कसौटी पर खरा उतरने के उपरान्त ही कबीर उसका विस्तार करने की बात कहते हैं।[5]

अतएव कबीर के अनुसार ज्ञान की सामग्री अनुभव से और उसका रूप बुद्धि से प्राप्त होता है। ज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि और अनुभव दोनों की ही आवश्यकता है। व्यावहारिक दृष्टि से बिना ज्ञान कोई सामग्री प्राप्त नहीं की जा सकती और बिना बुद्धि के उसे कोई निश्चित रूप नही दिया जा सकता। बुद्धि और अनुभव की संयुक्त उपज ज्ञान है। कोई बुद्धिवाद अथवा कोरे अनुभववाद से अलग-अलग सत्यज्ञान नहीं पाया जा सकता।[6]

---

1. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहाय पृ० 258
2. जो मैं ज्ञान-विचार न पाया।
   तो मैं यों ही जनम गंवाया ॥ —क० ग्र० पृ० 167
3. बिना वसीले चाकरी, बिना बुद्धि के देह।
   बिना ज्ञान का जोमना, फिरै लगाए खेह ॥ —क० ग्र० पृ० 147
4. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहायक पृ० 253
5. सतगुरु तत्त कह्यौ विचार।
   मूल गह्यौ अनमै विस्तार ॥ —क०ग्र०पृ० 216
6. कबीर दर्शन—डॉ० रामजीलाल सहायक—पृ० 254

अध्यात्मवादी कबीर ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। ब्रह्म स्वंय ज्ञानरूप हैं, जो सर्वत्र व्याप्त है, प्रकाशित है।[1]

ब्रह्म ही सत्यज्ञान है। कबीर का यह दृष्टिकोण ज्ञानियों के लिए है। सामान्यजन तथा लोक व्यवहार के लिए कबीर नामरूपात्मक जगत् की व्यवाहारिक सत्ता मानते हैं। सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए नामरूपात्मक जगत् के ज्ञान के सहारे प्रयास करना ही होता है।[2]

साधना : **दादू**—दादू की साधना उनकी प्रत्यक्षानुभूति और व्यवहार दर्शन पर अवलम्बित है। उन्होंने बताया है कि "साधना की प्रारम्भिक क्रिया में तन और मन का मान मर्दन करके उन्हें अपने वश में कर लेने से ही सहज दशा में प्रवेश प्राप्त होता है।[3] ऐसा कर लेने पर सत्व, रजतमात्मक प्रकृति के जितने भी विकार हैं, वे सब हमारे लिए अत्यन्त प्रभावहीन हो जाते हैं और हमारा आत्मा प्रेमरस-मग्न होकर उस दिव्य रस का पान करने लगता है।[4] इस प्रकार की साधना में सम्पूर्ण मार्ग शून्यमय रहता है। हमारी सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति चेतन्य के पद पर चलने लगती है और हमारी वृत्ति पूर्णतः इस उपास्य में लीन हो जाती है। यह मार्ग न तो योग समाधि का है, न भक्ति—योग का वरन् यह इन दोनों के बीच का सहज मार्ग है, जहां किसी साधना विशेष का प्रयोग न होने पर भी ऐसा पूर्ण समाधि का आनन्द मिला करता है, जिसमें साधक अपने काल के प्रभाव से भी दूर रहता है।[5]

अतः स्पष्ट है कि दादू की साधना का मार्ग अन्तरमुखी है।[6] उनके अनुसार जो साधक, साधनारत होते हुए अपनी वृत्तियों को अन्तरात्मा पर केन्द्रित कर लेते है, उनसे बड़ा सुखी इस संसार में दूसरा नहीं। इसी उलटी चाल से साधक उस जगतगुरु के दर्शन कर लेता है।[7] वास्तव में साधक वही है जो अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके परमात्मा में केन्द्रित करता है।[8]

---

1. कविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम ॥ —क० ग्र० पृ० 241
2. कबीर दर्शन—डॉ० रामजीलाल सहायक—पृ० 254
3. स्वामी दादूदयाल जी की वाणी—जीवन मृतक को अंग—39
4. —लै को अंग—10
5. —लै को अंग—4
6. दादू रमता राम सौ खेलै अन्तर माहि।
   उलटि समाना आप में सो सुख कहहु नाहि ॥ —दादूदयाल की बानी
7. जहां जगत गुरुरहत है तह जँ सुरति समाय।
   जो इनही तेनो उलटि के सामी देव आई ॥ —दादूबानी भाग-1 पृ०73
8. सुरति आपुणी फेरि आतमा माहे आन।
   लागि रहै गुरुदेव सो दादू साई सुजान —वही पृ० 89

साधना : रविदास—साधना या भक्ति के क्षेत्र में जहां भी रविदास के विचार अभिव्यक्त हुए हैं उन्होंने सदा ही आभ्यांतरिक भक्ति साधना के भाव को प्राप्त किये हैं······विभिन्न स्थलों पर तो रविदास अपनी आभ्यांतरिक भक्ति को वाणी पर लाने में भी संकोच करते हैं। उन्होंने आत्मनिवेदन, इच्छाओं और आशाओं के परित्याग के मार्ग से अपने को अपने में ही स्थिर करने को भक्ति उचित साधना स्वरूप माना है।[1]

संत रविदास कहीं पारिभाषिक रूप से ज्ञान-साधना जैसी बात करते हुए हमें जीव मुक्ति की चर्चा करते दिखाई देते तो कहीं कर्म की पवित्रता पर बल देते हुए कर्मवादी, किन्तु कर्मकाण्डवादी नहीं, दृष्टिगोचर होते है, अनेक शुभ गुणों को अपने में विकसित करने का उपदेश देते है, दूसरों के प्रति उपकारक होना भक्त होने की एक शर्त बना देते हैं, कभी रविदास योग की आभ्यान्तरिक साधय एवं अभ्यास से मुक्त प्राप्त करने की चेष्टा करते हुए दृष्टिगोचर होते है·········वस्तुतः रविदास की साधना में लगभग सभी साधना पद्धतियां समन्वित थीं·········रविदास की भावप्रवण साधना गंगा की यह पवित्र पंयस्विनी है जिसने मार्गवर्ती सम्पूर्ण जलों को अपने में ग्रहण करके उसे गंगाजल का ही स्वरूप प्रदान किया है और जिसकी मौलिक पवित्रता आद्याप इन्हें समाश्रित करने में ही अक्षुणा रही है।[2]

डॉ० योगेन्द्र सिंह के मतानुसार—संत रविदास की साधना में आभ्यांतरिक साधना, चिंतन, भक्ति की आंतरिक भावुकता पर अधिक बल दिया गया है। वे केवल बाह्य साधना जिसमें अन्तरमन की भक्ति सम्मिलित न हो उसकी एक दम भर्त्सना कर देते हैं। संत रविदास ने कर्मकाण्ड, बाहरी वेश भूषा, तीर्थ यात्रा आदि अर्चना की विभिन्न बाह्य विधियां, सभी को निम्न कोटि का साधन मानकर यह कहा है कि—यदि वे मानसिक भाव से संयुक्त नहीं हैं तो निश्चित ही व्यर्थ है।

रविदास के मतानुसार तितिक्षाप्रधान धर्म तथा शरीर को कष्ट देने वाली साधनाएं जिनसे केवल जनता पर प्रभाव उत्पन्न किया जाता है केवल दिखावा है।[3]

साधना : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने क्रियात्मक साधना के त्याग पर बल दिया है।[4] उनका विश्वास है कि भक्ति के बिना प्रत्येक साधना व्यर्थ है। ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास आवश्यक है, तभी व्याकुलता से छुटकारा मिलेगा।[5] डॉ० त्रिलोकी

---

1. संत रैदास—डॉ० योगेन्द्र सिंह पृ० 75
2. वही पृ० 78
3. वही—पृ० 71
4. तैसे हि सुन्दर और क्रिया सब राम बिना निहचै नर रोए।

   सुन्दर विलास—पृ० 69
5. सुन्दर क्यों विललात फिरै अब राख हृदय विश्वास प्रभु को।

   —वही० पृ० 46

नारायण दीक्षित का मत है कि सुन्दरदास ने साधना के क्षेत्र में श्रीमद्भागवत के अनुसार अहिंसा आदि यमों का उल्लेख किया है।[1] इनका उल्लेख महावीर ने भी किया है।

साधना : मलूकदास—मलूकदास ने भी महावीर वाणी में प्रयुक्त अर्जव आदि शब्दावली का प्रयोग करते हुए साधना में यमों का महत्व स्वीकार किया है।[2]

साधना : नानक—नानक के अनुसार साधना का रूप एवं प्रकार अनिश्चित हैं। अतः वे उदास हैं कि किस मार्ग का अनुसरण करूं।[3]

तप : महावीर

तीर्थंकर महावीर ने कहा है कि तप से आत्मा का शुद्धीकरण होता है।[4] उनके अनुसार यह देह का दमन है और महान फल[5] मोक्ष को देने वाला है।[6] तपरहित ज्ञान भी व्यर्थ है और ज्ञानरहित तप भी व्यर्थ है। अतः ज्ञान और तप से संयुक्त मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त होता है।[7] सब दुःखों का क्षय करने की कामना करने वाले पुरुष संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं।[8]

---

1. प्रथम अहिंसा सत्य हि जानि सोय सुन्या गैं।
   ब्रह्मचर्य दृढ गहैत्तमा घृति सौ अनुरागैं ॥
   दया बडौ गुन होई आर्ज्जव हृदय सुआ ने।
   मिताहार पुनि करै शौच नीकी विधि जानैं ॥
   सुन्दर दर्शन—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—पृ० 29
2. संत अहिंसा ब्रह्मचर्य परधन तजब विकार।
   दया अर्जव छमा सौच पुनि संग्रह नित्याहार ॥ —वही पृ० 30
3. असंख्यजप असंख्य भाव पूजा असंख्य तप ताड़।
   असंख्य ग्रन्थ मुखि वेद पाठ असंख्य जोग मन रहहि उदास ॥
   —संत सुधासार पृ० 218
4. तवेण परिसुज्झई। —उत्तरा० 28/35
5. देहदुक्खं महाफलं। —उत्तरा० 4/8
6. छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्ख—उत्तरा० 12/37
7. तवरहियं ज णाणं णाणविजुत्तो तवो दि अकयत्यो।
   तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहद णिव्वाणं ॥ —मो०पा० 59
8. खवेत्ता पुव्वकम्भाइं सजमेण तवेण य।
   सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥ —उ० 28 : 36

महावीर वाणी में मुख्य रूप में दो प्रकार के तपों का उल्लेख हुआ है—अवमौदर्य तप और अनशन तप। अवमौदर्य तप के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस कवल-ग्रास प्रमाण होता है। उनमें से एक कवल का कम करना अवमौदर्य तप है।[1] तथा मन और इन्द्रियों को जीत कर, इहलोक और परलोकके सुखों की उपेक्षा कर, आत्म स्वरूप में वास करना एवं स्वाध्याय में तत्पर होना अनशन तप है।[2]

महावीर ने तप रूपी लोहबाण से कर्म रूपी कवच को भेदने की प्रेरणा दी है।[3] उन्होंने कहा है कि आत्मा को शरीर से विलग जानकर भोग-लिप्त शरीर को तप द्वारा धुन डालना चाहिये।[4] तप के द्वारा अपने आपको कृश अर्थात् जीर्ण कर भोग वृत्ति को जर्जर कर देना चाहिये।[5]

विभिन्न उदाहरण द्वारा महावीर ने देह दमन को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को अपना शरीर कंपाकर झाड़ देती है, उसी प्रकार तपस्वी अनशन तप आदि से अपनी आत्मा से कर्म रज कणों को झाड़ देता है।[6] जिस प्रकार जल आने के रास्तों को रोककर, तालाब का पानी उलीचने तथा सूर्य के ताप से बड़े से बड़ा सरोवर भी सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रव पाप कर्म की जलधारा के आने के मार्ग को रोक देने तथा संयम द्वारा करोड़ों भवों के संचित कर्म तप की अग्नि में सूख जाते हैं अर्थात् जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।[7] जिस प्रकार स्वर्ण धमाने और अग्नि द्वारा तपाने से मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी तपरूपी अग्नि में तप कर कर्मरहित होकर शुद्ध

---

1. बत्तीसा किर कवलापुरिसस्सदु होदि पयदि आहारो।
   एगकवलदिहि ततो ऊणियगहणं उमोदरियं॥ —मू० 350
2. जो मण-इंदिय-विजई इह-भव-परलोय-सोक्ख-णिखेक्लो।
   अप्पाणे विय णिवसइ सज्झाय-परायणो होदि॥ —द्वा०अ० 440
3. तवनारायजुत्तेण, मित्तूणं कम्मकंचुयं। —उत्तरा० 9/22
4. एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरंग। —आचा० 1/4/2
5. कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पपणं। —आचा० 1/4/3/5
6. सउणी जह पंसु गुडिया विहुणिया धंसयई सियं रंयं।
   एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे॥—सू० 1, 2 (1) : 15
7. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
   उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥
   एवं तु संजयस्सादि यावकम्म निरासवे।
   भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिजजइ॥ —उ० 30 : 5, 6

हो जाता है।[1] जिस प्रकार अग्नि पुरानी सूखी लकड़ी को जला डालती है, उसी प्रकार जीव तप द्वारा कर्मों को भस्म कर डालता है।[2]

तप के अवयवों में शील, समाधि और संयम हैं। इनके सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि ज्ञानरूपी प्रचंड पवन से युक्त, शील, उत्तम समाधि और संयम से प्रज्वलित तप संसार के कारणभूत कर्मों को वैसे ही भस्म कर देता है, जैसे अग्नि तृण, काष्ठ आदि का।[3] संयमी पुरुष को तप के प्रति विनय भाव कभी नहीं छोड़ना चाहिये। थोड़ा श्रुत का ज्ञाता तप विनय से कर्मों का नाश कर देता है।[4]

इनके अतिरिक्त महावीर ने कहा है कि विषय और कषाय का निग्रह कर, जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना भरता है उसे तप धर्म प्राप्त होता है।[5]

तप : कबीर—मन इन्द्रिय, शरीर आदि में संयम के हेतु व्रत-उपवास विविध प्रकार से शरीर को कष्ट कारक साधनों को तप कहा जाता है। जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण को अग्नि में तपा कर शुद्ध कर लेता है, उसी प्रकार कबीर तप के प्रभाव से मन, इन्द्रियादि का संयमन करते है। कबीर ने व्यक्तिगत जीवन में विनयशील, सहनशील, धैर्यवान तथा शान्तिप्रिय बनने को कहा है।[6] ये गुण कठिन साधना और तपस्या के बाद ही उपलब्ध होते हैं। कबीर को अपनी व्यक्तिगत जीवन के लिए धारणा है कि मनुष्य को इतना सहनशील होना चाहिए कि उसकी सहनशीलता के सामने चन्द्रमा की शीतलता एवं हिम का शीलत्व भी

---

1. जहधाऊ धम्मतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं वा॥ —मूल० 5 : 56
2. जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्वावाहो पमत्थति।
एवं अत्त-समाहिए अणिहे॥
—आ० 1, 4 (3) : 33 वही० पृ० 36
3. णाणवरमारुदजुदो सीलवर समाधि संज मुज्जलिदो।
तहद तवो भववीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी॥ —मू० 747
4. तह् वा सव्वपयत्ते विणयंत्त मा कदाइ छंडिज्जो।
आप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण॥ —मू० 589
5. विसय-कसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणंतस्स तवं होदि णियमेण॥ —कुन्द० आ० 77
6. खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़, सहै वनराय।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह् या न जाइ॥
—कबीर ग्रंथावली, अंग 39, साखी-2

फीका हो जाय। सहनशीलता की चरमसीमा को ही कबीर ने तपस्या की कसौटी माना है।[1] कबीर का तप बाहरी न होकर आन्तरिक है। इसीके द्वारा जीवन का अन्तिम मोक्ष लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

तप : रविदास—रविदास के अनुसार परमतत्व की पहचान ही उद्देश्य है। इसके लिये बाह्य आडम्बर व्यर्थ हैं। यदि परम तत्व को नहीं जाना तो तप, आदि अथवा चरण प्रक्षालन किस काम के।[2] तप परमतत्व तक पहुंचने का मार्ग है, रविदास जी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं किन्तु इसके लिये सत्य व निष्ठा का होना भी आवश्यक मानते हैं। सत्य व निष्ठा युक्त तप मनुष्य को परमतत्व की पहचान करा सकता है।

तप : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी कहते हैं कि यदि हृदय में गहरा अज्ञान व्याप्त हो तो कठिन तपस्या शरीर पर वर्षा, शीत सहने और अन्य उपाय करने से भी क्या लाभ। आरसी हाथ में होते हुए भी यदि उसमें न देखा जाये तो मुख किस प्रकार दीख सकता है।[3] मनुष्य जोग तप और नियम के चक्कर में अपना जीवन नष्ट कर देता है किन्तु ज्ञान बिना सब व्यर्थ है।[4] जैसे-जैसे मनुष्य संसार जाल से छूटने का प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे ही बन्धन दृढ़ होते जाते हैं।[5] वस्त्र त्याग कर

---

1. नहिं सीतल है चन्द्रमा, हिम नहिं सीतल होइ।
कबिरा सीतल संत जन, नाम सनेही होई॥
—कबीर वचनावली पृ० 122

2. कहा भयौ नाचें अरु गायें, कहा भयौ तप कीन्हें।
कहा भयें जैं चरन पषालें, जौ लौं परम तत्त नहीं चीन्हें (1)
—संतगुरु रविदास वाणी-पृ० 76

3. कठिन तपस्या धरि, मेघ सीतधाम सहै।
कंद मूल कोऊ, कामना के डर तैं॥
अति ही अज्ञान उर, बिबिधि उपाय करै।
सुन्दर कहत ओर, कैसे दीखै मुख।
हाथ माँहि आरसी, न फेरै मूड़ करे तें॥ 4 ॥ —सुन्दरविलास-पृ० 58

4. जोग करै जइ करै बिबि त्याग करै।
जप करै तप करै, यूं ही आयू खति है॥
यम करै नेम करै तीरथहुं व्रत करै।
सुन्दर कहत बिन ज्ञान नहीं छूटि है॥ —वही पृ० 58

5. जोई-जोई छूटिबे को, करत उपाय अइ।
सोई-सोई दृढ़ करि बंधन परतु है॥
जोग जइ जप तप, तीरथ व्रटादि और।
झंपापात लेत जाइ, हिमाले गरतु है॥ —वही पृ० 57

शरीर पर कष्ट सहने, विविध आसन ग्रहण करने, मौन व्रत लेने पर भी मन विषय वासनाओं में रमा रहे तो ऐसा जीव भवसागर में बहता रहता है।[1]

तप : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार परमतत्व को प्राप्त करने के लिये जप-तप अथवा धोती-नेती आदि ही प्रर्याप्त नहीं हैं। आत्मा को तप की अग्नि में जलाने मात्र से भी वह रीझने वाला नहीं है।[2]

तप : नानक— (नाम)—गुरु नानक ने "नाम" को जप, तप और संयम का सार कहा है।[3] नाम का वर्णन अवर्णीय है।[4] नाम-रहित यज्ञ, होम, पुण्य, तप, पूजा आदि सब व्यर्थ हैं। इनसे शरीर दुःखी ही रहता है और नित्य दुःख ही सहना पड़ता है। नाम के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5] और न ही शान्ति[6] व तृप्ति[7] मिल सकती है। सारांश यह है कि सारी शक्तियां और प्रभुता नाम की चेरी है।[8]

शान्ति : महावीर

प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय यथार्थ-मूल्यों के द्वारा ही शान्ति का अर्जन और

---

1. अंबर छाड़ि बंधबर ले करि कै तप के तन कष्ट सह्यो है।
आसन भरि सुआसन कै मुख, मौन गही मन तौ न गह्यो है॥
सुंदर कोवि कुबुद्धि लगी कहि था भवसागर मर्राहि बह्यो है॥
—सुन्दर विलास-पृ॰ 62
2. ना वह रीझे जप तप कीन्हे, ना आतम को जारे।
ना वह रीझे धोती नेती, ना काया के पखारे॥
—मलूकदास की बानी-पृ॰ 12
3. अहिनिसि राम रमहुं रगि राते एहु जपु तपु संजमु साराहे॥
—श्री गु॰ग्र॰सा॰-पृ॰ 1030
4. साचै नाम की तिलु वडिआई। आखिथके कीमत नहीं पाई॥
—वही पृ॰ 389
5. जगन होम पुंन तप पूजा देह दुखी नित दूख सहै।
राम नाम बिनु मुकति न पावसि मुकति नामि गुरमति लहै॥
—वही पृ॰ 1127
नानक बिनु नावै जोगु कदे न हावै देखहु हिदैबीचारे। —वही पृ॰ 946
राम नाम बिनु मुकति न होई है, तुटै नाहि अभिमाने। —वही पृ॰ 1205
6. राम नाम बिनु सांति न आवै।—वही पृ॰ 1127
7. राम नामु बिनु तृपति न अवै। —वही पृ॰ 1128
8. सख जोति नामै की चेरी। —वही पृ॰ 1187

उपभोग कर सकता है। इसलिए दृष्टिकोण को वस्तुस्पर्शी बनाना उनके लिए वरदान जैसा होता है। यह असंदिग्ध सत्य है कि शक्ति प्रयोग निरपेक्षता की मनोवृत्ति का परिणाम है। निरपेक्षता से सद्भावना का अन्त और कटुता का विकास होता है। कटुता की परिसमाप्ति अहिंसा में निहित है। क्रूरता का भाव तीव्र होता है, समन्वय की बात नहीं सूझती। समन्वय[1] और अहिंसा अन्योन्याश्रित हैं। शान्ति से समन्वय और समन्वय से शान्ति होती है।[2]

शान्ति : नामदेव—नामदेव का कथन है कि परमेश्वर के ध्यान में सदा मग्न रहने वाला सदा संतोषी है। इसी को शान्ति एवं स्थिरता निःशब्द कहते है।[3] जब तक देह की ममता नहीं टूटती, जब तक मन विषय वासना के भोगों को नहीं छोड़ता, तक जब अहं भाव नष्ट नहीं होता, तब तक आत्मिक सुख-शान्ति कैसे मिल सकती है? नामदेव कहते हैं कि हे देव, तुम्हारी कृपा बिना किस प्रकार शांति मिल सकती है।[4]

शान्ति : नानक—गुरु नानक के मतानुसार जिस प्रकार जल डालने से अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार दासानुदास बनने की भावना से तृष्णा शान्त हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को जम के दूत नहीं सताते। वह स्वयं तो भव सागर से तरता ही है दूसरों को भी तार देते हैं।[5]

योग : महावीर

महावीर ने कहा है कि संयम और योग से युक्त पुरुष अनेक भेदरूप तप में प्रवृत्ति करता है, वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है।[6] कर्मों के झड़ने का नाम

---

1. नियमित परम्परा या पारस्परिक सम्बन्ध
2. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 473
3. समाधिस्त सदा राहे समाधान। निःशब्द म्हणणें याचिलागी।
—श्री नामदेव गाथा—2030
4. देहाचें ममत्व जंव नाहीं तुल्ले। जंव नाहीं विटलें विषयीं मन।
तंववरी निजसुख कैसेनि आतुड़ें। जंबवरी न झड़ें मीतूंपण॥
मीचि एक भक्त मीचि एक मुक्त। म्हणविती पतित दुराचारी।
नामा म्हणेतुझे कृपेविण देना। केवि जोई ठेवा विश्रांतीचा॥
वही—पृ० 1921
5. सचु वखरू धनु रासि लै पाईये गुर परणासी।
जिउ अगनि मरै जलि पाईऐ तिउ तृसना दासनिवास॥
जम जंदारू न लगई, इउ भउजलु तरै तरासि (2) नानक वाणी पृ० 121
6. संजम जोगे जुत्तों जो तवसा चेट्ठदे अणेगविध।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो॥ मूल 5 : 55

निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—सविपाक व अविपाक। अपने स्वयं कर्मों का उदय में आ आकर झड़ते रहना सविपाक तथा तप द्वारा समय से पहले ही उनका झड़ना अविपाक निर्जरा है। महावीर वाणी में भावना योग*, संयम योग**, और स्वाध्याय-योग*** का उल्लेख हुआ है।

महावीर ने भावना योग से शुद्ध आत्मा को जल में नौका के समान कहा है। किनारे पर पहुंची उक्त आत्मा सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाती है।[1] संयम योग और स्वाध्याय-योग में प्रवृत्त पुरुष अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर।[2]

महावीर ने बाह्य योग को व्यर्थ बताते हुए कहा है कि बाह्य योग बंगुले और घोड़े की लीद के समान है। इससे साधक को कोई लाभ नहीं।[3] मूलगुणरहित साधक के सब बाह्य योग कर ही क्या सकते हैं।[4]

जो योगी शरीर के विषय में निरपेक्ष है एवं निर्द्वन्द है, ममत्व-रहित है, आरम्भ रहित है तथा आत्म-स्वभाव में लीन है। वही वास्तव में योगी है और

---

* जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है। उस चिंतन या अभ्यास को भावना कहा जाता है। महावीर के अनुसार भावना बारह हैं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लौक, दुर्लभबोधि और धर्म।

** सम्यक् प्रकार यमन (नियन्त्रण) करना अर्थात, व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप से प्रवंतना अथवा विशुद्धात्मध्यान में प्रवर्तना संभग है व्यवहार संयम, निश्चल संयम, प्राणि संयम, इन्द्रिय संयम। सामायिक छेदी पस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्यपराय और यथाख्यात संयम के पांच भेद हैं।

*** आत्मा का विचार उत्पन्न कराने का साधन। आत्म चिन्तन या शास्त्र चिन्तन।

1. भावना जोग सुद्धप्पाजले णाव व आहिया।
णावा व तीरसंपण्णा सव्वदुक्खा तिउट्ठति ।। सू० 1, 15, 5
2. तवं पिमं सांजमाजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे अलमप्पणो होय अंत परेसिं ।।
—द० 8 : 61.
3. घोडयलहिसमाणस्य बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भंतरह्मि कुहिदस्स तस्स दुकि बज्झजोगेहिं ।। मू० 964
4. बहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स कि करिस्संति। मू० 10 : 29 ग्र, घ,

निर्वाण को प्राप्त करता है ।[1] वही योगी आत्मा का ध्यान कर सकता है जो मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप-पुण्य को मन, वचन से त्याग देता है और मौनव्रत धारण करता है ।[2]

इस प्रकार चरित्र में दृढ़ हो कर और मन में दृढ़ सम्यग्दर्शन की भावना लेकर आत्मा का ध्यान करने वाला योगी परमपद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।[3]

मोहात्मक बन्धन की तन्मयता के आधार पर मुनि नथमल ने साधना के अनेक स्तर निश्चित किये हैं । जैसे—(1) सुलभ-बोधि (इसमें व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है ।) (2) सम्यक् दृष्टि (इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान सम्यक् होता है ।) (3) अणुव्रती (इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनों होते हैं ।) (4) प्रतिमाधर (इसमें दर्शन और चरित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है ।) (5) प्रमत्त मुनि (यह सामाजिक जीवन से पृथक् साधना का जीवन है ।) (6) अप्रमत्तमुनि (इसमें वीतांराग भाव आता है ।) (7) अयोगी (इसमें आत्मा मुक्त हो जाती है ।[4])

महावीर वाणी में साधना के सात सूत्रों का उल्लेख हुआ है— 1. अप्रमाद (*दुःख का अन्त कर्ता जीव है और उसका कारण अप्रमाद है*)[5] 2. उपशम (यह विजय का मार्ग है । जो उपशम प्रदान है, वही मध्यस्थ भाव और तटस्थ नीति को अपना सकता है ।)[6] 3. साम्ययोग (जाति और रंग में बाहरी आवरण हैं जो जीव को उच्च या हीन नहीं बनाते । 4. तितिक्षा (अहिंसक का आधार तितिक्षा है । 5. अभय (लोक विजय का मार्ग अभय है । कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र प्रयोग नहीं करता, किन्तु शस्त्रीकरण से दूर नहीं होता, उससे सब डरते है ।[7] 6. आत्मानुशासन (आत्मानुशासन में आना और अपने आप को जीतना ही दुःख से मुक्ति का मार्ग है ।[8] 7. संवर और विजींरा (जब तक मिथ्यात्व आदि पांच आस्तव का संवरण नहीं होता

---

1. जोहेह णिखेक्खो णिद्दंदो णिम्ममों णिरांरंभो ।।
   आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।—मो०पा०12
2. मिच्छत्तं आण्णाणं पावं पुण्णं पएवि विथिहेण ।
   मोणच्चएण जोइ जोपत्थो जोयए आपा ।। मो०पा० 28
3. होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मेत्तेण भावियमईयो ।
   झांयतो अप्पाणं परमपयं पावए जाई ।। —मो०पा० 049
4. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा —पृ० 433-434
5. ठाणं, 3/336
6. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 436
7. आयारो, 1/135,136
7. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एंव दुक्खा पमोक्खसि । आयारो० 3117

तब तक विजातीय तथ्य का प्रवेश नहीं होता ।[1]

महावीर के कथानुसार साधना के क्षेत्र में व्यक्ति के अपकर्ष उत्कर्ष या अवरोह-आरोह का मानदण्ड संवर है ।[2]

योग : नामदेव—योग में साधना मूलाधार चक्र से शुरू होती है और भूमध्य आज्ञा चक्र तक जाती है । संत मत के अनुसार यह आवश्यक नहीं । नामदेव के अनुसार नीचे के छहों चक्रों में मन है, वहां आत्मज्ञान नहीं है ।[3] साधना नेत्रों के पीछे के बिन्दु अथवा आला चक्र से शुरु होती है, जिसे तीसरा नेत्र भी कहते हैं । यहीं से सच्चा अनुभव शुरू होता है ।[4] जब आत्मा शरीर को खाली करके आँखों के बीच में आ जाती है तो उसका सम्बन्ध शब्द या अनहद नाद से जुड़ जाता है ।[5]

अनहदनाद* शब्द किसी भाषा का अंग नहीं है । न यह बोला जा सकता है, न पढ़ा जा सकता है और न लिखा जा सकता है । यह वह शक्ति है जो कि विश्व का आधार है, बल्कि यह कहना भी सच होगा कि यह परमात्मा ही है । यह "शब्द" एक अत्यन्त मधुर नाद अथवा धुन के रूप में प्रकट होता है ।[6]

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 437
2. वही पृ० 437-438
3. साही चक्री मन पवन । तये नव्हे आत्मनिधान ।। —श्री नामदेवगाथा 1880
4. उन्मती उपासना प्रेमाची दाटणी । आत्मरूप जनी दिसत से ।।
   नाम म्हणे रूप डोल्यातील, बाहुली । तिचिजगी राहिली जगदाकार ।।
   —वही 2030
5. षडचक्र भेदोनी जातां ऊर्ध्वपंथे । ध्वनी अनुहात उमटे तेथें ।।
   —श्री नामदेव गाथा -2037

* वह अन्तर ध्वनी जो ध्यान अथवा स्वाध्याय में बिना किसी शब्द के सुनी जाती है अथवा जैन मंत्र शास्त्र के अनुसार ऊं० अथवा ऊं हृरिम का ध्यान ।

6. देवा बेजु बाजै गगन गाजै । सबद अनाहद बोलै —हिन्दी पदावली 65

तथा

जाणों नै जणौं वेद पुरानां । छोड़ौं पाना पोथी ।।
बिन मेघा मुकताहल बरखे । स्रवै निरंतर मोती ।।
बिनै बजाया बाजा बाजै । नादै अम्बर गाजै ।।
बिन भेरै होत झनकार । न दीसै बातावणहारा ।।
बिन पावक जोति ही दीसे । सुनि मैं सूता जागे ।।
अंधियारानौ भौ भागे माई । जे जोइये ते आगे ।।—वही 112

तथा

योग आदि के स्थान पर भक्ति मार्ग का महत्व प्रतिपादित करते हुए नामदेव कहते है कि षडचक्रों को भेदकर ऊपर जाने से अनहद ध्वनि प्रकट होती है। उस ध्वनि को सुनने से मन नष्ट (भग्न) हो जाता हैं और इस योग से इष्ट मिल जाता है। इसको पाकर कई सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, जो कि पथ से विचलित करने की कोशिश करती हैं अर्थात इन सिद्धियों के उपयोग से आत्मिक मार्ग में बाधा होती है। इनमें योगीजन फंस जाते हैं। ऐसी योग साधना का क्या फल है ? योगी ऐसे कष्टों से इसका साधन करते है कि शरीर भी जर्जर हो जाता है। ये सिद्धियां उन्हें कष्ट से प्राप्त तो हो जाती हैं, पर उनकी आत्मिक पूंजी चुराकर उन्हें छोड़कर चली जाती हैं। वायु की गठड़ी कैसे बांधी जा सकती है ? पर नासमझ इसे नहीं समझते। नामदेव कहते हैं कि भक्ति को छोड़कर मूर्ख लोग दूसरी युक्ति करते हैं।[1]

कबीर के योग सम्बन्धी विचार—

योग के सम्बन्ध में कबीर ने कहा है—

ना मैं जोग ध्यानं चित्त लाया।
बिन बैराग न छूटसि माया।। (क० ग्र० पृ० 301)

माया से छूटकारा पाने के लिए वैराग्य की सिद्धि आवश्यक है और बिना योग सिद्धि के एंव ध्यान के वैराग्य भाव का उत्पन्न होना कठिन है। अतएव योग साधना एक आवश्यकीय कर्तव्य है।

कबीर की योग साधना की कई अवस्थाएं है, उन सब ही की जानकारी से उनके विचारों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। प्रारम्भ की अवस्था तथा अन्तिम

(पृ० 216 का शेष)

त्रिकुट शिखरावरि चाहे पानवला परि अखंडित धार वर्षे अमृताचि।
गुरुमुखें स्नानकरीं पर ब्रम्हींलक्षधरीं। अनुहात ध्वनि पोरी नाव गर्जे।।
—श्री नामदेव गाथा 2039

1. षडचक्र भेदोनी जातांऊर्ध्वपंथें। ध्वनि अनुहात उमटे तेथें।।
तयें ध्वनी माजी मग्न होयमन। योगसिद्धि जाण कैसी घडे।।
तोहिबीलांडितां सिद्धि आडव्या येती। घेऊनिता जाती आपुल्या पंथें।।
तेथें गुंतोनियां विचरती योगीजन। योगासी साधून काय होते।।
आधि तो साधितां कष्टाचे संभार। होय चकनाचूर शरीराचा।।
साधितिया चढ़ें ऐसीं विघ्नें येतीं। ठेवानि मागुती फिरती मागे।।
वारियाची मोट कैसी बांधवेल। भलीत्यासी सांगत वाटेल हें लटिकें।
नामम्हणे तुम्ही सोडोनिया भक्ति। करीतां नामा युक्ति मूर्खजन।।
—श्री नामदेव गाथा 2037

अवस्था में एक भारी अन्तर है। आरम्भ की अवस्था में योग विषयक जानकारी अभ्यास है तथा अनुभवों की अपरिपक्व विवेचना, दूसरी अवस्था में विलष्ट साधना का वर्णन और अनुभूति तथा तीसरी अवस्था में विलष्ट योग साधना का खण्डन एवं सहज और योग-मुक्ति का मण्डन है।

इस बात को कदापि नहीं भूलना चाहिए कि कबीर की सम्पूर्ण धर्म साधना धर्म के विकृत एवं विलष्ट स्वरूप की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुई थी। कबीर का लक्ष्य सदैव ही अनेकता में एकता तथा जटिलता में सरलता स्थापित करना था। योग के क्षेत्र में भी कबीर जटिल यौगिक साधना से सरल भौतिक क्रियाओं की ओर उन्मुख होते गए।

योग के अनुभवों के लिए कबीर रामानन्दी योगियों एवं नाथ-पन्थी योगियों के सम्पर्क में गए। दोनों प्रकार के साधकों को अवधूत कहा जाता था।

आरम्भ की अवस्था में कबीर हटयोग की ओर उन्मुख हुए। इस अवस्था में काया साधन तथा प्राणायाम आदि का विवेचन पाया जाता है।

संत कबीर ने शरीर के दस द्वार[1], 14 चन्दा, 64 दीवा[2] 12 कोष[3] 7 सुरति, 16 संख[4] तथा अनेक नाडियों की चर्चा की है।

इस अवस्था में काया शोधन पर कबीर ने विशेष बल दिया है। एक स्थल पर कहा है—"मन भाई तू जागता रह नहीं तो चोर अमूल्य भावरूपी वस्तु को चुरा कर ले जाएंगे। छः चक्रों की यह स्वर्ण काया है जिसमें भाव बसते है।[5] यहां साधक को जागरूक रहने का उपदेश है।

एक स्थान पर कहा है—"पहले अपने स्वरूप को पहचानो तब ही ब्रह्म की ओर ध्यान दे सकोगे। मन को मोहरे से बांधकर लगाओ जीन कसकर इसे ब्रह्म रंध्र की ओर दौड़ाओ।[6] यहां मन साधने की बात की गई है।

---

1. नव दरवाजे दसू दुवार, बूझि रे ग्यानी ग्यांन विचार। —क०ग्र०पृ० 102
2. चौंसहि दीवा जोइ करि, चौदह दीवा मांहि।
   तिहि घर किस कौ चानिणौ, जिहि घर गोविंद नहिं। —वही पृ० 2
3. द्वादस गम के अन्तरा, तहां अयत कौं ग्रास। क०ग्र०पृ० 94
4. सात सुरति के बाहिए। सोलह संख के पार।
   तहं समरथ सौ बैठका। मुनि जन करैं विचार। कबीर मंसूर पृ० 980
5. मन रे जागत रहिए भाई।
   गाफिल होइ बसत मति खोवैं। चोर मुसै घरि जाई।
   षट् चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव ही सोई॥ —क०ग्र० पृ० 96
6. अपनै विचारि असवारी कीजै, सहज के पाइडै पांव जनि दीजै।
   दे मुहरा लगांम पहिराऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं॥
   —वही पृ० 96

कहीं पर इन्द्रिय निग्रह की बात कही है "बिना इन्द्रिय निग्रह के माया डायन से छुटकारा कठिन है। यह भक्ति, भक्ति से अपने पास में फंसाती है। इस पर विजय पाने के लिए 5 इन्द्रियों के समूह अर्थात् 10 इन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है।[1]

कबीर ने एक स्थान पर लिखा है जो हमारे शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में भी है इसीसे हमें अपने मन में ही परिव्याप्त चरम तत्व को खोजना चाहिये।

कबीर में षट्कर्म का ठाट नहीं पाया जाता। कबीर के निकट में बाह्योपकार मात्र हैं। ऐसे कर्म को उन्होंने भ्रम-मात्र कहा है। इन भ्रम और कर्म दोनों ने बुद्धि भ्रष्ट कर दी और इसी से असत्य कर्म को सत्य समझकर उसका व्यवहार करते हैं।[2]

कबीर को सिहांसन के प्रति आस्था है। यह आसन ध्यान के लिए, चिन्तन मनन के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इस आसन के लिए अधिक श्रम भी नहीं करना पड़ता। योगदर्शन के अनुसार यह सुख पूर्वक बैठने की स्थिति है।[3]

मन को विकार रहित करने के लिए भी ध्यान लगाना आवश्यक है। ध्यान के लिए सिद्धासन का प्रयोग किया जाता है। सिद्धासन में नाभि के नीचे भद्रासन पर बाई एड़ी और लिंगमूल के ऊपर दाई एड़ी रखनी पडती है। साधक की टुड्डी स्थिर होती है तथा उसे अपना ध्यान भूभाग के मध्य में लगाना होता है।

कबीर भी विभिन्न प्रकार के आसनों की ओर आकर्षित न हुए, वरन उन्होंने सिद्धासन को ही अपनाया। वे आसन आदि की साधना से अधिक बल मन साधना पर देते थे। उन्होंने मन साधना को आसनों की साधना से उत्कृष्ट बताया है।[4]

कबीर में बन्ध और मुद्राओं के विषय में व्यवस्थित रूप में वर्णन नहीं पाया जाता। कबीर ने सूत्रवत मूलबन्ध तथा उन्मनि अवस्था या खेचरी मुद्रा की ओर संकेत किया है। कबीर ने सर्वोत्कृष्ट मुद्रा को ही अपनाया था। एक स्थान पर कबीर ने कहा है—हे अबधू, ब्रह्मरन्ध्र में अपने मन-प्राण को स्थित करो और वहां सदा सुखकारी अमृतरस झरता है उस रस का पान करो। वायु साधन करते हुए मूल बन्ध लगाकर वायु से सुषुम्णा को भरपूर करो।[5]

---

1. डाइन डारै सुनहां डारै, स्यंज रहै बन घेरे।
   पंच कुटंब मिलि झूझन लागै,बाजत सबद संघेरै ॥ —वही पृ० 91
2. भरम करम दोऊ मति परहरिया। झूठें नाऊं सांच लै धरिया ॥
   —क० ग्र० पृ० 237
3. आसण पवण किये दिढ रहहुरे, मन का मैल छांडि दै बौरे। वही पृ० 207
4. मन में आसण मन में रहणां, मन का जप तप मन सूं कहणां।
   मन में खपरा मन में सींगी, अनहद बेन बजावै रींगी ॥
   —वही पृ० 158
5. अवधू गगन मंडल घर कीजै। अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै।
   —क० ग्र० पृ० 110

उन्होंने अपना अनुभव भी बताया कि उन्मनि अवस्था की साधना के फलस्वरूप उन्हें अमृत रस की प्राप्ति हुई। भाव की भट्टी में ज्ञान के गुड़ और ध्यान के मुछुए द्वारा रस चुआया और गुरु की कृपा से उन्हें यह रस मिला जिसका उन्हों पान किया।[1]

कबीर में वायु संचालन पाया जाता है। प्राणायाम अथवा रेचक पूरक आदि नामों का उल्लेख स्पष्टतः उनकी दृष्टि में नहीं है परन्तु ऐसे प्रमाण अवश्य हैं जिनसे वायु साधन का पता लग जाता है।

कबीर ने एक स्थल पर कहा है—मैंने पवन का साधन किया और उसकी सहायता से षट्चक्रों को बेधं लिया और मेरुदण्ड को वायु से भरपूर करके ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचा दिया जिससे अनहदनाद सुनाई पड़ा मन, एकाग्र होकर शून्य में लिप्त हो गया और आनन्द की प्राप्ति हो गई।[2]

प्राणायाम द्वारा मनोयोग करने का कबीर का विचार हठयोग प्रदीपिका के साम्य में है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन को वश में करने वाली वायु ही और वायु का लय नाद में होता है जो नाद के आश्रित है।[3] कबीर में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना आदि नाड़ियों की खूब चर्चा है। संक्षेप में इनकी स्थिति बताई है—

अरध उरध की गंगा जुमुनां, मूल कमल को घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेंणी संगम बांट॥[4]

एक अन्य स्थल में कहा है—चन्द्र सूर्य अर्थात इड़ा पिंगला नाड़ियों के सहारे नाड़ी की डोरी में होकर पंच वायु (प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान) संचारित होता है तथा उसी सुषुम्ना के निचले छोर में वण शक्ति अर्थात् कुण्डलिनि शक्ति स्थित है।[5]

वे हठयोगी साधुओं के वेशभूषा को भ्रम एवं बाह्योपचार समझने लगते हैं। हठयोग के षटकर्म—आसन, मुद्रा, पवन साधन को वे आवश्यक नहीं समझते। इस

---

1. अवधू मेरा मन मतवारा। उन्मनि चढ्या गगन रत पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा। —वही पृ० 110
2. उलटे पवन चक्र षट् भेदा, मेर डंड सरपूरा।
   मगन गरणि मन सूंनि समांना, बाजे अनहद तूरा॥ —वही पृ० 90
3. इन्द्रियाणां मनो नायो मनो नाथस्तु मारुतः।
   मारुतस्य लयो नाद्यः स लयो नादमाश्रितः। हठयोग —प्र० 4/29
4. क० ग्र० पृ० 94
5. चंद सूर दोइ खंभषा बंकनालि की डोरि, झूलैं पंच पियारिग, तहं झूलै जीप मोर। —क० ग्र० पृ० 94

अवस्था में कबीर का प्राणायाम द्वारा मन-साधना की ओर ध्यान है। हठयोग के जटिल स्वरूप का पूर्ण बहिष्कार करके कबीर ने सरल योग की ओर ध्यान दिया है।[1]

कबीर का लय योग कबीर पन्थ में "शब्द सुरति योग" के नाम से प्रख्यात है।

शब्द सुरति योग की सिद्धि के लिए कबीर में प्राणायाम आदि के साथ-साथ ज्ञान के महत्व पर भी बल दिया है।[2]

ज्ञान से कबीर का तात्पर्य चरम सत्य से है। ब्रह्म ही सत्य ज्ञान है, चरम सत्य है। चरम सत्य में ध्यान को लगाने से योगसिद्धि प्राप्त हो जाएगी, ऐसा कबीर का विचार है।

कबीर की योग युक्ति—योग युक्ति के साधक के लिए कबीर ने एक रूप-रेखा प्रस्तुत की है। प्रथम कर्तव्य से मन का निश्चल करना। सहज आसन की सिद्धि, मधुर वचन बोलना, चित्त को केन्द्रित करना, त्वचा को भस्म अर्थात् तप द्वारा स्वच्छ करना, सभी बाह्योपकार और आडम्बर का परित्याग, इन्द्रिय निग्रह, चरम सत्य में ध्यानावस्थित होना, हृदय को निर्मल करना तथा ब्रह्म में तल्लीन होना। परमगति पाने के लिए इस युक्ति का पालन करना आवश्यक है।[3]

कबीर ने जीव हिंसा तथा उन्हें कष्ट देने वालों की घोर भर्त्सना की है।[4] तामसिक साधकों के प्रति व्यंग्य से उन्होंने कहा है कि जब जीव-हिसा धर्म है और जीवहिंसा करने वाले धार्मिक हैं, मुनि है तो फिर अधर्मी और कसाई कौन है? अर्थात् जीवहिंसा सबसे बड़ा अधर्म है।[5]

कबीर की अहिंसा सचेतन प्राणी के ही प्रति पालन कराने की वस्तु नहीं है, वरन वे उसका पालन अचल एवं निर्जीव कहे जाने वाले पेड़ पौधों, उनकी पत्तियों के प्रति भी उपयुक्त बताते हैं।[6] चरम सत्य सभी पदार्थों में व्याप्त है। वह पेड़ पौधों

---

1. आसन पवन किए दृढ़ रहु रे। मन को मैल झांड़ि कै बौरे। —वही पृ० 207
2. मन करि बैल सुरति करि पैंडा ज्ञान गौन भरि डारि।
   कहत कबीर सुनहु रे संतहुं, निबही खेप हमारी॥ —वही पृ० 277
3. कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिना व्यंउकाचा॥
   —क० ग्र० पृ० 159
4. जोरी करि जिबहै करैं, कहते हैं जे तलाल।
   जब दफतर देखेगा दई, तब ह्वैगा कौणं हवाल॥ —वही पृ० 42
5. जीव बधत अरु धर्म कहत हो, अधरम कहा है भाई। —वही पृ० 101
6. भूली मालनि पाती तोड़े। पाती-पाती जीव॥ —वही पृ० 155

उनकी पत्तियों में भी है। अतएव पत्ती में भी जीव है और उनको सताना भी हिंसा है। सभी जीव जन्तु के प्रति निर्बेर होकर प्रेमभाव के साथ सद्व्यवहार करना अहिंसा धर्म का पालन करना है। जहां प्रीति का भाव होता है वहां हिंसा भाव खड़ा भी नहीं रह सकता। कबीर ने उन मनुष्यों को जिनके मन में प्रेम नहीं है, जो दूसरों के प्रति सद्व्यवहार नहीं कर सकते, पृथ्वी पर भार स्वरूप कहा है।[1]

प्रेम के साथ सभी के प्रति व्यवहार करना मानव का परम कर्तव्य है। प्रेम अथवा प्रीति भाव अहिंसा धर्म के मूल हैं। प्रीति का अर्थ होता है प्रीति अर्थात् सहानुभूति। कबीर के शब्दों में इसे समदर्शिता कह सकते हैं।[2]

सत्यशील मनुष्य का हृदय निर्मल हो जाता है। सत्यधर्म का पालन करने वाला निर्भीक होता है। कबीर उसी को सत्यव्रतधारी कहते हैं जो सत्य ही बोलता, सत्य ही ग्रहण करता है तथा असत्य का परित्याग कर सत्य का पालन करता है। ऐसा सत्यशील मनुष्य निर्भय हो जाता है। वह अमर पद पा जाता है।[3]

कबीर ने सत्याचरण पर अधिक बल दिया है। उन्होंने केवल ब्रह्म को ही चरमसत्य कहा है अन्य वस्तु तो मिथ्या है। जो साम्यक सर्वत्र सत्य ही को जानता है जैसे असत्य मार्ग पर चलना नहीं चाहिए। सत्य चरण शील मनुष्य कभी भी सत्य को नहीं छोड़ता।[4]

कबीर का मत है कि विश्वनियन्ता के द्वारा सभी प्राणियों की आवश्यकतानुसार उनके अलग-अलग भाग के अनुपात से निर्धारित किए हैं सबको अपनी रूप की आवश्यकतानुसार उनका उपभोग करना चाहिए। जिसके लिए जितना निर्धारित है उसे उसी के अनुपात में मिलता है।[5] कबीर अस्तेय भाव को समर्पण का भाव मानते हैं। कबीर ने वीर्य रक्षा (ब्रह्मचर्य) के सम्बन्ध में भांति-भांति के उपदेश दिए हैं। उन्होंने दिन-रात विषय भोग में लिप्त रहने वालों को नरकगामी बताया है।[6] ब्रह्मचर्य व्रत पालन के लिए अस्वाद की साधना की जाती है। कबीर ने भांति-भांति के तामसिक भोजन को हानिकारक तथा स्वाद सुख को कायवासना की श्रेणी में रखा है।

---

1. जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, धुनि रसना नहीं राम।
   ते नर इस संसार में। उपजि षये बेकाम ॥ —क० ग्र० पृ० 6
2. आपा पर समि चीनिये, तब मिलै आतमरांम ॥ —वही पृ० 190
3. कहै कबीर यूं भक्त निर्भय हुआ, जन्म और मरन का मर्म भागा।
   — कबीर पृ० 248
4. कबीर जिन-जिन जागियां, करता केवल सार।
   सो प्राणी काहै चलें, झूंठे जग की लार ॥ —क० ग्र० पृ० 43
5. जाको जेता निरमपाताको तेता होई।
   रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटै कोई ॥ —क० ग्र० पृ० 58
6. नर नारी सब नरक है, जब लगि देह सकाम। —वही पृ० 39

जिह्वा आस्वादन एवं नारीसंग का साधक को परित्याग करना चाहिए अन्यथा शरीर की हानि होती है।[1]

कबीर ने ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए सभी प्रकार की विषय वासना, भोजन, आस्वाद आदि का परित्याग करने की शिक्षा दी है साधक को इनका परित्याग करना ही चाहिए। अपरिग्रह के विषय में कबीर ने संक्षेप में कहा है।[2]

अपरिग्रह की सिद्धि के लिए कबीर ने ईश्वर के अटूट विश्वास, सन्तोष तथा आवश्यकतानुसार वस्तुओं को अंगीकार करना, साधक के कर्तव्य कहे हैं। कबीर योगी के लिए अन्तरकरणी शुद्धि एक परमावश्यक कार्य समझते हैं। उन्होंने कलुषित हृदय के रहते हुए बड़ी से बड़ी योग सिद्धि को भी तुच्छ बताया है।[3]

मुंह से ज्ञान की बात कहना और हृदय को छल-कपट से परिपूर्ण रखना कबीर पानी से घी निकालना जैसा कार्य बताते हैं। यदि हृदय अपवित्र है तो ऊपरी शारीरिक स्वच्छता, वेशभूषा आडम्बर ही है।[4]

कबीर ने संतोष नियम का पालन परमहितकारी लिखा है। योगी को भगवान पर विश्वास करना चाहिए वही सामर्थ्यवान है। सब कुछ कर सकता है। योगी को मन में आशा, तृष्ण, मनोरथ को स्थान नहीं देना चाहिए।[5]

कबीर ने जप तप तीर्थ यात्रादि को विशेष महत्व नहीं दिया। योगी को युक्तिपूर्वक अपने भाव जगत को परिशुद्ध करके भगवान में अनन्य श्रद्धा रखनी चाहिए, यही कबीर का तप है।[6]

स्वाध्याय को कबीर ने "अपना अध्ययन" लिखा है। ज्ञानार्जन के लिए अपने को सुपात्र बना लेना योगी का प्रमुख कर्तव्य है। कबीर ग्रन्थों के पठन-पाठन भर को ही स्वाध्याय समझना, उपयुक्त नहीं समझते। इनसे अधिक के साधुजन सेवा, ज्ञानी पुरुषों का सम्पर्क उत्तम समझते हैं।[7]

---

1. नाना भोजन स्वाद सुख नारी सेती संग।
   बेगि छांड़ि पछिताइगा ह्वै है मूरति भंग॥ —वही पृ० 40
2. संत न बांधै गारूड़ी, पेट समाता लेइ।
   सांई सू सनमुष रहैं, जहां माँगै तहँ देई॥ —वही पृ० 58
3. हिरदै कपट हरिसूं नहीं सांचो, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ।
   —वही पृ० 83
4. हृदयकपट मुख ज्ञानी, झूठै कहा बिलोवसि यानी॥ —वही पृ० 332
5. मनहू मनोरथ छांडिये, तरा किया न होइ।
   पानी में घीव नीकसै, तौ रूखा खाइये न कोइ॥ —क०ग्र०पृ० 30
6. क्या जपतप क्या संजयो, क्या व्रत क्या स्नान।
   जब लगि जुक्ति न जानिए, भाव भगति भगवान॥ —वही पृ० 329
7. जिहि घर साफ पूजिए, हरि की सेवा नांहि।
   ते घर मड़घट सारषे, भूत बसैं तिन मांहि॥ —वही पृ० 53

सती का जो भाव अपने पति के प्रति होता है। वही भक्त का भगवान के प्रति होना चाहिए। पूर्व समर्थन, आत्मसमर्पण की ईश्वरप्रणिधान है। कबीर इस कोटि के समर्पण की ही सराहना करता है।[1]

कबीर ने योगी को ध्यानयोग की साधना करने का निर्देश दिया है कबीर मन, वचन, कर्म के द्वारा ध्यान की सिद्धि को उत्तमध्यान कहते है। उनके अनुसार ध्यान का तारतम्य अखंडित होना चाहिए। वन में वाद्यध्वनि को सुनकर मृग उसके प्रति दत्तचित्त होकर ध्यानावस्थित हो जाता है। उसे बधिक तक की भी चिन्ता नहीं रहती। बधिक उसे मार लेता है पर इस मृग का ध्यान नही डिगता। फूल में भंवरा ध्यानावस्थित हो जाता है और उसी में बन्द होकर मर जाता है और जल की मीन जल के सूख जाने पर तड़प-तड़प कर वहीं मर जाती है। कहीं दूसरे स्थान पर नहीं जातीं। योगी को भी राम के प्रति ऐसा ही तल्लीन होकर अखण्डित ध्यान करना चाहिये।

कबीर ने योगाभ्यास किया और अपने जीवन का अधिक भाग योग साधना में बिताया उनकी योग साधना की कई अवस्थाएँ हैं और प्रत्येक अवस्था मे योग सम्बन्धी साधना में परिवर्तन होता रहा है। 2. कबीर में हठ योग, मंत्रयोग, लययोग, सहजयोग, तथ्यरामयोग आदि सभी प्रमुख योग पद्धतियों का समावेश पाया जाता है। 3. उन्मुक्त स्वभाव वाले कबीर को पाखंड और आडम्बर से अरुचि थी।

कबीर ने उसी को परम योगी कहा जो राम नाम के रस का पान करता है। अर्थात् भक्ति में लीन रहता है। कबीर ने भक्ति रस का पान किया। जिससे उसका नशा उतरा ही नहीं अर्थात् मन उसमें तल्लीन हो गया।[2]

योग : रविदास—रविदास जी के अनुसार वह बिन देखे उपजता नहीं और जो दृष्टिगोचर होता है वह नाश को प्राप्त हो जाता है। जो रामनाम को जानकर, दुविधा रहित होकर, जप करता है, वही योग है।[3] उनके अनुसार उस एक से

---

1. जिन मरनौथें जग डरै, सो मेरे आनंद।
   कब मरिहूं कब देखिहूं, परम परमानन्द ॥ —वही पृ० 55
2. बिनु देखें उपजै नहीं आसा, जो दीखै सो होइ बिनासा।
   बरन एहित जो जापे नामु, सो जोगी केवल निहकामु ॥
   —संत गुरु रविदास वाणी पृ० 66
3. (अ) याही सौं तुम कहत है, जब लग आस की पासी।
   छूटै तब ही जब मिलै ऐक ही, भणे रविदास उदासी ।।—वही पृ० 73
   (ब) हम मानों जोग सुनि जुगता, हम महापुरुष रे भाई।
   हम मानों सूर सकल विध्यागी, मैं ममिता नहीं मिटाई ॥
   —वही पृ० 70

मिलते ही आशा की फांसी से मुक्ति हो जाती है और यही योग है। भक्त होने पर बड़ाई और जोग रहने पर जग मानता है।[1]

योग : दादूदयाल—डॉ० केशव के अनुसार दादू ने साधना का व्यवस्थित विवेचन न करके यथा स्थान उसके अंशमात्र का उल्लेख किया है। इनका यह विवेचन भी पूर्ववर्ती परम्परा की अर्थ संगति में ही प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि योग-साधना की दृष्टि से उनकी कोई मौलिक देन नहीं है। फिर भी पूर्ववर्ती परम्परा जहां उनकी स्वानुभूति के स्वारस्य से विभूषित होकर प्रकट हुई है, वहां उसमें चार चांद लग गये हैं।[2]

दादू स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ब्रह्म शून्य है। अतएव उसीसे लय लगाने से समाधि रस की उपलब्धि होती है एवं जीवन परमानंद का उपयोग करता है। ब्रह्म के अतिरिक्त दादू ने इस शब्द का प्रयोग अभाव और स्थान के लिये भी किया है।[3]

दादू ने अष्टांग योग के कुछ स्वरूपों और नाड़ी भेदन तथा चक्रों का भी उल्लेख किया है। वे "राजयोग" की प्रमुख मान्यता, "जोई प्यराडे सोई ब्रह्मराडे" के समर्थक है। उन्होंने आन्तरिक साधना पर विशेष बल दिया है।[4]

दादू ने भाग्यवान साधक के उस लक्ष्य का भी उल्लेख किया है। जहां

---

1. भगत हुआं तैं चढ़ै बड़ाई, जोग करूं जग माने।
गुनीं हुआं तैं गुनी जन कहैं, गुनीं आपकूं ताने।। —वही पृ० 69
2. दा०पं०एं०उ०के०सा०का०सं०अ०—डा० केशव पृ० 184
3. ब्रह्म सुन तहं ब्रह्म है निरंजन निराकार।
नूर तेज जहं जोति है दादू देखन हार।।
—दादूदयाल की बानी भाग-1 पृ० 58
4. मन पवना ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सो है।। टेक।।
पंच बाह जे सहजि सभावैं, ससि हर के धरि आणौं सूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद बजावैं नूर।
पंक नालि सदा रस पीवैं, तब यह मनुवां कहीं न नाइ।
बिगसैं कंवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीवन की धरै सहाइ।
बैसि गुफा में जोति विचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ।
अंतरि आय मिलै अविनासी, पद आनंद काल नहिं खाइ।
जामण मरण जादू भव भावै, अवरण के धरि बरण समाइ।
दादूजाय मिले जगजीवन, तब यहु आवागमन बिलाइ।
—दादू ग्रन्थावली (2) पृ० 172

निरन्तर अनाहत नाद ध्वनित होता रहता है और सुषुम्ना के सहस्रार* की ओर उन्मुख होने से परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है यहां एक मान सरोवर है जहां हंस अनवरत निवास करता रहता है और इसमें स्नान करके वह अनन्त सुखों का भागी बनता है। जो साधक इस स्थल के रहस्य से परिचित हो जाता है वह अमृत का पान करता है और उसके लिए अगम्य भी गम्य हो जाता है। यहां आत्मा तथा परमात्मा की अद्भुत क्रीड़ा होती रहती है और तेल एवं बाती के बिना अखण्ड ज्योति प्रकाशित रहती है। दादू इसी स्थान पर पहुंचने और उस विलक्षण सुख के उपभोग करने के अभिलाषी हैं। वे योग की आन्तरिक साधना के प्रति जागरूक थे। वे योग के प्रशंसक न होकर भक्तियोग के अनुगामी हैं।[1]

दादू के अनुसार अपनी चंचलता खोकर मन का स्थिर हो जाना उन्मनावस्था है। यह योग की मुद्रा से भिन्न मन की अवस्था है। इस अवस्था में मन इस तत्व से विच्छिन्न होकर परमतत्व की सम्बद्धता प्राप्त कर लेता है। "दादू" इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि साधक का मन जहां उन्मनी में लग जाय वही स्थान साधना की दृष्टि से उपयुक्त है।[2]

योग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए दादू ने कहा है कि योग का अर्थ खप्पर, झोली, डंड, माया, सींगी, तीर्थ, व्रत आदि नहीं है। वास्तविक जोगी तो महारस का भोग करता है।[3]

---

* 1. मूलाधार चक्र-स्थान गुदामूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थमूल से दो अंगुल नीचे है।
2. स्वाधिष्ठानचक्र—स्थान उपस्थमूल के पीछे, पेडू के पास।
3. मणिपुर चक्र—स्थान नाभि मूल।
4. अनाहतचक्र—हृदय के पास।
5. विशुद्धि चक्र—स्थान कण्ठ।
6. आज्ञचक्र—स्थान भृकुटि।
7. सहसार चक्र—स्थान ब्रह्मरन्ध्र।

1. दा०पं०ए०उ०सा०का०स०अ०—डा० केशव पृ० 117-118

2 ना घर भला न बन भला, जहां नहीं निज नांव।
"दादू" उन्मनि मन रहे, भला त सोई ठाव।। —वही पृ० 118

3. निरंजन जोगी जानि ले चेला। सकल बियापी रहै अकेला।
खपर न झोली डंड अधारी। मठी न माया लेहु बिचारी।
सींगी मुद्रा विभूति न कंथा। जटाजाप आसण नहीं पंथा।
तीरथ बरत न बनखंडि बासा। मांगिन खाइ नहीं जग आसा।
अमर गुरु अबिनाशी जोगी। दादू चेला महारस भीगी।
—दादूदयाल की बानी-2 पृ० 92

योग की शक्ति के सम्बन्ध में दादू का विचार है कि योगी में अपार शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह बिना मन के विचार करता है, बिना रसना के रस पान करता है, बिना नेत्रों के देखता है। बिना कानों के सुनता है तथा अन्य बहुत से कृत्य बिना साधन के पूर्ण होते हैं।[1]

डा० केशव ने उचित ही लिखा है कि निर्गुणमतवाद के अन्तर्गत दादू पर जैन उपासना पद्धति का प्रभाव परम्परानुमोदित होने के कारण अप्रत्यक्ष है। जैनी नैतिकता के साथ अहिंसा, शील, आत्मशुद्धि, मुक्तिचिन्ता आदि का संयोजन परम्परा से रच-पच कर हुआ था। अस्तु दादू पर पुराकालीन और समकालीन उपासना पद्धतियों के प्रभाव का स्वरूप प्रत्यक्ष न होकर परम्परासापेक्ष है।[2]

योग : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने अष्टांग योग साधना की आलोचना करते हुए कहा है कि शून्य में समाधि लगाते, मन को मारते हुए कितने दिन बीत गये। किन्तु पाया क्या ? इसका विचार करने की आवश्यकता है।[3]

योग : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार सच्चे प्रकाश के बिना समस्त योग व्यर्थ हैं। शरीर पर वर्षा और शीत सहन करते हुए कठिन तपस्या करना, अन्न त्याग कर कंदमूल भोग करना, विभिन्न प्रकार के व्रत और तीर्थ करना या देवी

---

1. जोगी जानि जानि जन जीवै।
बिनहीं मनसा मनहिं बिचारै, बिन रसना रस पीवै।
बिनहीं लोचन निरखि नैन बिन, श्रवण रहित सुनि साई।
ऐसें आतम रहै एक रस, तो दूसर नांव न होई।
बिनही मारण चलै चरण बिन, निहचल बैठा जाई।
बिनहीं काया मिलै परस्पर, ज्यों जल जलहि समाई।
बिनहीं ठाहर आसण पूरै, बिनकर बेनु बजावैं।
बिनही पाऊँ नाचै निस दिन, जिन जिभ्या गुण गावै।।
सब गुण रहित सकल बियापी, बिन इंद्री रसभोगी।
दादू ऐसा गुरु हमारा, आप निरंजन जोगी। —वही पृ० 85
2. दा०पं०एं०उ०सा०का०स०अ० डा० केशव—पृ० 354
3. सून्य में समाधि लाइ, मन मारयतु है।
ऐसे ऐसे करत, करत केते दिन बीते।
सुन्दर कहत अजहूं, विचारिपतु है।
कारो ही न तो, तातो ही न सोरो कछु।
हाथ न परत ताते, हाथ झरियतु है।। —सुन्दर विलास पृ० 166

देवताओं की उपासना करना आधारहीन है।[1]

मलूकदास को खेद है कि योगवान आपस में ही लड़ते हैं।[2]

योग : नानक—गुरु नानक वाणी में हठयोग की शब्दावली प्रचुर मात्रा में पाई जाती है जैसे दस दुआरि, उलटिओ आदि।[3] योग के प्रति गुरुनानक की श्रद्धा अवश्य है किन्तु उन्होंने हठयोग की सारी क्रियाओं को स्वीकृति नहीं दी है। बिना भक्ति के हठयोग अपूर्ण है। भक्तिहीन योग तो निष्प्राण और तत्वहीन है।[4]

गुरुनानक ने यथा स्थान वेशधारी योगियों की कटु आलोचना भी की है।[5] उन्होंने कुछ आध्यात्मिक रूपकों द्वारा वास्तविक योग के प्रति अपने उदात्त विचार प्रकट करके अपनी साधना-प्रणाली को स्पष्ट किया है।[6]

गुरु नानक के अनुसार "शून्य" वह शब्द है, जो समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। शून्य में मन नियोजित करना ही सबसे बड़ा योग है।[7] नानक का शून्य घट-घट व्यापी है।

गुरु नानक का मत है कि हठयोग में तो योगी दशम द्वार पर पहुंचने से पहले ही अनाहत शब्द सुनने लगता है, किन्तु गुरुनानक के योग में यह दशम द्वार में प्रवेश

---

1. मेघ सहै सीत रहै सीस पर घाम रहै।
कठिन तपस्या करि कंद मूल खात है॥
जो करै जग करै तीरत रू व्रत करै।
पुन्य नाना विधि करै मन में सुहात है॥
और देवी देवता उपासना अनेक करै।
आंवन की हौ स कैसे भाक डीड़े ज्ञात है॥
सुन्दर कहत एक रीब के प्रकास बिनु।
जोगना की जीति कहा रजनी बिलात है॥ —संतबानी भाग-2 पृ० 108
2. न्याय शास्त्र कहत है प्रगट ईसुरवाद।
मीमांसाहि सास्त्र माहि कर्म वाद कह्यो है॥
वैसेषिक सास्त्र पुनि कालवादी है प्रसिद्ध।
पात जलि सास्त्र महि योगनाव लइयो है॥ —वही पृ० 105
3. गुरु ग्रन्थ दर्शन—डा० जयराम मिश्र—पृ० 231-232
4. चांड़सि पवनु सिंधासनु भीजे। निउली करम खटु करम करीजै॥
—रामकली, असटपदी 5, महला 1
5. गुरु ग्रन्थ साहिब, रामकली, असटपदी 2, महला 1
6. मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धियान की करहि बिभुति॥
—जपुजी पउडी 28
7. 'अंतरि सुंनि' आदि, रामकली, सिद्धि गोसटि, 51, 52 और 53 पउडिया

करने पर ही प्राप्त होता है और इसका द्वार जप से खुल सकता है।[1]

गुरु नानक ने सहज योग को महत्त्व देते हुए इसके लिये स्वाभाविक निर्वाण-पद, तुरीय पद तथा सहज समाधि आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[2]

डा० जयराम मिश्र का मत है कि इन शब्दों के प्रयोग जान-बूझ कर किए गए हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिक्ख गुरुओं की योग के प्रति अपूर्व श्रद्धा थी। इसीलिए उन्होंने योग की शब्दालियों के सार्थक प्रयोग अपनी रचनाओं में किए हैं। अतएव जिन सिक्ख-आचार्यों ने यह धारणा बनायी है कि सिक्ख-गुरुओं में योग की भावना भी पायी जाती है हमारी समझ में वह समीचीन नहीं प्रतीत होती।[3] गुरु नानक ने योग की असार्थकता पर कहा है कि बिना परमात्मा की भक्ति के कपाल-भाति आदि क्रियाएँ तथा पूरक, कुम्भक तथा रेचक आदि प्रणायाम करने सभी व्यर्थ हैं।[4] उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि हठपूर्वक निग्रह करने से अनेक व्रत, संयम कठोर तप करने से शरीर अवश्य क्षीण होगा। किन्तु मन में रस अथवा आनन्द प्राप्त नहीं होगा।[5] गुरु नानक ने जोगियो की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि ऐसे योगी जगत् को त्याग का उपदेश देते है, पर स्वयं धन संग्रह करके मठों का निर्माण करते हैं।[6] योग के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि योग न तो कंधे में है, न दण्ड में, न भस्म रमाने में, न कानों में मुद्रा धारण करने में और न श्रंगी बजाने में। वास्तविक योग तो यह है कि माया के बीच रहते हुए, निर्लेप हरि में समाया रहे।[7] भैरव के योगी न बनो। आत्मयोगी बनो।[8] नामजप योग-प्राप्ति का सर्वोपरि साधन है।[9]

---

1. गुरु ग्रन्थ दर्शन—डा० जयराम मिश्र—पृ० 243-48
2. नानक वाणी—डा० जयराम मिश्र—पृ० 831-32
3. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन:—पृ० 234
4. चाड़सि पवनु सिघासनु भीजै। निउली करम खटु करम करीजै॥
   राम नाम बिनु बिरथा सासु हरीजै। अंतरि पंच अगनि किउ धीरज धीजै॥
   अतरि चोरू किउ साड लहीजै। गुरमुखि होइ काइआगड लीजै॥
   —गुरु ग्रन्थ साहिब पृ० 905
5. हठ निग्रह करि काइआ छीजै। वरतु तपनु करि मनु नहीं दीजै।
   —वही 905
6. गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 903
7. वही—पृ० 730
8. पंजाबी भाष विगिआ अतेगुरमति गियान—मोहर्रसिंह पृ० 73
9. नानक बिनु नायै जोगु कदे न होवे देखहु रिहै बीचारे।
   —गु०ग्र०सा० पृ० 946

योग की प्राप्ति न तो कंथा पहनने में है, न डंडा लेने में है और न शरीर पर भस्म लगाने में है। योग न तो कानों में मुद्रा पहनने में है, न मूंड मुड़वाने में और शृंगी बाजा बजाने में है। यदि माया के बीच में रहते हुए निरंजन से युक्त रहा जाय तो, यह वास्तविक योग है।

योग श्मशानों आदि में ध्यान लगाने से प्राप्त नहीं होता और न ही तीर्थादिकों में स्नान करने से मिलता है। गुरु नानक कहते है कि ऐसा योग प्राप्त करो कि जीवितावस्था में ही अहंकार समाप्त हो जाये।[1]

गुरु नानक कहते हैं कि जिस योगी को योग-मुक्ति निर्मल है, उसे रत्ती भर भी मैल नहीं लगती। उसकी जन्म-मरण अवस्था समाप्त हो जाती है।[2]

गुरु नानक कहते हैं कि योगी क श्रम और लज्जा को कान की मुद्रा बनानी चाहिये तथा प्रतिष्ठा की झोली धारण करना चाहिये उसके लिये ध्यान ही वशीभूत है। यह शरीर तो काल के वनीभूत है इसे कंथा बनाना चाहिये। योगी को इसे पवित्र बनाये रखना चाहिये। युक्ति एवं विश्वास का डंडा ही धारण करने योग्य है। हे योगी सारी जमात को समझा दो कि आई पंथ ही तुम्हारा अपना है।[3]

---

1. जोगु न खिया जोगु डंडै जोगु न भसम चप्राईऐ।
जोगु न मुंदी मूंडि मुडाइऐं जोगु न सिंग्री वाइऐ ॥
भजन माहि निरजनि रहीऐ जोगु न जुगति इव पाइऐ 1
गली जोगु न होई।
एक दूसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीऐ सोई 1 रहाउ
जोगु न वाहरि मड़ी मसाणी जोगु न तीरथि नाईऐ ॥
जांगु न देसि दिसंतरिभविऐ जोगु न तिरथि नाईऐ ॥
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग न जगति छव पाईऐ 2
नानक जीवविआ मरि रहीऐ ऐसा जोग कमाईए 3
वाजे वाझहु सिडी बाजै तउ निरभऊ पदु पाईऐ ॥
अंजन माहि निरजनि रहीऐ जुग जुगति तउ पाईऐ ॥
—नानकवाणी पृ० 441

2. जोगी जुगति नामु निरमाइल ता कै मैल न राती।
प्रीतम नाथु सदा सघु संगेजन्म मरणगति बीती ॥ —वही पृ० 583

3. मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहि बिभूति।
खिया कालु कुलारी काइआ, जुगति डंडा परतीति ॥
आई पंथी सगल जमाती मनि जीते जगु जीतु।
आदेसु तिसै आदेसु ॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेकु 28 —वही पृ० 93

मन : महावीर

महावीर के अनुसार भजन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है ।[1] सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान "मन" है । इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त और अमूर्त । इन्द्रियां केवल मूर्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती है । मनमूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा गया है[2]

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है तथा गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है ।[3] शरीर की इन्द्रियां सब प्रत्यक्ष है किंतु मन परोक्ष है । इन्द्रियों से विशेषतः, ज्ञान इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है उसकी अपेक्षा मन के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान अधिक व्यापक होता है । प्रत्येक इन्द्री का अपना विषय नियत होता है जैसे आँख का विषय रूप, कान का विषय शब्द, नाक का विषय गंध, जीभ का विषय रस और त्वचा का विषय स्पर्श होता है किन्तु मन इन सभी को ग्रहण कर सकता है । इन्द्री का ज्ञान तो तत्कालिक होता है किन्तु मन का ज्ञान तो सर्वकालिक होता है । इन्हीं ज्ञान में प्रत्यक्ष होने के कारण तर्क-वितर्क का अवसर नहीं है । किन्तु मानस ज्ञान में तर्क-वितर्क की आवश्यकता होती है ।

मन-इन्द्रिय-ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध-अवस्थाओं को जानता है । मन का मनन या चिन्तन स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनका ग्रहण होने के बाद ही होता है । इसलिए संज्ञी-ज्ञान में इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है ।[4]

अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों से भी अधिक महत्वपूर्ण है । वह प्रत्यक्ष है, इसलिए इसे पौद्गलिक साधनों (शारीरिक अवयवों) के सहयोग की अवश्यकता नहीं होती ।[5]

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य जब मन रूप में परिणित होते हैं, तब वे द्रव्य मन कहलाते हैं । यह मन अजीव है आत्मा से भिन्न है ।[6]

---

1. मन: मननं, मन्यते अनेन वामनः ।
   —जैन दर्शन : मन और मीमांसा—पृ० 487
2. जैन सिद्धान्त दीपिका, 2/33
3. जैन दर्शन : मनमीमांसा—पृ० 516
4. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 232
5. वही पृ० 233
6. आता भंते! मणे अन्ने मणे ? गोयमा! णो आतामणे, अन्ने मणे······मणे मणिज्जमाणे मणे······ । भगवती, 13/7/494

मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है, इसीलिए वह दीर्घकालिक संज्ञा है । जैन आगमों में मन की अपेक्षा "संज्ञा" शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है ।[1]

मन का काम चिन्तन करना है । वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी[2] मन इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक है । मन को सब सहज इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती । जब इन्द्रिय द्वारा ज्ञान रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है । इन्द्रिय की गति केवल पदार्थ तक है । मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है ।[3]

जैन-दृष्टि के अनुसार संयम, प्रतिभा, स्वप्न ज्ञान, वितर्क, सुख-दुःख, क्षमा, इच्छा आदि मन के लिंग हैं ।[4] मन का विषय "श्रुत" है, जिसका अर्थ है, शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान है ।

मन समूचे शरीर में व्याप्त है । इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति जहां-जहां चैतन्य, वहां-वहां "इन्द्रिय" का नियम नहीं होता । मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता, उसका कोई नियत स्थान नहीं है । जहां-जहां चैतन्य की अनुभूति है, वहां-वहां मन अपना आसन बिछाए है ।[5]

दिगम्बर आचार्य द्रव्य मन का स्थान नाभि-कमल मानते हैं । श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते । मन का एक मात्र नियत स्थान भले ही न हो, किन्तु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए । मस्तिष्क के संतुलन पर मानसिक चिन्तन बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं लगती ।[6]

जैन सम्मत मन न अणु है और न वह मात्र जीव किन्तु जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उस की व्याप्ति का नियम है जहां

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 488
2. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते ।
   कल्यते मनसाप्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा ।। —चरकसूत्र 1/20
3. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 489
4. संशयप्रतिभा स्वप्न ज्ञानोहा सुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसोलिगांनि··· ।
   सन्मति प्रकरण, काण्ड 2
5. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 491
6. वही पृ० 492

जीव वहां मन ।[1] जैन मन को अन-इन्द्रिय मानते हैं । इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं और वह इन्द्रिय के विषयों को उन्हीं के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कदाचित् इन्द्रिय नहीं, यह भी नहीं । वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नहीं भी है और इन्द्रिय सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी ।[2]

आत्म रक्षा, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट निवृत्ति, आहार-मय, संकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति तथा गति आदि मन के मुख्य कार्य हैं ।

महावीर के अनुसार मन चार प्रकार का होता है । द्रव्यमन, भावमन, चेतनमन और पौद्गलिकमन । मनन के आलम्बन भूत या प्रवर्तक द्रव्य जब मन रूप में परिणत होते हैं तो उन्हें द्रव्य मन कहा जाता है । यह मन अजीव है और आत्मा से भिन्न है ।[3] विचारात्मक मन का नाम भाव मन है । मन मात्र ही जीवन नहीं ।[4] किन्तु मन जीव भी है—जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक मन कहते है ।[5] इसके भी दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग । लब्धि मानस-ज्ञान का विकास है और उपयोग उसका व्यापार । मन को नो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय तथा दीर्घकालिक संज्ञा भी कहा जाता है । ज्ञानात्मक मन चेतन है और वह पौद्गलिक परमाणुओं से नही बन सकता ।

महावीर ने कहा है कि मन ऐसा है कि जिसकी चेष्टा से जीव सहस्रों दुःखों को पाते हुए भंयकर एवं अशुभ गति बहुल इस अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं ।[6]

महावीर ने मन की निवृत्ति तथा उसके नियन्त्रण पर अत्यधिक बल दिया है ।

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा —पृ० 492
2. वही पृ० 521
3. आता भंते! मणे अन्ने मणे ? गोयमा! णो आतामणे,
अन्ने मणे···मणे मणिज्जमाणे मणे······ । भगवती, 13/7/494
4. मणं च मणजीविया वियंतित्ति··· । —प्रश्नव्याकरण (आश्रवद्वार) 2
5. सर्व-विषयमन्त: करणं युगपज्ज्ञानानुत्पतिलिगं मन, तदपि द्रव्य-मन: पौदगलिक मजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणणेनेति ······ । सूयगडी 1/12, वृत्ति
6. जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभ्मंति ।
भीमा सुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ।। —भग० आ० 137

उनका कहना है कि यतनाशील यति को संरम्भ*, समारम्भ** और आरम्भ*** में प्रवृत्त होकर मन को निवृत्त करना चाहिये।[1] महावीर ने मन पर नियन्त्रण का मार्ग बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार बंधन से छूटा हुआ और नगर के राजमार्ग पर चलता हुआ प्रचंड वन का हाथी, दृढ़ शक्ति सम्पन्न मनुष्य के द्वारा तीक्षण अंकुश से वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार प्रचंड मन रूपी स्वच्छंद हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से विषय रूपी राजमार्ग पर जाने से रोक कर बस मे किया जा सकता है।[2]

महावीर के अनुसार मन साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व के समान है जो चारों ओर दौड़ता है। धर्म और ज्ञान के द्वारा ही उस पर काबू पाया जा सकता है।[3]

महावीर का कहना है कि जो साधक इस दुष्ट मन का रागादि से निवारण कर लेता है, उसे स्थाई रूप से शुभ संकल्प रूप की प्रवृत्ति तथा स्वाध्याय एवं समाधि

---

* किसी कार्य को करने का मानसिक संकल्प।

** कार्य के लिये सामग्री एकत्रित करना।

*** कार्य की शुरूवात।

1. संरम्भसमारम्भे आरम्भे य त तहेव य।
   मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्जजयं जई॥ —उ० 24 : 21

2. (अ) जह चंडोवणहत्थी उद्दामो णयरराजमग्गम्मि।
   तिक्खंकुसेण धरिओ णरेण दिढसत्तिजुत्तेण॥
   तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विषयरायमग्गम्मि।
   णाणंकुसेण धरियों सद्धो जह मत्तहत्थिव्व॥
   —मूल० 8 : 109-110

   (ब) भावविरदो दू विरदोण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
   विसयवरणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थो॥ मू० 995

3. (अ) मणे साहसियो भीमो दुट्ठासो परिधावई।
   तं सम्मं निगिण्हामि धम्मसिक्खाए कंथगं॥ —उ० 23 : 58

   (ब) इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं।
   उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहि जह तुरया॥ भग०आ० 1837

   (स) पद्यावंतं णिगिण्हामि सुयरस्सीसमाहियं।
   न मेगच्छइ उम्भग्गं मग्गं ज यडिवज्जई॥ —उ० 23 : 56

उपलब्ध हो जाती है ।[1]

मन : नामदेव—नामदेव कहते हैं मन की व्यथा मन ही जानता है । समझदार के सामने ही कहनी चाहिये अन्तर्यामी प्रभु मेरे मन में रमा हुआ है फिर व्यथा से क्यों डरूं । मन हाट, शहर और सब रंग में प्रकट होता है तथा सारे संसार में भ्रमण करता रहता है जब गुरु के शब्द में मन रंग जाता है तो सारी दुविधा मिट जाती है ।[2] नामदेव के अनुसार मन गज है, और जिहवा कैंची है, नाम-नाम कर जम की फांसी काटी जा सकती है ।[3]

मन : कबीर—उपर्युक्त पद्य तथा कबीर ग्रंथावली के पृष्ठ 28 पर उल्लिखित "मन को अंग" से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने मनोविज्ञान के प्रमुखतत्व मन के ऊपर विचार किया और उससे सम्बन्धित तथ्यों का प्रतिपादन किया । मानव शरीर और मन के सम्बन्ध को समझने के हेतु संक्षेप में शरीर सम्बन्धी जानकारी पाना आवश्यक ही है । जननी जनक के रजवीर्य के सम्मिश्रण से माता के गर्भ से नवजात शिशु का जन्म होता है । शिशु शरीर मां के दूध, वायु, प्रकाश जलादि के सहयोग से बढ़ता है और यही रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, त्वचा, शुद्र आदि धातुओं से परिपूर्ण मानव शरीर बन जाता है । कबीर ने तीन गुण, पाँच तत्व तथा आठ धातुओं के सम्मिश्रण से शरीर की रचना बतायी है ।[4]

शरीर के बाहरी ढाँचे को देखने पर लोम, त्वचा, हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियां, आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियां, सिर आदि दिखाई पड़ जाते हैं । शरीर के भीतर स्नायु-मण्डल का जाल बिछा हुआ है जिनमें रक्त का संचार होता रहता है । ये स्नायु हमारे मस्तिष्क से जुड़े हुए होते हैं जो शरीर के सभी अनुभवों का ज्ञान मस्तिष्क

---

1. इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिठ्ठवेदि य अकंपं ।
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं ।। —भग० आ० 139
2. मन की बिरथा मनु ही जनै कै बूझल आगै कहीऐ ।।
अंतरजामी रामु खांई मैं डरू कैसे चहीऐ ।।
मानै हाटु मानै पाटु मानै है पासारी ।।
मानै बासै नाना भेदी भरमतु है संसारी ।।
गुर कै सबदि एहु मनु राता दुबिधा सहजि समाणी ।।
—आदिग्रन्थ-पान 1350
3. मन मेरे गज, जिह्वा मेरी काती ।
मापि मापि काटउ जम की फांसी ।। —संतबानी संग्रह-पृ० 98
4. पांच तत्त तिनि गुण जुगति करि संन्यासी,
अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया—क० ग्र० पृ० 156

के द्वारा मन को कराते रहते हैं। स्नायुमण्डल में सुषुम्ना नाड़ी प्रमुख नाड़ी है। शरीर और सुषुम्ना का घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे शरीर की इच्छित और अनिच्छित क्रियाओं का नियन्त्रण और संयोजन सुषुम्ना के द्वारा किया जाता है। कबीर के अनुसार प्रमुख नाड़ी सुषुम्ना हमारे शरीर के मूलाधार से आरम्भ होती है और हमारे शीश में स्थित मस्तिष्क तक जाती है और सम्पूर्ण शरीर से उसका संबंध होता है। इसी के द्वारा योगी अमृत रस का पान करता है।[1]

सिर का अधिक भाग मस्तिष्क द्वारा घेरा हुआ है। मस्तिष्क वृहत्, लघु मस्तिष्क और सेतु तीन भागों में विभाजित होता है। लघु मस्तिष्क गले से ऊपर पीछे की ओर है। यह सम्पूर्ण शरीर की गति का नियमन करता है। मन का घृतिरूप मौन रूप से प्राण तन्तुओं के द्वारा सारे शरीर में कार्य करता है सम्पूर्ण शरीर के स्नायु मेरूदण्ड रज्जु अथवा सुषुम्ना से मिलकर मस्तिष्क तक पहुंच जाते हैं। मस्तिष्क में तालु के ऊपर के भाग में सहस्रार नाम चक्र एक प्रकाश केन्द्र है। सब इन्द्रियों को इसी से प्रकाश मिलता है। इस स्थान पर साधक की सभी वृत्तियां लीन हो जाती हैं। तब साधक को विलक्षण ज्ञान और आनन्द मिलता है। कबीर ने यहां पर अमृतपान करने की बात कही है।[2]

अन्तःकरण के द्वारा सभी ज्ञान चेतन तत्व अथवा जीवात्मा द्वारा होते हैं। शरीर, इन्द्रियां, मन आदि जड़ पदार्थ हैं। इनमें प्रकाश और कार्य करने की क्षमता आत्मा के प्रकाश से ही सम्भव है। इसी कारण मृतक व्यक्ति का शरीर कुछ भी चेष्टा नहीं कर पाता। कबीर ने कहा है कि आत्म तत्व के प्रताप से ही मनुष्य शरीर का कार्य चलाता है। वही सबकी प्रेरक और प्रकाशक शक्ति है। उसके बिना कुछ भी नहीं। तोते की भाँति जब वह शरीर से उड़ जाता है तो फिर उसका मिलना कठिन ही होता है।[3]

बाहरी जगत में किसी विषय का प्रकाश पाकर जीवात्मा मन के द्वारा उसे इन्द्रियादि के सहयोग से पाने की इच्छा करता है। मन में अनेक तरंगें उठती हैं और इन तरंगों से ज्ञान एवं कार्य इन्द्रियां तरंगित हो जाती है और इस प्रकार हमारा शरीर कार्य में जुट जाता है। जीवात्मा, मन, इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध में कबीर

---

1. अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै।
मूलबांधि सर गगन समांना, सुषमन यों तनलागी। क० ग्र० पृ० 70
2. बंकनालि के अन्तरै, पछिम दिशा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहां भंवर गुफा के घाट रे। —वही पृ० 88
3. नर के साथ सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूं उड़ि जाय जंगल में, बहुरि न सुरतैं आनै॥ —वही पृ० 101

ने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। शरीर में दस इन्द्रियां, मन, चित्त आदि हैं और इस पवित्र काया-नगरी में ज्योति स्वरूप जीवात्मा है जो सबका अधिनायक है।[1]

कबीर के अनुसार मन जल से अधिक पतला, धुंआ से भी अधिक झीना और वायु के प्रबल वेग से भी द्रुतगामी है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व से निर्मित है।[2]

शरीर वाला मनस्तत्व भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। व्याप्त मन के चार भाग—मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार कहे जाते हैं। चारों के सामूहिक नाम को उद्बुद्ध मन भी कहा जाता है। मनोमय तत्व के एक भाग को द्वैव अथवा प्रकाशक शक्ति, दूसरे भाग को घृति अथवा धारण शक्ति, इस घृति के भी तीन विभाग है—एक प्रत्यगभान दूसरा विश्वभान, और तीसरा वशीकरण आदि। स्थिति कार्य तथा स्थान के अनुसार मन के कई नाम हो जाते हैं। कबीर ने मन को कई नामों से बताया है।[3]

कबीर ने मन के इस रूप को निराकार बताया है। इसे जीवात्मा की आज्ञा अथवा हुक्म होता है बाहरी विषयों का ज्ञान कराने का। यह उनका ज्ञान करके उसे ज्ञान करा देता है और वहीं समा जाता है।[4]

कबीर ने दैवमन का परिचय संक्षेप में ही दे दिया। अन्तरात्मा की आज्ञा पालन करने वाला इसे बताया है।

कबीर मन के इस स्वरूप से परिचित हैं। इन्द्रियों के लिए कबीर ने पंचजने का प्रयोग कई स्थल पर किया है। मन का यह रूप इन इन्द्रियों के द्वारा कर्म कराता है और उसकी प्रेरणा से विषय में लिप्त होती है और उसका उपभोग करती है।[5]

इससे इन्द्रियों को प्रेरणा देकर अपने अनुसार कार्य कराने और विषय में लिप्त होने का संकेत मिलता है जो यक्षमन का कार्य है।

---

1. मनम पुरा दिल दुआरिका काया कांसी जांगि।
दसवां द्वारा देहुरा, ता मैं ज्योति पिछांणि॥ —क० ग्र० पृ० 44
2. पांणी ही तै पातला, धूंयां ही तै झीणां, पवनां वेग उतावलां,
सो दीसत कबीरै कीन्ह। —वही पृ० 29
3. इहु मन सकती इहु मन सीउ, इहु मन पांच तत्त का जीउ।
इहु मन ले जौ उन्मनि रहै, तौ तीनि लोक की बातें कहै॥
—वही पृ० 312
4. इस मन की रूप न देख्या काई। हुक्मे होया हुकुम बूझि समाई।
—क० ग्र० पृ० 3328
5. पंच जनै सो संग करि लिन्हें। चलत खुमारी लागी। —वही पृ० 111

कबीर का मत है कि जब तक साधक की वृत्तियां बाह्याश्च रहती हैं तब तक आत्मदर्शन असम्भव होता है। जब आत्मसंयम एवं योगाभ्यास द्वारा साधक अन्तर्मुखी साधना करता है तभी प्रत्यग्भान मन का स्वरूप हाथ आता है।[1]

कबीर के अनुसार विश्वभान मन की स्थिति में तन तथा मन की बहिर्मुखी वृत्तियां एक होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और अखण्ड रूप में आत्मानन्द के अनुभव में लीन हो जाती हैं। इसे ही ब्रह्मात्मैक्य की स्थिति कबीर ने कहा है। यहां साधक का चित्त ईश्वरीय विभूतियों से परिपूर्ण हो जाता है।

कबीर को यह स्थिति प्राप्त हो चुकी थी।[2]

वृत्तियों के विषय में कबीर का कथन है :

"जेती लहर समुंद की, लेती मन की दौर।
सहजैं हीरा नीपजै, जे मन आवैठौर।।[3]

यहां मन की दौर से वृत्तियों का तात्पर्य है। वृत्तियों की साधना से चरम-लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। कबीर ने वृत्ति निरोध के लिए "उल्टी चाल" की संज्ञा दी है। वृत्तियां बहिर्मुखी होती हैं। उन्हें बदलकर अन्तर्मुखी करना उनकी चाल को उलटना ही है। वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना सरल काम नहीं है। कबीर के अनुसार वह दुस्साध्य कार्य है। खड़ग की धार पर चलने के समान है। हां, यदि वृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाएं तो फिर ब्रह्मतादात्म्य स्थिति होती है। विरले ही वृत्ति निरोध कर पाते हैं।[4]

वृत्तियां भी मन का खेल हैं। मनोविज्ञान अथवा अन्तःकरण विज्ञान में मन का भी वर्णन होता है। कहीं मन के स्वरूपों का विवेचन है तो कहीं उसकी गति का।

कबीर में सुरति-निरति शब्द के प्रयोग को देखकर इनके किसी एक अर्थ का प्रतिपादन करना कठिन है। कबीर में शब्दों का प्रयोग साधना की अवस्था के अनु-

---

1. जब मैं था तब हरि नहीं। अब हरि है मैं नाहिं।
सब अंधियारा मिटि गया। जब दीपक देख्या माँहि।। —वही पृ० 15
2. हम सब मांहि सकल हम मांही, हम पै और दूसरा नहीं।।
तीन लोक में हमरा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा।।
षट दरसन कहियत हम भेखा, हमहिं अतीत रूप नहीं रेखा।।
हम ही आप कबीर कहावा, हमहिं अपना आप लखावा।।
—क० ग्र० पृ० 201
3. क० ग्र० पृ० 151
4. कहै कबीर कठिन पहकरणीं जैसे खण्डे धारा।
उल्टी चाल मिले पर ब्रह्म कौं, सौ सतगुरु हमारा।। —वही पृ० 145

रूप है। साधक की प्रारम्भ की अवस्था और चरम अवस्था में भारी अन्तर होता है। प्रारम्भ में साधक सामान्य जन की भांति साधना में प्रवृत्त होता है। उस समय उनकी अनुभूति और अभिव्यंजन की शक्ति लौकिक होती है। और इसीसे वह अपने अनुभवों को सामान्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। और ज्यों-ज्यों वह साधना मार्ग में अग्रसर होता है उसके अनुभव, उसकी भाषा, उसकी अभिव्यंजना शक्ति सब में परिवर्तन होता जाता है और साधना की चरम अवस्था पर पहुंच कर ये सब अलौकिक और विलक्षण रूप की हो जाती है। सुरति निरति का अर्थ करने में उपर्युक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखना ही चाहिए। कबीर ने साधना के हेतु मन को ही परम केन्द्र माना है। इनका निश्चित मत है कि यदि साधक ने मन को जीत लिया तो वह सब कुछ ही पा सकता है।[1]

अतएव मन को ही वश में करना साधक के लिये आवश्यक है। इसके वश में होते ही साधना मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

अतएव सुरति-निरति का सम्बन्ध मन से है। सुरति मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतिधारा है। यह अपना प्रवाह ब्रह्म की ओर उन्मुख होकर रखती है। इसे मन की वह सुवृत्ति कह सकते हैं जिसमें ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मात्मैक्य की शुभेच्छा सम्मिलित रहती है। यदि साधक की सुरति ब्रह्मज्ञान की आकांक्षा से लिप्त नहीं है तो वह फिर सुरति नहीं वृत्तिभाव ही है। अतएव मन की प्रत्येक वृत्ति को सुरति नहीं कहा जा सकता। सुरति एक विशिष्ट वृत्ति है।

कबीर की सात सुरति प्रख्यात है। कबीर के अनुसार ये सात सुरति विश्व एवं व्यष्टि रूप जीव की मूल कारण है।[2]

इनसे सृष्टि की उत्पत्ति होती है और उन्हीं के द्वारा सृष्टि का विलय भी। ये सात सुरति हैं—

दूजे घटे इच्छा भई, चित मन सातो कीन्ह।
सात रूपनि रमाईया, अविगत कछु न चीन्हा।[3]

मूल सुरति, सहज इच्छा, कारण रूप इच्छा, चित्त, मन, बुद्धि अहंकार ये सातसुरति हुई। जीवात्मा इन्हीं के द्वारा भ्रम में पड़ गया और चरमसत्य को भूलकर इन्हीं के चपेट में पड़ कर दुःख भोगता है।

---

1. तन को जोगी सब करैं मन को बिरला कोई।
   सब सिधि सहजै पाइए जो मन जोगी होइ॥ —क० ग्र० पृ० 46
2. सात सुरति सब मूल हैं, प्रलयहु इनहीं मांहि।
   इन ही मां वैं उपजै, इन हीं मांहि समांहि॥ —क० ग्र० पृ० 149
3. कबीर मंसूर—परमादन्द दास काल—पृ० 971

लौकिक अर्थ में रति काम, वासना, विषय, राग, लिप्सा, आसक्ति आदि को कहा जाता है। "नि" उपसर्ग लग जाने से "निरति" बनता है। जिसका अर्थ होता है, काम, वासना, लिप्सा, आसक्ति आदि का लोप अथवा अन्त अर्थात् निरति साधक की वह अवस्था है जहां काम, वासना आदि का उसमें लेश भी नहीं रहता। निरति परिपूर्ण ब्रह्मानन्द की अथवा ब्राह्मी स्थिति है। यह अवस्था साधना की अन्तिम अवस्था अथवा साध्य का स्वरूप ही है। इस अवस्था में साधक निवृत्त हो जाता है अर्थात् वहां वृत्तियों का पूर्णरूपेण लोप हो जाता है। साधक पूर्णावस्था को प्राप्त होता है—

कबीर ने इस स्थिति का यों वर्णन किया है।

सुरति समाणी निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
लेख समाणां अलेख में, यूं आपा माहैं आप ।।[1]

निरति अद्वैतावस्था है। ब्रह्मात्मैक्य अवस्था है। ब्रह्म का अन्य कोई आधार नहीं। वह तो बिना अधिष्ठान के हैं निराधार है और स्वयं सबका अधिष्ठान है। इसी से कबीर ने निरति को निरधार कहा है।[2]

परिपूर्ण अवस्था में प्रतिष्ठित होने पर परिशुद्ध सहजमन सुरति में ज्ञान का दिव्य प्रकाश होता है जिस प्रकाश में साधक अपने दिव्य स्वरूप को देखकर परमानन्दित होता है और निज स्वरूपाधिष्ठान में प्रतिष्ठित होता है।

कबीर के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कबीर मन की उत्पाद से व्याकुल थे। उन्होंने मनुष्य को मन के परामर्श पर न चलने की बात कही है।[3] क्योंकि वह अपने पाश में फंसाकर नाना प्रकार से दुःखी करता है।

मन सदैव नाम रूपात्मक जगत् के विषयों की ओर दौड़ता है। यह महान कपटी और विषयी है। यह सब कुछ जानते हुए भी सदैव अवगुणों में उलझता रहता है। हाथ में पीपर लेते हुए भी कुएं में गिर पड़ता है।[4]

कबीर का मत है कि परम लक्ष्य प्राप्ति के लिए जब तक मन को वश में

---

1. क० ग्र० पृ० 14
2. सुरति समाणीं निरति में, निरति रही न निरधार।
   सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यम्भ दुआर ।। —क० ग्र० पृ० 14
3. मन के मते न चालिए: छाडि जीव की बांणि।
   ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूण आंणि ।। —वही पृ० 28
4. मन जाणै सब बातें, जाणत ही औगुण करै।
   काहे की कुसलात, कर दीपक कूंवै परै ।। —वही पृ० 28

नहीं किया जाएगा। तब तक केवल तत्व ज्ञान होने से भी साधना परिपूर्ण नहीं हो सकती।[1]

मन : रविदास—रविदास जी कहते हैं कि खेल खिलार में, मैं-मैं करते हुए जीवन बीत जाता है किन्तु मानव मन पिउ का ध्यान नहीं करता।[2] पिउ उस मन में नहीं आता जहां अहंकार का वास होता है।[3] पिउ के आने पर शृंगार की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।[4] रविदास जी ने पिउ और मन का इस प्रकार गहरा सम्बन्ध स्थापित किया है।

उनके अनुसार मन इस संसार सागर की मछली है।[5] रस का लोभी मन पहले तो रस में डूबता है और बाद में पछताता है।[6] जब इस शरीर रूपी रथ का सारथी मन थक जाता है तो, रथ नहीं चलता। सभी नाद आदि शान्त हो जाते हैं और मन मंगलगीत नहीं गाता।[7] हरि को जानने का साधन मन है।[8]

जब तक मन में विषयवासना की कीच है तब तक हरि नाम का वास किस प्रकार हो सकता है।[9] मन की चंचलता के सम्बन्ध में रविदास का कहना है कि

---

1. अब क्या कीजै ज्ञान विचारा।
   निजनिरखत गत कौहारा।। —वही पृ० 184
2. खेल खिलार बइस सब बीती, मन चित भइ न पिउ परतीती।
   मैं मैं, जो लौं गरब बौरानी, तौ लों पियरामनु नहिं आनी।
   —सं० गु० र० वा० 91
3. आपा मोटि मैं मेरी खोही, गरब तियागी अरपिहि निज देही।
   पिउ कौ नारी उहि मन आई, जिहि अभि अंतर अवरुनहिं कोई।।
   —वही पृ० 93
4. जो लौं पिउरा मन नहिं आई, का सोरह स्यंगा बनाई।
   सोई सती रविदास बयानी, तन मन स्यूं पिउ रंग समानी।। —वही पृ० 93
5. रे मन मांछला संसार समुदे, तूं चित्र विचित्र बनारि रे।
   जिहिं गाले गलियां ही मरीऐ, सो संग दूरि निवारि रे।। —वही पृ० 94
6. जम है डिगाणीं डोरि रे, कंकण, पर तिय गोली जाणि रे।
   ह्वं रस लुबुध रमे यौं मूरिष, मन पचितावे न्यांणि रे।।—वही पृ० 94
7. जब रथू रहै सारथी थाकै, तब को रथहिं चलावै।
   नाद बिंद सब ही थाके, मन मंगल नहिं गावै।। —वही पृ० 98
8. जस हरि कहए तस हरि नहिं है अस जस कुछ तेसा।
   जानंत जांनत जानि रह्यौ मन मरम कहो निज केसा।। —वही पृ० 98
9. जब लगि अंगि पंक नहीं परसैं, तौ जल कहा पषालै।
   मन मलीन विषिया रस लंपट, तो हरि नांव संभाले।।
   —सं० गु० र० वा०, पृ० 105

चंचल मन चारों ओर भटकता है, पंचइन्द्रियां उसे भटकाती हैं।[1] काम, क्रोध, विषय और वासनाओं ने भजन में बाधा डाल दी है। राम नाम ही उद्धार कर सकता है।[2]

रविदास जी मन साधने की प्रेरणा देते हैं कि इसे साधने पर ग्यान ध्यान आदि सब सध जाते हैं।[3] इसके लिए उन्होंने "बाजीगर" शब्द का भी प्रयोग किया है।[4] रविदास कहते हैं कि मेरा मन हरि से लग गया है और मन्द पड़ गया है।[5] उनकी मान्यता है कि मन ही पूजा, धूप, अर्चना आदि सब कुछ है।[6] वे कहते हैं कि मेरा मन स्थिर होकर हरि रंग में रंग गया है और उसने मेरा वर्ण भी बदल दिया है।[7]

रविदास जी कहते हैं कि जो मुनि मन की दुविधा समाप्त कर देता है वह बिन द्वार के त्रिलोक में व्याप्त हो जाता है।[8] जो मन को जान लेता है वह अमावस के चन्द्र तुल्य हो जाता है। वह जल में तूंबा बन कर तिरता है और जन्म-मृत्यु से

---

2. चंचल मनवां चहुंदिस धावै, पांचौं इंद्री थिर न रह्यवै।
इन मिलि मेरौ मन जु बिगरियौ, दिन दिन हरि जी सू अंतर परियौ।।
—वही पृ० 113
3. कांम क्रोध लंपट मन मोरा, कैसे भजन करौं मैं तोरा।
विषय विषाद विहंडन कारा अमरन सख सरामि भौहारी।।—वही पृ० 114
4. हम मानौं अखिल सूंनि मन सोध्यौ, सब चेतनि सुधि पाई।
ग्यांन ध्यांन सब ही हम जानौ, बूझौं कौन सूं जाई।। —वही पृ० 70
5. बाजीगर सूरंचि रहिये बाजी कूं मरम इनि जाना।
बाजी झूंठ सांच बाजीगर जावना मन पतिआना।। —वही पृ० 73
6. त्यों तुम्ह कारनि केसवै, लालचि जिउ लगा।
निकटि नाथ प्रापति नहीं, मन मंद अभागा।। —वही पृ० 77
7. मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सेऊं सहज सरूप।
पूजा अरचा न जानौं राम तेरी, कहै रविदास कवनगति मोरी।।
—वही पृ० 86
8. सु कछु विचार्यौ, तायें मेरो मन थिरूह्वै रह्यो।
हरिरंग लागौ तायें, मेरो बरन पलटि भयौ।। —वही पृ० 87
सो मुनि मन की दुविधा खाइ, बिनु दुआरे त्रैलोक सुमाई।
मन का सुभाउ सभु कोई करै, करता होई सु अनभै रहै।।
सं० गु० र० बा० पृ० 66

मुक्त हो जाता है।[1]

रविदास जी कहते हैं कि संसार में भटकते-भटकते मेरा मन थक गया है, अब अधिक चलना सम्भव नहीं है।[2] जब तक तब की आशा है तभी तक पुकार है। मन के उससे मिल जाने पर कुछ भी नहीं।[3] जब तक नदी सागर से नहीं मिलती तभी तक हुंकारे भरती है। सागर से मिलने पर शान्त हो जाती है। इसी प्रकार जब मन रूपी नदी राम रूपी सागर से मिल जाती है तो विषय वासनाओं की हुंकार शान्त हो जाती है।[4]

रविदास जी कहते हैं कि मैंने संसार में ममता देखकर भूल की। जब एक मन में ममता हो तब उससे लौ लगती है।[5] मेरा मन ऐसा विमोहित हुआ है कि कुछ सुझाई नही देता।[6] मन को पाठशाला के रूपक के द्वारा समझाते हुए रविदास कहते है कि मन पाठशाला में चल और चित को कागज, नेत्रों को स्याही बनाकर "अ" से अज्ञान "आ" से आसन, "इ" से इला पिंगला पद।[7] यह मन तो मूर्ख है जो

---

1. लो मन बिदै सोई बिद, अमावस मै ज्यूं दीसै चंद।
जल मांहि जैसे तूंबा तिरै, परचै पिंड जीवै नहि मरै॥
सौमन कौन जु मन कूं खाइ, बिन दौरे त्रिलोक समाइ।
मन की महिमा सब कोउ कहै, पंडित सो जो अनभै रहै॥ —वही पृ० 67
2. चंलत चलत मेरो निजमन थाक्यो, अब मोपै चल्यो न जाई।
सोई सहजि मिल्यौ सोई सनमुख रहै रविदास बडाई॥—वही पृ० 68
3. जब लगि है या तन की आसा, तब लगि कहै पुकारा।
जब मन मिल्यौ आस नहीं तन की, तब को गावन हारा॥ —वही पृ० 68
4. जब लगि नदी न समुंद समावै, तब लगि बटे हुंकारा।
जब मन मिल्यौ राम-सागर सूं, तब यहु मिली पुकारा॥ —वही पृ० 69
5. ऐसे मेरा मनु बिखिआ बिमोहिआ, कछु आरा पारू न सूझ।
सगल भवन के नाइका इकु छिनु दास दिखाइ जी॥ —वही पृ० 120
6. मै तैं ममिता देखि सकल जग, मैं तैं भूल गंवाई।
जब मन ममिता ऐक ऐक मन, तब हीं एक है भाई॥ —वही पृ० 69
7. मन रे! चलि चटसार पढाऊँ।
चितु कागदकरि मसि नैनन री, बाराषड़ी सिषाऊं॥
अ—अग्यांन छांडि मन मूरिष आ आसन अचल जगाऊं।
इ—इला पिंगला खोलि किवरिया, सूंनि समाधि रहाऊं॥
—स० गु० र० वा० पृ० 125

राम नाम की ओट छोड़कर तिनके की ओट चाहता है ।[1] यह मन तो माया और अहंकार में खोया हुआ है । विषय वासना से अधाता नहीं ।[2] किन्तु जिस शरीर पर यह मन गर्व करता है वह हाड़ मांस का बना है थूक, राल और विष्टा से भरा है और अन्त में राख हो जाने वाला है ।[3]

मन : दादू—दादूदयाल की मान्यता है कि मन दसों दिशाओं में भटकता है ।[4] इसे स्थिर करना चाहिए ।[5] मन को वश में करने के निमित्त हरि स्मरण प्रमुख अवलम्बन है । जो समस्त संसार में होने वाले शुभ और अशुभ कार्यों का द्रष्टा है, जो सबके हृदय में साक्षी रूप में निवास करता है, जो सबके अन्तःकरण में प्रत्येक कार्य की प्रेरणा देता रहा है, भीतर रहकर सबका नियमन करता है, वही साक्षी और अन्तर्यामी है ।[6] मन को निर्विकार बनाले तब उसे किसी प्रकार की साधना में थी

---

1. देषि मूरिषता यहु मन की ।
   राम नाम कूं छांड़ि अधारौ, गहि ओट छुद त्रिन की ।।
   — स०गु०र०वा० पृ० 127
2. विसा सक्त रहियो निसबासर, अज हुं नहीं अघानो ।
   कामी कुटिल लवार कुचाली, समझाइ नही समुझानो ।। —वही पृ० 127
3. किहि मन टेढो टेढो जात ।
   जाकूं पोषि वहु गरिवानो, हाड मांसु कौ गात ।
   थूक लार विरता कौ बेढौ, अन्त छार ह्वै जात ।। —वही पृ० 128
4. दस दिसि फिरे जु मन है, आवैजाय सो पवन ।
   राखण द्वारा प्राण है, देखन द्वारा ब्रह्म ।।
   —स्वामी दादूदयाल जी की वाणी—12
5. (अ) निसि बासर यहु मन चले, सूक्ष्म जीव संसार ।
   दादू मन थिर कीजिए, आतम लेहु रूधारि ।। —वही
   (ब) रहु रे रहु मन मारौगां, रती रती कर डारौंगा ।
   खण्ड खण्ड करि नाखौगां-जहां राम तह राखौगा । —वही पृ० 389
6. (दादू) बिन अवलम्ब क्यूं रहे, मन चंचल चलि जाइ ।
   सुधीर मनवां तौ रहै, सुमिरण सेती लाइ ।।
   हरि सुमिरण सौं हेत करि, तब मन निहचल होइ ।
   (दादू) बेध्या प्रेमरस, निख चालै ना सोइ ।।
   (जन) अन्तरि उरझूमा एक सौ, (तब) थाके सकल उपाइ ।
   दादू निश्चल थिर भया, तब चलि कहां न जाइ ।
   मन चंचल मेरी कह्यो न मानै, दसौं दिसा दौरावै रे ।
   आवत जात वार नहिं लागै, बहुत भांति बौरावै रे ।
   —वही मन की अंग, 15/16/17

कोई कठिनाई नही हो सकती। इसीलिए दादू जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जब तक साधक का मन सांसारिक विषयों के फेर में फंसा रहेगा, तब तक उसका हरि स्मरण करना पूर्णत: निरर्थक है।[1]

दादू जी ने मन की की पवित्रता से ही शरीर की पवित्रता सिद्ध करने की बात कही है। उन्होंने अपनी साखियों और पदों में बताया है कि किस प्रकार शरीर के विकारों का परित्याग करने के लिए मन को निर्मल करना आवश्यक है।[2]

निर्वैरता—मन के निर्मल हो जाने से शरीर के विकार दूर हो जाते हैं और इस प्रकार तन मन निर्मल हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में सुविधा होती है।[3]

(पृ० 244 का शेष)

सदा सोच रहता थर भीतरि, मन थिर कैसे कीजै रे।
सहजै सहज साधु की संगति, दादू हरि भजि लीजै रे।।
—स्वामी दादूदयाल की वाणी : सुमीरण की अंग, 91

1. दादू विषै विकार सौ, जब लग मन राता।
तब लग चीति न आवई, त्रिभुवनपति दाता।।
(दादू) का जाणौं कब होइगो, हरिसुमिरण इकतार।
का जाणौं कब छांड़ि है, यहु मन विषै विकार।।
—वही सुमिरण को अंग, 66-67

2. मन निर्मल तन निर्मल भाई, आन उपाइ विकार न जाई।
जो मन कोयला तौ तन कारा, कोटि करै नहिं जाइविकारा।
जो मन बिसहर तौ तन भुंवगा, करै उपाइ विषै पुनि संगा।
मन मैला तन उज्जवल नांऔ, बहुत पचि हारै बिकार न जांही।।
मन निर्मल तन निर्मल होई, दादू सांच बिचारै कोई।।
—वही, सबद : राग गौड़ी, 28 (उपदेश)

3. किस सौ वैरी ह्वै रह्या, दूजा कोई नांहि,
किसके अंग थे अपलै, सोई है सब मांहि।
काहे को दु:ख दीजिए, साई है सब मांहि,
दादू एकै आत्मा, दूजा कोई नांहि।
निर्वैरी सब जीव सों, सन्त जन सोई,
दादू एकै आत्मा, बैरी नहीं कोई।
—वही : दया निर्वैरता को अंग, 9/12/4

दादूदयाल जी ने मन के लिए भुवंग[1], हस्ती[2], सूवा[3], मसकरा[4], मींडका[5], रिंद[6], और गुडी[7] आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

दादूदयाल जी के मतानुसार मन में अमृत और विष दोनों ही रहते हैं। विषपान करने वाले मर जाते हैं और अमृत का पान करने वाले अमर हो जाते हैं।[8] जब तक मन में विष व्याप्त है, तब तक त्रिभुवन पति से चित नहीं लगता। दादूदयाल जी कहते हैं कि वह समय कब आयेगा जब स्मृण के तार हरि से जुड़ जायेंगे। वह समय कभी भी आ सकता है जब मन विष त्याग दे।[9]

दादूदयाल कहते हैं कि मन मूर्ख है, क्योंकि विषय वासनाओं में ही जीवन व्यतीत हो जाता है और यह मन स्वप्न में भी भय नहीं खाता तथा भजन से दूर

---

1. मन भुवंग बहु विषमर्‌या, निर्विष क्यौ हीन होइ
   दादू मिल्या गुर गरूड़ी, निर्विल कीया सोई।
   संतवाणी संग्रह भाग-1 पृ० 96
2. हस्ती छूटा मन फिरै, क्यों ही बंध्या न जाइ,
   बहुत महावत पचि गये, दादू कुछ न बसाइ।
   जब लगि यहु मन थिर नहीं, सब लगि दास न हाइ,
   दादू मनवा थिर भया, सहज मिलैगा सोइ। —वही पृ० 18
3. दादू यह तन पिंजरा, माहीं मन सूवा,
   एकै नांव अलाह का, पढ़ि हाफिज हुआ। —वही पृ० 47
4. दादू यहु मन मसकरा—वही पृ० 96
5. दादू यहु मन मींडिका—वही पृ० 96
6. दादू यहु मन रिंद—वही पृ० 96
7. यह मन कागद की गुडी, उडि चढी आकास,
   दादू भीगै प्रेमजल, तब आइ कहै हम पास।
8. विष अमृत घट में बसै, बिरला जाणै कोइ, —वही पृ० 100
   जिन विष खाया ते मुए, अमर अभी सौ होइ।
   —संतबानी संग्रह भाग-1 पृ० 48
9. दादू विषै विकार सौं, जब लग मन राता,
   तब लग चीत न आवई त्रिभुवन पति दाता।
   काजाणों कब होइगा हरि सुमिरण इकतार,
   काजाणों कब छाड़ि है यह मन विषै विकार।
   —दादूदयाल की बानी, भाग-1, पृ० 21

भागता है।[1] मन के विकार त्यागने पर ही उसके दर्शन हो सकते हैं।[2] मन बार-बार प्रयत्न करने पर भी चारों ओर भटकता रहता है।[3] यदि मन के हाथों इसी प्रकार भटकते रहें तो उसे क्या मुंह दिखाओगे।[4]

मनुष्य इन्द्रिय स्वार्थों की पूर्ति तथा मन की मांगों को पूरा करता रहता है।[5] मन जो दिखाना चाहता है, वही देखता है।[6] किन्तु जब वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है, तो कर्मों का नाश हो जाता है।[7] मन जब एक के रंग में रंग जाता है तो, मन अनन्त में नहीं जाता।[8] दादू को महान आश्चर्य है कि मन में कपट होने पर

---

1. मन मूरिखा तैं यौं हीं जनम गंवायौ।
   सांई केरी सेवा न कीन्हीं, इहि कलि काहे कूं आयौ।।
   जिन बातन तेरी छूटिक नाहीं, सोई मन तेरे भायौ।
   करमी ह्वै विषि या संगी लग्यौ, रोम रोम लपटायौ।।
   कुछ इक चेटि बिचारी देखौं, कहा पाप जिय लायौ।
   दादूदास भजन करि लीजै, सुपिने जग डहकायौ।।
   —संतबानी संग्रह भाग-1 पृ० 13
2. दादू राम नाम सौं मिलि रहै, मन के छांड़ि बिकार।
   तौ दिल ही माहैं देखिये दून्यूं का दीदार।। —वही—पृ० 50
3. कोटि जतन करि करि मुए, यह मन दह दिसि जाए।
   राम नाम रोक्या रहै नाहीं आन उपाय।।
   दादू साध सबद सौ मिल रहै, मन राखैं बिलमाइ।
   साध सबद बिन क्यूं रहै, तब बीखरि जाइ।। —वही पृ० 18
4. किया मन का भावतां, मेटी आज्ञाकार,
   क्या ले मुख दिखलाइयें, दादू उस भरतार। वही पृ० 38
5. इंद्री स्वारथ सब किया, मन माँगो सो दीन्ह,
   जाकारण जग सिराजिया, सो दादू कछू न कीन्ह। —वही पृ० 39
6. कहे लखैं सो मानवी, सैन लखै सो साधा,
   मन कीलखै सो देखता, दादू अगम अगाधा। —वही पृ० 58
7. एक महूरत मन रहै, नांव निरंजन पास,
   दादू तब ही देखतां, सकल करम का नास।
   दाइ अचेत न होइये, चेतन सौं चित लाइ,
   मनवां सोता नींद भरि, साईं संगा जगाइ। —वही पृ० 36
8. आदि अन्त सोई घर पाया, इब मन अनत न जाई,
   दादू एक रंगै रंग लागा, ता में रह्या समाई। —वही पृ० 47

मुरारी क्यों मिले ।[1]

मन : सुन्दरदास—मन के स्वरूप के सम्बन्ध में सुन्दरदास का मत है कि यह फरिक जैसा है । कभी साधु, तो कभी चोर, तो कभी राजा और कभी रंक है ।[2] संकल्प और विकल्प करना इसका स्वभाव है ।[3] किन्तु अज्ञान के कारण मन के स्वभाव को पूर्ण रूप से समझना भी कठिन है । क्योंकि पल-पल में यह परिवर्तनशील है। यह नीति देखता है और न अनीति, शुभ न अशुभ, पल में ही होनी को अनहोनी कर देता है । गुरु, साधु और लोक की कोई लज्जा इसे नहीं । यह किसी की मानता है और न किसी से डरता है ।[4]

सुन्दरदास जी के अनुसार मन की गति देखना कठिन है। यह पल में मरता है और पल में जीता है । पल में अपने पास और पल भर में दूसरे के हाथों में बिक जाता है । पल मात्र में ही नवखंड और ब्रह्मांड का चक्कर लगा आता है । यह

---

1. कहै दादू मोहि अचरज भारी,
   हृदय कपट क्यों मिलैं मुरारी । —संतबानी संग्रह भाग-1, पृ० 442

2. कबहूंक साधु होत, कबहूंक चोर होत,
   कबहूंक राजा होत, कबहूंक रंक सो,
   मन को सरूप ऐसो, सुन्दर फरिक जैसो । (19)
   —सुन्दर विलास पृ० 54-55

3. मन और देखिये तौ, मन को सुभाव एक,
   संकल्प बिकल्प करै, सदा ही अज्ञान है ।
   आतम बिचार किये, आतमाही दीसै एक,
   सुन्दर कहत कोऊ, दूसरो न आन है ।
   —संतबानी भाग-2 पृ० 100

4. घेटिये तौ घेरे हू, न आवत है मेरो पूत,
   जोई परबोधिये, सो कान न धरतु है ।
   नीति न अनीति देखै, सुभ न असुभ पेखै,
   पल ही में होती, अनहोती हू करतु है ।।
   गुरु की न साधु की, न लोक वेयहू की संक,
   काहू की न मानै, न तौ काहू ते डरतु है ।
   सुन्दर कहत ताहि, धीजिये सु कौन भाँति,
   मन को सुभाव, कछु कह्यो न परतु है ।। —वही पृ० 99

अनदेखा देख लेता है। अनजाना, जान लेता है।[1]

सुन्दरदास जी का मत है कि मन तो मलीन है और विषय वासना और तृष्ना से भरा है। मनुष्य इसका तनिक निवारण नहीं करता। जिस प्रकार कोई अधिक आभूषण बनवाकर अपने ऊपर लाद लेता है, उसी प्रकार मन लदा है। मन उनसे निसंक होकर खेलता रहता है।[2] सुन्दरदास जी धैर्य पूर्वक विचार करने के लिए कहते हैं कि मन की भूख अमिट है, जो तीनों लोकों को खाकर भी शान्त नहीं होगी।[3]

मन ही भ्रम का कारण है। इसी के कारण रस्सी, सांप और सांप रस्सी दिखाई पड़ती है। मन ही मरीचिका का कारण है।[4] सुन्दरदास जी कहते हैं कि मुझे

---

1. पल ही में मरि जाय, पल ही में जीवतु है,
   पल ही में पर हाथ, देखत बिकानो है।
   पल ही में फिरै, नव खंड हू ब्रह्मांड सब,
   देख्यो अनदेख्यो सो तौ, या तें नहिं छानो है।
   जातो नहिं जानिरात, आवतो न दीसै कछु,
   ऐसे सी बताइ अब, ता सूं परचो पानो है।
   सुन्दर कहत या की, गति हू न लखि परै,
   मन की प्रतीति कोऊ, करै सो दिवानो है॥
   —संतबानी भाग-2, पृ० 99
2. जानीं की सी बात कहै मन तो मवीन है,
   बासना अनेक भरि नेक न निवारी है,
   जैसे कोऊ आभूषण अधिक बनाइ राखै,
   कलई उपर करि भीरत भागरी है।
   ज्यूं ही मन आवै त्यूं ही खेलत निसंक होइ,
   जान ब्रनि सीखी लियो, ग्रंथ न विचारी है॥
   सुन्दर कहत वा के अटक न कोउ आहि,
   जोई का सूं मिलै जाइ ताही कूं बिगारी है। —वही पृ० सं० 104
3. धीरज धारि बिचार निरंतर, तोहि रच्यो सोइ आपुहि ऐहै।
   जेतिक भूख लगी धर प्राणहिं, तेतिक तु अनयासहि पैहै॥
   जो मन में तृष्ना करि धावत, तौ तिहुं लोक न खात अघै है।
   सुन्दर तू मत सोच करै कछु, चोंच दई जिन चूनहू दैहे॥—पृ० 101
4. मनहीं के भ्रम, जेवरी में उपजत सांप,
   मन के बिचारे सांप, जेवरी समात है।
   मनहीं के भ्रम तें मरीचिका कूं जल कहै,
   मनहीं के भ्रम, रूपो सो दिखात है॥ —सुन्दर बिलास पृ० 56

तो रात दिन मन की शंका रहती है ।[1]

सुन्दरदास जी कहते हैं कि मन में मल उत्पन्न हो जाने से मन दर्पण मैला हो जाता है और ज्ञान के अभाव में मन दर्पण में निज रूप (आत्मा) दृष्टिगोचर नहीं होता ।[2]

मन तो शैतान है । इसे तो अपनी कैद में रखना चाहिये[3] इसके हाथ में कल्पना का जाल है जिसे निःकल्प से काटा जा सकता है ।[4]

सुन्दरदास जी ने भजन के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तन और मन से दूर जो भजन है वही अखंडित है ।[5]

मन : मलूकदास—मलूकदास जी ने मन और प्रेम के सम्बन्ध में कहा है कि जब मन के पखावज पर प्रेम के तार बजने लगते हैं तो मन मग्न होकर नाचने लगता है ।[6] जिसके हृदय में प्रेम का वास है उसके अन्तर्गत का भाव अन्तरज्ञानी

---

1. हम कूं तौ रैन दिन, सकं मन माहिं रहै,
उनकी तौ बातनि में, ठीकहु न पाइये ।
कबहूं संदेसा सुनि, अधिक उछाह होइ,
कबहूंक रोइ रोइ, आंसुन बहाइये ।। —संतबानी भाग-2 पृ० 96
2. आप न देखत है अपनो मुख, दर्पण कारै लग्यो अति शूला ।।
ज्यूं हम देखत तें रहि जात, भयो जबहिं पुतरी परि फूला ।।
छाय अज्ञान रह्यौ अभि अंतर, जानि सकै नहिं आतम भूला ।।
सुन्दर यूं उपजे मन के मल, ज्ञान बिना निज रूपहि भूला ।।
—वही पृ० 97
3. नफस सैतान कूं आपने कैद कर,
क्या दुनी में फिरै खाय गीता ।
है गुनेगार भी गुनाही करत है,
खायगा मार तब फिरै रोता (2) —सुन्दरविलास—पृ० 9
4. जां-जो मन में कल्पना सो सो कहिये काल ।
सुन्दर तू निःकल्प है । छाडि कल्पना जाल ।। —संतबानी संग्रह पृ० 105
5. एक भजन तन सौं करै एक भज मन होइ ।
सुन्दर तन मन के परे भजन अखंडित सोइ । —वही पृ० 103
6. करै परवावज प्रेम का हृदे बजावै तार ।
मनै नाचावै मगन है, तिस का मता अपार ।
—संतबानी संग्रह भाग 1 पृ० 96

जान लेता है।[1]

मलूकदास जी मन और शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं कि मन गया तो जाने दे, शरीर तो दृढ़ रख। बिना जिह चढी कमान के तीर नहीं लगता।[2]

इस मन का कोई भरोसा नहीं, न जाने कहां मार दे।[3] मन पर विजय पाना बहुत कठिन है। वास्तविक जीत इसे जीतने में ही है।[4] मन जीते बिना, साधना में सफलता पाना सम्भव नहीं है। उनका ज्ञान, अज्ञान ही है।[5] मलूकदास जी कहते हैं कि नील का दाग साबुन से साफ हो जाता है, किन्तु कौवा कभी हंस की चाल नहीं चल सकता।[6] जिस प्रकार पत्थर पर तलवार का वार करने पर तलवार टूट जाती है, उसी प्रकार मूर्ख को समझाना भी व्यर्थ है।[7]

मलूकदास जी के अनुसार मन का सिर नीचे की ओर और माया के अभिमान में भूला हुआ मानव गर्व में गलता है।[8] जिसके मन में अभिमान है, उसकी मुक्ति नहीं।[9] मन की उत्तम स्थिति के सम्बन्ध में मलूकदास कहते हैं कि प्रत्येक रंग में, मन

---

1. जो तेरे घट प्रेम है तो कहि कहि न सुबाव।
   अंतरजामी जानि है अंतरगत का भाव ॥ —संतबानी भाग 1, पृ० 96
2. जो मन गया तो जान दे, दृढ करि राखु सरीर।
   बिन जिह चढी कमान का, क्या लगेगा तीर ॥
   —मलूकदास की वाणी पृ० 34
3. दाग जो लगा नील का, सौ मन साबुन होय।
   कौटि बार समझाइया, कौवा हंस न होय ॥ — संतबानी संग्रह पृ० 34
4. कोई जीति सकै नही यह मन जैसे देव।
   या के जीते जीत है अब मैं पायो भेद ॥ —वही पृ० 99
5. मन जीते बिन जौ करै, साधन सकल कलेस।
   तिन का ज्ञान अज्ञान है, नारिगुरु उपदेस ॥
   —मलूकदास की बानी पृ० 34
6. तै मत जानै मन मुवा तब करि डारा खेत।
   ता का क्या इतबार है जिन मारे सकल बिदेह ॥ —सं० वा० सं० पृ० 99
7. मूरख को का बोधिये, मन में रहो विचार।
   पाहन मारे क्या भया, जहं टूटै तलवार ॥ —मलूकदास की बानी पृ० 34
8. बाबा मन का है सिर तले।
   माया के अभिमान भूले, गर्व ही में गले ॥ —वही पृ० 22
9. जरन खुदी रघुनाथ के, मन नाहिं सोहाति।
   जा के जिय अभिमान है, ता की तोरत छाती ॥
   —मलूकदास की बानी पृ० 17

में दुविधा का उत्पन्न न होना, मन की उच्चता है।[1] मन चार-पांच, बीस के चक्कर में बंधा है।[2] मन तो मृग है जो चारों ओर चरता हुआ फिरता है। ज्ञान ही इसकी दिशा बदल सकता है।[3]

मन : नानक—गुरु नानक देव ने मन की उत्पत्ति पंच तत्वों—आकाश, पवन, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से मानी है।[4] इसके दो रूप हैं—जोतिर्मय मन और अहंकारमय मन।[5] जोतिर्मय को यह बोध रहता हैं कि परब्रह्म परमात्मा मेरे साथ है। उसमें आध्यात्मिक मन निहित है।[6] अहंकारमय मन इसके विपरीत होता है।

गुरु नानक मन को मार कर परमात्मा को पाने का उपदेश देते हैं।[7] एक स्थान पर वे मन को राजा कहते हैं। जिस प्रकार एक राजा दूसरे राजा के वशीभूत होता है, साधारण व्यक्ति के अधीन नहीं होता, इसी भांति अहंकार युक्त मन रूपी राजा अपने से शक्तिशाली राजा ज्योतिर्मय मन के अधीन हो जाता है। इसी भांति मन मन ही में समा जाता है।[8] मन मन द्वारा समा गया है।[9]

गुरु नानक देव ने बतलाया है कि मन नाम के बिना मछली, भ्रमर, हाथी, दादुर के समान भटकता फिरता है। पर उसे शान्ति नहीं प्राप्त होती। यदि उसे शान्ति प्राप्ति होती है, तो प्रभु की शरण ग्रहण करने से।[10]

गुरु नानक अनुभव करते हैं कि मन अत्यन्त अनुरागी और निर्मल हो गया।

---

1. सबरंग खेलै सम रहै, दुबिधा मन हि न आनै।
   कह मलूक सोइरावला, मेरे मन मानै॥ —मलूकदास की बानी पृ० 20
2. काहू के मन चार पांच की, काहू के मन बीस।
   काहू के मन सात आठ की, सब बांधे जगदीस॥ —वही पृ० 12
3. मन मिरगा बिन मूड का, चहुं दिस चरने जाया।
   हांक ले आया ज्ञान तब, बांधा तांत लगाय॥ —वही पृ० 32
4. इहु मनु करमा इहु मन धरमा।
   इहु मनु पंच ततु से जनमा॥ —श्री गुरु ग्रंथ साहिब पृ० 415
5. मनु तूं जोति स्वरूपु है आपणा मूल पछाणु। —वही पृ० 441
6. मन महि माणकु लाल नामु रतनु पदारथु हीरू। —वही पृ० 22
7. नानक इहु मनु मारि मिलु भी, फिरि दुखु न होई।
   —श्री गुरु ग्रंथ साहिब पृ० 21
   ना मनु मरै न माइआ मरै। वही पृ० 1342
8. श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 1233
9. मनु राजा मनु ते मनिआ मनसा मनहि समाइ। —वही पृ० 1125
10. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब—पृ० 1187-88

मैंने परमात्मा को छोड़कर दूसरे को जाना नहीं। ऐसी बुद्धि हमें सद्गुरु ने प्रदान की। इस प्रकार अगम, अगोचर अनाथु एक परमात्मा को जान लिया। इस प्रकार मन हरिरस से परिपूर्ण हो गया और मन से मन मान गया, यह शान्त और निश्चल हो गया, उसकी सारी दौड़ समाप्त हो गयी।[1]

दिन चढ़ने पर मन के अनेक रास्ते हो जाते हैं। अनेक सांसारिक झमेले में मन बंट जाता है, मन की मति बिखर जाती है। मन अनेक वासनाओं में बंट जाता है। प्रपंचों में पड़ा मनुष्य उभर नहीं पाता।[2]

कुतर्क : महावीर

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।[3] साध्य और साधन के सार्वकालिक सार्वदैशिक और सार्वव्यक्तिक अविभावसम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।[4] मुनि नथमल के अनुसार अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है। पर्वत सिद्ध होता है और अग्नि भी। अनुमान इन्हें नहीं साधता। वह "इस पर्वत में अग्नि है" इसे साधता है। इस सिद्धि का आधार व्याप्ति है।[5]

महावीर ने कहा है कि अपने-अपने मत की प्रशंसा करने में और दूसरों के मत की निन्दा करने में जो पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार में बंधे रहते हैं।[6] इसे कुतर्क कहा जा सकता है।

बहुत से ऐसे हैं जो कुतर्क करने में ही अधिक रुचि लिया करते हैं। अन्य सच्चे हो भी, तो भी उनकी अउपासना नहीं करते। वे अपने मार्ग को ही सरल समझते हैं, वे वास्तव में धर्माधर्म को नहीं जानते। वे पिंजरे में बंद पक्षी हैं और दुःखी ही रहते हैं।[7]

---

1. श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 1232-33
2. दूजै बहुते राह मन कीआ मती खिडीआ।
   बहुत पए असगाह गोते खाहि न निकलहि॥ —नानक वाणी पृ० 191
3. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह। —परीक्षामुख, 3/11
4. जैन दर्शन—पृ० 230
5. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 591
6. सयं सयं पसंसंता गरहता परं वयं।
   जे उ तत्थ वि उस्संति संसारं विउस्सिया॥ —सू० 1, 1 (2) : 23
7. एवमेणे वियवकरहिणो अण्णं पज्जुवासिया।
   अप्पणे य वियक्काहि अयमंतू हि दुम्मई॥
   एवं तक्काए साहेंता धम्माधम्मे अकोविया।
   दुक्खं ते णातिवहांति सउणी पंजर जहा॥ —सू० 1, 1 (2) : 21-22

महावीर कहते हैं कि तर्क से दूसरे के भाव को न समझ कर आदेश करने से, दूसरा श्रद्धा न करके क्षुद्रता धारण कर सकता है और आयुक्ष भी कर सकता है। अनुमान से अभिप्राय समझना उचित है ।[1]

कुतर्क : मलूकदास—मलूकदास ने स्पष्ट रूप से कुतर्क का विरोध करते हुए कहा है कि वाद-विवाद नहीं करना चाहिये, व्यर्थ की बकवास करने वाला कष्ट ही पाता है। अज्ञानी से भी कुतर्क न करके हार मान लेना उचित है ।[2] जो मूर्ख है उसे समझाना इसी प्रकार व्यर्थ है जैसे पत्थर पर तलवार से वार करना ।[3]

संत कवियों ने राम रसायन पीने तथा हरि की सत्ता पर तर्क करने की निन्दा की है तथा इसे कुतर्क की श्रेणी में रखा है ।[4]

माया : महावीर

महावीर के अनुसार माया के कारण इहलोक और परलोक में बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतः माया का परित्याग श्रेष्ठ है ।[5] आत्मा का कुटिल भाव माया है। इसे दूसरे शब्दों में निवृति या वंचना भी कहते हैं।

---

1. केसिचि तक्काए अबुज्झ भांव खुद्दंपि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
   आउस्स कालातियारं बघातं लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥—सू० 1, 13/20
2. मलूक बाद न कीजिये, क्रोधै देव बहाय ।
   हार मानु अनजान तें, बकि बकि मरै बलाय ॥
   —संतबानी संग्रह, भाग 1, पृ० 97
3. मूरख को का बोधिये, मन में रहो बिचार ।
   पाहन मारे क्या भया, जहं टूटै तलवार ॥ —वही पृ० 97
4. बाद-बिबाद काहू सिउ न कीजै ।
   रसना राम रसाइनु पीजै ॥ —वही पृ० 109
   वाद छाडि रे भगता भाई । हरि सी तैं निधि पाई ।
   राम तजि मेरी मन अनत न जाई (टेक)
   जय माला तागै पोई । सरीर अंतरि है सोई ॥
   वादि विमुष हरि बिनु दिन बोई ।
   राम नाम जपि लोई । परम तत है सोई ।
   तोनौ रे त्रिलोक व्यापै दूजों नहिं कोई ॥ —वही पृ० 138
5. इहय परत्तय लोय दोसे बहुए य आवहइ माया ।
   इदि अप्पण्णे गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ।—भग०आ० 1435.

माया पांच प्रकार की होती है—निकृति (लोभी मनुष्य को फंसाने सम्बन्धी) उपाधि (चोरी सम्बन्धी) सातिप्रयोग माया (धन के सम्बन्ध में असत्य बोलना) प्रणिधि (सच्चे और झूठे पदार्थ मिलाना) प्रतिकुंचन (आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना)। जहाँ कहीं भी माया का प्रभाव होता है वहीं क्रोध, मान और लोभ उपस्थित रहते हैं और इनके सभी दोष भी प्रकट हो जाते हैं।[1] माया में निमग्न जीव को निम्न स्तर का गोत्त प्राप्त होता है। वह स्त्री, नपुसंक और तिर्यक के रूप में जन्म लेता है। माया के कारण जीव सैकड़ों जन्मों में बार-बार वंचना का शिकार होता है।[2] मायावी जीव मिथ्या दृष्टि तथा अमायावी सम्यग्दृष्टि होता है।[3] माया मित्रता का नाश करती है।[4] मनुष्य विषय-वासना में रत अपना ही अनिष्ट कर रहा है। जैसे कुत्ता हड्डी को चबाता है, हड्डी के मुंह में चुभने से खून निकलता है पर वह उसे अपने खून के अतिरिक्त हड्डी का रस ही समझ कर चूसता है और आनन्द का अनुभव करता है। यही स्थिति माया में लिप्त मनुष्य की है।[5]

माया : नामदेव—नामदेव कहते हैं कि जगत में दिखाई देने वाली अनेकता दिखावा व धोखा मात्र है। इसके पीछे काम कर रही शक्ति ही केवल सत्य है। द्वैतमाया का पैदा किया हुआ भ्रम है। इस असलियत का ज्ञान प्राप्त करने में ही इन्सान का छुटकारा है, नहीं तो वह दिखाई देने वाली अनेकता की भूल-भुलैया में फंसकर रह जायेगा। परन्तु इस सत्य का ज्ञान सिर्फ पूर्ण सतगुरु की मदद से ही प्राप्त होता है।[6] प्रभु रचना के कण-कण, पत्ते-पत्ते, जर्रे-जर्रे में व्यापक नजर आता

---

1. कोहो माणे लोहो य जत्थ माया वितत्थ सण्णिहिदा।
   कोहमद लोह दोसा सव्वे मायाएते हो ति॥—भग०आ० 1387
2. (अ) माया करेदि णीचागोदंइच्छी णवुंसयं तिरियं।
   माया दोसेण य भवसस्सु डमिज्जदे बहुसो॥—भग०आ० 1386
   (ब) माई पमाई पुणएइ गब्भं—आचा० 1/3/9
3. माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।—द० 8/38
4. माया मित्ताणि नासेई।—दश०8/38
5. चाटे निजलाला मिलित, शुष्क हाड ज्युं श्वान।
   तेसे राचे विषय में जउ निजरुचि अनुमान॥
6. एक अनेक बिआपक पूरक जत देखउ तत सोई॥
   माया चित्रबचित्र विमोहित बिरला बझे कोई॥
   सभु गोविंदु है गोविंदु है सभु गोविंद बिनु नहीं कोई॥
   सूतु एक मणि सत संहस जैसे ओति पोति प्रभु सोई॥
   जल तरंग अरु फेन बुदबुदा जल ते भिन्न न होई॥
   —आदि ग्रंथ—पान 485

है, परन्तु अज्ञानी माया के भ्रम में, आवागमन के चक्कर और कर्मों के जाल में फंसा रहता है।[1]

माया : कबीर—कबीर ने माया को भ्रम-रूप माना है उनकी मान्यता है कि बुद्धि में भ्रम विकार उत्पन्न कर देता है। जिसके कारण सत्य के स्थान पर मिथ्या की प्रतीति होने लगती है और वास्तविक ज्ञान भूल जाता है।[2] जैसे अंधकार में रज्जु भ्रम के कारण सर्प हो जाती है। इस मिथ्या ज्ञान के कारण ही मनुष्य सर्प से भयभीत हो जाता है, जबकि वास्तव में वहाँ सर्प न होकर रज्जु मात्र है।[3] सूर्य के प्रकाश में इस भ्रम के अंधेरे का नाश हो जाता है सर्प एवं रज्जु का भेद स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होने पर माया का अंधकार दूर हो जाता है।[4]

कबीर मानव-बुद्धि में व्याप्त भ्रम को माया मानते हैं। यही कारण है कि मनुष्य नामरूपात्मक जगत्, शरीर और इन्द्रियों आदि को ही सत्य मानता है और इनके मोह में उलझ कर रह जाता है। सत्य को भूल जाता है।

डा० रामजीलाल सहायक ने कबीर के माया सम्बन्धी विचारों के आधार पर लिखा है कि—"शुद्ध अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्वशक्तिमती माया के प्रभाव से अपने को उदाधियुक्त कर नाना जीव-विषयों से युक्त होकर जगत् के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसे सामूहिक माया कहा जा सकता है और हम कल्पना कर सकते हैं कि जीव अविद्या से ग्रस्त एक ब्रह्म के स्थान में नाना विषय और जीव देखता है। यह व्यक्तिगत माया अथवा अविद्या है। दोनों बातें एक ही है, भ्रम-मात्र है।

---

1. अकुल पुरख इकु चलितु उपाइआ। घटि घटि अंतरि ब्रह्मु लुकाइआ ॥
   जीअ की जोति न जाने कोई। तै मैं किआ सो मालुम होई ॥
   जिउ प्रगासिआ माटी कुंभेउ। आपहि करता बीठुलु देउ ॥
   जीअ का बंधनु करमु बिआपै। जो कछु किआ सु आपै आपै ॥
   —वही पृ० 1351
2. भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूंठे नांउ सांच ले धरिया।
   —क० ग्र० पृ० 237
3. ज्यूं रजनीरजु देखत अंधियारी, उसे भुवंगम बिन उजियारी।
   झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिना भुवंगम डसी दुनियांई ॥
   —क० ग्र० पृ० 237
4. रजनीं गत भई रवि परकासा,
   भरम करम धू केर विनासा। —वही पृ० 237

कबीर द्वारा प्रयुक्त भ्रम तो माया है और कर्म अविद्या है।[1]

माया को न सत् कहा जा सकता है, न असत् और न उभय रूप ही। माया का क्षेत्र जगत् है। जगत् के विषय जो माया युक्त है, परिवर्तनशील होने के कारण सत् नहीं हैं, किन्तु उन्हें बंध्या-पुत्र के समान सर्वथा आसत् या तुच्छ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें भी सत्ता है, जो उनके रूप में आभासित हो रही है। इस कारण वे अनिवर्चनीय है। यह समस्त विषय-संसार और उसकी जननी माया या अविद्या भी सत्-असत् से विलक्षण अनिवार्य है।[2]

कबीर के अनुसार माया रूपी बेल विरोधात्मक गुण-सम्पन्न है। यह बेल काटने अर्थात् उपभोग करने पर अधिक आकृष्ट करती है और यदि ईश्वर ध्यानरूपी जल से सींचा जाता है, तो अपने आप कुम्हला जाती है। ऐसी बेल को न अभिन्न और न भिन्न ही तथा उभयरूप भी नही कहा जा सकता। यह न अंगवाली है, न अंगरहित। यह तो अनिर्वचनीय है।

कबीर माया को काल्पनिक एवं सारहीन ही मानते हैं। माया का असत्-रूप शशक के सींग की नाई कुछ भी नहीं। बंध्यास्त्री से पुत्रोत्पत्ति की आशा व्यर्थ है, काल्पनिक ही है। बिना बियाई गाय से दूध पाने की इच्छा करना भी निस्सार ही है। आंगन में बेल है और फल उसका आकाश में है, तो उस फल को कौन तोड़ सकता है। माया के द्वारा जगत् भी असत्य है। उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है।[3] कबीर ने माया को प्रसवधर्मिणी कहा है, वह संहार का विलयधर्मिणी भी है। अतः सृष्टि का लय भी माया के द्वारा होता है। उत्पत्ति के उलटे क्रम से विलय होता है।[4] माया चंचल एवं परिवर्तनशील है। वह वायु के समान धारा प्रवाह में प्रवाहित होती रहती हैं।[5]

कबीर माया को त्रिविध ताप, दुःख और संताप का ऐसा वृक्ष मानते हैं, जिसमें शीतल छाया का नाम भी नहीं तथा फल खट्टे हैं। तन भयंकर ज्वाला है।[6]

---

1. कबीर दर्शन : —पृ० 190
2. कबीर दर्शन—पृ० 190
3. आंगणि बेलि अकास फल, अण ब्यावर का दूध।
   ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत॥ —क० ग्र० पृ० 86
4. संजोगैं करि गुंण धन्या, बिजोगैं गुंण जाई। वही—पृ० 239
5. कबीर माया डोलनी पवन बहै हिवधार।
   जिनि बिलोया तिन पाइया अवन बिलोवनहार॥ —क० ग्र० पृ० 257
6. माया तरवर त्रिविधि का, साखा दुख संताप।
   सीतलता सुपिनैं नहीं, फल फीकों तन ताप॥ —वही पृ० 34

माया स्वभाव से व्यभिचारिणी है।[1] कणक, कामिनी व्यभिचारी स्वभाव में सहायक है।[2] कबीर का कथन है कि यह एकत्व के स्थान पर अनेकत्व की स्थापना करती है।[3]

कबीर ने माया को महती दुराचारिणी कहा है। यह सुन्दर, आकर्षक एवं मनमोहक है। इसने मनुष्य तो क्या महान योगियों को भी भ्रष्ट कर दिया है। प्रभु भजन द्वारा ही इससे छुटकारा सम्भव है।[4] माया कुटिल स्वभाव की है। यह एकत्व के स्थान पर अनेकत्व की स्थापना करती है। भेद बुद्धि के ही कारण संसार क्लेश, द्वेष, घृणा, मोह आदि की अग्नि में जलता रहता है।[5] अतः माया पापिनी है।[6] कबीर ने माया को डायन,[7] डंकनी,[8] सर्पनी,[9] ठगौरी,[10] आदि नामों से सम्बोधित किया है।

---

1. माया तजूं तजी नहीं जाए, फिरि फिरी माया मोहि लपटाइ ॥
   माया आदर माया मांन, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन ॥
   माया इस माया कर जांन, माया कारणि तजै परांन ॥
   माया जप तप माया जोग, माया बांधे सब ही लोग ॥—वही पृ० 114
2. माया की झलजग जल्या, कनक कांमिणीं लागि ।
   कहु धौ किहि विधि राखिये, रूई पलेटी आगि ॥ —वही पृ० 35
3. मोर तोर करि जरे अपारा, मृग तृष्णां झूठी संसारा ।
   माया मोह झूठ रहयौ लागी, का भयौ इहां का ह्वैहै आगी ।
   —वही पृ० 233
4. कहत कबीर सुहाग सुन्दरी, हरि भजि ह्वै निस्तारा ।
   सारा खलक खराब किया है, मानस कहा बिचारा ॥—वही पृ० 122
5. मोर तोर करि जरे अपरा, मृग, त्रिष्णां झूठी संसारा, ।
   माया मोह झूठ रहयौ लागी, का भयौ इहां का ह्वैहै आगी ॥
   —क० ग्र० पृ० 233
6. कबीर माया पापणीं, लालै लाया लोग ।
   पूरी किनहूं न भागई, इनका इहै बिजोग ॥ —वही पृ० 32
7. या डाइन्ह लै लरि का पांच रे,
   निस दिन मोहिन नंचावै नांच रे । —वही पृ० 168
8. कबीर माया डाकणीं, सब किसी ही कौं खाइ । —वही पृ० 34
9. इहि सर्पनी ताकी कीती हाई, बल अबल क्या इसते होई । —वही पृ० 327
10. हरि ठग जग कों ठगौरी लाई, हरि कै वियोग कैसे जीऊ मैरी माई ।
    कहै कबीर ठंग सौं मन मांना, गई ठगौरी ठग पहिचाना ।
    —वही पृ० 116

कबीर ने समष्टिरूप माया का वास एवं विस्तार सम्पूर्ण विश्व[1] के अतिरिक्त मन[2] में भी माना है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, तृष्णा आदि इसकी सन्तान हैं।[3] कबीर के मतानुसार माया ब्रह्माश्रित है।[4] यह जादूगर के खेल के समान है।[5] संसार की व्यावहारिक सत्ता को अन्ततम समझकर मूल तत्व ब्रह्म को भूल गये हैं। तीन गुण युक्तमाया की शक्ति में वह छिप गया है।[6]

कबीर ने तात्विक दृष्टि से माया के एक किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से तीन प्रकार का बताया है—मोटी माया, झीनी माया और विद्यारूपिणी माया (संतों की दासी माया)।

मोटी माया—कबीर ने इसे कर्मरूप माया भी कहा है। माया इस स्वरूप में संसार के भौतिक पदार्थ हैं। मनुष्य जगत् के नाम रूपों के द्वारा ही आकर्षित होकर कर्मों में प्रवृत्त होता है। इसके अन्तर्गत धन, सम्पदा, कनक, कामिनी और वैभव आदि आते है। कबीर ने इसकी कटु आलोचना की है।[7]

झीनी माया—भ्रम रूपी माया को कबीर ने झीनी माया कहा है। माया का यह स्वरूप झीना अर्थात् बारीक है परन्तु प्रबल शक्तिशाली है। इससे बचना

---

1. कीड़ी कुंजर में रही समाई,
   तीन लोक जीत्या माया किनहूं न खाई। —वही पृ० 166
2. इक डांइनि मेरे मन में बसै रे,
   नित उठि मेरे जीवन कौं डसै रे। —वही पृ० 168
3. वही पृ० 168
4. तू माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़े। —वही पृ० 151
5. तेतौ आदि निनार निरांजना, आदि अनादि न आंना।
   कहत सुजन कौं कीन्ह जग, आपै आप भुलांना। —वही पृ० 227
6. कहन सुनन कौं जिहि जुग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहुं न चीन्हां।
   सत रज तम थैं कीन्हीं माया, आपण मांझै आप छिपाया।
   —क० ग्र०
7. रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
   राम नाम बिन बूडिहैं, कनक कांमणीं कूप॥ —वही पृ० 34
   तथा
   माया की झल जग जल्या, कनक कामिणीं त्यागि।
   कहु धौ किहि विधि राखिये, रूई पलेटी आगि॥ —वही पृ० 35

कठिन है। कबीर ने इसकी घोर भर्त्सना की है।[1]

विद्या-रूपिणि माया—कबीर माया के विद्यारूपी स्वरूप को संतों के लिये उपयुक्त समझते हैं। क्योंकि इसके आश्रय से जगदीश का साक्षात्कार सम्भव है। माया का यह रूप निज रूप पहिचानने में सहायक है।[2] कबीर ने माया को करता का खेल कहा है।[3] एक स्थान पर कबीर ने स्वयं माया के मुंह से कहलाया है "जाकी में भंधी सो मेरा भंषा"[4] कबीर अन्त में यहां तक कहते हैं कि माया विषय है कुछ समझ में नहीं आता।[5]

माया : रविदास—रविदास ने माया के विधेयात्मक और कल्याणकारी रूप की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने माया के केवल निषेधात्मक रूप का ही अधिक वर्णन किया है। माया की यह निषेध-रूपता दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है उसके अनस्तित्व विषयक प्रश्न पर और उसके द्वारा जीवन तथा साधना में उत्पन्न होने वाली हानियों के कारण। जहां तक माया के अनस्तित्व का प्रश्न है, यह निषेध स्थिति मे भी दो रूपों में पाई जाती है। प्रथम तो वैचारिक रूप से ही उसको अनास्तित्ववान माना गया है, द्वितीय रूप यह है कि वह नष्ट प्राय: है, नश्वर है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से यह दोनों दृष्टियां एक-दूसरे से मूलतः कुछ भेद युक्त हैं। किन्तु व्यावहरित रूप में उनका प्रभाव तथा उनके द्वारा उत्पन्न माया के प्रति प्रतिक्रिया एक ही सी होती है। अस्तु माया को अनस्तित्ववान मानते हुए संत रविदास कहते है : कि यह माया पूर्णत: झूठ है, मिथ्या है। अविद्या के परिणाम-

---

1. माया मुई न मन मुवा, मुरि मरि गया सरीर।
   आसा त्रिष्णा नां मुई, यौं कहि गया कबीर॥ —वही पृ० 33

   तथा

   माया तजी तौ का भया, मानि तजि नहीं जाइ।
   मानि बड़े मुनियर मिले, मानि सबनि कौं खाई॥ —वही पृ० 34

   तथा

   कबीर माया जिनि मिलै, सौ बिरियां के बाल।
   नारद से मुनियर मिले, किसौ भरौसौ त्याह॥ —वही पृ० 35
2. माया दासी संत की, ऊं भी देह असीस।
   बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमिर जगदीस॥ —क० ग्र० पृ० 33
3. कहै कबीर करता की बाजी, एक पलकराज बिराजी। —वही पृ० 117
4. वही पृ० 180
5. वही पृ० 177

स्वरूप वस्तु ज्ञान "विवेक" मलिन हो जाने से यह व्यर्थ का आभास अथवा एक विवर्त मानता है। संत रविदास माया के अनस्तित्व को एक सुंदर बिम्ब देकर स्पष्ट करना चाहते हैं। जिसमें उन्होंने दान-विहीन अनाज को फटकने के बाद अनाज को प्राप्त करने की विफल चेष्टा के उदाहरण से इस संसार (माया) के बीच कुछ प्राप्त करने का निष्फल प्रयत्न बता कर माया को झूठा या अनस्तित्वान सिद्ध किया है। माया की निषेधात्मक स्थिति के द्वितीय बिंदु अर्थात् उसकी नष्ट प्रायता पर आने से पहले प्रश्न यह उठता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, उसका नाश कैसे होता है, वह नष्टप्राय है, यह कैसे कहा जा सकता है। यह प्रश्न दर्शन का ही एक जटिल प्रश्न है और यहाँ कहना पड़ता है कि माया पूर्णतः अनस्तित्वमय नहीं है। संत रविदास भी उसी अनिर्वचनीय स्थिति को मानते हैं।[1]

संत रविदास ने माया के अनिष्टकारी रूप को पर्याप्त प्रभावशाली माना है। उनके कथानुसार सम्पूर्ण जगत् ही माया के वश में आ जाता है। उसके प्रभाव से बालक, वृद्ध, युवक, स्त्री, पुरुष, योगी, साधु सन्यासी और यहां तक कि देवता भी नहीं बच पाये हैं।[2]

संत रविदास ने स्थूल माया का प्रतीक सम्पूर्ण परिवार तथा सारा ही जगत माना है और स्थान-स्थान पर उससे बचने का संकेत भी दिया है, चेतावनी दी है, वासना की प्रतीक पर स्त्री को मानकर उसके प्रति आसक्ति के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है, किन्तु जैसे रविदास के जीवन की निस्पृहता, विदेहता ने उसको माया वाह्य अंगों पर तो पूर्ण विजय ही प्राप्त करवा दी थी अतः माया के इस रूप की भर्त्सना उनके स्वरों में कतिपय अन्य संत कवियों की वाणी की तुलना में उतनी मुखर नहीं हुई है। हां सूक्ष्म माया के प्रत्येक गुण अवगुण मनोवृत्ति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपांग

---

1. (अ) संत रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह—पृ० 57-58
   (ब) माधवे का काहेये भ्रम जैसा,
   जैसा मानिये होय न तैसा। —वही पृ० 58
2. (अ) संत रैदास—पृ० 60
   (ब) माया सब जग खाया।
   महा प्रबल सब ही सन, यह सुर मुनिवर भर माया।
   बालक वृद्ध तरुन अति सुंदर, नाना भेस बनावै।
   जोगि जती तपी सन्यासी पण्डित रहन न पावै।
   (स) जो देखे सो मूलि रहै, वा घेल अरमन पावै।
   खण्डि ब्रह्माण्डि लोक सब जीनै, इहि विधि तेज जनावै ।।
   —संत रैदास, डा० सिंह, पृ० 178

पर वे जैसे शासन करने को तत्पर ही बैठे हैं। वास्तव में जब मानव मन के विचार (सूक्ष्म माया के अंग) पूर्णतः अधिकार में हैं, प्रशासित है, तब माया के बाह्य या स्थूल अंग, उनका आकर्षण उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। रविदास ने सूक्ष्म माया के अंगों के विषय में पर्याप्त विशद रूप से कहा है। कहीं उसके प्रभाव से मुक्त होने के लिए चेतावनी दी है तो कही स्वयं को ही इस सूक्ष्म माया से दुःखी बताकर एक विनयपूर्ण सत्व का परिचय दिया है। हिरन, मछली, भ्रमर, पतंग तथा हाथी का उदाहरण देकर रविदास कहते है कि जब एक ही इन्द्रिय के बस में रहने से इनका विनाश होता है तो मनुष्य जिसमें पांचो विकार भरे पड़े हैं, उसका कल्याण तो और भी दुष्कर है। वे पंचेन्द्रिय-पंचविकारों से दुःखी होकर भगवान से प्रार्थना करते है कि इन विकारों से मिलकर उनका जीवन, उनकी साधना नष्ट कर दी है और उनको अपनी ओर आकर्षित करके प्रभु से विलग कर दिया है, उनका मन पाँचों इन्द्रियों के वश में आकर चंचल हो रहा है। साधना में स्थिर नहीं होता। वे स्थान-स्थान पर त्रिगुणात्मकता को भी बाधक बताते हुए इनको तीनों तापों का पर्याय मानते हैं।[1]

रविदास जी के अनुसार माया के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। संसार में कोई सगा नहीं है। प्राण निकलते ही सब सांसारिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। माया जनित सभी सम्बन्ध झूठे है। गुरु और भक्ति ही इसका प्रतिकार है।[2]

---

1. त्रिविधि संसार कौन विध तिरबैजे दिढ़ नाव गहै रे,
नांव छाडि वे डूंगे पैंसे, दूना सुख सहै रे।
गुरु को शब्द और सुरति कुदाली, खोदत कोई लहै रे,
राम कहो तो बढो न आयो, सोने फूल बहै रे,
झूठी माया जग डरकाया, तो तीन ताप दहै रे,
कह रैदास रामजप रसमा, माया कैसे संग रहै रे।
—संत रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह पृ० 180-181

2. कहि मन राम नाम संभारि,
माया के भ्रम कहां मूल्यो जाहिगोकटि झरि।
देखि धौ कहाँ कौन तेरो सगा सुत नाहिं नारि,
तोरि उतंग सब दूरि करि है देहिणे तन जारि।
प्रान गये कहु कौन तेरों, देखि सोच-विचारि,
बहुरी यहिकलिकाल माहिं जीत भावै।
यहु माया सब थोथरी भक्ति रिस प्रतिकार,
कहै रैदास, सत वचन गुरु के सो जीवतें न बिसार। —वही पृ० 153

संत रविदास की मान्यता है कि ब्रह्म और आत्मा में द्वैत भाव माया के कारण ही उत्पन्न होता है जीव माया में फंसकर अपने मूल को भूल जाता है। अपने कर्म बन्धनों में बंधकर अनेक योनियों में भटकता है।[1]

यह झूठी माया सारे संसार को त्रिविध ताप में जला रही है। इससे बचने का उपाय राम नाम का स्मरण है।[2]

माया : दादू—दादूदयाल के अनुसार माया उपजती और विनिष्ट होती है। यह अस्थिर है। पल में धूप और पल में छाया है। इसका जो वास्तविक रूप है वह प्रगट नहीं और जो प्रगट है वह वास्तविक नहीं। यह अलख और अनादि है।[3] किन्तु यह हाथ में पाश लिए छिपी बैठी है और अवसर मिलते ही जीव को अपने पाश में बांध लेती है।[4] यह सामान्य जीव को ही नहीं सुर, नर, मुनि सभी को विमोहित कर लेती है।[5] अत: यह जीव की बैरी है।[6] माया भेद उत्पन्न करके अपना प्रभाव दिखाती है।[7] पुरुष के लिए माया रूप में नारी होती है और पुरुष नारी के लिए माया रूप होता है। वासना ग्रस्त दोनों ही भजन से अलग हो जाते है।[8] माया रूपी सर्पणी कनक और कामनी के माध्यम से सभी को डसती है।[9] मोर जिस प्रकार मोरनी को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार

---

1. मानुखा अवतार दुर्लभ तिहिं संगति पोच,
   जीए जंत जहां जहां लागु, करम के वसि जाये।
   —वीर 15 मार्च, 1982 पृ० 1-2
2. कहै रविदास राम जपि रखना, माया कैसे संग रहे रे।
   --वीर 15 मार्च, 1982 पृ० 2
3. (अ) उपजै बिनसै गुण धरै, यहु माया का रूप।
   दादू देखत थिर नहीं, खिण छांति खिण छूप ।।
   —स्वामी दादूदयाल की बानी पृ० 59
   (ब) जे नाही सो ऊपजै, हैसो उपजै नाहिं,
   अलाव आदि अनादि है, उपजै माया माँहि। —वही
4. माया पासी हाथि लै बैठी गोप छिपाइ।
   —दादूदयाल की बानी भाग-1 पृ० 132
5. दादू मोहे सबंन के सुरनर सब ठांव। —वही पृ० 128
6. माया वैरिनि जीव की—वही पृ० 126
7. दादू दैखे आतम एक कहिब सुनिब आनन्त अनेक—वही पृ० 170
8. वही पृ० 132
9. माया सांपिनी सब डसै कनक कामनी दोष,
   ब्रह्म विष्णु महेश लो दादू बचे न कोइ। --वही पृ० 131

जीव भी ममत्व और अन्धकार में डूबा हुआ माया को देखकर प्रसन्न होता है ।[1] माया तो नदी के प्रवाह के समान है ।[2] इसका मन से गहरा सम्बन्ध है ।[3] इसका विस्तार बहुत व्यापक है ।[4] दादू के अनुसार स्थूल माया से तो मुक्ति एक बार सम्भव भी हो सकती है किन्तु सूक्ष्म माया से छुटकारा सम्भव नहीं ।[5]

माया : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी के शब्दों में माया, एक ऐसी डायन है जो समस्त संसार को खा जाती है ।[6] इसका विस्तार पंचतत्व और तीनों गुणों के द्वारा होता है । जहां तक नामरूप का विस्तार है, वह माया मात्र है । पंचतत्व और तीन गुणों का विविध प्रकार से विकास होता है । जहां तक नामरूप दिखाई देता है, वह माया ही है ।[7] माया ब्रह्योद्‌भूत है ।[8] सुन्दरदास जी ने माया को केवल गुणमयी कहा है । जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नष्ट भी होती है और त्रिगुणात्मक है, वहीं नश्वर माया है ।[9]

माया : मलूकदास—मलूकदास ने माया के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे किरिया, काम, तथा आचार आदि । उन्होंने भ्रम को भी संसार का फंदा माना है ।[10]

---

1. मोरा मोरी देख के नाचैं पेख पसारि । —दादूबानी पृ० 127
2. नदी पूर परवाह ज्यूं माया आवैं जाइ । —वही पृ० 126
3. दादू मन माया उपजै मन ही माया जाय । —वही पृ० 114
4. (अ) मैं मैं मेरी इन सो लागी स्वाद पंतन न सूझे आगी । —वही पृ० 16
   (ब) माया बन्धन अंध न चेते मेरे माहि लपटाया । —वही पृ० 127
5. मोटी माया तजि गए सूषिम लीये जाई,
   दादू को छूट नहीं माया बड़ी बलाइ । वही पृ० 181
6. डायन एक खात सब जग को सो भी देख डरी—संतसुधासार पृ० 654
7. (अ) पंच तत्व गुण विस्तरे विविध भांति,
   नाम रूपजहाँ सार्ग मिथ्या माया मानिए । —सुन्दरविलास पृ० 126
   (ब) तैसे ही सुन्दर यह चेतन्य आहि,
   अपने अज्ञान करि और सब छायो है । —वही पृ० 121
8. प्रथम ही आपने भूल माया करी ।
   बहुरि वह कुविकार त्रिगुन बिस्तरी ।। —वही पृ० 194
9. जो उपजै बिनसै गुण धरत सो,
   यह जानहु अंजन माया ।—सुन्दरविलास—पृ०79
10. किरिया करम अचार भरम है यही जगत का फंदा,
    —मलूकदास की बानी, पृ०21

माया : नानक—गुरु नानक के अनुसार कामिनी-कंचन, धन-वैभव, पुत्र आदि माया के ही रूप हैं।[1] डॉ० विजयेन्द्र स्तानक ने लिखा है कि माया निरूपण नानक द्वारा नवीन शैली में गृहीत हुआ है।[2] पारमार्थिक दृष्टि से गुरु नानक जीव और ब्रह्म की एकता का वर्णन करते हुए माया अर्थात् अज्ञान की चर्चा करते हैं। माया का काम भ्रम में डालना और मार्ग से भटकाना तथा अज्ञान में रखना है।[3] उन्होंने माया और अहंकार का अभिन्न सम्बन्ध माना है। यह विनाश का कारण है।[4]

गुरु नानक का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुत से विद्वानों को उलझाता है। गुरु नानक वाणी में माया के दो रूप मिलते हैं। एक माया परम सत्य-ब्रह्म की शक्ति है और दूसरी मिथ्या माया है जो कि भव बन्धन का कारण है।[5]

गुरु नानक का मत है कि निरंजन परमात्मा ने स्वयं अपने आप को उत्पन्न किया है और समस्त जगत् में वही अपना खेल बरत रहा है। तीनों गुणों एवं उनसे सम्बद्ध माया की रचना उसी परमात्मा ने की। मोह की वृद्धि के साधन भी उसी ने उत्पन्न किए।[6]

कुछ स्थलों पर गुरु नानक ने माया को कुदरत नाम से भी सम्बोधित किया

---

1. माइआ मोहि सगल जग छाइया, कामसि देखि कामि जो भाइया।
   सुत कंचन सिउ हेतु वधाइआ।।
   —नानक वाणी-सं० डॉ० जयराम मिश्र पृ० 792
2. गुरु नानक और उनका काव्य—सं० डा० महीपसिंह (गुरुनानक की भक्ति-दर्शन 167-68
3. बाबा माइआ भरमि भुलाइ।
   भरमि भुली दोहागणी ना फिर अंक समाई।
   तृसना माइआ मोहिणी सुत बंधय घर नारि।
   धन जोवत जगु उगिया लवि लोभि अहंकारि।
   मोह ठगउला हउ सुई सा बरतै संसारी। —नानकवाणी, मं० 1
4. दूजी माइआ जगत चितुवास। काम क्रोध अहंकार विनासु।
   दूजो सुरमति आसै दोइ। आवै जाह भरि दूजा होइ।। —वही
5. माइया मोहि जगु बाधा जम कालि—असा रागु।
6. आपे आपि निरंजना जिनि आपु उपाइआ।
   अपै खेलु रचाइओनु सभु जगतु सबाइआ।।
   त्रैगुण आपि सिरजिअणु माइआ मोहु बधाइआ।।
   —गुरु ग्रंथ साहिब सांरंग की वार, महला 1, पृ० 1237

है।[1] माया का रूप असीम है। यह अनेक रूपात्मक है। नाना प्रकार के रूप धारण कर जगत् को मोहित करती रहती है। सुत भाई, घर, स्त्री धन, यौवन लालच, लोभ का स्वरूप धारण कर जगत् को ठगती है।[2]

गुरु नानक के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी माया के अधीन हैं।[3] माया सर्पिणी है, जो सबको डसती है।[4]

ध्यान : महावीर—

तीर्थंकर महावीर ध्यान-युक्त तपस्या के आधार पर ही केवली हुए थे। उन्होंने सत्य की खोज के लिये ध्यान किया था। आचारांग सूत्र तथा भगवती सूत्र आदि में महावीर के ध्यान सम्बन्धी विचार संकलित हैं। महावीर के अनुसार राग-द्वेष से रहित शुद्ध मनुष्य बाह्य ध्यान संकल्प से दूर होकर एकाग्र मन से जो चिन्तन करता है, वही शुभ ध्यान है।[5] जिस प्रकार सुधा को शान्त करने के लिये अन्न होता है तथा प्यास शान्त करने का उपाय जल है, इसी प्रकार विषय वासनाओं की भूख-प्यास शान्त करने का उपाय ध्यान है।[6] इन्द्रियां और कषाय ध्यान रूपी आनन्द प्राप्ति के मार्ग में बाधक हैं, जो सर्प बनकर वेदना देते है और संयम के जीवन को त्यागने को बाध्य करते हैं।[7]

महावीर ने पांच प्रकार के ध्यान का उल्लेख किया है—आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान, शुक्ल-ध्यान तथा आर्तध्यान। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के योग

---

1. कुदरति कवण कहा वीचारु। —वही पृ० 3
   तथा
   आपणि कुदरति आपै जाणै। —वही पृ० 53
   तथा
   कुदरति दिसै कुदरति सुणीऐ। —वही पृ० 464
2. तृसना भाइका मोहिणी सुत बंधन घर नारि।
   धनि जीवन जगु टगिइआ लबि लोभ अहंकारी॥ —वही पृ० 61
3. ब्रह्मा, विसनु महेस वीचारी। त्रैगुण वधक मुकति निरारी।
   —वही पृ० 1049
   तथा
   ब्रह्मा विसनु महेस उपाए माइआ मोह बधाइदा। —वही पृ० 1036
4. इस सरपणि कै बसि जीअड़ा। —वही पृ० 63
5. सुवि सुद्ध-राय दो सो बाहिर संकप्प-वज्जिओ धीरो।
   एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुह-साणं (द्वा० आ० 480)
6. झाणं विसायछुहाए य होइ अण्णं जहां छुहाए वा।
   झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए॥ —भ० आ० 1902
7. इंदिय कसायपण्णगदट्ठा बहुवदणुहिदा पुरिसा।
   पब्भट्टझाणसुक्खा संजमाजीवं पविजहंति॥ —भग० आ० 1397

को ध्यान-तप नाम दिया गया है ।[1]

आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ ध्यान हैं और धर्म एवं शुक्ल ध्यान क्रमशः शुभ और शुभतर ध्यान हैं । आर्त ध्यान का सम्बन्ध तीव्रकषाय से होता है तथा रौद्रध्यान का सम्बन्ध तीव्रतम कषाय से होता है ।[2] इसी प्रकार धर्म ध्यान मन्दकषाय और शुक्लध्यान का सम्बन्ध मंदतम कषाय वाले से होता है । यह शुक्ल ध्यान, कषाय रहित श्रुतज्ञानी तथा केवल ज्ञानी को प्राप्त होता है ।[3]

अप्रिय वस्तु के संयोग होने पर, इष्ट वस्तु के वियोग होने पर, परिषहों के उत्पन्न होने पर, परलोक के भोगों की कामना होने पर तथा इनके कषाय युक्त होने पर एवं व्यथित होना आर्तध्यान कहलाता है ।[4] आचारांग सूत्र में आत्म ध्यान की अपाय-पद्धति का निर्देश मिलता है ।[5]

---

1. अट्टरूद्दणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए ।
   धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं बुह्यवए ॥ —उ० 30 : 35
2. असुहं अट्ठ-रउद्दं धम्मं सुक्कं च सुध्यरं होदि ।
   लहं तिव्व-कसायं तिव्व-तम-कसायदो सह ॥ —द्वा० अ० 401
3. मंद-कषायं धम्मंमंद-तम-कसायदो हवे सुक्कं ।
   अकसाए वि सुयड्ढे केवल-णाणे वितं होदि ॥ —द्वा० उ० 472
4. अमणुण्ण जोगेइट्ठवि ओगपरीसहणिदाणकर णेसु ।
   अट्टं कसायसहियं झाणं मणिदे समासेण ॥ —मू० 395
5. मैं कौन हूं ? इस प्रश्न के सन्दर्भ में उसे इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—
   मैं शब्द नहीं हूं, रूप नहीं हूं, गंध नहीं हूं, रस नहीं हूं, स्पर्श नहीं हूं ।
   मैं दीर्घ नहीं हूं, ह्रस्व नहीं हूं ।
   मैं वृत्त नहीं हूं, त्रिकोण नहीं हूं, चतुष्कोण नहीं हूं, परिमंडल नहीं हूं ।
   मैं शरीर नहीं हूं, वाणी नही हूं, मन नहीं हूं ।
   मैं इन्द्रिय नहीं हूं, प्राण नहीं हूं, श्यास-उच्छ्वास नहीं हूं ।
   मैं अरूपी सत्ता हूं ।
   इस अपाय-पद्धति से ध्याता का ध्यान मूर्त से अमूर्त की भूमिका में चला जाता है । इससे आगे आत्मा का अमूर्त द्रव्यों से उपाय करना होता है—
   मैं कौन हूं ?
   मैं गति सहायक द्रव्य नहीं हूं ।
   मैं स्थिति सहायक द्रव्य नहीं हूं ।
   मैं अवकाश देने वाला द्रव्य नहीं हूं ।
   मैं परिवर्तन का हेतु नहीं हूं ।
   इन अमूर्त सत्ताओं का निषेध कनने पर जो शेष रहता है, वह है—चैतन्य ।

ध्यान : नामदेव—नामदेव के मतानुसार सांसारिक कृत करते हुए भी ध्यान सम्भव है। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि उनका ध्यान परमेश्वर की तरफ है। जैसे कागज की पतंग को आकाश में उड़ाने वाला पांच जनों से (अर्थात् मित्र लोगों से गूढ़ार्थ, पांच इन्द्रियों के द्वारा संसार का कार्य करते हुए भी) बातचीत करता है, पर उसका ध्यान पतंग की डोरी में रहता है। उसी तरह मेरा मन परमेश्वर में बिंधा रहता है। जैसे सुनार का चित्त अपने काम में रहता है (भले ही वह ग्राहकों से बात करता रहे) जैसे गांव की कन्याएं गागर में पानी भर कर लाती हैं और आपस में बातचीत व हंसी मजाक भी करती रहती हैं, पर उनका ध्यान गागर पर भी रहता है। जैसे एक मन्दिर के दस द्वार हों और उसमें से गायें चरने के लिए निकल कर जाती हों। पर उसका ध्यान हमेशा अपने बछड़ों की ओर रहता है। (यहां आशय नर देही से है और गायों से आशय इन्द्रियों के द्वारा अनुभव से है)। जैसे मां घर का सब काम काज करती रहती हैं पर उसका ध्यान पालने के बच्चे की ही तरफ रहता है।[1]

नामदेव कहते हैं नयन से देखो, कान से सुनो अर्थात् निरत व सुप्त द्वारा परमात्मा को पूरी तौर से जान लो। निरत-आत्मा की देखने की शक्ति, सुरत-आत्मा की सुनने की शक्ति है। पूर्ण मन से उसका ध्यान करो। पूर्ण प्रेम से उसके गीत गावो। वह सर्वव्याप्त है।[2]

ध्यान : कबीर—कबीर के अनुसार मन को विकासशून्य करके ध्यान द्वारा

(पृ० 267 का शेष)

मैं चैतन्यमय हूं।

आत्मा के वैभाविक पर्यायों से भिन्नता का ध्यान करना—

मैं क्रोध नहीं हूं, मान नहीं हूं, माया नहीं हूं, लोभ नहीं हूं, भय नहीं हूं, घृणा नहीं हूं, वासना नहीं हूं, अज्ञान नहीं हूं, मिथ्यात्व नहीं हूं।

मैं शुद्ध चैतन्यमय हूं। —जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 418-419

1. अनिले कागदु काटीले गूडी आकास मधे भरमिअले।
पंचजना सिउ बात बतउआ चीतु सु डोरी राखिअले ।।
मनु रामनामा बेधिअले। जैसे कनिक कला चितु मांडी अले ।।
आनिले कुंभु भराईले ऊदक राजकुआरी परंदरीए।
हसत बिनोद बीचार करती है चीतु सु गागरि राखीअले ।।
मदरू एक दुआर दस जाके गऊ चरावन छाडी अले।
पाच कोस पर गऊ चरखत चीतु सु बछरा राखी अले ।।
—आदि ग्रंथ-पान-972

2. पहावा नयनीं ऐकावा श्रमणी। अवधा ध्यावा ध्यानीं अवध्या मनें।
अवधिये आवडी अवधा गावा गीतें। अवधा सर्वाभूतीं तोचि आहे ।।
—श्री नामदेव गाथा—414

केन्द्रित किया जा सकता है। उन्होंने योगी को ध्यान-योग की साधना का मार्ग सुझाया है। उन्होंने मन, वचन, कर्म के द्वारा ध्यान की सिद्धि को उत्तम ध्यान माना है। किन्तु ध्यान का अखंडित होना आवश्यक है। वन में वाद्य-ध्वनि को सुनकर मृग उसके प्रति दत्तचित्त होकर ध्यान में खो जाता है। उसे अधिक से भी डर नहीं लगता। वह मर जाता है किन्तु मृग का ध्यान नही छुटता। भंवरा ध्यानावस्थित हो जाता है और फूल के बन्द होने पर अने प्राण दे देता है। मछली भी जल बिन तड़फ-तड़फ कर मर जाती है, कबीर दास कहते हैं कि योगी का ध्यान भी इसी प्रकार राम के प्रति होना चाहिये।[1]

कबीर का योग-युक्त मन सम्पत्ति-विपत्ति में समान भाव से रहता है।[2] वह मान-अभिमान का परित्याग कर देता है और स्तुति, निन्दा एवं आशा को छोड़ देता है।[3] उस साधक को न शोक होता है और न उत्साह ही। वह निर्लेय, निर्विकार भगवान्-स्वरूप होता है।[4]

वह अपनी आत्मा में तल्लीन अपने स्वरूप को पहिचान कर निमग्न हो जाता है। उसे शरीर के प्रति भी आसक्ति नहीं रहती। न उसे शोक रहता है और न भय या रोग। वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। वह परमानन्द में लीन हो जाता है।[5]

जब साधक परम ध्यान में पहुंच जाता है तो अनहद बजने लगता है, अमृत जल बरसने लगता है और ब्रह्म ज्ञान प्रकट हो जाता है।[6]

कबीर ने ध्यान के अर्थ में सुरति शब्द का भी प्रयोग किया है। सुरति मन

---

1. ऐसे मन लाइ लै रांम रसनां, कपट भगति कीजै कौन गुणां।
ज्यूं मृग नादैं बेध्या जाए, प्यंड पर वाको ध्यान न जाइ।
ज्यूं जल मीन हेत करि जांति, प्रान तजै विसरै नहीं बांनि।
भ्रिंगी कीट रहै ज्यो लाइं, व्हे लै लीन भ्रिंग व्है जाइ।
—क० ग्र० पृ० 218
2. संपति देखि न हरषिये, विपति देखि न रोइ।
ज्यूं सम्पति त्यूं विपति है, करता करै सु होई॥ —वही पृ० 126
3. अस्तुति निंद्या आसा छाड़ै, तजै मांन अभिमान। —वही पृ० 150
4. आप पछानै आपै आप, रोग न व्यापै तीनों ताप।
अब मन उलटि सनातन हुआ, तब जान्यां जनजीवत मूवा।
कहु कबीर सुख सहज समाऊं, आपि न डरूं न अवर डराऊं॥
—क० ग्र० पृ० 318
5. तिनह उछाह सोक नहीं व्यापै, कहै कबीर करता आपै। —वही पृ० 150
6. अनहद बाजै नीझर मारै उपजै ब्रह्म गियांन।
अबिगत अंतरि प्रगटै, लागै परम धियांन॥ —वही पृ० 30

की सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्यान धारा है। इसे सहजवृत्ति भी कहा जाता है।

डा० बड़थ्वाल के अनुसार सुरति का अर्थ स्मृति है।[1] डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति स्त्रोत से है।[2] गुलाब राय जी ने इसका अर्थ मन बताया है।[3] राधास्वामी मत के अनुयायी इसका अर्थ जीवात्मा मानते हैं।[4] डा० त्रिगुणायत सुरति का अर्थ प्राप्ता आत्मा और निरति का अर्थ प्राप्तव्य आत्मा बताते हैं।[5] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति और निरति को बाह्य मुखी वृत्ति बताते हैं।[6]

कबीर की सात सुरति विख्यात हैं। उनके अनुसार ये विश्व एवं व्यष्टि रूप जीव की मूल हैं, कारण है।[7] उनके अनुसार साधना की परिपूर्णता तभी है जब जीवात्मा, उसकी वृत्ति, जाप आदि एकात्मक हो गये। स्वयं आप अपने आप में प्रतिष्ठित हो जाये। निरति अलेख है और आप एकार्थक है और ये सब पूर्ण परमानन्द का द्योतक है।[8] कबीर ने निरति को निरधार कहा है। उनके अनुसार परिपूर्ण अवस्था में प्रतिष्ठित होने पर परिशुद्ध सहजमन सुरति में ज्ञान का दिव्य प्रकाश होता है कि प्रकाश में साधक अपने दिव्य स्वरूप को देखकर परमानन्दित होता है और निज स्वरूपावस्थान में प्रतिष्ठित होता है। सुरति पूर्णावस्था में समा कर अद्वैत स्थिति में हो जाती है। इस प्रकार सुरति को रसानन्द प्राप्त हो जाता है।[9]

हठयोग के प्रति कबीर की अरुचि हो गई थी। अतः उन्होंने सरल योग क्रियाओं का मार्ग अपनाया। मन को केन्द्रित करने के लिये उन्होंने लययोग की साधना की। जो "शब्द-सुरति योग" के नाम से विख्यात हुआ।

कबीर ने ध्यान लगाने के लिये शब्द चिन्तन का मार्ग बताया है।[10] शब्द

---

1. योग प्रवाह—पृ० 27
2. काशी विद्यापीठ, चतुर्थ पत्रिका—पृ० 135
3. एम०वी० पृ० 199
4. कबीर की विचार धारा—पृ० 198
5. कबीर वही पृ० 198
6. कबीर—पृ० 224
7. सात सुरति सब मूल हैं, प्रलयहु इन हीं मांहि।
   इन हीं मां तैं ऊपजै, इन ही मांहि समांहि॥ —क० ग्र० पृ० 149
8. सुरति समांणी निरति मैं, अजपा मांहै जाप।
   लेख समांणा अलेख मैं, यूं आपा मांहैं आप॥ —वही पृ० 19
9. सुरति संमाणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
   सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यम्भ दुआर॥ —क० ग्र० पृ० 14
10. ऐसा ध्यान धरौ नरहरी, सबद अनाहद चिंतन करी। —वही पृ० 198

नित्य, सर्वत्र व्याप्त है। जहां शब्द है वहां भगवान है।[1]

कबीर ने चित्त को चिन्तन में लिप्त रखने और मन को निष्काम, निर्लेय भाव से हृदय एवं त्रिकुटी में ध्यान को केन्द्रित करने तथा अजपा जाप में निमग्न रहने को कहा है।[2] कबीर के अनुसार सुमिरण ही सार है अन्यथा सभी जंजाल है। इसके द्वारा ही उद्देश्य पूर्ति सम्भव है।[3]

ध्यान : दादूदयाल—दादू ने ध्यान के लिये मन की निर्मलता पर विशेष रूप से बल दिया है। उनके अनुसार मलीन हृदय का ध्यान तो बगुले के समान है। बगुला आंख बन्द करके ध्यान का पाखंड करता है किन्तु जैसे ही मछली निकट आती है, तुरन्त उसे झपट जाता है।[4] दादू अंतर्गति में ध्यान स्थापना का निर्देश देते हैं।[5] दादू ने भी ध्यान के लिये सुरति शब्द का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि सुरति की धारा को आत्मा की ओर फेरने से ही लक्ष्य प्राप्त हो सकता है।[6] उन्होंने सुरति को आध्यात्मिक प्रवृति माना है और इसे सहज ध्यान का पर्याय घोषित किया है।[7] वे मानते हैं कि सुरति से पचेन्द्रिय शान्त हो जाती है और साधक उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[8]

जब राम के बाण से मन बिन्ध जाता है तो सब भ्रम दूर हो जाते हैं। मन ध्यान में डूबकर चिन्तामणि को पहचान लेता है। अपने आप में ही उस परमतत्व को पाकर पुनः मन्दिर से नहीं निकलता आवागमन से युक्त हो परमान्द का पान करता है। वह मल रहित हो जाता है। ये बाण लगने से प्रेम का प्रकाश होता है

---

1. अनहद शब्द उठै झनकार, तहं प्रभु बैठे समरथसार। — वही पृ० 199
2. च्यंत न सोज चित्त बिन चितवै, बिन मनसा मन होई।
   अजपा जपत सुनि अभि अंतरि, यहु तत जानै सोई॥ —वही पृ० 159
3. कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
   अदि अति सब सोधिया, दूजा देखों काल॥ —वही पृ० 7
4. (अ) दादू ध्यान धरे का होत है, जे मन नहिं निर्मल होई।
   तौ बग सब हीं ऊधरैं, जे यहि बिधि सीझे कोई॥
   —संतवाणी संग्रह—पृ० 91

   (ब) दादू हंस परेखिये, उत्तिम करणी चाल।
   बगुला वैसे ध्यान धरि, परतषि कहिये काल॥ —वही पृ० 84
5. दादू अंतरमसि ल्यौ लाइ रघु, सदा सुरति सौं गाइ।
   यहु मस नाचै मगन ह्वै भावै ताल बजाए॥ —वही पृ० 45
6. सुरति अपूर्ण फेरि करि, आतमा माहैं आण।
   लागि रहै गुरुदेव सौ, दादू सोई सयान॥ —वही पृ० 45
7. मन ये अगम, दृष्टि अगोचर, मनसा की गति नहीं।
   सुरति समाई, बुद्धि बल थाके, बचन बचन न पहुंचे ताहीं॥
   —दादूबानी—पृ० 167
8. दा०पं०ए०उ०सा०का०स०अ०—डा० केशव—पृ० 178

और सुरति सुख में समा जाती है।[1]

दाद्दूयाल जी के अनुसार जब हृदय की शोध की जाती है तब ही पिव प्रगट होता है और साधक को सहज में ही अमृत पान का अवसर मिल जाता है। जब मन से मन (ध्यान) लगता है तब स्वरूपी ज्योति जागती है। जब चित्त, चित्त में समा जाता है (ध्यान) तब हरि के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता।[2] दादू ने ध्यान के पर्याय लययोग का भी उल्लेख किया है।[3]

---

1. संतो राम बाण मोहिं लागे।
मारत मिरग मरम तब पायौ, सब संगी मिलि जागे।
चित्त चेतनि च्यन्तामणि चीन्हे, उलटि अपूठा आया।
मन्दिर पैंसि बहुर नहिं निकसैं परम तत्त घर पाया।
आवै न जाइ, जाइ कहिं आवैं, तिहि रसि मनवां माता।
पान करत परमानंद पायो, थकित भयो चलि जाता।
भयौ अपंक पंक नहिं लागै, निरमल संगि सहाई।
पूरण ब्रह्म अखिल अबिनासी तिहि तजि अनत नजाई।
सो सर लागि प्रेम पकासा, प्रगती प्रीतम बाणी।
"दादू" दीन दयालहि जाणौ, सुख में सुरति समाणी।
—दादूदयाल की बानी 2 पृ० 82

2. मेरे मन लागा सकल करा, हम निशिदिन हिरदै सौधरा।
हम हिरदै माहै हेरा, पिव परगट पाया मेरा।
सो नरे ही निज लीजै, तब सहजै अमृत पीजै।
जब मन हीं सं मन लागा, तब जोति स्वरूपी जागा।।
जब चित्तहिं चित्त समाना, हम हरि बिनु और न जाना।
जाना जीवनि सोई, इब हरि बिनु और न कोई।। —वही पृ० 35

3. निर्गुण राम रहै ल्यौलाइ। सहजैं सहज मिलै हरि जाइ।
भौजल व्याधि लियै नहीं कबहूं। करम न कोई लागै आइ।
तीन्यूं ताप जरैं नहीं जियरा। सौपद परसैं सहज सुभाइ।
जनम जुरा जोनि नहीं आवै। माया मोह न लागै ठाहि।
पांचों पीड़ प्राण नहिं व्यापै। सकल सोंधि सब हूवहै उपाय।
संकटु संसा नाक नैनहुं। ताको कबहूं काल न खाई।
कप न कोई मैं भ्रम भागै। सब विधि ऐसी एक लगाइ।
सहज समाधि महौ जो डिढकरि। जासो लागै सोई आइ।
भृंगी होई कीट की न्याई। हरिजन दादू एक दिखाइ।।
—दादू ग्रन्थावली (2) पृ० 161

ध्यान : रविदास—रविदास जी के अनुसार बाह्य खोजने से जन्म बीत जाता है किन्तु कुछ लाभ नहीं होता। हृदय में ध्यान रखने से अनाहद शब्द बजने लगता है और उस अगम का ज्ञान प्रकट हो जाता है।[1] उन्होंने ऐसा ध्यान करने की प्रेरणा दी है कि पुन: जप, तप, कर्म, मृत्यु को न भोगना पड़े।[2] ध्यान को महत्व देते हुए उन्होंने तांत्रिक षट् कर्म, योग षट्कर्म तथा सर्वजन विदित षट्कर्म त्यागने का संकेत किया है।[3]

ध्यान : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने ध्यान के चार भेदों की कल्पना की है—पदस्थध्यान, पिंडस्थध्यान, रूपस्थध्यान, और रूपातित ध्यान। उपदेशपूर्ण महावाक्यों और महामन्त्रों का जप करते हुए उनका ध्यान करण पदस्थध्यान है। चक्रों और गुरु के ध्यान को पिंडस्थ कहा है। ज्योति स्वरूपी ध्यान को रूपस्थ ध्यान तथा निर्गुण निराकार ध्यान को रूपातित ध्यान की संज्ञा दी है।[4]

डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह की मान्यता है कि सुन्दरदास ने पदस्थ, पिंडस्थ, रूपास्थ तथा रूपातित ध्यान का नाम सम्भवत: जैनों से लिया है किन्तु उसके स्वरूप निर्वचन में नाथ पंथियों, तांत्रिकों एवं अपनी स्वतन्त्र अनुभूति को प्रमाण माना है।[5]

ध्यान : मलूकदास—मलूकदास की मान्यता है कि हरि के निमित्त ध्यान उत्तम मार्ग है। ध्यान के लिये एक घड़ी भी आलस्य नहीं करना चाहिए।[6] वे कहते हैं कि ध्यान पूर्वक सुनो उसने शिव नगरी में आसन लगा है।[7] ध्यान के द्वारा तीनों दशा विसार कर ही चौथा पद प्राप्त किया जा सकता है।

---

1. बाहरि षोजत जनम गंवाए, उनमनि ध्यान रहे घट आप।
   सबद अनाहद बाजत घटमंह, अगम ग्यांन भौ गुर परताप ॥
   —संतगुरू रविदास बाणी— डॉ० बी० पी० शर्मा—पृ० 92
2. ऐसा ध्यांन धरौं बनवारी, मन पवन दिढ़ि सुषमन नारि।
   सोइ जप जपौं जु बहुरि न जपना, सोइ तप तपौं जु बहुरि न तपनां।
   सोइ-गुर करौ जु बहुरि न करना, ऐसौ मरौं जु बहुरि न मरना
   —वही पृ० 99
3. दूरि बसै षटक्रम सकल, अरू दुरिउ कीन्है सेऊ।
   ग्यांन ग्यांन दोऊ दूरिउ कीन्हैं, दूरिउ छांडै तेउ ॥ —वही पृ० 68
4. सुन्दर दर्शन: पृ० 48
5. संत काव्य में योग का स्वरूप—पृ० 316
6. एक घड़ी काहु कल ना देय। ज्ञान ध्यान आपुइ हरि लेय।
   —मलूकदास की बानी—पृ० 12
7. शिव नगरी आसन किया, सुनं ध्यान लगाया।
   तीनों दसा बिसार के, चौथा पद पाया ॥—वही पृ० 19

ध्यान : नानक—अमृत चुवाने में गुरु नानक ने ग्यांन के साथ-साथ ध्यान को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।[1] उन्होंने संसार के वाणिज्य में फंसे मनुष्य को ध्यान करने की प्रेरणा दी है।[2] जिसने मनुष्य की रचना की है, मनुष्य उसे ही भूल गया है। इसका कारण ध्यान का विस्मरण है। ध्यान के द्वारा मन में ज्ञान प्रकट हो सकता है।[3] गुरु नानक ने भी ध्यान के लिये "सुरति" शब्द का प्रयोग किया है।[4]

मृत्यु : महावीर—

महावीर वाणी में तीन प्रकार की मृत्यु का उल्लेख प्राप्त होता है—अकाम मरण, सकाम मरण[5] तथा समाधि मरण। महावीर ने निर्देश दिया है कि मनुष्य अकाम और सकाम मरणों की परख कर, विवेक से सकाम-मरण को ही ग्रहण करे।[6] क्योंकि अकाम मरण बार-बार होता है और सकाम मरण एक ही बार होता है।[7] समाधि मरण ही श्रेष्ठ है। यदि एक भी भव में जीव समाधि-मरण को प्राप्त कर लेता है तो सात-आठ भवों में ही अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[8]

---

1. गुड़ करि ग्यांन ध्यांन करि धावै, करू करणी कसु पाइये।
   माठी भुवन प्रेम का पोचा, इस विधि अभी चुवाइये।
   —गुरू नानक वाणी—पृ० 32 डा० बी० पी० शर्मा
2. दूजै पहरे रैणि दे वाणिजरिया, तू बिसरि गया सब ध्यान वे।
   हाथों हाथ लिवाइया वाणिजरिया, ज्यौं जसोधा घरि कान्ह वे।।
   —वही पृ० 36
3. जिन रच रचिया तिस ही न चेतै, मन अंदरि ग्यांन वे।
   कहु नानक दूजे पहो, विसरि गया, सब ध्यांन वे।।—वही पृ० 36
4. सहज बरत संतोष तीरथ ग्यांन ध्यानं अस्नान।
   दया देवता खिम्यां जपाली, तै मनिष परधांन।
   सुरति चौका जुगति धोती, तिलक करणी सोई।।—वही पृ० 26
5. संतिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणंतिया।
   अकाम-मरणं चेव सकाम-मरणं तहा।। —उ० 5:2
6. तुलिया विसेसमादाय दया-धम्मस्स खंतिए।
   विप्पसीएज्ज मेहावी तहाभूएण अप्पणा।।—उ० 5:30
7. बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
   पण्डियाण सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे।।—उ० 5:3
8. एगम्हि भवग्गणे समाहिमरणं ले मेज्ज जदिजीवो।
   सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तां लहादि।।—मूल० 2:54

महावीर ने कहा है कि ओखली, चक्की, चूल्हा, जल रखने का स्थान, बुहारी-इन पाँचों से सदा भयभीत रहना चाहिए, क्योंकि इनसे जीव समूह मृत्यु को प्राप्त होता है।[1]

जैसे सिंह के पैर नीचे पड़े हुए हिरण की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है, उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा ग्रहण किये हुए जीव की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है।[2] मरण-भय उपस्थित होने पर इन्द्र और देव आदि भी रक्षा नहीं कर सकते। केवल धर्म ही त्राण, शरण और श्रेष्ठ गति है।[3]

संसार में जो जन्मा है, उसे मरना भी है। कई जीव गर्भावस्था में, कई स्पष्ट बोलने की अवस्था में, तथा बहुत से जीव बोलने की अवस्था आने से पहले ही मर जाते हैं। बहुत से जीव कुमार अवस्था में तो कई युवा होने पर चल बसते हैं। कोई आधी उम्र में मरता है तो कोई वृद्ध होकर मरता है। मृत्यु हर अवस्था में आकर घेर ही लेती है।[4] धीर पुरुष भी मरता है और अधीर भी। महावीर कहते हैं कि जब दोनों को ही मरना है तो धैर्य के साथ क्यों न मरा जाये।[5]

आयुष्य क्षीण होने पर या भवान्त मृत्यु के समय जीव उसके दुख को अकेला ही भोगता है। धन, पशु आदि उसका निवारण नहीं कर सकते हैं।[6] जरा मरण आदि युक्त संसार में भ्रमण करते हुए जीव अनेक दुखों को भोगता है।[7]

जैसे घर में आग लगने पर गृह स्वामी सार वस्तुओं को जलने से बचाने का प्रयत्न करता है और असार वस्तुओं की चिन्ता छोड़ देता है। वे बचे या जल कर राख हो जाये, कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार मृत्यु की अग्नि प्रज्ज्वलित होने

---

1. कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
   वीहेदव्वं णिच्चंताहिं जीवरासि से मरदि॥—मू॰ 926
2. सीहस्स कमे पडिदं सांरगं जहण रक्खदे को वि।
   तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे को वि॥--द्वा॰ अ॰ 4
3. मरण मय हि्न उवगदे देवावि सइंदया ण तारेंति।
   धम्मो त्ताणं सरणं गदिति चिंतेहि सरणत्तं॥—मू॰ 697
4. गब्भाइ मिज्जति बुआबुयाणा णरा परे पंचसिहा कुमारा।
   जुवाणगा मज्झिम थेरगा य चयति ते आउखए पलीणा।—सू॰ 1,8,10
5. धीरेण वि मरिदव्वं णिधीरेणवि अवस्स मरिदव्वं।
   जदि दोहिं वि मरिदव्वं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं॥—मू॰ 100
6. अब्भागमियम्मि वा दुहे अहवो तक्कमिए भवंतिए।
   एगस्स गई य आगई विदुमंता सरणं ण मण्णई॥—सू॰ 1,2 (3) : 17
7. जइ उपज्जइ दुःख तो दट्ठव्वो सभावदोणिरये।
   कदमं मए ण पत्तं संसारे संसारंतेण॥—मू॰ 78

पर सार वस्तु आत्मा के उद्धार की जीव सोचे अन्य की चिन्ता से मुक्त हो जाये ।[1]

मृत्यु : नामदेव—नामदेव का मत है कि आंतरिक रूहानी अनुभव शरीर के नौ द्वारों को खाली करके आँखों के पीछे आने पर प्राप्त होता है। यह क्रिया मृत्यु से मिलती-जुलती है । मृत्यु में आत्मा शरीर को छोड़ देती है । इस आध्यात्मिक अभ्यास में आत्मा शरीर से अलग होकर ऊपर के देशों में भ्रमण करती है, और कुछ समय के बाद फिर शरीर में आ जाती है । चेतनता नौ द्वारों से निकल कर तीसरे तिल या भ्रू-मध्य में आ जाती है और आत्मा ऊपर के देशों में प्रवेश कर जाती है । इसी को संत योग "जीते जी मरना" कहते हैं । नामदेव मृत्यु से नहीं डरते ।

नामदेव कहते हैं मैं मृत्यु से परे हूं, मैं कैसे मर सकता हूं ? देह छूट जाने पर पाँचों तत्व (पानी, अग्नि, वायु, पृथ्वी एवं आकाश) अपने-अपने तत्वों में मिल जाते हैं, तो मरा कौन ? अर्थात ये भी नष्ट नहीं होते । आत्मा तो इन सबसे भिन्न व अजर अमर है । नाम स्मरण करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है ।[2] जो रामनाम का जप तो करता है और कहता है कि उसे संसार का भय है, ऐसे मनुष्य की जिव्हा व्यर्थ हो जायेगी । नाम रूपी अमृत के सेवन करने वाले के लिए मरण क्या है । यह अनुभवी ही जानते हैं ।[3]

मृत्यु के फंदे को काटने का उपाय बताते हुए नामदेव कहते हैं कि मन रूपी गज से तथा जिव्हा रूपी कैंची से मृत्यु का फंदा कट जाता है ।[4]

मृत्यु : कबीर—कबीर के अनुसार जो भयभीत और मृत्यु के भय से काँप रहा है, वास्तव में वही मरता है । जो परहित साधन में मृत्यु-भय का निराकरण कर लेते हैं वे मृत्यु को पाकर भी अमर हो जाते हैं । वे यश एवं कीर्ति पाकर संसार की प्रेरणा बन जाते हैं । वे देहरहित होने पर भी संसार में विद्यमान रहते हैं ।[5]

---

1. एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणंण य ।
अप्पाणं तारइस्समि तुब्भेहिं अणुमन्निओ ।।—उ० 19:22-23
2. स्मरण करीतां रामनाम ध्वनी । ऐकतांची कर्णी पलती यम ।।
—श्री नामदेव गाथा—663
3. राम नाम म्हणतां संसाराचें भय । म्हणती त्याच्या कोय जिव्हे कुष्ट ।।
अमृत सेवितां कैंचें ये मरण । जाणती हैं खूण अनुभवी—वही पृ० 1882
4. मनु मेरो गजु जिहबा मेरी काती मपिमापि काटउ जम की फांसी ।
कहा करउ जाती कहा करउ पाती राम को नाम जपउ दिन राती ।
—आदिग्रंथ—पान 485
5. जिहि मरने सब जगततरास्या, सो मरना गुरु सबद प्रगास्या ।
अब कैसे मरौं मरन मन मान्या, मर मर जाते जिन राम न जान्या ।
मरनौ मरना कहै सब कोइ, सहजै मरै अमर होइ सोइ ।। —क०ग्र०पृ० 209

आत्मा अजर-अमर है। वह अजन्मा है। शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला आत्मा परिवर्तनशील नहीं है। फिर इसे दैहिक मृत्यु के लिये शोक करना अज्ञान है। कबीर ने कहा है कि बिना हरिशरण के मृत्यु के कारण विभिन्न योनियों में भटकना पड़ेगा।[1]

कबीरदास जी कहते हैं जब तक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी बाति है, तभी तक हे प्राणी निर्भय होकर राम नाम जप ले, तेल घटने पर बाती बुझ जायेगी, तब दिन रात सोते ही रहना पड़ेगा अर्थात मृत्यु हो जावेगी।[2] यदि मृत्यु उपरांत सिद्ध हुआ भी तो पत्थर, लोहा, पारस सभी तुच्छ है।[3]

मृत्यु : रविदास—रविदास जी ने जरा-मरण का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हे मन ! सावधान हो जा, मृत्यु का दिन आ गया है। किन्तु तू अभी तक संसार जाल में उलझा हुआ है। कानों ने सुनना, नेत्रों ने देखना तथा जिव्हा ने गति त्याग दी है। मुण्ड एवं शरीर थर-थर काँपने लगा है और बैरी मृत्यु आ पहुँची है। तेरा तन पीला पड़ता जा रहा है। तन-मन की शक्ति लुप्त होती जा रही है। जीवन का मध्याह्न हो चुका है और अन्त निकट है। आज इस संसार में तुझे मरना है। शरीर की कान्ति क्षीण हो गई है, पांचों इन्द्रियां थक गई हैं। पलभर में मृत्यु का तू ग्रास बनने वाला है किन्तु फिर भी तूने राम का मर्म नहीं जाना।[4]

जो इस संसार में आया है, उसे दूर गमन भी करना है। कुछ चले गये और

---

1. लष चौरासी जोनि फिरीगे, बिनां रामं की सरनां—वही पृ० 17।
2. कबीरे निरभै रांम जपि, जब दीवै बाति।
   तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैंगा दिन राति—वही पृ० 8
3. मूवां पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
   पत्थर घाटा लोहा सब, तब पारस कौणे काम ॥—क० ग्र० पृ० 14
4. मन चेत मीचु दिन आ गया, तौ जग जाल न भया पराया ॥
   कानि सुनै न नजरि दीसै, जीहा थीरू न रहाई।
   मुण्ड रू तक थर-थर कम्पई, अंतहु विरियां पहुं तौ आई ॥
   केसौ सेतह पिकु भये सबु, तन मंनु मल बिलमाया।
   मध्यांन गयो तुरा चलि आई आज हूं, जग रहू योभर माय ॥
   पानी गयो पलु छीजै काया, यहुतय जरा जराना।
   पांचौ थाके जरा जरू सानै, तौ रामह मरमु न जाना ॥
   हंसा पखेरू चंचलु भाई, समुझि पेंय मनमाहि।
   प्रति पलु मीचु गरासै देही, फुनि रैदास चेतहु आहि।
   —संतगुरू रविदास बाणी —डॉ० पी० पी० सिंह —पृ० 99

कुछ को जाना है। यह आवागमन सत्य है।[1] ममता, अहंकार और विषयवासनाओं के मद में मस्त, यह जीव विविध योनियों में बास करता है और मृत्यु के दुख को भोगता है। प्रभु भजन बिना भ्रमता रहता है। इस प्रकार जन्म-मरण की यह शृंखला कभी नहीं टूट पाती।[2] जीव धन और दारा में इतना निमग्न हो जाता है कि मृत्यु के तप से अनभिज्ञ हो जाता है।[3]

रविदास कहते हैं यह भव विदेश है और कलिकाल है। हम सब मृत्यु के जाल में पड़े हैं।[4] उनके अनुसार मृत्यु कलाली प्याला लिये है, वह पीने वालों का सिर ले लेगी। किन्तु चंदा और सूर्य सम्मुख होने पर इसे पीकर भी कोई नहीं मरेगा। जीव जब पिंड को पहचान लेता है तो संसार में तूंबे के समान तिर जाता है।[5]

मृत्यु : दादू—मृतक पुरुष की क्या पहचान है? मृत्यु उपरांत उसकी क्या स्थिति होती है और उसे कैसे जाना जा सकता है। उसका लक्षण बताते हुए दादू कहते हैं कि जब इन्द्रियाँ अपने गुण त्याग दें, मन का अपनत्व मिट जाये, उसमें ब्रह्म समा जाये, शरीर संसार में पड़ा रहे और जीव राम के पास पहुंच जाये तथा दुख

---

1. जो दिन आवहि सो दिन जाही, करना कूचु रहनु थिरू नाँही।
संग चलत है हम भी चलना, दूरि गवनु सिर ऊपरि मरना।
किआ तू सोइआ जाग इआना, तै जीवनु जगि सचु करि जाना।।
—वही पृ० 101

2. लियो विविध जोनि बास, जम की अगम त्रास, तुम्हरे भजन बिन भ्रमत फिरयो।
ममता अहं विषै मद मातो, इस दुख कबहूं न दूतर तिरयो।।
—स० र० बा०—पृ० 72

3. धन दारा मंह रहियो गमन नित, गुन्यो न मिचु को ताप।
कहि रविदास गुरु रह दिया वह, त्रिषा बुझि मिटि मन संताप।।
—वही पृ० 92

4. यह भौ बिदेश कलिकाल, हम आन परयो जम जाल।
कबहुक तोर भरोस, जो मैं कहूं तो मोर दोस।।—वही पृ० 77

5. कहो कलाली प्याला देऊ, पीवन हारे का सिर लेऊं।
चंद सूर दोउ सनमुख होई, पीनै प्याला मरै न कोई।
जल में जैसे तूंबा तिरै, परिचो पिंड जीव नहिं मरै।।
—संतबाणी संग्रह-भाग—29·30

आदि समाप्त हो जाये तो इस स्थिति को वास्तविक मृत्यु जानो।[1]

पथिक को सच्चे मार्ग की पहिचान हो जाने पर जीवन-मृत्यु के दुःख से मुक्त हो जाता है। अन्यथा मैं-मैं करते हुए ही जीवन बीत जाता है, और मृत्यु सिरहाने आकर खड़ी हो जाती है।[2] दादू के अनुसार मृत्यु के हाथ से श्री गुरुदेव ही मुक्त करा सकते हैं।[3]

मृत्यु : सुन्दरदास—सुन्दरदास कहते हैं जब मृत्यु का आगमन होगा तो ऊंचे मन्दिर, धन-सम्पत्ति तथा समस्त कुटंब धरा का धरा रह जायेगा।[4] वे कहते हैं कि मनुष्य तू किस सुन्दरता का गर्व करता है। किस आधार पर मूछें ऐंठता है। मृत्यु तुझ पर झपटने ही वाली है।[5] जिस प्रकार सुन्दर मछली अपने ख्याल में निमग्न तैरती रहती है बुगला उसे झपट लेता है। यही गति तेरी भी होगी।[6]

मनुष्य मृत्यु से निश्चिन्त होकर संसारिक धन्धों में अन्धा होकर लगा रहता

---

1. दादू मृतक तबहीं जाणिये, जब गुण इन्द्रिय नांहि।
   जब मन आपा मिट गया, ब्रह्म समाना माँहि (21)
   देह रहै संसार में, जीव राम के पास।
   दादू कुछ व्यापै नहीं, काल, झाल, दुख त्रास ॥26॥
   —स्वामी दादूदयाल जी की वाणी : जीवनमृतक को अंग : 21,
   विचार जो अंग – 26
2. पंथीडा पंथ पिछानी रे पीव का, गहि बिरहे की बाट।
   जीवत मिरतक ह्वै चले, लंघे औघट घाट।
   जीवन माटी ह्वै रहै, साई सनमुख होइ।
   दादू पहिली भरि रहै, पाछै तौ सब कोइ ॥—पृ० 20
   मैं मैं करत जनम सब खोयो, काल सिरहानै आयौरे।
   दादू देखु मूढ़ नर प्राणी, हरि बिन जनम गमायौ रे ॥—वही पृ० 36
3. दादू काडे काल मुख, सूवनहुं सब्द सुनाइ।
   दादू ऐसा गुरु मिल्या, मिरतक लिये जिलाइ।—संत साहित्य—पृ० 42
4. मेरे मंदिर माल धन मेरो सकल कुटंब।
   सुन्दर ज्यों को त्यों रहै काल दियो जब बंल ॥
   —संतवानी संग्रह, भाग—1, पृ० 105
5. सुन्दर गर्व कहा करै कहा मरोरै मंछ।
   काल चपेटो भरि है सुमुझि कहूं के मूंट ॥—वही पृ० 105
6. सुन्दर मछरी नीर में विचरत अपने ख्याल।
   बगुला देत उठाइ कै तोहि ग्रैसे यो काल ॥
   —संतबानी संग्रह— भाग—1, पृ० 105

है। जैसे बाज तीतर को, जैसे मच्छिका को मकरी, जैसे मूषक को साँप ग्रसता है, इसी प्रकार मृत्यु मनुष्य को ग्रसती है। सुन्दरदास कहते हैं अब भी समय है अचेत नर अब भी चेत जा और राम का स्मरण कर ले।[1]

मृत्यु : मलूकदास—मलूकदास जी कहते हैं कि शरीर की सुन्दरता का अभिमान करना व्यर्थ है। मृत्यु न बूढ़े को छोड़ती है और न जवान को सभी को खा जाती है।[2] मलूकदास जी मनुष्य को चेतावनी देते हैं कि हे प्राणी अब भी जागने का समय है, जाग जा, यह न भूल कि तेरे सिर पर मृत्यु खड़ी है। न जाने कब आकर वह तुझे ले जाये।[3] मुर्दे, मुर्दों से लड़ रहे हैं। ये कितना विचित्र है। नहीं जानते सभी को एक न एक दिन मरना है।[4]

मृत्यु : नानक—गुरु नानक के मतानुसार मृत्यु की कोइ जाति नहीं होती, वह न दिन देखती है न तिथि। आगे वे कहते हैं कि कुछ लोगों ने अपना बोझ लादना बन्द कर प्रयाण कर दिया है, कुछ अपना बोझ लाद चुके हैं और चलने को तैयार हैं और अन्य अभी तक अपनी वस्तुओं को एकत्रित कर रहे हैं। कुछ जाने को तैयार हैं और कुछ को जाने की सूचना मिली है। अपने सामान सहित फौजों और सुन्दर फाटकों वाले महल पीछे छूट गए हैं। हे नानक ! यह शरीर मिट्टी का ढेर है जो फिर मिट्टी

---

1. करत करत धंध कछुहि न जानैं अंध।
   आवत निकरीन, आगलै चपाक दै॥
   जैसे बक मछरी कूं लीलत लपक पै।
   जैसे मच्छिका को घात, मकरी करत आय॥
   जैसे सांप मुषक को ग्रसत गपाक दै।
   चेत रे अचेत नर, सुन्दर सम्हार राम॥
   ऐसे तोहि काल आय, बेडगो ग्याक दें।—सुन्दर विलास —पृ० 24-25
2. सुन्दर देही देखि के मत कोई करै गुमान।
   काल दरेरा खायगा क्या बूढ़ा क्या ज्वान॥
   —मलूकदास की बानी—पृ० 39
3. जागो रे अब जागो भयया सिर पर जम की धार।
   ना जानू कौने घरी कहि लै जैं हैं मार॥—वही पृ० 39
4. मुवा मुए से लड़न को, मुवा जोर लै जाय।
   मुरदे मुरदे लडि मरे, एक मुरदा मन पछिताए हो॥
   —मलूकदास की बानीं—पृ० 13

में ही मिल जाता है।[1]

गुरु नानक के मतानुसार किसी की कामना करना व्यर्थ है यहां कुछ भी स्थिर नहीं है। जन्म केवल मृत्यु के लिये है।[2]

मनुष्यों के जन्म लेने पर बाजे बजते हैं और बधाइयां मिलती है अज्ञानी लोग प्रसन्नता के गीत गाते हैं किन्तु वे लोग यह नहीं समझते कि जो व्यक्ति जन्म लेता है, उसे मरना भी अवश्य होता है। मृत्यु की तिथि लिखी रहती है।[3]

नानक की मान्यता है कि वास्तविक मरना गोविंद के चरणों में मरना ही है। मृत्यु तो कड़े से कड़े पहरे तोड़ कर भी पहुंच जाती है इस संसार में कोई बीस वर्ष जीवित रह लेता है तो कोई तीस और कोई पचास। किन्तु मृत्यु निश्चित है। मृत्यु के सामने एक नहीं चलती। कोई सहारा काम नही आता। नानक कहते हैं, जिस प्रकार माला का मनका ढल जाता है उसी प्रकार जीवन ढल जाता है।[4] अतः मनुष्य को जीवन-मरण की चिन्ता त्याग कर जीवन में प्रभु का स्मरण स्थापित करना चाहिये।

---

1. मरीणा न मूरतु पुछिया पुछी थिति न वार।
इकनी होई साखती इकना होई सार।
लसकर सणौ दमामियां छुटे बंक द्वार।
नानक ढेरी घास की भी फिरि होई छार।
—नानक: व्यक्तित्व और विचार—पृ० 84-85
2. ऐ जी क्या मांगो किछ रहे ना दीसे, इस जग में आया जाई।
नानक नाम पदार्थ दीजे हिरदै कंट बनाई॥—वही पृ० 90
3. जनमेकउ बाजहि वाधाए। सोहिलड़े अगिआनी गाए॥
जो जन मै तिसु सर पर मरणा किरतु पइआ सिरि साहाहे॥7॥
ना० ग्रा० 637
4. हकि मरणां गोविंद चरणा, नजिर पवां राम दी चरणां।
तुम करि त्यों राम सुमरिणीं।टेक।
कोइ चौकी पहरौ पचसी पहरौ. पहरौ मल-मल ख सा।
बींदी दे चौतारा पहरौ, भी मरणै दी आसा॥1॥
कोई बीस भी जीवौ, तीस भी जीवौं, जीवौ बरस पचास।
अंति कानि बीसा सौ जीवौ, भी मरणै दी आसा॥2॥
जम के आगे वंधि चलाये, सारा नहिं तिन का।
नानक कहै यह लेखा पूरा, ज्यौ माला का मनका॥2॥
—गुरू नानक वाणी (गु० ग्र० सा० के० अ०) डा० बी० पी० सिंह पृ० 35

नानक कहते हैं कि मैंने तो समझा दिया और प्रभु नाम दे दिया अब जैसा तू उचित समझे वैसा कर। यह तेरी इच्छा और रुचि पर निर्भर है।[1]

मोक्ष : महावीर—

महावीर वाणी में मोक्ष के लिये मुक्ति और निर्वाण शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जो प्रायः समान अर्थ हैं। मोक्ष को पारिभाषित करते हुए तीर्थंकर महावीर ने ज्ञान, दर्शन, तप और चरित्र रूपी संयम+ गुण++ से अर्थात इन चारों के संयोग को मोक्ष कहा है।[2] मुक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि आन्तरिक गुणों पर आधारित बन्धनों से मुक्ति ही मुक्ति है।[3] मुक्त जीव जन्म-मरण, नरक आदि अवस्थाओं को त्याग देता है।[4] निर्वाण के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि जहाँ न तो कोई दुःख है, न सुख है। न पीड़ा है, न बाधा है। न मरण है और न जन्म है, वही निर्वाण है।[5]

जैन दार्शनिकों ने तत्व मीमांसा के प्रसंग में मुक्ति के विषय में बड़े व्यापक रूप से विचार किया है। उन्होंने विशेष रूप से तीन रत्नों को माना। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र। इनके मत में बन्धन चार प्रकार के होते हैं। प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाव बन्ध और प्रदेश बन्ध। इन चारों का कारक हैं, मिथ्यात्व,

---

1. मरण जीवण दो च्यंता नाहीं, जीवण हरि प्रभु बसि।
   जो तुझ भावै सो थियो, नानक नाम बकसि ।।5।।

   —वही पृ० 59

\+ तीर्थंकर महावीर ने संयम के लिये "पडिसोयमेव" शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है प्रतिस्रोत गामी। महावीर कहते हैं—

   अणुसोयपहिए बहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं।
   पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं ।। —द०चू० 2 : 2

   अर्थात् बहुत से मनुष्य अनुस्रोतगामी होते हैं, पर जिनका लक्ष्य किनारे पहुँचना है वे प्रतिस्रोतगामी होते हैं। जो संसार समुद्र से मुक्ति पाने की इच्छा करते हैं उन्हें प्रतिस्रोत (संयम) में आत्मा को स्थित करना चाहिए।

++ जैन दर्शन मे "गुण" शब्द वस्तु की किन्हीं सहभावी विशेषताओं का वाचक है।

2. णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजय गुणेण।
   चउहि पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।। —द० पा० 30
3. बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव। (आ० 1, 5 (2) : 36
4. जाइमरणओ मुच्चई इत्थंथे च चयइ सव्वसो। द० 9 (4) : 7
5. णावि दुःक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
   णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।। —नि०सा० 179

अवैराग्य, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व उसे कहते हैं, जो आत्मा की विपरीत रुचि का कारण हो। अवैराग्य नाम है जीवों की हिंसा का त्याग आदि न करना और अपनी इन्द्रियों से सर्वदा विषयों में आसक्त रहना। प्रमाद नाम है अविवेक के कारण से कर्तव्याकर्तव्य के विषय में सावधान नहीं होना। यही सब आत्मा को संसार में लाने के कारण हैं, जिन्हें आस्रव कहा जाता है। संवर मोक्ष का कारण है। भगवान् अर्हत् की तात्विक दृष्टि है कि इस संवर से अतिरिक्त सब प्रपंच की बातें हैं अर्थात् आस्रव को रोकने का नाम ही संवर है। आस्रव नाम कर्म प्रवाह का है। कर्म एक द्रव्य है, जो कि आत्मा के स्वच्छ स्वरूप को मलिन कर देता है। कर्म और आत्मा के परमाणु परस्पर संश्लिष्ट होते हैं, इससे आत्मा का स्वरूप बिगड़ जाता है। आत्मा के दो परिणाम हैं, एक स्वभाव परिणाम, दूसरा विभाव परिणाम। संसारी आत्मा विभाव परिणामी और मुक्त आत्मा स्वभाव परिणामी है। ऊपर वर्णित संवर आदि तत्व परम्परा से आत्मा की मुक्ति का साधन है। संवर निरजरा आदि का अनुष्ठान करने से जीव का तत्काल मोक्ष नहीं होता, किन्तु इन उपायों के द्वारा आत्मा का संस्कार होता है। आत्मसंस्कार होने पर सर्वदा के लिए मुक्ति कराने वाले मुक्ति के साक्षात् साधनों का सेवन करना पड़ता है। वे साक्षात् साधन हैं सम्यग्दर्शन आदि। इनमें दर्शन और ज्ञान का परस्पर अविभाव सम्बन्ध है। बिना दर्शन की पूर्णता के चरित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत. इन तीनों साधनों का संयोग ही मोक्ष का मार्ग बताया गया है। इसी को अर्हत् आचार्यों ने परम धर्म कहा है। इन तीनों साधनों से सम्पन्न होकर, आत्मा मोक्ष का अधिकारी होता है। मुक्ति पर्यायरूपा सिद्धावस्था सहसा सुलभ नहीं है। किन्तु क्रमशः गुणस्थानरूपी सोपानो को पार कर अर्हत उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इन अवस्थाओं का नाम है गुणस्थान। योग में जैसे सात भूमियां हैं, वैसे ये जैन दर्शन में चौदह भूमियाँ है। आत्मा का घात करने वाले चार प्रकार के कर्म जिसके नष्ट हो गए हों, दर्शन, सुख, ज्ञान तथा आध्यात्मिक दल जिसमें प्रधान हो, ऐसे शुद्ध देह में रहने वाले आत्मा की शुद्ध अर्हत् यह विशेष संज्ञा है। इस प्रकार पूर्वोक्त साधनों द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेना, यही आत्मा की मुक्ति है। ऐसा ही मोक्ष का लक्षण कहा गया है।

यह मोक्ष दो प्रकार का है। एक द्रव्य मुक्ति तथा दूसरा भावमुक्ति। द्रव्य मुक्ति उसे कहते हैं, कि जीव के स्वभाव परिणाम के द्वारा शेष बचे हुए आयु, नाम, आदि कर्मों का नाश होना ही द्रव्य मोक्ष है। श्रेष्ठ ध्यान योग से चैतन्यस्वरूप आत्मा का सम्पूर्ण कर्मों से जो प्रथग्भाव है, वही द्रव्य मोक्ष कहा जाता हैं। और दूसरा है "भाव मोक्ष" इसका यह अर्थ है कि इस अवस्था में मुक्त आत्मा स्वभाव परिणाम के द्वारा शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उनमें अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुप्त, वीर्य आदि गुण अभिव्यक्त होते हैं। इससे ज्ञानावरण आदि चार प्रकार के कर्मों का नाश हो जाता है। मिथ्या ज्ञान आदि दोषों का लेश भी नहीं रहता। इस प्रकार आत्मा के

समस्त कर्मों को क्षीण करने वाले परिणाम का ही नाम है "भाव मोक्ष"। यहां पर विशेषता है कि जैन दर्शन में मुक्ति दशा में आत्मा कर्म तत्व से रहित हो जाता है। उसकी वासनाएं भी नहीं रहती। सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।[1]

मोक्ष मार्ग का परिचय प्रस्तुत करते हुए महावीर ने कहा है कि गुरु और वृद्ध संतों की सेवा, अज्ञानी जनों से वर्जन तथा एकाग्र चित्त से स्वाध्याय, एकान्तवास, सूत्र और अर्थ का चिन्तन एवं धृति ही एकान्तिक सुखमय मोक्ष का मार्ग है।[2] किन्तु इस मार्ग पर वही अग्रसर हो सकता है जिसके पास मति ज्ञान रूपी दृढ़ धनुष है, श्रुत ज्ञान रूपी डोरी है, रत्नत्र रूपी अच्छे बाण हैं तथा जो परमार्थ को निशाना बनाता है।[3]

महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि केवल धर्म का श्रवण करने मात्र से[4] आगमों का स्वाध्याय करने मात्र से तथा असंयमी होने पर मुक्ति प्राप्ति नहीं होती।[5] अतः मुक्ति (मोक्ष, निर्वाण) प्राप्त करने के लिये महावीर ने योगी को संकेत दिया है कि उसे शारीरिक विषयों से उदासीन, निर्द्वन्द्व, ममत्वरहित, आरम्भ रहित तथा आत्म स्वभाव में क्षीण होना पड़ेगा।[6] महावीर के अनुसार मोक्षार्थी में निम्न गुण होने चाहिये—

1. मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला।[7]
2. सम्यक्ज्ञान पाने वाला।[8]

---

1. भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा—डॉ० किशोर दास स्वामी —पृ० 27-28
2. तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा विवज्ज बालजणस्स दूरा।
सज्झायगंत निसेवणा य सुत्तत्थसंचितणया छिई य।—उ० 32:3
3. मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण वाणा सुऊत्थि रयणत्तं।
परमत्थवद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स॥—बी० पी० 23
4. आहच्च सवणं तद्धुं सद्धा परमदुल्लाहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई॥—उ० 3:9
5. ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणे अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि॥—प्र० सा० 3:37
6. जो देहे णिखेक्खो णिद्दो णिम्ममो णिणंभो॥
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।—मो० पा० 12
7. उवसंतखीण मोहो मग्गं जिणभासिदेण सुमवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो॥—पंचा० 70
8. वही—

3. ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न ।[1]
4. ध्यान एवं अध्ययन तथा तप से युक्त ।[2]
5. कषाय तथा गौरव से मुक्त ।[3]
6. मोक्ष के लिये जिन मुद्रा ही महा नियम है । अतः जिन मुद्रा में रूचि रखने वाला ।[4]

निष्कर्ष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पांच महावर्ती* से युक्त, पाँच समितियों** से समित, तीन गुप्तियो*++ से गुप्त तथा बाह्य और अभ्यन्तर तप कर्म में उद्यत्

---

1. णाविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवो जुदो ।
कसायगारवम्मुक्खो संसार तरदे लहू ।।—मू० 968
2. वही ।
3. वही ।
4. जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा ।
सिविणे विण रूच्चइ पुण जीवा अच्छांति भवगहणे—मो० पा० 47

* 1—प्राणातिपात विरति (अहिंसा) 2—मृषावाद विरति (असत्य भाषण से विरत होना) 3—अदत्तादान विरति (बिना दी हुई वस्तु लेने से विरत होना) 4—मैथुन-विरति (भोग विरति) 5—अपरिग्रह (परिग्रह का त्याग)।

** आचार पद्धतियां अर्थात सम्यक रूप से शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करना। समिति हैं। ये चलने, बोलने, आहार ग्रहण करने, किसी वस्तु, के रखने-उठाने तथा मलमूत्र विसर्जन में निर्जीव स्थान की देखभाल से सम्बन्धित हैं। (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और उच्चार)

+++ मन, वचन व काय की प्रवृत्ति का निरोध करने मात्र ज्ञाता, द्रष्टा से निश्चय समाधि धारना पूर्ण गुप्ति है और कुछ शुभराग मिश्रित विकल्पो व प्रवृत्तियों सहित तथा शक्ति स्वरूप में निमग्न रहने का आंशिकगुप्ति है। पूर्ण गुप्ति ही पूर्ण निवृत्ति रूप होने के कारण निश्चयगुप्ति है और आंशिक गुप्ति प्रवृत्ति अंश के साथ वर्तने के कारण व्यवहार गुप्ति है। महावीर के अनुसार गुप्तिया तीन प्रकार की हैं मनागुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ शब्दावली का प्रयोग मनोगुप्ति के अन्तर्गत हुआ है। अर्थात संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए मन की कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों का परिहार मनोगुप्ति है। असत्य आदि दोषों से युक्त वचन न बोलना वचनगुप्ति है और निश्चयनय से शरीर सम्बन्धी चेष्टा की निवृत्ति कायोत्सर्ग हिंसाहिंसे निवृत्त होना कायगुप्ति हैं। अर्थात शरीर को निवृत्त करना जो प्रवृत्त करना। प्रवृत्त करने में आसन, प्राणायाम, श्वास की क्रियाएं, बैठने की मुद्राएं आ जाती हैं।

होता है ।[1]

महावीर ने मोक्ष विनय के पांच भेद-दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चरित्रविनय, तपोविनय और औपचारिक विनय बताए हैं ।[2] संसार से मुक्ति के लिए अपूर्व कर्म के आस्रव का निरोध और पूर्व कर्म का अपसारण आवश्यक है। इनमें पहली प्रक्रिया "संवर" कहलाती है और दूसरी निर्जरा। संवर आध्यात्मिक जीवन का प्रवीण है, निर्जरा प्रधानांग। संवर में मुख्यता पाँच महाव्रत संगृहीत थे। सामांजफल में निगण्ठों के चातुर्यामसंवर का उल्लेख है। वस्तुतः चातुर्याम अथवा चाउज्जाम पार्श्व के अनुयायियों का संवर था। महावीर ने चतुर्विध संवर को पञ्चविध किया।

—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास—गोविन्द पृ० 39

बन्धन के अभाव का नाम ही मुक्ति या मोक्ष है। दूसरे शब्दों में, मोक्ष का अर्थ है कर्म बन्धन के कारणों का अभाव और संचित कर्मों का निर्जीर्ण हो जाना ।[3] यहां आत्मा अनन्त चतुष्टय हो जाता है, अर्थात अनन्त, ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त सुख आदि से युक्त ।[4] मोक्ष की दशा में आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र होकर अपनी अनुपम आभा से प्रभासित हो उठता है। यही आत्मा की सिद्ध और सर्वोच्च अवस्था है ।[5] यहां के सुख अनुपमेय हैं। यह अक्षयपद है, जहाँ अपना ही अपना रूप दिखायी देता है ।[6] यह चेतन के लिए शिव-सुख स्वरूप अविचल धाम है। यहां पहुंचकर वह अनन्तकाल तक ध्रुव विश्राम करता है, जन्म-जरा मरण के चक्र से सदैव के लिए छुटकारा पा जाता है ।[7]

मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा हैं। कर्मास्र का निरोध और संचित कर्मपरमाणुओं की निर्जरा के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। संवर और निर्जरा, दोनों के लिए तत्वज्ञान आवश्यक है, इसके बिना मोक्ष नहीं मिलता ।[8] इसी से आत्मध्यान

---

1. पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमियो तिगुत्तिगुत्तो य ।
सब्भितबाहिरओ तवरेकम्मंति उज्जुओ ॥—उ० 19.88
2. दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचरिओ चेव ।
मोक्खह्मि एस विणओ पंचविहो होदि णदव्वो ॥—मू० 584
3. तत्वार्थ सूत्र 8/52
4. जैन दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता—पृ० 159
5. शत अष्टोत्तरी—पद्य 12—पृ० 10
6. जाछिन अपने सहज ही, चेतन करत किलोल ।
ताछिन आन न भाष ही, आपहि आप अडोल ॥
—शतअष्ठोत्तरी--पद्य 37—पृ० 16
7. चेतन कर्म चरित्र—पद्य 284-85 पृ० 83
8. मोक्ष नहीं बिन तत्व के पाये।—शतअष्टोत्तरी--पद्य 11, पृ० 10

होता है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य से तत्वज्ञान होता है। ये ही मुक्ति-मार्ग के सोपान है। बंध के कारणों के अभाव से आत्मा मुक्त हो जाता है (मोक्ष)। मोक्ष के लिए आवश्यक है कि पुद्गल-आगमन (आस्रव) को रोका जाये (संवर) और जो कालुष्य उस पर जमा चुका है, उसे पवित्र आचरण और आत्म-साधना आदि द्वार दूर किया जाये (निर्जरा) यही मोक्ष-मार्ग है।

मुनि नथमल ने भी कहा है कि दर्शन का विचार जहाँ से चलता है और जहां रुकता है। आगे पीछे वही आता है—बन्ध और मोक्ष। मोक्ष-दर्शन के विचार की यही मर्यादा है और जो विचार होता है वह इनके परिवार के रूप में होता है।[1] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने महावीर वाणी के आधार पर लिखा है—"आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। मोक्ष में दोनों द्रव्य अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। न तो आत्मा दीपक की तरह बुझ जाती है और न कर्म-पुद्गल का ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनों की पर्यायान्तर हो जाती है। जीव शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है और पुद्गल भी यथा सम्भव शुद्ध या अशुद्ध स्थिति को प्राप्त होता है।[2] अतः आत्मा का हित ही मोक्ष है।[3]

अतः तीर्थंकर महावीर ने प्राणि मात्र के उपकार के लिए मोक्ष मार्ग का प्रवर्तन किया है। प्राणियों का दुःख देखकर उनके हृदय में करुणा उमड़ पड़ी। सर्व-प्रथम वे आत्म-साक्षात्कार के लिए स्वयं आगे बढ़े। उन्होंने सदाचरण से हिंसा, असत्य, चोरी, कदाचार, अपरिग्रह आदि पापाचार से निवृत्त होने का उपदेश दिया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा सीमित परिग्रह रूप अणुव्रों की जनसाधारण को दीक्षा दी। आत्मोद्धार के साथ-साथ सासांरिक जीवों को संसार बन्धन से मुक्त करना उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था। सासांरिक प्रपंच में न फंसकर मानव को सच्चा मोक्ष-धर्म मार्ग दिखाया उनका यह कार्य विश्व जनीन और स्तुत्य है। उन्होंने बताया है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म साधना करके मानव वासना की दासता से कैसे मुक्त हो सकता है। जो भक्ति आत्मा की शक्ति का अपव्यय नहीं करता, उसका सदुपयोग करता है, वही ईश्वर बन सकता है। महावीर के ज्ञान और आचरण की भावनाएं मानव को भगवान बनाती है, ऐसे जिन विश्वबन्धु हैं। उन्होंने मानव के हित-अनहित तथा

---

1. जैन दर्शन मनन और मीमांसा—मुनि नथमल—पृ० 141
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग—1)
   —डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषचार्य—पृ० 378
3. श्री मोक्ष मार्ग प्रकाश—पं० श्री टोडरमल—पृ० 306

कर्त्तव्य-अकर्तव्य का मार्ग सुझाया है। अपनी आध्यात्मिक साधना से उन्होंने अनुभव किया था कि मैंने आत्म संयम के द्वारा ही तीर्थंकर प्रकृति को प्राप्त किया है उसी का उदय इस जन्म में हुआ है। मेरा कर्त्तव्य है कि धर्म के नाम पर फैलने वाले पापाचार का निराकरण करूं। जब तक संयम द्वारा मैं आत्म-शुद्धि नहीं कर लेता, तब तक न तो संसार का दुःख दूर हो सकता है और न मैं आत्मोद्धार ही कर सकता हूं। मोह-माया को त्यागकर मानव को आत्मतत्व का चिन्तन करना चाहिए। इसी से वैराग्य, तितीक्षा आदि भावनाए परिपक्व हो सकती हैं। सदाचार से ही मानव धीर, वीर, बलवान बन सकता है तब वह उस सर्वोच्च पद को प्राप्त कर सकता है, जिससे ऊंचा कोई पद नही है और वह आत्मा की कर्म बन्धन से मुक्ति है। ऐसे एक नए मार्ग का निर्माण करके महावीर ने असंख्य प्राणियों का कल्याण किया।[1]

मुक्ति : नामदेव—नामदेव के अनुसार स्वर्गीय अनहद नाद (कीर्तन) को सुनने से जीवन मुक्ति मिल जाती है। आवागमन नष्ट हो जाता है। नाम के द्वारा ही अनन्त दिख पड़ता है। मृत्युलोक में मनुष्य जन्म पाने की इच्छा से कोई अधिक पुण्य नहीं, उसका मैं कैसे वर्णन करूं ? मुक्ति का रास्ता केवल मनुष्य जन्म से है और इस इच्छा से मनुष्य जन्म की इच्छा करना सबसे बड़ा पुण्य है।[2]

नामदेव कहते हैं कि नाम की गजर ने मुझे जीते जी मुक्ति दिला दी और परमेश्वर की सेवा करने का अधिकारी बना दिया। तूने भव चक्करों से मुझे निकाल लिया, इस आभार से मैं कैसे उऋण होऊं ? तूने मुझे अपने प्रेम की लग्न बख्शी है। मुक्ति समारोह का सहभागी हो गया हूं। इसका वेदों को भी कुछ अनुमान नहीं है और पुराण भी इसका वर्णन नहीं कर पाते।[3]

नामदेव कहते हैं जिस प्रकार कीचड़ में नहाने से कोई शुद्ध नहीं हो सकता वह अनमोल जन्म को व्यर्थ करना है, अन्तःकरण में मैला भरा हो बाहर चका चौंध

---

1. भारतीय दर्शन और मुक्ति-मीमांसा — डॉ० किशोरी दास स्वामी—पृ० 370
2. एकता कीर्तन होती जीवन्मुक्त। दाविसी अनन्त नाममात्रें।
मृत्युलोकीं जो जन्म इच्छी नर। त्याच्या पुण्यापार कोण वाणी
—श्री नामदेव गाथा—675
3. जीवमन्मुक्त केलें नामाचे गजरी। सेवेसी अधिकारी बिठोबाचे।।
अंतरी देउनि प्रेमाचा जिव्हाला। मुक्तीचा सोहला भोगविसी।।
नामा म्हणे वेदां न येसी अनुमाना। वर्णितां पुराणां पडलें तक।।
—श्री नामदेव गाथा—पृ० 1502

हो पिंड का प्रक्षालन करने से भी उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। भेड़ की पूँछ पकड़कर किसे मुक्ति (भवजल) मिली है।[1]

नामदेव ने मुक्ति के लिये भक्ति का मार्ग बताया है। इसके द्वारा जन्म-जन्म का चक्कर छूट सकता है।[2]

नामदेव के अनुसार मुक्ति के लिये एकाग्रता परम आवश्यक है। मुक्ति को एक उपमा द्वारा स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि बन्दर को पकड़ने के लिए एक पीतल के लोटे में लड्डू रख दिये जाते हैं। बन्दर लड्डू के लिये लोटे में हाथ डालता है और लड्डू को मुट्ठी में पकड़ लेता है, पर लोटे का मुंह संकड़ा होने के कारण हाथ निकाल नहीं सकता। न तो वह छोड़ता है, न हाथ निकाल सकता है। नामदेव कहते हैं कि यह "मरकट मूठी" छोड़ दो, तो मुक्ति मिल जायेगी।[3]

मोक्ष : **कबीर**—साधक अपने चरम लक्ष्य पर पहुंच जाता है तब वह अपने नित्य मुक्त, शुद्ध-बुद्ध स्वरूप को समझा लेता है। शुद्ध-बुद्ध स्वभाव में वह अवस्थित हो जाता है। इस स्थिति को कबीर ने मोक्ष नाम दिया है।[4] कबीर के अनुसार मुक्ति की अवस्था सागर एवं बिन्दु की भाँति हो जाती है।[5] साधन की प्रारम्भिक अवस्था

---

1. लागी पंक पंक लै धोवै। निर्मल न होवै जनम बिगोवै॥
भीतरी मैला बाहरि चोखा। पाणी पिंड पखालै धोखा॥
नामदेव कहै सुरहो परहरिये। भेड़ पूँछ कैसे भवजल तरिये॥
—हिन्दी पदावली—पृ० 22

2. भगति आपि मोरे बाबुला। तेरी मुक्ति न आंगू बीठला॥
भगति न आपै तो तन आडौर कोटि करै तो भगति न छांडौ॥
अनेक जन्म परमतौ फिरयो। तेरी नाव ले ले उधरयो॥
नामदेव कहै तू जीवन मोरा। तू साहिर में मंछरलोरा॥—वही 49

3. देवा नटणी की तनमन बाँसा बरतौं माँहिरे।
अनेक राजिंद्र बैठे तिनही। सूँ चित्त नांहिरे॥
सुमति सरीर संवारै नटनी निहारै।
राम नाम नीसान बाजै इति तत पावं धारै॥
एक मन एक चित्त बैंनीलै षेलारे।
मरकट मूठी छाँडि दैज्यू मुक्ति भैलारे॥—वही—71

4. मुक्त सो जे आपा पर जान, सो पद कहाँ जू भरमि भुलाने।
—क० ग्र० पृ० 233

5. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहाय—पृ० 184

में कबीर ने दुःख-निवृत्ति को ही मुक्ति कहा है।[1] जगत के, मोह आदि बन्धन ही उसे मुक्ति प्राप्त नहीं करने देते। साधना द्वारा इन भव-बन्धनों से निर्बन्ध होना ही अमरत्व या मुक्ति है।[2] कबीर की मान्यता है कि भवबन्धनों के छूट जाने पर ही मुक्ति मिल सकती है।[3] मन का विकार रहित होना ही मुक्ति को पाना है।[4]

साधक का शुद्ध-सात्विक हृदय-सद्व्यवहार में निमग्न रहता है। चित्त की इसी अवस्था को कबीर ने निर्वाण नाम दिया है।[5] कबीर ने निर्वाण-पद को निरभ्रपद भी कहा है। सर्वहित में लगा हुआ साधक जो समदर्शिता के भाव से परिपूर्ण है, उसे भय नहीं होता। भय का कारण मन के विकार है। निर्वाण अवस्था में विकास समाप्त हो जाते हैं। कबीर परमपद को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर बल देते हैं।[6] ब्रह्म व जीवात्मा मूलतः अद्वैत तत्व हैं। यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाये तो मुक्ति उत्पन्न होने वाली नही। वह तो शाश्वत है। गले में पड़े हुए हार के समान है। यह ज्ञान होना ही मुक्ति है।[7]

कबीर की स्पष्टोक्ति है कि मुक्ति कहीं बाहर रखी हुई वस्तु नही है और न वह कहीं से लायी ही जा सकती है। मुक्ति तो अपना मुक्त स्वभाव है। मुक्ति पाकर कहाँ जाना है अर्थात् कहीं भी नहीं। वैकुंठ आदि काल्पनिक ही हैं। ब्रह्म और जीवात्मा पारमार्थिक दृष्टि से दो नही हैं। जब दोनों का एक ही स्वरूप है तब मुक्ति देना और पाना भ्रम मात्र ही है। जब तक तत्वज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक उपास्य और उपासक का भेद दिखाई पड़ता है। तत्वों के निकट यह विभेद नहीं रहता और वे

---

1. अमर भये सुख सागर पावा—पृ० क० ग्र० पृ० 102
2. कहै कबीर भवबन्धन छूटे, जीतिहि जोति समानी—क० ग्र० पृ० 111
3. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल सहाय—पृ० 238
4. जे मन नहीं तजे विकारा, तो, क्यूं तिरिये भौपारा॥
   जब मन छाडै कुटलाई, तब आन मिलै राम राई॥—क० ग्र० पृ० 145
5. आपा पर सब एक समांन, तब हम पाया पद निरवांण।
   कहै कबीर मन भया सन्तोष, मिलै भगवंत गये दुख दोष॥
   —वही पृ० 144
6. अपनै परचै लागी तारी, अपन पै आप समानां;
   कहै कबीर जे आप विचारै मिटि गया आवन जानां॥—क० ग्र० पृ० 90
7. कबीर दर्शन—पृ० 239

अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर निमग्न रहते हैं।[1]

कबीर मोक्ष को पूर्ण मुक्तावस्था मानते हैं। उनका विश्वास है कि मोक्ष की अवस्था में सब प्रकार के बन्धन मुक्तात्मा को अभिभूत नहीं कर पाते सब प्रकार के बन्धनों से निर्बन्ध होकर मुक्त आत्मा अविनाशी स्वरूप अर्थात शुद्ध-बुद्ध, मुक्त ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।[2]

कबीर ने मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ विशेष मत भी प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने मुक्ति, परमपद, निरभैपद, अभयपद और निर्वाण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर मुक्ति अथवा मोक्ष को अपूर्ण अवस्था से पूर्ण अवस्था पर पहुचना नहीं मानते। वे अमरत्व या नित्यत्व को सामायिक घटना भी नहीं समझते। कबीर के अनुसार मुक्ति का अर्थ है अपने नित्य, अविनाशी, शाश्वत, शुद्ध, बुद्ध शरीर एवं मन से भिन्न मुक्त अवस्था का ज्ञान होना। तत्व ज्ञान से जब ऐसी अनुभूति होती है, तब आत्मा का शरीर अथवा मन के विकारों से प्रभावित होना बन्द हो जाता है। और वह केवल उनका साक्षी रूप होकर रहता है।

कबीर ने अनेक स्थानों पर अपने स्वरूप को पहचानने का उपदेश दिया है। अपने स्वरूप को जान लेने पर शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है[3]। अपने आप को पहचान लेने पर आवागमन से छुटकारा मिल जाता है।[4] अपने आप को जान लेने पर त्रिविधताप से छुटकारा मिल जाता है।[5] आत्मा के स्वरूप को न जानने से मुक्ति कठिन हो जाती है। इससे कबीर का तात्पर्य अपने शुद्ध स्वरूप को पहिचानना ही है।[6]

परमार्थिक सत्य के रूप में आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। उसे ही कबीर अपना ही स्वरूप कहते हैं। अथवा ब्रह्म ही परमार्थिक सत्य है तथा ब्रह्म और जीवात्मा में

---

1. राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहो धूं कैसा, करि पसाव मोहि दैहो।
जे मेरे जीव होइ जांनत हो, तो मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं, तो काहे भरमावो॥
तारण तिरण लग कहियै तब लग तत न जांना।
एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मांना॥—क० ग्र० पृ० 105
2. कबीर दर्शन—पृ० 240
3. आप ही आप विचारिये तब कैता होई आनन्द रे। क० ग्रं० पृ० 89
4. कहै कबीर जे आप विचारै, मिटि गया आवन जाना।—वही पृ० 99
5. आवा जानि उलटि ले आप, तौ नहीं व्यापै तीन्यूं ताप—वही पृ० 93
6. आतम राम न चीन्है संतो, क्यूं रमि लै राम राया।—वही पृ० 144

तात्त्विक भेद कुछ भी नहीं है। जीवात्मा भी ब्रह्म की भाँति सर्वत्र व्याप्त, अद्वैत, अनन्त, अनश्वर, अतीत, निराकार, निर्विकार है।[1] और यह पद निर्वाण जीते-जी ही प्राप्त होता है। स्थिर प्रज्ञ सन्त समदर्शिता के साथ सभी जीव जन्तु एवं प्राणियों में अपना मुक्त स्वरूप देखता है। वह निर्लेप साधक मुक्त हो जाता है।[2] कबीर ने यह भी कहा है कि मुक्त स्वभाव वाला सन्त लोकसेवा के कार्यों में लिप्त रहकर निरन्तर निष्काम भाव से लोक सेवा करता रहे। केवल मुक्ति पाने की भावना से नाना विध पूजा-पाठ आदि में उलझे साधक तो भ्रम में फंसे हैं [3]

डॉ० रामजीलाल सहाय के मतानुसार कबीर द्वारा वर्णित मुक्ति का यह स्वरूप विश्व को मौलिक देन है। इसके द्वारा विश्व-बन्धुत्व, लोकसेवा को तथा निष्काम भाव से जगत व्यवहार करते हुए जीवनयापक को मुक्ति कहा, अमरत्व कहा।[4]

कबीर ने जीवनमुक्त और विदेह मुक्त का विवेचन करते हुए कहा है कि जीवनमुक्त मुक्तात्मा की अवस्था है। जीवनमुक्ति समदर्शी होता है, भ्रम और संशये से रहित होता है।[5]

कबीर के अनुसार पूर्ण शरीरान्त होने के कुछ समय पूर्व ही विदेह मुक्ति की अवस्था का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था का प्रारम्भ होते ही साधक की शारीरिक क्रियाओं में निष्क्रियता आ जाती है। वह हंसना-बोलना, चलना-फिरना आदि शारीरिक क्रियाओं के प्रति उदासीन हो जाता है।

अपनी अन्तरात्मा में ही ध्यानावस्थित रहता है।[6] वह आत्मा में तल्लीन रहता

---

1. हम सब मांहि सकल हम मांहीं, हम थैं और दूसरा नांही।
तीनो लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा॥
षट दरसन कहियत हम भैया, हम ही अतीत रूप नहीं रेखा।
हम ही आप कबीर कहावा, हम हीं अपना आप लखावा॥
—क० ग्र० पृ० 201
2. कबीर दर्शन—पृ० 244
3. मुक्ति सो जे आपा पर जानैं, सो पद कहां जु भरमि भुलानैं। क० ग्र० पृ० 232
4. कबीर दर्शन—पृ० 245
5. जन सम द्रिष्टि सीतल सदा दुबिधा नहीं आवै।
कहैं कबीर ता दास सूं मेरा मन मांने॥—क० ग्र० पृ० 209
6. हंसे, न बोलै उन्मनी चंचल मेल्ह्या।
कहे कबीर भीतर भिद्या सद्गुरु का हथियार॥—क० ग्र० पृ० 2

है। अपने नित्य-मुक्त स्वभाव का परम रस उसे बाहरी संसार में उलझने नहीं देता। उसे अपने शरीर की सुध नहीं रह जाती।[1] कबीर इसे हरि में तल्लीन होना या समा जाना कहते हैं।[2] उसके सभी कर्म क्षय हो जाते हैं और स्थूल शरीर का पतन हो जाता है। कबीर के अनुसार वह अमर हो जाता है। आवागमन से छूट जाता है।[3]

कबीर के अनुसार अपने शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त स्वभाव को पहिचानना ही मुक्ति है। मुक्ति जीतेजी प्राप्त हो सकती है। मन के विकारों से जूझते हुए शूरमा की भांति निष्काम, निर्लेप, निरासक्त रहकर लोक कल्याण के कार्यों में व्यस्त रहना जीवनमुक्ति है।[4]

मोक्ष: रविदास – रविदास जी ने मोक्ष के लिए "खलास"[5] मुक्ति, निरबान[6] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार मनुष्य बूंद को खोजता फिरता है किन्तु वह तो समुद्र में है। अनन्त की खोज करने पर ही वह मिट सकती है।[7] बूंद के समुद्र में मिल जाने पर जन्म-जन्म की प्यास बुझ जाती है। जन्म-मरण के बन्धन टूट जाते हैं।[8]

---

1. हरि रस पीया जांणिये, जे कबहू न जाइ खुमार।
   मैंमता घूमत रहै, नांही तन की सार॥—वही पृ० 16
2. आत्मलीन अखंडित रामा कहै कबीर हरि मांहि समाना। —वही पृ० 158
3. राम रमें जे जन मूवा, कहै कबीर अविनाशी हुवा।—वही पृ० 103
4. कबीरदर्शन—पृ० 247
5. तिउं तिउं सैल करहि भावै, मरहम महिल न को उटकावै।
   कहि "रविदास" खलास चमारा, जो हम सहरी सो मीतु हमारा।
   —गुरु रविदास— पृथ्वीराज आजाद—पृ० 99
6. घ्रित कारन दधि मथै सइआन, जीवन मुकत सदा निरबान।
   कहि रविदास परम बैराग, रिदै राम की न जपसि अभाग (4)
   —संतगुरु रविदास वाणी – डॉ० बी० पी० शर्मा
7. रविदास लोरे जिस बूंद कूं, सोई बूंद समुन्द समान।
   अन्तर खोजी कूं मिलइ, ब्रह्म अबूंद की ग्यान॥
   — वीर—15 मार्च 1982 में सन्त रविदास की दार्शनिक मान्यतायें
   —डा० पी० के० जैन—पृ०7
8. इक बूंद सो बुझगई, जनम जनम की प्यास।
   जनम मरन नन्धन टूटई, भये रविदास खलास (24)
   —गुरु रविदास—आजाद—पृ० 79

रविदास जी की मान्यता है कि मुकुंद मुक्ति का दाता है।[1] उसने अजामिल, गज और गणिका को मुक्त किया है।[2] वह इस चमार को भी मुक्त करेगा। मैं भी मुक्ति के लिए प्रेमपाटी और सुरति की लेखनी को ग्रहण कर सनकादिक के समान मुक्ति प्राप्त करूँगा।[3]

गुरु रविदास जी ने मुक्ति का वास बैकुंठ में माना है।[4]

मोक्ष : दादू—दादू के मतानुसार जब चित्त-चित्त में लय हो जाता है और परमात्मा मात्र शेष रह जाता है बस यही मुक्ति है।[5] उस प्रियतम के मिलन के उपरान्त जो शाश्वत पूर्णानन्द प्राप्त होता है। दुःख-सुख, पाप-पुन्य सभी कुछ लुप्त हो जाते हैं। यही अवस्था मोक्ष है।[6]

परमात्मा से आत्मा का मिलन इस प्रकार होना चाहिये जैसे जल-जल से अथवा जल से दूध या जल में नमक मिल जाता है। किन्तु यह स्थिति बिरला ही प्राप्त कर सकता है।[7]

दादू ने मोक्ष का मार्ग प्रेम और जीवन माना है। प्रेम का प्यासा साधक ही

---

1. मुकन्द मुकन्द जपहु संसार, बिनु मुकन्द तनु होइ अउहार।
   सोई मुकन्द मुक्ति का दाता, सोई मुकन्द हमारा पिता माता (1)
   —संत रविदास वाणी—डा० शर्मा—पृ० 120
2. अजामेल गज गनिका तारी, काटी कुंजर की प्यास रे।
   ऐसे दुरमति मुकति कीऐ, तौ क्यूं न तिरै रविदास रे (3)
   —वही पृ० 94
3. प्रेम पाटी सुरति लेखनि करि हों, रा ममा लिखि अंक दिखउं।
   इहि विधि मुक्ति भये सणकादिक, टिदै विदारि प्रकाश दिखाऊ (1)
   —वही पृ० 120
4. मुवा मुकति बैकुंठह बासा, जीवन इहां जस पाया रे (2)
   —सन्त गुरु रविदास वाणी—डॉ० शर्मा—पृ० 103
5. जब चित्ताई चित्त समाणा। हम हरि बिन और न जाना।।
   —दादू बानी (भाग—2) पृ० 35
6. दादू निरन्तर पिऊ पाइया, जहँ आनन्द बारह मास।—वही पृ० 55
7. (अ) दादू ऐसे मिलि रहा ज्यों जल जल हि समाना।
   —वही (भाग—1) पृ० 63

   (ब) ज्यो जल पैसे दूध में ज्यो पाणी में लूण।
   ऐके आतम राम सो मन हठ सावै कौण।।
   —वही (भाग—1) पृ० 105

मुक्ति पा सकता है ।[1] यह जीवन (शरीर) ही मुक्ति का द्वार है ।[2]

जीते जी अविद्या आदि बन्धनों का परित्याग करके परमात्मा से मिल जाये, तभी वास्तविक जीना या मुक्ति है । यदि ऐसा न हो सका तो मृत्यु के पश्चात परमात्मा में मिलना तो मरना ही है अर्थात उसके पश्चात् तो संसार के आवागमन का चक्र लग ही जाएगा, मुक्ति नहीं प्राप्त होगी । इस सम्बन्ध में उन्होंने एक उदाहरण देकर कहा है कि यदि देह-मुक्ति से ही, मुक्ति हो जाये तो फिर देह-त्याग होने के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति की मुक्ति हो जानी चाहिए, किन्तु स्थूल शरीर के नाश से यह मुक्ति सम्भव नही है ।[3]

स्थूल शरीर की समाप्ति हो तो यह मुक्ति प्राप्त नही हो सकती, किन्तु सूक्ष्म-शरीर और कारण अर्थात अविद्या, काम, कर्म और पूर्व प्रज्ञा का विनाश हो जाने से यह मुक्ति अवश्य प्राप्त हो सकती है ।[4] दादू ने स्थूल शरीर के अवसान को पिण्ड-मुक्ति कहा है और सूक्ष्म तथा कारण के विनाश को प्राण-मुक्ति बताया है और साथ में यह भी कहा है कि पिण्ड-मुक्ति तो, जितने भी संसार में लोग मरते हैं सभी करते हैं किन्तु प्राण मुक्ति या जीवनमुक्ति कोई बिरले ही कर पाते हैं ।[5]

जीवन मुक्ति—दादू ने उसी स्थिति को अर्थात् विश्व भर के प्राणियों के साथ एकात्मता स्थापित करने की परिस्थिति को ही जीवनमुक्ति कहा है । यह भी इस बात का प्रमाण है कि वे अन्य किसी प्रकार की योग वा भक्ति की साधना को किसी

---

1. प्रेम पियासा राम रस हम को भावे येह ।
ऋद्धि सिद्धि माँगे मुकुति फल चाहै तिन को देह ।।
—संत सुधासार—पृ० 472

2. दादू जीवत छूटै देह गुण, जीवत मुकता होइ ।
जीवत काटै कर्म सब, मुकति कहावै सोई ।।
मूआँ पीछे बैकुंठ बासा, मूआँ सुरग पठावै ।
मूआँ पीछे मुकति बतावैं, दादू जग बौरावै ।।
—दादू बानी (भाग – 2) पृ० 32

3. दादू छूटै जीवताँ, मूवाँ छूटै नाँहि ।
मूवाँ पीछे छूटिये, तौ सब आये उस माँहि ।।41।।
—संजीवनी को अंग 41

4. कबीर-ग्रन्थावली । संजीवनी को अंग—4-5

5. पिण्ड मुक्ति सब कोई करै, प्राणमुक्ति नहीं होइ ।
प्राण-मुक्ति सतगुरु करै, दादू बिरला कोइ ।।21।।
—स्वामी दादूदयाल जी की बानी : विचार को अंग—21

प्रकार का महत्व नहीं देते थे, वरन् विश्व भर के प्राणियों के साथ एकात्मा स्थापित करने की भावना को ही प्रमुख समझते थे। मृत्यु के अनन्तर मुक्ति प्राप्त करने की भावना का उनके मन में कोई आदर नहीं था। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है—'निरंजन के पास पहुंचते ही मैं जीवनमुक्त हो गया। मृत्यु के उपरान्त जिस प्रकार की मुक्ति का वर्णन किया जाता है, उसमें मेरा तनिक भी विश्वास नहीं है और न मेरा मन ही मानता है कि आगे चलकर अच्छे कर्मों के कारण कोई अच्छा जन्म मिलेगा। शरीर छूटने के पश्चात् जो गति होती है वह समान रूप से सभी को प्राप्त होती है। दादू तो केवल यही जानता है कि जोते जी राम उपलब्ध हो जाये तो अपना जीवन सफल हो जाए।[1]

अतः दादूदयाल जी ने लै को ही परमानन्द या मोक्ष की अवस्था बताया है और वह अवस्था जीवन मुक्ति और मरणोपरान्त मुक्ति दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहती है इसे ही लय माना है।

"लै लागी तब जाणिए जे छूटि न जाई।
जीवत यो, लागी रहै, मूवा मंहि समाइ ॥

उनका तात्पर्य है कि लै की अवस्था अर्थात भगवान के साथ तन्मयता की अवस्था वह है जो न तो जीवन में छूटे और न ही जीवन के बाद। साधक का मन जीवित अवस्था में भगवान में ही लीन रहे और मृत्यु के बाद उनमें ही समा जाये। उनकी यह मोक्ष यातना केवल शरीर छूटने के बाद ही नहीं है वरन् जीवित रहते हुए भी साधक मुक्ति का आनन्द लेता है। जीवित अवस्था में मुक्ति को उन्होंने समाधि सुख बताया है।

दादू सहज सुंनि मन राषिए, इन दून्यू के मांहि।
ले समाधि रस पीजिए, तहां काल भै नांहि ॥

दादू का कहना है कि मन को सहज शून्य और सहज समाधि में ले जाकर रखना चाहिये। वहाँ समाधि का रस अर्थात परमानन्द प्राप्त करना चाहिये जहां काल का मेल नहीं है। यह अमृत पद मोक्ष ही वह परमावस्था है कि मनुष्य जीवित अवस्था में भी मुक्ति का अर्थात सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होकर परमानन्द का सुख पा सकता है।

मोक्ष : सुन्दरदास : सुन्दरदास जी के मतानुसार ही बुद्धि वाला व्यक्ति रजतम से क्रांत रहकर इधर उधर भटकता है। वह चाहे कठिन तपस्या भी करे, मेघ, शीत

---

1. सबद : राग गौड़ी—52
निकट निरंजन लगि रहे—
भये राम रंगि राते ॥5॥

आदि के प्रकोप भी सहन करे तथा कामनाओं के उद्रेक के भय से वह चाहे कन्द मूल खाकर जीवन यापन करे, किन्तु उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। वह तो आत्मा के सच्चे स्वरूप को भूल कर बंधन में बंध जाता है।[1]

सुन्दरदास जी के मोक्ष सम्बन्धी विचारों पर योग का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने मोक्ष के कपाट खोलने के लिये योग आसनों की आवश्यकता पर बल दिया है।[2]

सुन्दरदास के अनुसार योग आसनों में सिद्धासन का स्थान महत्वपूर्ण है। इसे लगाने के लिए बायें पैर की एडी को अंडकोष के नीचे पोरूष ग्रंथि पर इस प्रकार रखा जाता है कि पांव का तलवा दायीं जांघ के साथ लगे और दायें पैर की एडी लिंग के मूल में बायीं ओर स्थिर रहे, रीढ़ की हड्डी एवं गर्दन सीधी, मस्तक ऊपर उठा हुआ, ध्यान भ्रकुटि पर या श्वास पर स्थिर।[3]

महावीर वाणी में प्रत्यक्ष रूप से तो आसनों का उल्लेख इस सन्दर्भ में प्राप्त नहीं होता किन्तु महावीर की अधिकांश मूर्तियां पद्मासन में ही प्राप्त होती है। सुन्दरदास जी ने मोक्ष साधना के लिए सिद्धासन का उल्लेख किया है।

मोक्ष : मलूकदास—मलूकदास ने मोक्ष के लिए (परमपद)[4] शब्द का प्रयोग किया है। भवसागर से पार उतर कर ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।[5] इसे वही पा सकता है जिसने झूठे नाते छोड़ दिये हों, पाप रहित हो कर उस का स्मरण किया है उसे एक अक्षर मात्र से परमपद (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है।

परमपद प्राप्त होने पर सोहैब (आत्मा) साहेब (परमात्मा) से मिल जाती है तब वह उस घर में पहुंच जाती है जहाँ पवन की भी पहुंच नहीं।[6] उस परमपद को

---

1. सुन्दरविलास—पृ० 65
2. मोक्ष के कपाट को उघारत आश्यमेव।
   सुन्दर कहत सिद्ध आसन बयानियां॥—सुन्दर दर्शन पृ० 38-39
3. योग आसन एवं साधना—डॉ० सत्पाल—पृ० 34
4. झूठा नाता छोड़ि, तुझे लव लाइया।
   सुमिरि तिहारो नाम, परमपद पाइया॥
   —संक्षिप्त संतवाणी हरि पृ० 289
5. पाप न राखे देह में, जब सुमिरन करिये।
   एक अच्छर के कहत हीं, भौसागर तरिये॥—वही पृ० 388
6. साहेब मिल साहेब भये, कछु रही न तमाई।
   कहैं मलूक तिस घर गये, जहं पवन न जाई॥—वही पृ० 389

पाकर अपने अस्तित्व की भी सुध नहीं रहती।[1] किन्तु जिस प्रकार दीपक, बत्ती और तेल की कथा कहने मात्र से अंधकार नहीं भागता,[2] उसी प्रकार केवल इच्छा मात्र से परमपद प्राप्त नहीं होता। उसे पाने के लिए पाप रहित देह, सुमिरन, झूठे नातों का त्याग और दूसरों की आत्मा की पहचान[3] आवश्यक है।

मोक्ष: नानक—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार मोक्ष प्राप्ति को नानक ने अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया है। किन्तु वह मोक्ष किसी इच्छा-कामना की पूर्ति रूप नहीं है। आत्म साक्षात्कार ही मोक्ष है इस मोक्ष में स्वर्ग की भावना नहीं है।[4] केवल शान्ति का अपार पारावार ही आत्मसाक्षात्कार और जन्म-मोक्ष है। वह मन के द्वारा ही प्राप्त होता है।[5]

नानक के मत में आत्म-साक्षात्कार और कुछ नहीं, सांसारिक दुःखों की निवृति ही है। इसी को आत्मा का परमात्मा में लीन होना कहा जाता है। कर्म-सिद्धान्त का वर्णन मोक्ष के प्रसंग में नानक ने नहीं किया। किसी देवी-देवता की प्राप्ति या किसी स्वर्ण आदि की उपलब्धि भी नानक ने स्वीकार नहीं की। कर्मकांड के द्वारा मोक्ष या स्वर्ग उन्होंने कभी नहीं माना।[6] आत्मा के बन्धन कहने पर सत् ज्ञान उत्पन्न होता है और वही मोक्ष है।[7]

गुरु नानक कहते हैं—ऐ बनजारे मित्र, उनकी सांसो का अन्त आ पहुंचा है, बलवती उनके कंधे पर सवार हो चुकी है। उनमें एक रत्ती भी गुण नहीं टिके है, हे बनजारे मित्र, वे अपने अवगुणों को बांधकर ही जायंगे। जो गुणों के संयम के साथ जाता है, उस पर चोट नहीं पड़ती और उसका जन्म-मरण भी नहीं होता। यम अपने

---

1. कहै मलूक, अलख के अब हाथ बिकाना,
   नाही खबर वजूद की, मैं फकीर दिवाना।—संतबाणी-वियोगी हरि पृ० 114
2. बातों तिमिर न भाजई, दीवा बाती तेल।
   निसि गृह-मध्य दी। की बातन्ह,
   तम निवृत्त नाहि होई।—वही पृ० 142
3. जिन पर-आतम चीन्हिया, ते उतरे पार।—वही पृ० 100
4. गुरु नानक और उनका काव्य—सं० डॉ० महीपसिंह (गुरु नानक का भक्ति दर्शन) पृ० 171
5. आगम अगोचर अकारथ अजो नी गुरमति एको जानिया।
   सुमर मरै यही चित डौले मन-ही-मन मानिया॥—वही पृ० 171
6. वही पृ० 171
7. जिउ जल कहि जलु आइ समाना।
   तिउ जोती संग जोती समाना॥—वही पृ० 171

काल-जाल से उसकी प्रतीक्षा नहीं कर सकते, उसे तो प्रेमा भक्ति से भय के समुद्र को तरना है। वह परमात्मा के दरवाजे पर प्रतिष्ठा से जाता है, सहजावस्था निर्वाण पद, मोक्ष, तुरीय पद, में समा जाता है, और अपने सारे दुःखों को मिटा देता है।[1]

गुरु नानक निर्वाण पद तक पहुँचने का मार्ग सुझाते हुए कहते हैं कि साधक इस शरीर को धरती तथा शुभ कर्मों को बीज बनाओं सारंगपाणी (परमात्मा) को सींचने के लिए जल बनाओं। मन ही किसान हो और हरि को अपने हृदय में जमा लो। इस प्रकार तुम निर्वाण पद को प्राप्त कर सकते हो।[2] गुरु शब्द में अनुरक्त होने से शाश्वत निर्वाण पद तक पहुँचा जा सकता है।[3]

अनेक प्रकार के कथन या पुस्तकों के भार से मुक्ति सम्भव नहीं है। बिना हरि-भक्ति और प्रेम के शरीर की शुद्धि नहीं होती। नाम स्मरण रखने वाले को गुरु अपने में मिला लेता है।[4] जब मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तब समस्त अवगुण भी मिट जाते हैं।[5]

अतः गुरुनानक के ब्रह्म में लीनता की स्थिति को ही मोक्ष माना है। दिव्य-ज्योति परमात्मा से साक्षात्कार हो मुक्ति है। इसके लिए उन्होंने चार मार्गों का निदेशन दिया है—कर्म मार्ग, योनि-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग।

---

1. दूजै पहरै रैणि के वणजरिआ मित्रा भरि जोबनि मैमति ॥
अहिमिसि काम विआपिआ वणजारिआ मित्रा अंधुले नामु न चिति।
रामनामु घर अंतरि नाही होरि जाणै रस कस मीठे।
गिआनु धिआनु गुण संजमु नाही जनमि मरहुगे झूठ ॥
तीरथ वरत सुचि संजमु नाही करमु धरमु नहीं पूजा।
नानक भाइ भगति निसतारा दुविधा विआरो दूजा (2)—नानक वाणी—पृ० 166

2. इहु तनु धरती बीजु करमा करो सलिल अपाउ सारिंगपाणी।
मनु किरसाणु हरि रिदै नंमाइ लै इउ पावसि पदु निरबाणी (1) नानक-वाणी—पृ० 125

3. बिनु नावै दुखु देहुरी जिउ कलर की भीति।
तब लगु महलु त पाईऐ जब लगु साचु न रीति ॥
सबदि नरै घरु पाईऐ निरब णी पदु मीति (4)—वही—पृ० 143

4. कथनै कहापि न छुोऐ ना पढ़ि पुस्तक भार।
काइआ सोच ना पाईऐ बिनु हरि भगति पिआर ॥
नानक नामु न बीसरे मेले गुरु करता (8) (9)—वही—पृ० 145

5. मुक्ति पदारथु पाईऐ अवमण मेटणा हारु (1) वही—पृ० 174

उन्होंने मुख्य रूप से कर्म को तीन भागों में विभाजित किया है – शारीरिक कर्म, मानसिक कर्म और आध्यात्मिक कर्म । बोलना आदि शारीरिक, स्मरण आदि मानसिक और समस्त जड़-चेतन के अन्तर्गत एक ही अविनाशी सत्ता की अनुभूति के लिये कर्म आध्यात्मिक कर्म है । ब्रह्मवादियों के सारे कर्म "हउमै" में ही होते हैं । अतः अहंकार ही उनका बन्धन है और इसी कारण बार-बार योनियों में पड़ता है ।

गुरुनानक ने मोक्ष-पद कर्मों का विभाजन तीन भागों में किया है—हरिकीरत कर्म, अध्यात्म कर्म और हुकम रजाई कर्म । हरिकीरत कर्म सभी कर्मों में श्रेष्ठ है । परमात्मा के नाम का गुणगान ही किरम कर्म के सारे मलों को धो सकता है । जिन अहंभाव-विहीन साधनों के बल पर जीवात्मा अध्यात्म पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ता है, वे ही अध्यात्म कर्म हैं । इन्हीं कर्मों के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार होता है । हुकम जाई कर्म वे हैं, जो परमात्मा की प्रेरणा, आज्ञा, मर्जी अथवा इच्छा से होते हैं।

नानक वाणी में हठयोग सम्बन्धी शब्द "उलटिओ कमलु", "अमृत धारि" आदि का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है । किन्तु नानक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि हठपूर्वक निग्रह करने आदि से शरीर ही क्षीण होता है । किन्तु वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता । परमात्मा के नाम से बढ़ कर कोई साधन नहीं है । उनके अनुसार योग के ये, दण्ड, भस्म आदि में न होकर माया मध्य रहते हुए हरि में समाना है । अतः नाम जप योग प्राप्ति का सर्वोपरि साधन है ।

नानक के अनुसार सहजावस्था, मोक्षपद, जीवन्मुक्ति अवस्था, चतुर्थ पद, तुरीय पद, तुरीयावस्था, निर्वाण पद, तत्वज्ञान ब्रह्मज्ञान, राजयोग सब लगभग एक ही है ।

नानक ने ज्ञान शब्द का प्रयोग वाचक ज्ञान और ब्रह्मज्ञान के अर्थ में किया है । वास्तविक ज्ञान कथन लोहे के समान कठिन है । यह परमात्मा की असीम कृपा से संभव है । प्रवृत्ति मार्ग का विरोधी नहीं है, बल्कि उसका सबसे बड़ा सहायक है ।

नानक के अनुसार बिना परमात्मा की रागात्मिक भक्ति के कर्म पाखण्ड पूर्ण और आडम्बर युक्त है । दुरन चंचुज्ञान, योग शरीर का व्यायाम मात्र है। परमात्मा की प्रेम-भक्ति ही ज्ञान को ब्रह्मज्ञान का रूप देती है । अतः मोक्ष के लिए भक्ति अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

अतः भारतीय धर्माचारियों, महापुरुषों तथा अवतारी सिद्धों ने विभिन्न युगों में मानव जीवन की आत्यन्तिक उन्नति के सम्बन्ध में जो व्यापक विचार किया है, वह केवल अध्यात्म तक ही परिमित न रह कर मानव जीवन के सभी पक्षों में व्याप्त रहा है । मनुष्य का मन समस्त सांसारिक विषयों में व्याप्त होकर, जो अनेक प्रकार की क्रियाओं को करता है, उनसे राग, द्वेष, मोह, शोक आदि अनेक प्रकार के

परिणाम उत्पन्न होते चलते हैं, जो उन क्रियाओं के कर्ताओं को तो प्रभावित करते ही हैं, किन्तु जिनके प्रति वे क्रियायें की जाती हैं, वे भी कम प्रभावित नहीं होते। इस पारस्परिक प्रभवविष्णुता के फल स्वरूप सुख और दुःख की एक व्यापक शृंखला समाज में व्याप्त हो जाती है, उस शृंखला के कारण मनुष्य, स्वयं अपने लिए सुख के साधन खोजने और जुटाने के प्रयत्न में लीन होकर, दूसरे को कष्ट पहुँचाकर भी अपना हित-साधने में नहीं चूकता।

समाज की इस स्थिति को देख लोक संग्रही पुरुषों ने मनुष्य जीवन को उदात्, निश्चित और सुखी बनाने के लिए दो प्रकार के मार्ग निर्धारित किए। एक तो नीति का मार्ग और दूसरा दर्शन का। नीति मार्ग में तो केवल अनेक दृष्टान्त, उदाहरण या कथाये देकर अथवा केवल नीति वचन कह कर समाज को सुपथ पर ले जाने की चेष्टा की, किन्तु दर्शन में मनुष्य को सामान्य जीवन से ऊपर उठकर आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावनाओं को पल्लवित करने के लिये जो आध्यात्मिक मार्ग निर्धारित किया वह आध्यात्म मार्ग ही दर्शन है। जो मानव जीवन के प्रत्येक कार्य, व्यवहार, चिन्तन और विचार तक को अपने भीतर समाहित कर लेता है यही वृत्ति मन, वचन और कर्म की शुद्धता कहलाती है। मन से भी किसी का अहित न सोचना, शरीर से किसी का अहित न करना, वाणी से किसी को अप्रिय न बोलना मानव जीवन दर्शन की आध्यात्मिक प्राकाष्ठा है। यह तभी संभव है जब मनुष्य संयतेन्द्रय हो, मन पर उस का पूर्ण अधिकार हो और वह सबके दुख और सुख को अपना समझ कर लोक संग्रह में प्रवृत्त हो जाये।

तीर्थंकर महावीर जी ने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और तितिक्षा आदि की जो उदात् भावनायें अपनी वाणियों में व्यक्त की हैं, वे ही अन्य परिवर्ती महात्माओं, संतों और यशस्वी महापुरुषों ने भी दोहराई है इस अध्याय में उन सबका परिचय यथा स्थान प्रतिपादित कर दिया गया है। अगले अध्याय में तीर्थंकर महावीर जी के सामाजिक समुत्थान सम्बन्धी वाणियों का परिचय देकर अन्य संतों की तत् सम्बन्धी वाणियों का परिचय दिया जाएगा।

अध्याय—4

महावीर की सामाजिक वाणी के आलोक में हिन्दी का संत काव्य

व्यक्ति अकेला नहीं आता। वह बन्धन के बीज भी साथ लाता है। अपने हाथ से सींचकर विशाल वृक्ष बना देता है। वहीं निकुंज उसके लिए बन्धन गृह बन जाता है। बन्धन लादे जाते हैं, यह तात्कालिक सत्य है। स्थायी सत्य यह है कि बन्धन स्वयं विकसित किए जाते हैं। उन्हीं के द्वारा वैयक्तिकता समुदाय से जुड़कर सीमित हो जाती है। वैयक्तिकता और सामुदायिकता के बीच भेदरेखा खींचना सरल कार्य नहीं है। व्यक्ति, व्यक्ति ही है। सब स्थितियों में वह व्यक्ति ही रहता है। जन्म, मौत और अनुभूति का क्षेत्र व्यक्ति की वैयक्तिकता है। सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है, वही समुदाय है। पारस्परिकता की सीमा से इधर जो कुछ भी है वह वैयक्तिकता है। व्यक्ति का आन्तरिक क्षेत्र वैयक्तिक है, वह उससे जितना बाहर जाता है उतना ही सामुदायिक बनता चलता है। व्यक्ति को समाज-निरपेक्ष मानना एकान्त पार्थक्यवादी नीति है। इससे दोनों की स्थिति असमंजस बनती है। समन्वयवाद नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कहीं व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य।[1]

अतः व्यक्ति के मानवीय सम्बन्धों का जाल समाज है। किसी व्यक्ति का मार्ग पृथक् हो सकता है किन्तु सभी का उद्देश्य "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" है। वर्ण व्यवस्था प्राचीन काल से ही भारत में महत्वपूर्ण रही है। महावीर युग में आर्यों की पांच जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है[2]—क्षेत्र आर्य+, जाति-आर्य++,

---

1. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा—पृ० 469
2. प्रज्ञापना 1.67—71

+. काशी, कौशल आदि उत्तम देशों में उत्पन्न हुओं को क्षेत्रार्य कहते हैं।

++. जाति आर्यों में छह इभ्य जातियाँ बताई गई हैं—अंबष्ठ, कलिन्द, विदेह, वेदग, हरित और चुंचुण।

कुल आर्य+कर्म आर्य**, और शिल्प आर्य+++ । इस युग में बंभण, खत्तिय, वइस्स और सुद्द चार वर्ण थे ।[1]

आचारांग चूर्णी, आवश्यक चूर्णी तथा वसुदेवहिण्डी के अनुसार भरत के राज्यकाल में श्रावक धर्म उत्पन्न होने पर ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई । ये अत्यन्त सरल स्वभाव एवं धर्मप्रेमी थे, इसलिए जब वे किसी को मारते-पीटते देखते तो कहते थे— "मत मारो" (मारण) इसीलिए वे माहण अर्थात ब्राह्मण कहे जाने लगे ।[2]

क्षत्रिय 72 कलाओं के ज्ञाता होते थे । वे अपने भुजबल के आधार पर देश पर शासन करते थे । उनके द्वारा संसार त्याग की घटनायें भी महावीर युग में मिलती हैं । स्वंय महावीर इसका उदाहरण हैं ।

इस युग में वैश्य को गृहपति भी कहाजाता था ।[3] ये व्यापार द्वारा धन उपार्जन किया करते थे । जैन श्रमण अपना संघ बनाकर विचरण किया करते थे ।

जैन आगम साहित्य में विरूंव, दसु (दस्यु), अणारिय (अनार्य), मिलक्खू (म्लेच्छ) और पंच्चतिय (प्रत्यंतिक) अनार्यो के भी उल्लेख इस युग में प्राप्त होते हैं ।[4]

इस युग से सम्बन्धित कथाओं अस्पृश्य मातग, चांडाल, पाण, डोंब आदि का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5]

परिवार—महावीर युग में परिवार के सबलोग एक ही स्थान पर रहते थे । एक ही जगह सबका खाना बनता था । स्त्रियाँ घर गृहस्थी का कार्य किया करती थी ।[6] पिता मुखिया होता था, सब उसकी आज्ञा का पालन करते थे । पत्नी गृह स्वामिनी होती थी और वे अपने स्वामी की आज्ञा का रिणी होती थी । ननद भावज

\+ कुल आर्यों में उग्र, भाग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञातु और कौरव्य हैं ।

** कर्म आर्यो में दोसिय, सोत्तिय, कप्पासिय, सुत्तवेयालिय, भंडवेयालिय, कोलालिय और डरवाहिणय हैं ।

*** शिल्प आर्यो में तुन्ननाग, तुन्तुवाय, पट्टागार, देयड, वरूड, छविय, कट्ठपाउयार, मुंजपाउयार, छत्तकार, बज्झार, पोत्थार, लेप्पकार, चित्रकार, जिज्झगार, सेल्लगार और कोडिगार है ।

1. उत्तराध्ययनसूत्र 25.31 विपाकसूत्र 5 पृ० 33 आचारांगनिर्युक्ति 19—27
2. आचारांग चूर्णी—पृ०5 आवश्यक चूर्णी—पृ० 213 वसुदेव हिण्डी—पृ० 184
3. ओपपपातिक सूत्र—27
4. निशीथ सूत्र—16.36
5. उत्तराध्ययन टीका 13, पृष्ठ 186
6. वृहत् कल्प भाष्य—4.5147 टीका ।

के बीच झगडे टंटे चला करते थे ।[1] इस युग में पिता को ईश्वर तुल्य समझा जाता था ।[2] जैन आगम साहित्य से मित्र ज्ञाति+, निजक,++ स्वजन सम्बन्धी और परिजनों का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।[3] बच्चे घर की शोभा होते थे ।

इस युग में सपनों पर लोगों का विश्वास था । पुत्र जन्मादि के अवसर पर स्वप्न विचार किया जाता था ।[4] गर्भ काल में दोहद का बड़ा महत्व था, गर्भ स्थिति के 2, या 3 महीने बीत जाने पर विचित्र दोहद होते थे ।[5] स्त्रियों द्वारा गर्भ पात किये जाने के भी उदाहरण इस युग में मिलते हैं ।[6] इस युग में पुत्र जन्म का बड़ा उत्सव मनाया जाता था, जगह-जगह गणिकाओं आदि के नृत्य कराये जाते थे ।[7]

स्त्रियों की स्थिति—इस युग में स्त्री को लेकर दो प्रकार की विचार धाराएं एवं स्थितियाँ उपलब्ध होती हैं । एक के अनुसार उन्हें विश्वास घाती, कृतघ्न, कपटी और अविश्वासी कहा गया है । यहाँ तक कहा गया है कि जिस गाँव या नगर में स्त्रियाँ शक्ति-शाली होती है वह निश्चय ही नाश को प्राप्त होता है ।[8] व्यवहार भाष्य में कहा गया है कि जब स्त्री पैदा होती है तो पिता के अधीन रहती है । जब उसका विवाह हो जाता है यो पति के अधीन और विधवा होने पर पुत्र के अधीन होती है । तात्पर्य यह है कि नारी कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकती ।[9]

स्त्रियों को मारने पीटने का रिवाज भी था और स्त्रियाँ इसे चुपचाप सहन करती थीं ।[10]

ना+अरि अर्थात नारी से बड़ा शत्रु पुरुष का दूसरा कोई नहीं (नारी सभा न नरांण अरीओ) जैसी अनेक उक्तियां नारी के सम्बन्ध में प्रचलित थी ।[11] स्त्रियों

---

1. आवश्यक चूर्णी—पृ० 526
+ पिता, पितृवंश में उत्पन्न व्यक्ति, गोतिया
++ सगासम्बन्धी ।
2. ज्ञातृ धर्म कथा—1—पृ० 13, 16 पृ० 176
3. ज्ञातृ धर्म कथा—2, पृ० 51
4. उत्तराध्ययन सूत्र, 15—7
5. ज्ञातृ धर्म कथा—1—पृ० 6०, उत्तराध्ययन टीका—9—पृ० 132 अ
6. विपाक सूत्र—1—पृ० 9/आवश्यक चूर्णी—2 पृ०166 पृ०774
7. ज्ञातृ धर्म कथा—1—, 20 आदि । आवश्यक चूर्णी—पृ० 135
8. व्यवहार भाष्य—1—पृ०130
9. वही—3.233
10. पिण्ड निर्युक्ति—326, 1 ज्ञातृ धर्म कथा 16, पृ० 166
11. अंगुत्तरनिकाय 3, 8, पृ० 306

को दृष्टिवाद सूत्र+ पढ़ने का निषेध था।[1]

इसका दूसरा पक्ष यह है कि स्त्रियों को चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में स्थान दिया गया है।[2] अन्य रत्नों में चक्र, हत्थि, अस्स, गणि, इत्थि, गृहपति आदि हैं। समाज में स्थान सम्मानजनक ही था। साधुओं की रक्षा के लिये, स्त्री से उन्हें दूर रखने के उद्देश्य से उनके विरूद्ध नियम बनाये गये थे। जैन आगम साहित्य में ब्राह्मी सुंदरी, चंदना, मृगावती आदि स्त्रियों का नाम बड़े आदर सम्मान के साथ लिया गया है।

विवाह—महावीर युग में प्रायः वर और वधु की विवाह के समय आयु समान होना अच्छा समझा जाता था। यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो जितने उसके रुधिर बिन्दु गिरें, उतनी ही बार उसकी माता को नरक का दुःख भोगना पड़ता है।[3] ऐसा लोगों का विश्वास था। अतः प्रायः विवाह शीघ्र ही कर दिया जाता था।

समाज में आयोजित विवाह, स्वंयवर विवाह तथा गांधर्व विवाह प्रेम विवाह, कला-कौशल से आकर्षित होकर विवाह तथा भविष्यवाणी से विवाह के अतिरिक्त जैन आगमों में मामा की लड़की से विवाह, बुआ अथवा मौसी की लड़की से विवाह देवर के साथ विवाह, साटे का विवाह, विधवा विवाह, विधुर विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[4] किन्तु इन्हे सम्पूर्ण समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं थी।

विवाह सम्बन्धी प्रथाओं में घरजमाई प्रथा[5] बहुपत्नी एवं बहुपतित्व प्रथा,[6] नियोग प्रथा,[7] तथा सती प्रथा, पर्दा की प्रथा का भी प्रचलन था।

अध्ययन, अध्यापन—जैन आगम साहित्य में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य।[8] इन सभी का समाज

\+ जिस श्रुत में सब भावों (पदार्थों) की प्ररुपणा की जाती है, वह दृष्टिवाद अंग कहलाता है।

1. बृहत्कल्पभाष्ण पीठिका, 146। व्यवहार भाष्य 5.139
2. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 3.67। उत्तराध्ययन टीका 18 पृ०247 अ।
3. पिण्डनिर्युक्ति टीका 509
4. विवाह प्रसंग के लिये—उत्तराध्ययन टीका, आवश्यकचूर्णी, निशीथचूर्णी पीठिका पिंडनिर्युक्ति टीका।
5. बृहत्कल्पभाष्य 3.3959
6. अन्तःकृद्दश 7 पृ० 43। आवश्यक चूर्णी।
7. आवश्यक चूर्णी—पृ०466—69
8. आवश्यकनिर्युक्ति—136

में बड़ा आदर था। अध्यापक और विद्यार्थियों में प्रेम एवं श्रद्धापूर्ण सम्बन्ध होते थे।[1] किन्तु कुछ विद्यार्थी अविनीत भी होते थे जिनके साथ गुरु को कभी-कभी कठोर व्यवहार भी करना पड़ता था। दुर्विनीत शिष्य अपने आचार्यों पर हाथ भी उठा बैठते थे।[2]

अच्छे विद्यार्थियों का भी समाज में सम्मान था। विद्यार्थी जब बाहर से विद्याध्ययन समाप्त कर के घर आते थे तो उनका स्वागत किया जाता था।[3]

पाठशालाओं में वैदिक साहित्य व जैन आगम साहित्य के अतिरिक्त 72 कलाओं[4] का शिक्षण होता था। राजधानियों के अतिरिक्त तीर्थस्थान, मठ-मंदिर शिक्षा के केन्द्र होते थे। श्रमणों के संघ चलते फिरते शिक्षा संस्थान थे।

महावीर युग में गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, संगीत-नृत्य, नाट्य-विद्या, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदि बहुत विकसित थे।

जैन आगम साहित्य में महावीर युगीन जादू-टोना और अन्ध विश्वासों के सम्बन्ध में भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, चतुर्दश पूर्वों में विद्यानुवाद पूर्व का नाम आता है। जिसमें विविध मन्त्र और विद्याओं का वर्णन किया गया है।[5]

यद्यपि इसका निषेध किया गया है।[6] केवल संकट के समय ही श्रमण इसका उपभोग किया करते थे। उल्लेख प्राप्त होता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त के समकालीन दो क्षुल्लक अपनी आँखों में अदृश्य होने का अंजन लगाकर चन्द्रगुप्त के साथ भोजन किया करते थे।[7] इस युग में गर्भधारण एवं गर्भ शान्तन आदि के लिए भी औषधि आदि का प्रयोग किया जाता था।[8] इस युग में वशीकरण, विद्याधर, शुभाशुभ शकुन तिथि करण और नक्षत्र, शुभाशुभ दिशाओं के अतिरिक्त जादू टोना और झाड फूक आदि का भी प्रयोग किया जाता था स्त्रियों को सौभाग्य वती बनाने के लिए श्मशान अथवा चौराहे पर स्नान करना, वृक्षादि का आलिंगन, अनिष्ट की शान्ति के लिए

---

1. उत्तराध्ययन सूत्र 1.2, 9, 12, 13, 19, 22, 27; 41
2. उत्तराध्ययन सूत्र 12, 18, 19 आदि।
3. उत्तराध्ययन टीका 2, पृ०22—अ०
4. ज्ञाताधर्मकथा 1, पृ० 21=समवायांग पृ० 77 अ—औपपातिक सूत्र 40, पृ० 186, राजप्रश्नीय सूत्र 211,—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका 2, पृ० 136
5. समवायांग टीका—14 पृ० 25 अ०
6. व्यवहार भाष्य, 1, 90—1, पृ० 76
7. पिण्ड निरुक्ति, 497-511 निशीथ सूत्र, 13.72
8. वही—510—11

थू-थू करना आदि अन्धविश्वास समाज में व्याप्त थे ।[1]

अमोद-प्रमोद के साधनों में विभिन्न प्रकार के उत्सव, मल्लयुद्ध, कुक्कुट युद्ध, मयूरपोत युद्ध, तथा जुआ आदि प्रचलित थे। इस युग की सामाजिक समस्याओं में जातिवाद, छुआछूत, जुआ व्यभिचार, दास प्रथा आदि मुख्य है ।

आचरण : महावीर—

महावीर ने पांच महाव्रतों को आचरण कहा है । जो मनुष्य इन का पालन करते हुए धर्म में उत्साहित होता है । उद्यमी, संयमी एवं मान रहित होता है ।[2] वह चरित्रवान एवं शीलयुक्त होता है । महावीर ने सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव का आचरण करने का निर्देश दिया है ।[3]

महावीर ने कहा है कि संसारी प्राणी अपने बन्धुजनों के लिए जो कर्म करते हैं, उस कर्म के फल भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता का प्रदर्शन नहीं करते ।[4] यह श्रेष्ठ आचरण है ।

महावीर ने कहा है कि बंधु-बांधवों के स्नेह रूपी उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते हैं । ये अनुकूल परीषह+ साधु पुरुषों द्वारा भी दुर्लंघ्य होते हैं । ऐसे सूक्ष्म-अनुकूल परीषहों के उपस्थित होने पर कोई खेद से खिन्न हो जाते हैं और संयमी जीवन (आचरण) के निर्वाह में समर्थ नहीं रहते ।[5]

चरित्र के सम्बन्ध में महावीर का कहना है कि कषाय++ का अभाव ही चरित्र

---

1. बृहत्कल्पभाष्य 1.1309 और टीका-निशीथभाष्य 13, पृ० 383 व्यवहार भाष्य 1, पृ० 116 अ
2. पचमहव्वदगुत्तो संविग्गो 5णालसों अमाणीय ।
   किदियम्भ णिरुजरट्ठी कुणाइ सदा ऊणरादिणिओ ॥ मू० 590
3. (अ) सम्मिक्ख पंडिए तम्हा पासजाईप्पे वहू ।
   अप्पणा सच्मेसेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए ॥—उ० 6:2
   (ब) तहि-तहि सुयक्खाय से य सच्चे सुआहिए ।
   सदा सच्चेण संपण्णे मेत्ति भूतेसु कप्पए ॥—सू० 1, 15:3
4. संसार भावन्न पस्स अट्ठा माहारणं जं च करेइ कम्मं ।
   कस्मस्स ते तस्स उ देय-काले न बन्धवा बन्धवयं उवेंति ॥—उ० 4:4

\+ गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, मच्छर आदि की बाधाएं ।

5. अहिमे सुहमा संगा भिक्खूणं जे दुरूत्तरा ।
   जत्थ एगे विसीयंतिण चंयति जविसए ॥—सू० 1 (3) 2:1

++ आत्मा के भीतरी कलष को कषाय कहते हैं ।

है। जो व्यक्ति कषाय के बस में हो है, वह आचरण से गिर जाता है। जब वह कषाय पर नियन्त्रण करता है तथा संयमी होता है।[1] चरित्र को उन्होंने स्व-धर्म भी कहा है। स्व-धर्म को इस प्रसंग में स्पष्ट करते हुऐ उन्होंने कहा है कि आत्मसम-भाव-सर्व जीवों के प्रति आत्मवत् भाव ही स्वधर्म है।[2]

महावीर के अनुसार जो योगी जीव अजीव का भेद जानकर पुण्य-पाप का त्याग कर देता है, उसे निर्विकल्प चरित्र कहते हैं।[3]

महावीर ने कहा है कि जो प्राणी शील और गुणों (आचरण) से सम्पन्न होते हैं, वे देवताओं को भी प्रिय होते हैं, किन्तु जो अनेक श्रुतपरगामी होते हैं वे दुःखी होते हैं और तुच्छ गिने जाते है।[4] जो व्यक्ति यौवन, लावण्य और कांति से सुशोभित होते हुए भी रूप और लक्ष्मी से गर्वित हैं और शील गुण सदाचरण से रहित है, उनका जन्म ही निरर्थक है।[5]

आचरण : **रविदास**—रविदास ने सदाचार को जीवन के तीन आधारों में से एक माना है। उनके अनुसार ये आधार है—सत्य, संतोष और सदाचार। उनके अनुसार पंचविकार+ सदाचार में बाधक है। जो मनुष्य पंचविकारों से बचकर आचरण करता है, वह देवता हो जाता है।[6]

शूद्र : महावीर—

महावीर ने कहा है "सुद्दो हवई कुम्मुणा[7] अर्थात शूद्र कर्म से होता है।

---

1. अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओं असंजदो होदि।
   अवसमदि जह्मि काले तक्काले संजदो होदि 11—मू०982
2. चरणं हवइं सधम्मोधम्मो सोहवइ अप्पसमभावी।
   सो रागरोसरहिओ जी वस्य अणण्णपरिणामों ॥—मो० पा० 50
3. जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं।
   त स॰णाणं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥—मी० पा० 42
4. सील गुण मंडिदाण देवा भवियाण वल्लहा होंति।
   सुदपारयाउरा णं दुस्सीला अरिपला लोए ॥—शी० पा० 17
5. रूहसिरिगव्पिदाणं जुव्वणलावण्णा कंतिकलिदाणं।
   सीलगुण वज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥—शी० पा० 15
6. सत्त संतोष अरू सदाचार, जीवन को आधार।
   रविदास भये नर देवते, जिन ति आगे पंच विकार ॥—
   —गुरू रविदास—आजाद—पृ०56

\+ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद पंचविकार हैं।

7. उत्तराध्ययन टीका 13, पृ० 185

शूद्रों की बड़ी उपेक्षा की जाती थी। महावीर ने उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया। महावीर ने नीच और उच्च को समान भाव से देखने का उपदेश दिया है।[1] उत्तराध्ययन की टीका में चित्त और सम्भूत नाम के दो शूद्रों का उल्लेख प्राप्त होता है दोनों ही बहुत सुन्दर थे। एक मदन महोत्सव के अवसर पर दोनों गाते बजाते हुए अपनी टोली का नेतृत्व करते हुए बनारस की सड़कों से होकर निकले। ब्राह्मणों को यह नहीं भाया। दोनों को पीटकर नगर से निकाल दिया।[2]

जाति-जुगुप्सितों में पांण, डोंब और मोरत्तिय आदि शूद्रों का उल्लेख हुआ है मातंगों को जाति का कलंक कहा जाता था।[3] तथा पाणों को चांडाल तक कहकर पुकारा जाता था। ये खुले आकाश के नीचे रहा करते थे और मुर्दे ढोने का कर्म करते थे।[4] डोंब गा बजा कर तथा सूप आदि बनाकर आजीविका चलाते थे। इन्हें झगड़ालू, क्रोधी, और चुगलखोर बताया गया है।[5]

व्यवहारभाष्य, निशीथभाष्य, चूर्णी, तथा अंगुत्तरनिकाय में अस्पृश्य जातियों का उल्लेख हुआ है। ये कुत्तों का मांस पकाकर खाते थे और तांत बेचते थे। कुछ रस्से बटने का काम भी करते थे।[6] इनमें नट, मच्छीमार, चर्मकार, पटवे, नाई, धोबी तथा शिल्पकारों की गणना की जाती थी।[7]

शूद्र : रविदास—रविदास जी कहते हैं कि मैं सत्य कहता हूं—हरिजन सेवा अहंकार रहित होकर करनी चाहिये। यह तो तुम्हारे जीवन रूपी धन को सूद जैसा है।[8]

रविदास जी के अनुसार जो कुकर्मी अर्थात् बुरे कर्म करने वाला है वही शूद्र

---

1. उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदोतस्य।
   उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदीण कि होज्ज ।। भग० आ० 1233
2. वही पृ० 186
3. वही पृ० 186
4. अन्त : कृहशा 4, पृ० 22
5. निशीथचूर्णी 4, 1813 की चूर्णी।
6. व्यवहार भाष्य 2.37; 3.92
   निशीथभाष्य 11,3707—3708 की चूर्णी; 4, 1618
   अंगुत्तरनिकाय 2,4 पृ० 89
7. व्यवहार भाष्य 3.94 तथा निशीथचूर्णी।
8. हरिजनन करि सेवा लागै मन अहंकार न राखै।
   रविदास सूद सोइ धन है पउ असत्त बचन न भाखै ।।
   रविदास दर्शन—आजाद पृ० 145

है और अच्छे कर्म करने वाला पवित्र है।[1]

ब्राह्मण : महावीर

महावीर के अनुसार ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है।[2] जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय आदि किसी भी अशुभ संकल्प से असत्य नहीं बोलता उसे ब्राह्मण कहते हैं।[3] ब्राह्मण स्नेहीजनों में आसक्त नहीं होता और उनके चले जाने पर शोक नहीं करता। वह सदैव आर्य वचनों में रमण करता है।[4] वह स्वामी के स्वयं दिए बिना कोई पदार्थ ग्रहण नहीं करता।[5] वह जल में कमल के समान रहता है। अर्थात् काम भोगों में लिप्त नहीं होता।[6]

महावीर का मत है कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है।[7]

ब्राह्मण : रविदास—रविदास जी कहते हैं कि ऊँचे कुल में जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। वे कहते हैं कि मैं तो उसे ब्राह्मण मानता हूं जो ब्रह्म को जानता है।[8] जो धर्म-कर्म तो करता नहीं और जाति के अभिमान में डूबा रहता है ऐसा ब्राह्मण होना व्यर्थ है।[9]

---

1. रविदास जउ अति पवित्त है, सोई सूदर जान।
   जउ कुकरमी असुध जन तिन्ह ही न सूदर मान॥ — वही पृ० 144
2. बंभचेरेण बंभणो। — उत्त० 25/30
3. कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
   मुसं न वयई, जोउ, तं वयं बूम माहणं॥ — उत्त० 25/23
4. जो न सज्जइ आगंतु, पव्वयंतो न सोयई।
   रमइ अज्ज-वयणम्मि, तं वयं बूम माहणं॥ — उत्त० 25/20
5. चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
   न गिण्हेइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहण॥ — उत्त० 25/24
6. जहा पोम्म जले जाय, नोवलिप्पइ वरिणा।
   एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहण॥ — उत्त० 25/26
6. कम्मुणा बंभणो होई। — उत्त० 25/31
8. ऊंचे कुल के कारणौ ब्राह्मण कोय न होय।
   जउ जानहि ब्रह्म आतमा रविदास कहि ब्रह्मन सोय॥
   — रविदास दर्शन — आजाद पृ० 135
9. धरम करम जानै नहीं मन मह जाति अभिमान।
   ऐसउ ब्राह्मन सों भलो रविदास स्रमक हूं जान॥ — वही पृ० 137

ब्राह्मण : दादू—दादू का विश्वास है कि पंडितों (ब्राह्मणों) ने ही समाज को धर्म-कर्म में बाँध कर भटका दिया है।[1]

ब्राह्मण : सुन्दरदास—सुन्दर दास के अनुसार ब्राह्मण वह है जो सत्तव गुण एवं बुद्धि से सम्पन्न आत्मा का जानने वाला है।[2]

वीर (क्षत्री) : महावीर

महावीर के अनुसार वीर (क्षत्री) जन्म से नहीं कर्म से होता है।[3] वीर वही है जो प्राणियों का हनन नहीं करता, बिना दी हुई कोई भी चीज नहीं लेता, कपटपूर्ण झूठ नहीं बोलता।[4] सच्चा वीर मन, वचन और काया से किसी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाता। वह मोक्ष देने वाले ज्ञान, दर्शन और चरित्र एवं तप रूपी वीरता को अच्छी तरह ग्रहण करता है।[5] ऐसे वीरों का पराक्रम शुद्ध होता है और संसार-वृद्धि में सर्वशः निष्फल होता है।[6]

वीर (क्षत्री) : रविदास—रविदास के अनुसार वही वीर है, जो धर्म के लिए युद्ध करता है और शरीर का अंग-अंग कटने पर भी मैदान नही छोड़ता।[7] वह गरीबों के लिए युद्ध करता है।[8] जो इन उद्देश्यों के लिये अपने प्राणों का भी उत्कर्ष कर

---

1. मरम करम जग बांध दियां पण्डित दिया भुलाई।
   दादू बानी भाग-1 पृ० 13
2. सत्तव गुण बुद्धि एक आत्मा विचार।
   जाके सुन्दर कहत वह ब्राह्मण बखानिये॥ संत सुधासार पृ० 620
3. कम्मुण होई खत्तिओ। उत्त० 25/31
4. पाणे य णाइवाएज्जा आदिण्णं पि य णातिए।
   सातियं ण मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ॥ सू० 1, 8 : 20
5. अतिक्कमंति वायाए मणसा वि ण पत्थए।
   सव्वओ संवुडे दंते आयाणं मुसमारहे॥ सू० 1, 8 : 21
6. जे उ बुद्धा महा भागा वीरा सम्मत्तदंसिणों।
   सुद्ध तेति परक्कंत अफलं होइ सव्वसो॥ सू० 1, 8 : 24
7. रविदास सोइ सुरा भला जउ लरै धरम के हेत।
   अंग-अंग कटि भुई गिरै तउ न छांड़ै खेत॥
   रविदास दर्शन—आजाद पृ० 157
8. अंग-अंग कटवाइ हि जउ दीन व करि हेत।
   रविदास छत्री सोइ जानिए जौ छाडै नांहि खेत॥ वही पृ० 139

देता है, वही सच्चा क्षत्रिय है ।[1]

वीर (क्षत्री) : सुन्दरदास सुन्दरदास के अनुसार राजपूत (क्षत्री) वह है जो आध्यात्मिक क्षेत्र में कुप्रवृत्तियों से युद्ध करता है और पंचविकार तत्वों को पराजित करके उन पर विजय प्राप्त कर लेता है ।[2]

जैन : महावीर

महावीर वाणी में जैन के लिये श्रवण, निर्ग्रन्थ और श्रावक शब्दों का प्रयोग हुआ है। महावीर के अनुसार जो शत्रु और बन्धु वर्ग में सम है, सुख और दुःख में सम है, निंदा और प्रशंसा में सम है, सिद्धि के ढ़ेले और सुवर्ग में सम है तथा जीवन और मरण में सम है वही श्रवण है ।[3]

मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि श्रमण जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे ।[4] निशीथभाष्य में श्रमणों के पाँच प्रकार बताये गये हैं—1. णिग्रन्थ (खमण), 2. सक्क (रत्तपड़), 3. तावस, (वणवासी), 4. गेरूअ (परिव्वायस) और 5. आजीविय (पंडरामिक्खु) ।

जो व्यक्ति संसार का त्याग कर साधु-सा साध्वी का जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखते थे उन्हें किसी जाति के भेद-भाव के बिना जैन संघ में प्रविष्ट कर लिया जाता था और उन्हें णिग्गंथ (खमण) कहा जाता था।

सक्क रत्तपड के पच स्कन्ध+ सिद्धान्तों का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] बनवासी साधुओं को तापस कहा गया है, ये पंचाग्नि तप करते थे ।[6] गेरूअ परिव्वास ये गेरूआ

---

1. दीन दुःखी के हेत जऊ बारे अपने प्रान ।
   रविदास उटट नर सूर कौं साँचा छत्री जान ।। वही पृ० 139
2. होय राजपूत सो चढे मैदान पर खेत पर पाँच पच्चास मारे ।
   काम और क्रोध हुई, बड़े हैं ज्ञान के धनुष से इन्हें जारे ।
   कूद परिनाय के कोट काया कहै, आग लगाइ के मोह जारै ।।
   सन्त सुधासार पृ० 23
3. सम सत्तु बधू वग्गो सम सुह दुक्खो पसंसणि दस भो ।
   राम लोट्ठु कचंण्भे पुण जीविद् मरणो समो समण्में ।। प्रव० 3 : 42
4. मेक्रिण्डल, इ इन्वेजन ऑव् एलेक्जेण्डर द ग्रेट । पृ० 358
   \+ रूप, वेदना, विज्ञान, संस्कार और संज्ञा ।
5. निशीथ भाष्य, 13·4420; आचारांग चूर्णी 2·1; पृ० 330, वृहत्कल्प भाष्य वृत्ति 1·1490
6. सूत्र कृतांक 1-1-17

वस्त्र धारण करते थे, धर्म के प्रतिष्ठित पंडित होते थे।[1] आजिविय मत मंखली गोशाल से पूर्व विद्यमान था, गोशाल इस मत के तीसरे तीर्थंकर माने गये हैं।

महावीर के अनुसार पंचास्रव+ का निरोध करने वाला, तीन गुप्तियों से गुप्त, छः प्रकार के जीवों के प्रति संयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाला तथा धीर और ऋतु दर्शी निर्ग्रन्थ कहलाता है।[2]

महावीर के अनुसार जिसका हृदय स्फटिक रत्न के समान निर्मल, दानादि लोक सेवा के लिए उदार चित्त, जिसके घर का द्वार दूसरों के लिए सदा खुला रहता हो, राम भवन से लेकर साधारण घरों तक वह निःशंक होकर प्रवेश कर सकता हो उसे श्रावक कहते हैं।[3] वह अपने घर में निवास करता हुआ भी श्रावक धर्म का पालन करता है, सब प्राणियों के लिए समभाव रखता है।[4]

महावीर ने श्रमण, निर्ग्रन्थ की आलोचना भी की है उन्होंने कहा है कि बहुत से श्रमण संयम का पालन नहीं करते और भय और शंका के कारण ज्योतिषियों आदि की शरण में जाते हैं।[5] निर्ग्रन्थ++ भी यदि संयम और तप से युक्त नहीं है और लौकिक कार्यों में उलझा हुआ है तो वह निर्ग्रन्थ नहीं लौकिक कहा जायेगा।[6] जैन मुनि को दिगम्बर मुनि भी कहा जाता है और दिगम्बर शब्द का प्रयोग महावीर वाणी में भी हुआ है।

---

1. निशीथ चूर्णी 13·4420 की चूर्णी।
2. यं चासवपरिन्नाया तिगुत्ता छसु संजया।
   पंच निग्गहण धीरा निग्गंथा उज्जुदंसिणो॥ द० 3 : 11
3. उस्सिय फलिहा, अवंगुय-दुवारा।
   चियत्तंतेउर-पर घर पवेसा॥ उ०व० 5/5, भ०म०ह०उ०पृ० 152
4. गारं पिय आवसे नरे अणुपुव्वं पाणेहिं संजाए।
   सामत सव्वत्थ सुव्वए देवाणं गच्छे स लोगयं॥
   सूत्र 1/2/3/13 भ०म०ह०उ०पृ० 152
5. एवं तु समणा एणे अबलं णच्चाण अप्पगं।
   अणागायं भयं दिस्स अवकरदंति मं सुयं॥
   (सू० 1, 3) (3 : 3) भ०म०वा० 296

\+ मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

++ क्षेत्रादिक (बाह्य) और अभ्यन्तर (मिथ्यावादी) ग्रन्थों का त्याग करने वाला निर्ग्रन्थ है।

6. णिग्गंथो पव्वयिदो वहदि जदि एहि गेहि कम्मेहिं।
   सो लोगिगोत्ति भणिदो संजमत वंसा जुदो चावि॥ प्रव० 3 : 69

जैन : सुन्दरदास—सुन्दर दास के अनुसार वास्तविक जैन वह है जो दान, तप, शील के रहस्य को नहीं भूलता, मन, वचन, काया से शुद्ध होता है । सबके प्रति दया की भावना उसके मन में होती है और वह दोष बुद्धि से बहुत दूर होता है ।[1]

सुन्दरदास जी ने कहा है कि जैन, बौद्ध आदि सभी भ्रम है, बिना लक्ष्य को पहचाने हुए किसी भी पन्थ को स्वीकार नहीं करना चाहिए ।[2]

जैन : नानक—गुरू नानक ने कहा है कि जिसमें दया है और शरीर का विचार है जो जीवित अवस्था में ही अहंकार से स्वयं मर जाता है वह दूसरों को मार नहीं सकता, वास्तव में वही दिगम्बर है ।[3]

नानक ने दिगम्बरों की आलोचना करते हुए कहा है कि वे वस्त्र धारण नहीं करते, पर दिन रात कराहते और दुखी होते हैं ।[4]

गुरू नानक कहते हैं कि जैनी सिर के बाल नुचवा कर गंदा पानी पीते हैं और जूठी रोटी माँग-माँग कर खाते हैं । वे अपना मल फैला देते हैं और मुंह से गंदी सांस लेते हैं, पानी देखकर सहमते हैं । भेड़ों की तरह बाल नुचवाते हैं । ये परिश्रम द्वारा धनोपार्जन करके कुटुम्ब पालन करने का कर्म गंवा देते हैं ।

न तो वे पिंडदान करते हैं न श्राद्ध करते हैं, न दीपक देते हैं, मरने पर पता

---

1. जैन मत्ति उहै जिन, राज कूं न भूलि जाय ।
   दान, तप, शील, सत्य भावना ते तरिये ।।
   मन, वच काय सुद्ध, सब सूं दयाल रहे ।
   दोष बुद्धि दूरि करि, दया उर धरिये ।। सुन्दर विलास पृ० 95
2. (अ) जोगी जैन जंगम, सन्यासी बनवासी बौद्ध ।
   और कोऊ वेष पच्छ, सब भ्रम भान्यो है ।
   तापस रू ऋषी सुर, मुनीसुर, कबीसुर ।
   सबनि को मत देखि, तत्व पहिचान्यो है ।। वही पृ० 7
   (ब) कोउक गोरख को गुरू थापत कोउक दत्त दिगम्बर आदू ।
   कोउक कंथर कोउक भर्थर, कोउ कबीर कि राखत नादू ।।
   कोउ कहै हरिदास हमार जू, पू करि ठानत बाद बिवादू ।
   और तो संत सबै सिर ऊपर, सुन्दर के उर है गुरू दादू ।।
   वही पृ० 1
3. दइआ दिगंवरू देह बीचारी ।
   आपि मरे अवरा नह मारी ।। नानक वाणी 266
4. बहु दुख पाइआ दूजा माइया ।
   वस्त्र न पहिरै अहि निसि कहरै ।। वही पृ० 337

नहीं कहां जाते हैं ? अड़सठ तीर्थ भी उन्हें पनाह नहीं देते और ब्राह्मण भी उनका अन्न नहीं खाते। वे गंदे रहते हैं और माथे पर तिलक भी नहीं लगाते। वे नित्य झुण्ड में बैठते हैं। वे किसी सभा और दरबार में भी नहीं जाते उनकी कमर में प्याले बंधे हैं, हाथ में सूत का बना हुआ एक प्रकार का झाडू लिए रहते हैं और आगे पीछे एक पंक्ति में चलते हैं। वे न तो योगी हैं, न जंगम हैं, न काजी या मुल्ला है। परमात्मा के मारे हुए वे धिक्कारने योग्य हैं। उनका सारा सम्प्रदाय ही बिगड़ा हुआ है।

वे यह नहीं समझते कि जीवों को मारने-जिलाने वाला प्रभु है। जीव हिंसा के भय से जैनी लोग किरत कर्म त्याग कर दान और स्नान से भी विहीन हो गये हैं, उनके लुंचित सिर में भस्म पड़ी है।

जैनी लोग जीव हिंसा के भय से साफ पानी नहीं पीते। वे यह नहीं समझते कि जब देवताओं ने मंदराचल पर्वत को मथानी बनाकर समुद्र मंथन किया था तो उसमें से चौदह रत्न उत्पन्न हुए। जल के ही आधार पर अड़सठ तीर्थ स्थापित हुए। स्नान करके नमाज पढ़ी जाती है, स्नान करके ही पूजा होती है, मरने जीने पर तभी गति होती है। जब सिर के ऊपर पानी डाला जाय। ये लुंचित सिरवाले शैतानी मार्ग पर हैं, उन्हें स्नानदि प्रिय नहीं हैं।

जल वर्षा होने से आनन्द होता है। जीवों की जीवन मुक्ति भी जल में ही समायी हुई है। जल वर्षा होने से अन्न, ईख, कपास उत्पन्न होती है। जल द्वारा उत्पन्न घास खाकर गाये नित्य दूध देती हैं दूध से विभिन्न खादय पदार्थ बनते हैं।

गुरु समुद्र है उसकी सारी शिक्षा नदी है, जहाँ स्नान करने से बड़ाई प्राप्त होती है। किन्तु ये लुन्चित सिर वाले इस नाम जल में स्नान नहीं करते, उनके सिर में सात बूक राख डाली जाए।[1]

---

1. सिरू खोहाइ पी अहि मलवाणी जूठा मंगि-मंगि खाही।
फोलि फदीहति मुहि लैनि भड़ाला पाणी देखि सगाही॥
भेड़ा वागी सिरू खोहाइनि भरी अनि हथ सुआही।
माऊ पीऊ किरतु गवाइनि टबर रोवनि धाही॥
ओना पिंडु न पतलि किरिआ न दीवा मुए किथाउ पाही।
अठसठि तीरथ देनि न ढोई ब्रह्मण अंनु न खाही॥
सदा कुचील रहहि दिन राति मथै टिके नाही।
झुंडी पाइ बहनि निति मरणै दड़ि दीबाणि न जाही॥
लकी कासे हथी कुमण अगो पिछि जाही॥

आगे पृष्ठ 316 पर देखें

भिक्षाचारी : महावीर—

महावीर के अनुसार जो शक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषाओं का सदा परित्याग कर देता है, स्थिर-चित्त होता है तथा जो चांदी सोना आदि परिग्रह से दूर रहकर गृहस्थोचित कार्यों का परिवर्जन करता है वह भिक्षु है।[1] वह सम्यग्दृष्टि होता है तथा ज्ञान, तप, संयम आदि में विश्वास रखता है।[2]

महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के फूलों से उन्हें म्लान किये बिना, थोड़ा-थोड़ा रस पान करता है,[3] उसी प्रकार भिक्षुक भी एक गृहस्थ पर

---

1. चत्तारि कमे सया कसाए धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
   अहणे निज्जायरूवरयए गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥—द० 10 6
2. सम्मद्दिट्ठी समा अमूढे अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
   तवसा धुणइ पुराणपावगं भणवयकायसुसवुडे जे स भिक्खू ॥—द० 10:7
3. जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
   ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥—दश० 1/2

(पृष्ठ 315 का शेष)

न ओइ जोगी ना ओइ जंगम ना ओइ काजी मुला।
दयि विगोए फिरहि विगुते फिटा वतै गला।
जीआ मारि जीवाल सोई अवरू न कोई रखै।
दानहु तै इसनानहु वंन्ने असु पई सिरि खुथै॥
पाणी विचहु रतन उपंने मेरू कीआ माधाणी।
अठसठि तीरथ देवी थापे पुरबी लगै बाणी॥
नाइ निवाजा नातै पूजा मावनि सदा सुजाणी।
मुइआ जीव दिया गति हावै जां सिर पाईऐ पाणी॥
नानक सिर खुथे सैतानी एना गल न भाणी।
वुलै होइऐ होइ बिलावलु जीआ जुगति समाणी॥
वुठै अंनु कमादु कपाहा सभसै पड़दा होवै॥
वुठै छाहु चरहि निति सुरही साधन दही विलोवै।
तितु घिइ होम जग सद पूजा पइऐ कारजु सोहै॥
गुरू संमुदु नदी सभि सिखी नाते जितु वडिआई।
नानक जे सिर खुथे नावानि नाही ता सत चटेसिरि छाई (45)
—नानक वाणी—पृ०196—197

आश्रित न होकर भिन्न-भिन्न गृहस्थों से अपना आहार पाते हैं।[1]

सामान्य रूप से भीख मांगने की कोई चर्चा महावीर ने नहीं की है।

भिक्षाचारी : सुन्दरदास—सुन्दरदास कहते है कि खप्पर लेकर द्वार-द्वार भीख मांगने वालों को कोई लाज नही आती। उसके पास कितना धन, वस्त्र और आभूषण आदि क्यों न हों किन्तु उसे रास नहीं आता और वह भीख ही मांगता है। लोग उसे बुरा भला भी कहते हैं तो वह उसे अनसुना कर देता है।[2]

भिक्षाचारी : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार मांगने से अच्छा तो मृत्यु अधिक अच्छी है। इसमें कुछ भी बड़ाई नहीं है। जिससे मांगा जाता है, वह नाराज होता है और भगवान भी भीख मांगना अच्छा नहीं मानते। जो भीख नहीं मांगता उसे राम गले लगाते हैं। लोभ के कारण मनुष्य द्वार-द्वार भीख मांगता फिरता है। भगवान बिन मांगे देता है। वह उन्हें देता है, जो निःकाम उसे भजते है।[3]

मलूकदास कहते है कि यदि मांगना ही है तो उससे मांगना चाहिए, जिस के पास न तो सोने की सिल्लियां हैं, न चमचमाते रुपये हैं, और उसकी गाँठ में कौड़ी भी नहीं है। न उसके खेती बाड़ी है, न कुछ व्यापार है। ऐसा साहु तुझे नहीं मिलेगा।

---

1. ऐमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
 विहंगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणे रया॥—दस० 1/3

2. जो खपरा कर ले घर डोलत, मांगत भीखहि तौ नहिं लाजै।
 जो सुख सेज पटंबर भूष्ण लावत चंदन तौ नहिं राजै॥
 जो कोउ आय कहै मुख तें कछु, जानत ताहि बयारहि बाजै।
 सुन्दर संसय दूर भयो सब, जो कछु साधु करै सोइ छाजै॥
 —सुन्दर विलास—पृष्ठ० 124

3. हाथ पसारे औघर जाता, पानी परहि न भाई।
 मांगे तें मरु मीच भली, अस जीने कौन बड़ाई॥
 माँगे तें जग नाक सिकोरे, गोविन्द भला न मानै।
 अनमांगे राम गले लगावै, बिरला जन कोइ जानै॥
 जब लग जिन का लोभ न छुटै, तब लग तजै न माया।
 घर-घर द्वार फिरै माया के, पूरा गुरू नहिं पाया।
 जो माँगे सो कछु न पावै, बिन माँगे हरि देता।
 कहैं मलूक निःकाम भजै जे, ते आपन करि लेता॥
 —मलूकदास की बानी—पृ० 18

रामधन पाकर अन्यत्र जाना व्यर्थ है ।[1]

साधु—संत : महावीर—

महावीर के अनुसार जो दर्शन तथा ज्ञन से पूर्ण है एवं मोक्ष मार्ग पर चलने वाले, शुद्ध चरित्र की साधना में रत हैं, वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं ।[2] मुनि अपने बलाबल को जानकर कालोचित कर्तव्य करता हुआ राष्ट्र में विहार करता है । वह कभी भी सिंह के समान भयानक शब्दों से संत्रस्त नहीं होता । वह अयोग्य वचन सुनकर भी असभ्य वचन नहीं बोलता ।[3]

महावीर ने साधु को उपाध्याय परमेष्ठी में स्थान दिया है । उनके अनुसार जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात जिनागम का अभ्यास करके मोक्ष मार्ग में अग्रसर होते हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों को अर्थात मुनियों को उपदेश देते हैं उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं ।[4]

महावीर ने "साधु" को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो रत्नत्रय अर्थात मोक्ष मार्ग प्राप्ति के योगों को सर्वकाल अपनी आत्मा से जोड़े रखे और सर्व जीवों में समभाव रखे, वो साधु कहलाता है ।[5]

---

1. सोने की सलैया नाहिं रूपे का रूपैया नाहिं,
 कौड़ी पैसा गाँव नही जासे कछु लीजिए ।।
 खेती नाहिं बारी नाहिं बनिय व्यौपार नहीं, ।
 ऐसा कोई साहु नाहिं जासों कछु मगिये ।।
 कहत मलूकदास छोड़दे पराई आस,
 रामधनी पाय के अब का की सरन जाइये ।।—वही पृ० 24
2. दंसण-नाणंसमग्गं मग्गं गोक्खस्स जो हु चरित्त ।
 साधयदि णिच्चमुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स ।।—द्रव्य सं० 221
3. कालेण कालं रिहरेज्ज रट्ठे बलाबलं जाणिय अप्पणो ।
 सीहो व सद्देण न संतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असुब्भमाहु ।। उ० 21 : 14
4. चोद्दस पुव्व महोयहिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थीणं ।
 सीलं धराणं वत्ता होइ गुणी सो उवज्झायों ।।— उ० 111
5. निव्वाणसाहए जोए जम्हा मांहति साहुणों ।
 समा य सव्वभूएसू तम्हा ते भावसाहुणें ।।—आ० नि० 1004

महावीर ने संसार में चार मंगल[1] और चार उत्तम[2] स्वीकार किये हैं—

मंगल	उत्तम
1. अर्हन्त भगवान	1. अर्हन्त भगवान ।
2. सिद्ध भगवान ।	2. सिद्ध भगवान ।
3. साधु ।	3. साधु ।
4. केवलज्ञानी भगवान ।	4. केवलज्ञानी भगवान ।

इन चार मंगल और उत्तमों में महावीर ने साधु को महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया है । उन्होंने साधु की शरण ग्रहण की है ।[3]

भिक्षु को परिभाषित करते हुए महावीर ने कहा है कि जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषाओं का सदा परित्याग करता है, जो जिन वचनों में स्थिर-चित्त होता है, जो निष्किंचन है, जो चांदी-सोना आदि किसी प्रकार का परिग्रह नहीं करता, जो सदा गृहस्थोचित्त कार्यों का परिवर्जन करता है, वह भिक्षुक है ।[4]

उक्त परिभाषा के अनुसार भिक्षुक में निम्न गुण होने चाहिए ।[5]

---

1. चत्तरि मंगल-अह्हिता मंगल, सिद्धा मंगल ।
   साहू मगल, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगल ।।—वही 1
2. चत्तरि लोगुत्तमा—अरिहंता जोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा ।
   साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमा ।।—वही—1
3. चत्तरि सरण पवज्जामि—अरिहते सरण पवज्जमि, सिद्धे सरणं ।
   पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि, केवलिपनतं धम्म सरण पवज्जाकि—
   पंच० प्र० संथारा ।
4. चत्तारि वमे सया कसाए धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे ।
   अहणे णिज्जाय रूवरयर गिहिजोग परिवज्जए जेस भिक्खू ।।—द० 10 : 6
5. (क) पडिमं पडिवज्जिया मसाणे नो भायए भयमेखाइ दिस्स ।
   विविहगुणतवोरए य निच्चं न सरीरं चाभिकंखई जेस भिक्खू ।
   द० 10 : 12
   (ख) चत्तपुत्त कलत्तस्स मिव्वावारस्स भिक्खुणो ।
   पियं न विज्जई किंचि अरियपं पि न विज्जए ।। उ० 9 : 15
   (ग) अभिवायणभव्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमतणं ।
   जे ताइं पढ़िसेवंति न तेसिं पीजिए मुणी ।।

आगे पृष्ठ 320 पर देखें

1. भयभीत न होने वाला।
2. जप में रत।
3. शरीर की आकांक्षा न करता हो।
4. पुत्र, व्यापार आदि में अनुरक्त न हो।
5. प्रियता-अप्रियता से दूर हो।
6. न तो सम्मान की कामना करे और न दूसरों का सम्मान देख कर अनु-ताप करे।
7. असाधारण रूप से विहार करे।

महावीर ने कहा है कि भिक्षु भिक्षा का समय होने पर गोचरी के लिए जाय और यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे। सहज तप करता हुआ क्षुधा को सहन करे।[1]

सामाजिक दृष्टि से भी महावीर ने भिक्षु के लिए महत्वपूर्ण निर्देश दिये हैं। उन्होंने कहा है कि भिक्षु सदा ऊँच नीच, धनी और गरीब कुलों में सामुदायिक रूप से भिक्षा के लिए जाये। नीच-गरीब कुलों को लाँघकर उच्च धनवान के घर न जाये।[2]

महावीर ने यहाँ तक कहा है कि बालक अथवा बालिका को स्तन पान कराती हुई स्त्री यदि उसे रोते हुए छोड़कर आहार लाये तो भिक्षु यह कहकर आहार ग्रहण न करे कि इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता है।[3]

---

1. सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरि सकारियं।
   अलाभो त्ति न सोएज्जा तवोत्ति अहियासए॥—महावीर वाणी—पृ० 267
2. समुयाणं चरे भिक्खू कुलं उच्चावयं सया।
   नीयं कुलम इक्कम्म ऊसढं नाभि धारए॥ वही पृ० 268
3. थ5गं पिज्जे माणी दारगं वा कुमारियं।
   तं निक्खि वित्तु रोयंतं आहरे पाण भोयणं॥
   तं भवे भत्त पाणं पु संजयाण अकप्पियं।
   देतियं पडिया इक्खे न में कप्पइ तारिसं॥ वही पृ० 271

पृष्ठ 319 का शेष

अणुक्कसाई अरिपच्छे अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥—उ० 2 : 38—39

(घ) एग एव चरे लाढे अमियय परीसरे।
गामें वा नगरे वावि निगमे वा परायहाणिए॥
असमाणो चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तोगिहत्थेहि अणिएओ परिव्वए॥ उ० 2 : 18-19

सामाजिक व्यवहार का ध्यान रखते हुए महावीर ने कहा है कि साधु को चाहिए कि वह सामाजिकों को अकर्कश शब्दों में वस्तु-तत्त्व को समझावे। कठोर बात न कहे तथा सामाजिकों की भाषा का उपहास न करे और सामाजिकों के समय को ध्यान रखते हुए छोटे अर्थ को लम्बा न करे।[1]

कोई अज्ञानी पुरुष समाज में पर्यटन करते हुए सुव्रती साधु को चेर, चोर कहकर रस्सी से बांध देते हैं।[2] कटु वचन कहते हैं कि मांगकर जीवन निर्वाह करने वाला यह संत पूर्व कृत का फल भोग रहा है।[3]

साधु (संत) : नामदेव—नामदेव के मतानुसार जो संसार के सब जीवों में एक परमात्मा देखता है, जिसने अहंकार को पूरी तौर से नष्ट कर दिया है, वहीं शुद्ध संत साधु है। बाकी सब तो माया से बंधे हुए हैं। साधु धन को मिट्टी के समान देखता है और रत्नों के भंडार को पत्थरों के समान। उसने काम-क्रोध को बाहर निकाल दिया है और शांति क्षमा को अपना लिया। वह प्रभु का नाम हर दम लेता रहता है और उस परमेश्वर को क्षण मात्र भी नहीं भूलता है। यही सच्चा संत है।[4]

संत : कबीर—कबीर के अनुसार संत वह है, जिसके पास जाने की जगह न हो और रहने के लिये ठौर न हो। उसकी गति अवगति पर नियन्त्रण न हो।[5] वह

---

1. अणु गच्छमाणे वितहंऽभि जाणे तहा-तहा साहु अकक्के सेणं।
   ण कत्थई भास विहि सएज्जा णिरूद्धगं वावि णदीह एज्जा ॥
   —महावीर वाणी—पृ० 328
2. अप्पेगे पलियंतंसि चारो चोरों त्ति सुव्वयं।
   वंधति भिक्खु यं बाला कसाय वसणेहि य ॥ —वही पृ० 295
3. अप्पेगे पडिभासंति पाडि पंथिय मागया। —वही पृ० 295
   पडिया रगया एए जें एए एवं जीविणो ॥
4. सर्वभूति पाहे एक वासुदेव। पुसोनिया ठाव अहंतेवा।
   तोचि सन्तसाधु ओलखवा निका। येरे ते ऐका मायाबद्ध ॥
   देखिया घन मृत्ति के समान। नवविद्या रत्नें जैसे छोंडें।
   काम क्रोध दोघे घातले बाहेरी। शांति क्षमा धरीं राबवित ॥
   नामां म्हणे नाम गोविदाचें वाचे। विसंबेना त्याचें क्षणमात्र।
   —श्री नामदेव गाथा—841
5. जाइबे कूं जाइगह नहीं रहिबे कौ नहीं ठौर।
   कहै कबीर संत है, अबिगति की गति और (5) क० ग्र० पृ० 54

माया का गुलाम नहीं होता, माया उसकी दासी होती है। वही सभी के साथ समता भाव रखता है और प्रभु स्मरण में खोया रहता है।[1]

संत : रविदास—रविदास ने संत के मुख्य गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वही संत है जिसका मन निर्मल है।[2] जो विषयों को त्याग कर राम भक्ति करता है और मिथ्या नहीं बोलता।[3] वह अभिमान से दूर, अवगुण त्याग कर गुणों का गान करता है। सच्चा साधु वह है जो दूसरों की पीड़ा जानकर अधीर हो उठता है।[4]

संत : दादू—दादूदयाल की मान्यता है कि इस संसार में दो ही अनमोल रत्न हैं। एक सांई और दूसरा संत।[5]

संत : सुन्दरदास—सुन्दरदास के अनुसार संत वह है जो विकार युक्त नहीं है। सारग्रहण कर असार को त्याग देता है। वह प्रेम करने वालों से प्रेम करता है। अनीति की बात नही कहता। ध्यान को नहीं टूटने देता। झगड़ा नहीं करता। रस आसक्त नहीं होता। संत वही है जो सत्य का निर्वाह करता है।[6]

सुन्दरदास कहते हैं कि मुनि वह है, जिसके अंतःकरण की वासनायें शान्त

---

1. कबीर माया दासी संत की, अमी देई असीस।
   बिलसी अरूलातौ छड़ी, सुमरि-सुमरि जगदीस (10) वही पृ० 57
2. रविदास सोइ साधु भलो, जिन मन निर्मल होय।
   राम भजहि विषया तजहि, मिथ भाषी न होय॥
   —रविदास दर्शन-आजाद—पृ० 92
3. रविदास सोइ साधु भलो, जउ मन अभिमान न लाय।
   औगुन छांडहि गुन गहइ, सिमरइ गोबिंद राय॥ —वही पृ०89
4. रविदास सोइ साधु भलो, जपु जानहि पर पीर।
   पर पीरा कहुं पेखि के रहवे सदहि अधीर॥ —वही पृ० 93
5. दादू इस संसार में दो रतन अनमोल।
   एक साइ एक संत जन इसका मोल न बोल॥ —दादूबानी-भाग 2 पृ० 162
6. कार उहै अविकार रहै नित, सार उहैजु असारहि नाखै।
   प्रीति उहै जु प्रतीति धरै उर, नीति उहै जु अनीतिन भाखै॥
   तंत उहै लगि अंत न टूटत, संत उहै अपनो सत राखै॥
   नाद उहै सुनि बाद तजै सब, स्वाद उहै रस सुन्दर चाखे॥
   —संतबानी संग्रह-भाग-2 पृ० 109

हो गई हों और वह त्याग में लगा हो ।[1]

संत (साधु) : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार संत सत्य की गाठ बांध कर कोपिन में सदा निःशंक भ्रमण करता है। उसकी दृष्टि में इन्द्र का भी कोई आकर्षण नहीं होता, वह उसके सामने रंक होता है ।[2] संत स्वप्न में भी शाक्त के घर नहीं जाते । मलूकदास जी कहते हैं कि जहां संत नहीं होते वह नगर उजाड़ हो जाता है ।[3]

मलूकदास कहते है कि संतों का अनुकरण उसी प्रकार करना चाहिये, जैसा बछड़ा गाय का करता है ।[4] वही रमना चाहिये जहां संत रजन हो ।

मलूकदास जी यहां तक कहते हैं कि संत विरोधियों को इस प्रकार मारना चाहिये, जैसे तीतर को बाज मारता है ।[5]

मलूकदास जी कहते है कि तन और मन से फकीरी अपनाने से सहाब (प्रभु) की निकटता प्राप्त होती है ।[6] उनके अनुसार पीर वह है जो दूसरों की पीड़ा जानता है ।[7]

संत : नानक—नानक वाणी में "संत", "साधु" "पीरु" और "फकीर" शब्द प्रयुक्त हुए है । गुरुनानक संत के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि भाई संत जनों की रेणुबन जाओ । इनकी सभा से ही गुरु और मुक्ति रूपी पदार्थ प्राप्त हो

---

1. अंतःकरण हू की, बासना निवृत्त होइ ।
   ता कू मुनि कहत हैं, वहै बड़ो त्याग है—सुन्दर विलास पृ० 135
2. गांठी सत्त कुपीन में, सदा फिरै निःसंक ।
   नाम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंच ।।
   —मलूकदास की बानी—पृ० 30
3. साकत के घर साधजन सुपने नहिं जाहीं ।
   तेड-तेड नगर उजाड है, जहं साधु नाहीं ।। —वही पृ० 8
4. जहां-जहां बच्छा फिरै, तहां तहां फिरै गाय ।
   कहैं मलूक जहां संत जन, तहां रमैया जाय ।। —वही पृ० 29
5. संत-बिरोधी ऐसो मारो, ज्यों तीतर पर छूटे बाज ।
   मलूकदास की बानी—पृ० 5
6. मेल फकीरी जे करे मन नहि आवै हाथ ।
   दिल फकीरी जो करे रहै साहब तिन के साथ ।। —वही पृ० 33
7. मलूका सोई पीर है जो जाने पर पीर ।। —वही पृ० 32

सकते है [1] इनकी सभाज्ञान देने वाली है।[2]

नानक कहते हैं कि केवल साधु का वेश धारण करने से कोई साधु नहीं हो जाता। यदि वह साधु वेश धारण करके भी दूसरों को फंसाता है, तो वह साधु नहीं, ठग, और सांसी है तथा पाप का बोझ उठाये फिरता है।[3]

नानक कहते हैं कि जिनकी पूजा होती है, वे पीर कहलाते हैं। उनसे मिलने के लिये सारा संसार आता है। वे बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। सिद्धों में उनकी गणना होती है। किन्तु यह सब यदि परमात्मा के लेखे के योग्य नहीं तो समस्त पूजा व्यर्थ है।[4] पीर द्वारा मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य पराये हक को मारना, गो और सूअर के मांस खाने के समान पाप समझे।[5]

नानक ने जिस प्रकार बाह्य साधु वेश का विरोध किया है उसी प्रकार बाह्य फकीरी का भी विरोध किया है। वे कहते हैं कि यदि कोई फकीर बन कर विभिन्न देशों में भ्रमण करता रहे तो भी उसकी तृष्णा शान्त न हो, उसके मन का मैल न छुट पाये तो ऐसे फकीरी जीवन पर धिक्कार है। उनका फकीरी वेश व्यर्थ है।[6]

---

1. भाई रे सन्न जना की रेणु।
   संत सभा गुरु पाईये मुकति पदारथु धेणु। —नानक वाणी—पृ० 111
2. सभी सुख हरि रस भोगणे, सन्त सभा मिलि गिआनु। —वही पृ० 119
3. फाही सुरति मलूकी वेसु। हउ ठगवाडा ठगी देसु।
   खरा सिआणा बहुता भारु। धाणक रूपी रहा करतार। —वही पृ० 127
4. पूज लगे परि आखीऐ सभु मिले संसार।
   नाम सदाए आपणा होवै सिधु सुमास
   जा पति लेखै नर पवै सभा पूज सुमास। —नानकवाणी पृ० 107
5. हकु पराया नानका उस सुअर उस गाय।
   गुरु पीरु हामा ता मरे जा मुरदार न खाय।
   गल्ली भिसति न जाईयै जुठै सचु कमाय।
   मारण पाहि हराम महि होई हलालु नर जाय।
   नानक गल्ली कुडीई कुडो थल्लै पाइ।।
   —गुरुनानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 80
6. भरमै माहि न विझवै जो भवै दिसतंर देसु।
   अंतरि मैलु न उतरै ध्रिणु जोवणु घृणु वेसु।।
   होरु कितै भगति न होवई बिना सतगुर के उपदेश।
   —नानक—पृ० वाणी 122

गृहवास : महावीर

गृहवास समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। क्या गृहवास को त्यागना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में महावीर ने कहा है जो मनुष्य तनिक सा भी शिक्षित है तथा गृहस्थ के नियमों का पालन करता है अर्थात् सुव्रती है, उसे पुनः मानव योनि प्राप्त हो सकती है। मनुष्य के कृत्य सत्य होते हैं और उन कृत्यों का उसे फल भी प्राप्त होता है।[1]

गृहवास : नामदेव—नामदेव ने गृहस्थी को कूप के समान बताया है। भक्त के परमात्मा के पल भर दर्शन करने मात्र से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक ताप समाप्त हो जाते है और गृहस्थी के कूप से मुक्ति मिल जाती है।[2]

गृहवास : कबीर—कबीर ने समाज में गृहस्थ एवं गृह त्यागी का उल्लेख किया है। गृहस्थ के महत्व से कबीर परिचित है, उनके अनुसार गृहस्थ और वैरागी दोनों को धर्म के मार्ग पर चलना चाहिए पर वैरागी का बन्धन में पड़ना अनुचित है।[3] गृहस्थ को अपना चित्त उदार रखना चाहिए और वैरागी को विरक्त। विरक्ति से रहित वैरागी और उदारता से रहित गृहस्थ का जीवन व्यर्थ है।[4]

वैरागी और गृहस्थ का उल्लेख एक साथ अन्यत्र भी हुआ है।[5] गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी जो मन एवं इन्द्रिय-नियन्त्रण में सफल हैं, ऐसे मनुष्य कम ही होते है पर यह आदर्श की स्थिति है। कबीर का कथन है कि मन के विकार का त्याग प्रथम आवश्यक है, यदि "बनहिं बसे" "मन नहीं तजै विकार" तो "क्या

---

1. वे मायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहिसुव्वया।
   उवेंति माणुसे जोणिं कम्मसच्चा हु पणिणो ॥ —उ० 7 : 19-20 का अंश
2. दास अनिन मेरो निज रूप।
   दरसन निमख ताप त्रई मोचन परसत मुकति करत गृहकूप ॥
   —आदिग्रन्थ-पान 1252
3. जौ ग्रिह करहि त धरम करू, नाहिं त करू बैराग।
   बैरागी बंधन करै, ताकौ बड़ो अभाग ॥ —क०ग्र०पृ० 195
4. बैरागी बिरक्त भला, गिरही चित उदार ॥ —क०ग्र०पृ० 190
5. कबीर कहता जात हूं, चेतै नहीं गवार।
   बैरागी गिरही कहा, कांमीवार न पार ॥ —वही पृ० 233
   गाटै बाटै सब जग दुखिया क्या गिरही बैरागी हो ॥ —वही पृ० 53
   इक बैरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बैरागी ॥ —वही पृ० 240

कीजिऐ" और इसी प्रकार "घर बन समसरि जिनि किया ते बिरला संसार ।"[1]

गृहवास : रविदास—रविदास के अनुसार गृहस्थ में रहते हुए नेक कमाई की है अर्थात् अच्छे काम किए है तो गृह त्याग कर वनों में जाने की आवश्यकता नहीं । तुम्हारे राम, तुम्हारे ही घर में मिल जायेंगे ।[2] उन्होंने घर में रहते हुए सत्य कर्म करते हुए, चित्त रूपी घर में ओंकार को बसाने का मार्ग दिखाया है ।[3]

गृहवास : सुन्दर दास—सुन्दरदास कहते हैं कि माता, पिता, स्त्री, पुत्र तथा बन्धु सभी को बहुत प्यारे लगते हैं । लोग कुटुम्ब की रक्षा के लिये बहुत कुछ करते हैं और कभी उससे बिछुड़ना नहीं चाहते । किन्तु प्राण निकलते ही घर वाले उसे शीघ्र घर से निकाल देते हैं ।[4]

सुन्दरदास जी गृह त्याग करने वालों पर कटु व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि बहुत से लोग नेह के बन्धन तोड़कर घर त्याग देते हैं । शरीर पर भस्म लपेट लेते हैं, वर्षा, शीत, धूप आदि सहन करते हैं । भूखे रहते हैं । घर का बिछौना त्याग कर कुशा आसन लगाते हैं किन्तु मन से घर की आशा नहीं मरती ।[5] ऐसे गृह त्याग से क्या लाभ ?

---

1. कबीर ग्रन्थावली—पृ० 100
2. नेक कमाई जउ करहि ग्रह तजि बन नहिं जाय ।
   रविदास हमारो राम राय ग्रह मंहिमिलिहि आय ।।
   —रविदास दर्शन—आज़ाद—पृ० 104
3. ग्रह हि रहहु सति करम करहु हरदम चितहु ओंकार ।
   रविदास हमारी बांघल हइ केवल नाम आधार ।। —वही पृ० 105
4. मातु पिता युवती सुत बांधव, लागत है सब कूं अति प्यारो ।
   लोक कुटुम्ब खरो हित राखत, होइ यहीं हम तें कहुं न्यारो ।
   देह सनेह तहां लग जानहु, बोलत है मुख सबद उचारो ।
   सुन्दर चेतन सक्ति गई जब, बेगि कहै घरबार निकारो ।।
   —संतबानी संग्रह—भाग-2, पृ० 109
5. गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो, पुनि खेह लगाइ के देह संवारी ।
   मेघ सहै सिर सीत सहै तन, धूप समय जू पंचागिनि वारी ।
   भूख सहै रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सहै दुख भारी ।
   डासन छाड़ि के कासन ऊपर, आसन मारियै आस न मारी ।।
   —वही पृ० 108-109

गृहवास : नानक—गुरु नानक ने कहा है कि गृहस्थ धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है। नाम, दान तथा स्नान पर श्रद्धा भाव से आरूढ़ रहने पर ईश्वर की भक्ति अवश्य जगती है।[1]

संगति : महावीर

महावीर ने दुर्जन और अज्ञानियों की संगति न करने का निर्देश दिया है वे कहते हैं कि जैसे जल अग्नि का संयोग पाकर अपने शीतल स्वभाव को छोड़ देता है, उसी प्रकार दुर्जन की संगति से निश्चय ही सज्जन अपने अच्छे गुणों को खो बैठता है।[2]

इसी प्रकार अज्ञानियों की संगति का भी कुप्रभाव पड़ता है। अतः अज्ञानियों से न तो परिचय रखना चाहिये और न परिचय बढ़ाना चाहिये। महावीर ने तो यहां तक कहा है कि उनके साथ धर्मा-धर्म की चर्चा भी नहीं करनी चाहिये।[3]

नदी और सागर के उदाहरण द्वारा उन्होने संगति के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मीठे जल की नदियाँ जब लवण-समुद्र में मिलती जाती हैं तो उनके जल की मिठास समाप्त हो जाती है और उनकी स्वाभाविक मधुरता खारेपन में बदल जाती है।[4]

अतः महावीर के अनुसार संत पुरुषों की ही संगत करना उचित है। उनकी संगति से ही आत्मा यश पाती हैं तथा परलोक में शुभ गति।[5]

संगति : नामदेव—नामदेव संगति के सम्बन्ध में कहते हैं कि संत संगति मिलना बड़ा कठिन है किन्तु मिल जाये तो गोविद भी प्राप्त हो जाता है। वे असंत

---

1. इकि गिरही सेवक साधिका गुरमती लागे।
   कामु दानु इसमानु हृढ़ करि भगति सु जागै॥
   —श्री गुरु ग्रन्थ साहिब—पृ० 419
2. दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि।
   सीयल भावं उदयं जह पजहादि अग्गिजोएण॥ —भग० आ० 344
3. णेव बालेहि संगंगि णेव बोले हि संथवं।
   क्षम्माधम्मं च बालेहि णेव कुज्जा कडाइ वि॥ —इसि० 33 : 5
4. संपुण्णवाहिणीओ वि आवन्ना लवणोदधि।
   पप्पा खिप्पं तु सव्वा पि पावति लवणत्तण॥ —इसि० 33 : 14
5. इहेव कित्ति पाउणति पेच्चा गच्छइ सोगति।
   तम्हा साधूहि संगंगि सदा कुविज्ज पंडिए॥ —इसि० 33 : 8

संगति में न जाने और संत संगति में समा जाने का उपदेश देते हैं ।[1]

जिस प्रकार पारस के संग से लोहा सोना हो जाता है, उसी तरह संत समागम से नारायण भी प्राप्त होता है । जिस तरह भृंगी के ध्यान से कीट भी उसी रूप में हो जाता है, उसी प्रकार संत के ध्यान से मनुष्य नारायण हो जाता है । जिस तरह चंदन के समीप होने से उसके परिमल द्वारा सब बनस्पति सुगन्धित हो जाती हैं, उसी तरह संगति से परमेश्वर भी उपलब्ध हो सकता है । जिस तरह अग्नि से मिलने पर कोई वापिस नहीं आता, उसी प्रकार संगति मिलने से मनुष्य वापिस नहीं आता अर्थात् आवागमन का चक्कर खत्म हो जाता है । जिस प्रकार सरिता सागर में मिल कर सागर ही बन जाती हैं, उसी प्रकार संगति में जीवात्मा परमात्मा को पा जाता है । नामदेव संगति की ही कामना करते हैं ।[2]

सतसंग गाय के समान है, जो सबको अपनी कृपा का दूध पिलाया करती है ।[3] नामदेव कहते हैं कि ठाकुरसाहिब जल में नमक के समान है संगति द्वारा ही उसे पाया जा सकता हैं ।[4] संत संगति की शरण जाने का उपदेश नामदेव ने दिया है ।[5]

संगति : कबीर—कबीर के मतानुसार संगति के प्रभाव से ही मनुष्य जैसा

---

1. संत संगति मिली दुस्तर तिरना । संत संगति मिली गोविंद पाया ।।
   असंत संगति नामा कबहूं न जाई । संत संगति मैं रह्यो समाई ।।
   —हिन्दी पदावली—32 तथा श्री नामदेव गाथा—832
2. परिसाचेनि संगे लोह होय सुवर्ण । तैसा भेटे नारायण संतसंगे ।।
   कीट की ध्यातां भृंगी जाला तोचि वर्ण । तैसा भेटे नारायण संतसंगे ।।
   वनस्पति परिमल चंदन जाला जाण । तैसा भेटे नारायण संतसंगे ।
   अग्निस मिले ते ये न पर तोन । तैसा भेटे नारायण संतसंगे ।।
   सरिता ओघ जाय सिंघसी मिलन । तैसा भेटे नारायण संतसंगे ।
   नामा म्हणे केशवामज देई संतसंग । आणिक कांहीं तुझ न मागे बापा ।
   —श्री नामदेव गाथा—833
3. नामा म्हणे गाय दूध एक सरे । साधु निरंतर वर्ते तैसा ।। – वही 861
4. लूण नीर थैं ना न्है प्यारा । ठाकुरसाहिब प्राण हमारा ।।
   साध की संगति संतसूं भेंटा । प्रणवंत नांमा रामसहेटा ।।
   —हिन्दी पदावली—14
5. हिन्दी पदावली—32

कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है।[1] चन्दन की सुगन्धि को कोई नीम की गंध नहीं कह सकता और इसी प्रकार सद्संगति का प्रभाव कभी अपयश नहीं हो सकता[2] सत्संग को कबीर ने अपना अध्ययन माना है। ज्ञानार्जन के लिए अपने को सुपात्र बना लेना साधक का प्रथम कर्तव्य है। कबीर ग्रन्थों के पठन-पाठन मात्र को ही स्वाध्याय नहीं समझता। इससे अधिक वे साधुजन सेवा, और ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क को महत्व देते हैं।[3] इससे व्यक्ति के दोष दूर हो जाते हैं और कुबुद्धि का नाश हो जाता है, ज्ञान का प्रकाश होता है।[4]

कबीर का मत है कि अपनी दुर्बलता के प्रति जागरूक होकर उनका सुधार करते रहना चाहिए। जो व्यक्ति अपने-अपने अन्तस्थल में दोषों को खोजकर पृथक करता रहता है, उसे मुक्ति अवश्य मिल जाती है। कबीर ने सत्संग करने के लिए भी विवेक की आवश्यकता निरूपित की है। क्योंकि शुभ्रवस्त्रों से अलंकृत बक रूप में कपटी, छली और अज्ञानी भी वेश बनाए फिरते रहते हैं।[5] कबीर कुसंगति का तीव्र विरोध करते है और सत्संग का पूर्ण समर्थन करते है। बिना सत्संग के जीवन भस्म और क्षार है।[6] कबीर के दो ही सत्संगी थे वैष्णव और राम। राम मुक्ति दाता और वैष्णव राम का स्मरण कराने वाले हैं।[7]

संगति : रविदास—संगति के प्रभाव के सम्बन्ध में रविदास कहते हैं कि स्वांति नक्षत्र की बूंद सर्प के फन पर पड़ कर विष बन जाती है किन्तु सीप की

---

1. जो जैसी संगति करै, सो तैसो फल खाई।
—कबीर ग्रन्थावली अं० 26 सा० 7
2. कबीर संगति साध की, कटे न निरफल होई।
चन्दन ही सी बांसना, नीव न कहसो कोई। —वही अं० 28 सां० 1
3. जिहि घर साध न पूजिए, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मड़हट सारषे, भूत बसे तिव मांहि ॥ —वही अं० 30 सा० 3
4. कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाई।
दुरमति दूरि गंवाइसी, देती सुमति बताइ ॥ —वही अं० 28 सा० 2
5. कबीर उज्जल देखि धीजिए, बग ज्यूं माडै ध्यान।
धीरे बैठि चपैटसी, यूं ले बूडै ग्यान ॥ —कबीर ग्रन्थावली अं० 27 सा० 2
6. कबीर निरमल बूंद अकरस की, पाई गई भोमि विकार।
मूल बिनटा मांनवो, बिन संगति भटछार ॥
—वही अं० 25 सा० 1
7. कबीर मेरे संगी दोइ जण, एक वैस्नो एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ॥ —वही अं० 28 सा० 4

संगत पाकर मोती बन जाती है।[1] संसार भली प्रकार जानता है कि सूर्य से प्रकट होते ही रजनी चली जाती है और पारस के छूने से तांबा भी स्वर्ण बन जाता है।[2] वृक्षों की संगति प्राप्त कर नीचे गिरी हुई लतायें भी गंध और सुगंध से भर जाती हैं।[3]

रविदास जी को रात-दिन यही सोच है कि उनकी संगति उच्च नहीं है।[4] पुनः मनुष्य जोनि प्राप्त होना दुर्लभ है।[5] रविदास जी कृष्ण मुरारी की संगति पाने की कामना करते हुए कहते हैं कि हे माधव मैं तुम्हारी संगति एवं शरण चाहता हूं। तुम गुलाब के फूल हो और मैं तुच्छ कीड़ा। मैं कीड़ा होकर पुष्प रस का अमृत पाना चाहता हूं।[6]

रविदास जानते हैं कि साधु-संगति प्राप्त किये बिना भक्ति भाव भी प्राप्त नहीं होता।[7] वे भक्ति के लिये संगति की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते है कि वेद, पुराण, भागवत आदि सभी ने भक्ति का उल्लेख किया है किन्तु बिना संगति

---

1. स्वांति बूंद बरषै फनि ऊपर, सीस विषै विष होई।
   वाही बूंद को सपि मिपजैं संगति की अधिकाई॥
   —संत गुरु रविदास वाणी—डा० बी०पी० शर्मा—पृ० 116
2. रवि प्रमास रजनी जथा, गति जानत सभ संसार।
   पारस मानो तांबो छुए, कनक होत नहीं बार। —वही पृ० 82
3. नीच रूख ते ऊंच भए है, गंध सुगंध निवासा।
   माधउ संतसंगति सरनि तुमारी, हम अउगुन तुम्ह उपकारी॥
   —वही पृ० 88
4. मेरी संगति पोच-सोच दिनु राती, मेरा करमु कुटिलता जनमु कुमांती।
   राम गुसईआं जीअ के जीवना, मोहि न बिसरहु मे जनु तेरा।
   —वही पृ० 79
5. त्रिगद जोनि अचेत सम्भव, पुंन पास असोच।
   मानुष अवतार दुलभ तिही, संगति पोच॥ —वही पृ० 89
6. माधो संगति सरनि तुम्हारी, जग जीवन क्रिस्न मुरारी।
   तुम्ह मषतूल गुलाब चत्रभुज, मैं बपुरा जस कीरा।
   पीवत डाल फूल रस अम्रित, सहज भई मति हीरा॥
   —संत गुरु रविदास वाणी—डा० बी०पी० शर्मा—पृ० 88
7. साध संगति बिना भाउ नहीं उपजै, भाव विनु भगति नहीं होई तेरी।
   कहै रविदास इक बेनति हरि सिउ, पैज राउ राजा नाम मेरी॥
   —वही पृ० 111

के इनकी पहचान नहीं होती। गंगा पाप नाश करती है। चन्द्रमा ताप हरता है। कल्पतरू दीनता दूर करता है किन्तु संगति पाप-ताप सब हर लेती है।[1]

रविदास जी खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि संत का भेष धारण करके भी लोग उसके भेद नहीं जानते। अमृत पाकर भी विष में लिप्त रहते हैं।[2]

रविदास कहते हैं कि प्रभु की संगति के कारण गंगा जल को पार करने के लिये उन्होंने नाव पा ली है।[3]

संगति : दादू—दादू के अनुसार संसार में दो ही अमोल रत्न हैं—एक सांई और दूसरा सतसंग। शेष सब तो मृतक समान हैं।[4] अतः "संगति" नाम का गान निरन्तर करना चाहिये।[5] दादू कहते है कि सत्संग परमपद एवं ब्रह्म से मिलाने

---

1. धन हरि भक्ति त्रयलोक जस पावनी।
करौ सत संग इहि विमल जस गावनी॥
वेद तैं पुरान, पुरान तैं भागवत, भागवत वैं भक्ति प्रकट कीनी।
भक्ति तैं प्रेम, प्रेम तैं लच्छना, बिना सत संग नही जाइ चीनी॥
गंगा पाप हरैं ससि ताप अरु कलप तरू दीनता दूरि खोवै।
पाप अरु ताप सब तुच्छ मति दूरि करि, अमी दृष्टि जव संत जोवै॥
विष्णु भक्त जितैं चित परघरति ते मन बच करम करि विस्वास।
सठ घरनी धरी कीर्ति जगबिस तारी प्रनत जन चरन रविदास, दास॥
—वही पृ०
2. भेष लीयो पै भेद न जान्यौ, इमृत हेइ बिसै सौ सान्यो।
काम क्रोध मैं जनम गंवायौ, साध संगति मिलि राम नगायौ॥
—सन्त गुरु रविदास वाणी डा० वी०पी० शर्मा पृ० 100
3. प्रभु जी संगति सरनि तिहारी।
संगति के परताप महातम नांव गंगोदिक* पायो॥ —वही पृ० 116
4. (अ) दादू इस संसार में ये द्वै रतन अमोल।
इक साई अरु संत जन, इनका मोलन तोल।
(आ) दादू सब ही गृतक समान हैं, जीया तबही जाणी।
दादू छांटा अभी का, को साधु बाहै आणी।
—(1) दादूदयाल की वाणी-1—पृ० 149 (2) पृ० 154
5. प्रेम भगति साध की संगति नाव निरन्तर गाई रे। —दादूबानी-भाग-2 पृ०

* संत काव्य में "गंगोदिक" या "गंगोदक" शब्द का प्रयोग गंगा जल के अर्थ में हुआ है। श्रमण संस्कृति में इसका प्रयोग तीर्थंकर की मूर्ति के स्नान के जल के लिये प्रयुक्त होता हैं।

वाला है।[1] इसके द्वारा प्रेम भक्ति दृढ़ होती है।[2] असाधुओं की संगत भाव भक्ति रस में बाधक होती है और साधुओं की संगत सुख व आनन्द देती है।[3]

संगति : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी की मान्यता है कि संगति ब्रह्म-मिलन का एकमात्र साधन है। किन्तु इसका मिलना दुर्लभ है। सामाजिक दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं है।[4]

संगति : मलूकदास—मलूकदास जी मनुष्य को जाग्रत करते हुए कहते हैं कि बहुमूल्य जीवन तेजी से बीता जा रहा है। साधु संगत का अवसर बीता जा रहा है। तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि पंच इन्द्रियां तेरी बैरी है। तू कब संगति करेगा?[5]

---

1. (अ) दादू संगति साधु की पार ब्रह्म सो संधि।
—दादू बानी—भाग-2, पृ० 9
(ब) दादू नेड़ा परमपंद साधु संगति मांहि।
—दादू बानी—भाग-1, पृ० 159
(स) जिस रस को मुमिअर मरै सुरनर करे कलाप। —वही पृ० 161
2. (अ) दिन प्रति दर्शन साध का प्रेम भगति हट देउ। —वही पृ० 160
(ब) साध मिलै तब ऊपजे प्रेम भगति रुचि होय। —वही पृ० 156
3. (दादू) असाध मिलै अंतर पड़ै, भावभगति रस जाइ।
साध मिवै सुख ऊपजै, आनंद अंगि न माइ।
संगति बिन सीझै नहीं, कोटि करै जे कोइ।
दादू सतगुर साध बिन, कबहुं सिद्ध न होइ। —वही पृ० 21
4. (क) सधुहि के संग ते स्वरूप ज्ञान होत हैं। —सुन्दरविलास—पृ० 141
(ख) जो पर ब्रह्म मिलो कोऊ चाहत।
तौ नित संत समागम कीजै॥ — ,, ,, —पृ० 137
(ग) सुन्दर कहत जग संत कछु देत नाहिं।
संत जन निसदिन देवो ही करतु हैं। — ,, ,, —पृ० 145
(घ) सुन्दर और मिले सब ही सुख।
संत समागम दुर्लभ भाई। — ,, ,, —पृ० 139
5. साध संगत कब करोगे, यह औसर बीता।
कहे मलूका पांच में, बैरी एक न जीता॥—मलूकदास की बानी पृ० 11

संगति : नानक—गुरु नानक संगति का महत्व बताते हुए कहते हैं कि साधु संगति के बिना जन्म निरर्थक हैं।[1] सत्संगति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं सत्संगति वह है जहां परमात्मा के नाम की चर्चा होती है।[2]

आहार : महावीर

महावीर ने कहा हैं कि "थोवं जेमेहि"[3] अर्थात कम आहार करना चाहिये। ज्ञानी व्यक्ति प्राणों की रक्षा हेतु आहार करते हैं। उनका आहार करना उसी प्रकार होता है जैसे गाड़ी की गति के लिये धुरी चुपड़ी जाती है। प्राणों का महत्व धर्म और धर्म मोक्ष के लिये है।[4]

महावीर ने कहा है कि स्वादिष्ट आहार का सुख जिह्वा के आगे के भाग तक ही है। किन्तु यह सुख भी अत्यन्त अल्प है। लोभ पूर्वक आहार करने से दुःख ही अधिक होता है।[5] जो मनुष्य जिव्हा के स्वाद के वश में हो जाते हैं उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि मंद हो जाती है। वह वज्र लेप के बंधन से बंधे हुए पुरुष की तरह बिल्कुल परवश हो जाता है।[6]

जिव्हा के वश में पड़ा हुआ मनुष्य अन्तिम समय में चाहे कितना भी आहार कर ले किन्तु तृप्त नहीं हो सकता। जो मनुष्य समुद्र पी कर भी तृप्त न हुआ हो, वह एकाध हिमबिंदु पी कर तृप्त हो सकता है ?[7]

---

1. पुंनु दानु इसनानु न संजमु साध संगति बिनु बादि गइआ ॥
—श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 906
2. सतसंगति कैसी जाणीऐ। जिथे एकै नाम वखाणिऐ ॥
एकै नामु हुकमु हैं नानक सतिगुरि दिया बुझाइ जीउ ॥— वही पृ० 72
3. मू० 895—
4. अक्खो मक्खणमुत्तं भुंजति मुणी पाण धारण णिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्त धम्मंपि पंरति मोक्खट्ठ ॥ —मू० 815
5. आवादमेत्त सोक्खो आहारेण हु सुखं बहुं अत्थि।
दुःख चेवत्थ बहुं आहट्टंतस्स गिद्धीए ॥ —भग० आ० 1660
6. णासादि बुद्धी जिब्भाव सरस मंदा वि होदि तिक्खा वि।
जोणिगसिलेसलग्गो व होई पुरिसो अणप्पवसो ॥
—भग० आ० 1644
7. किं पुण कंठत्पाणो आहारेदुण अज्जमाहार।
लभि हिसि तिलि पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव ॥ —भग० आ० 1658

महावीर ने यह कहा है कि संयमी—आत्मा सूर्यास्त से लेकर पुनः सूर्योदय तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे[1] क्योंकि संसार में बहुत से त्रस * और ** प्राणी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जो रात्रि में दिखाई नही देते, तब रात्रि भोजन कैसे किया जा सकता है।[3]

आहार : नामदेव—नामदेव ने हरि भक्ति के प्रसंग में दूध का उल्लेख किया है।[3] इसके अतिरिक्त जिह्वा की अतृप्ती तथा बदलते हुए स्वादों के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि इसे कभी तो खीर, खांड और घी नहीं भाता और चने भाते हैं। यह जिह्वा घर-घर भीख भी मंगवा देती है।[4] भोजन के लालच में तो सिंह भी ठगा जाता है।[5]

---

1. अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
   आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥—दश० 8/28

* अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने-फिरने की शक्ति वाले जीव त्रस कहलाते है। दो इन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक अर्थात लट्, चीटी आदि से लेकर मनुष्य आदि सब त्रस हैं। ये जीव यद्यपि अपर्याप्त होने सम्भव हैं पर सूक्ष्म कभी नहीं होते। लोक के मध्य में। राजू विस्तृत और 14 राजू लम्बी जो त्रस वाली कल्पित की गई है, उससे बाहर ये नहीं रहते, न ही जा सकते हैं।

** पृथ्वी अप आदि काय के एकेन्द्रिय जीव अपने स्थान पर स्थित रहने के कारण अथवा स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर कहलाते हैं। ये जीव सूक्ष्म व बादर दोनों प्रकार के होते हुए सर्व लोक में पाये जाते हैं।

2. सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावण।
   जाइं राओ अपारांतो, कहमेसणियं चरें॥ —दश० 6/23
3. दूधू कटोरै गडवै पानी। कपलगाइ नामै दुहि आनी॥
   दूध पीओ गोविंदे राइ। दूध पीउ मेरो मनु पती आइ॥
   सोइन कटोरी अंम्रित भरी। लै नामै हरि आगे धरि॥
   दूधू पीआइ भगतु धरि गइआ। नाने हरिका दरसनु मइआ॥
   —नामदेव—पृ० 109
4. कबहूं खीरि खांड धीउ न भावै।
   कबहूं घर टूक मंगावै। कबदूं कूरनु चने बिनावै॥ —वही पृ० 109
5. (अ) सिंघय भोजन जो नरू जानै। जैसे ही ठग देउ बखाने॥
   —वही पृ० 98

आगे पृ० 335 पर देखें

आहार : कबीर—कबीर प्राणी के लिये भोजन आवश्यक मानते हैं किन्तु एकादशी का व्रत दूध पीने तथा सिंघाड़ा खाने के लिए जो करते हैं, ऐसे पाखण्डी लोगों से उनका घोर विरोध था ।[1] उन्होंने भोजन के सम्बन्ध में विविध व्यंजनों की आसक्ति से बचने का उपदेश दिया है ।[2] उन्होंने खान-पान में सात्विक एवं सहज रहने पर बल दिया है ।[3] उनके अनुसार स्वादिष्ट भोजनों से पालित शरीर का अन्त चिता की अग्नि में होता है ।[5] खान-पान में डूबे, भगवान को भूले लोगों को उन्होंने चेतावनी भी दी है ।[5] कबीर की धारणा है कि इस संसार में दूध के रूप में प्रभु का नाम है और संसार के अन्य मिथ्या व्यवहार जल के समान है ।[6]

कबीर की मान्यता है कि जैसे नर का मांस अशुद्ध है, वैसे ही पशु का भी मांस घृणित एवं अशुद्ध है और मनुष्य के रुधिर के सदृश पशु का भी रुधिर है। मनुष्य के मांस-रुधिर को जिस प्रकार नहीं खाते हो उसी प्रकार पशु के मांस को भी नहीं खाना चाहिये ।[7] पापी लोग पूजा के नाम पर आनन्दपूर्वक बैठकर मांस

(पृ० 234 का शेष)

(ब) सिंह के भोजन कहा लुकाना । ये सब झूटे देव पुजाना ।।
—वही पृ० 143

1. हिंदु व्रत एकादशि साधैं, दूध सिंघाड़ा सेती ।
अन्न को त्यागे मन नहिं हटकैं, पारंन करैं सगोती ।।
—कबीर बीजक : शब्द 23
2. खूब खांड खींचड़ी, मांहि पड़े टुक लूंण ।
पेड़ा रोटी खाई करि, गला करावैं कोण ।।
—कबीर ग्रन्थावली : अंग 22, साखी 12
3. जिनके खाना अजव सरःहन, मिसरी खांड छुहारे का ।
अब तो लागे बखत मुजारन, टुकड़ा सांझ सवारे का ।।
—वही-भा० 3, चेतावनी : 11
4. षीर खांड़ घृत प्यंड संवारा, प्रान गए ले बाहरि जारा । —वही—पद 93
5. लूचरि लपसी संवारैं, द्वारैं ठाढ़ा राम तुकारैं —वही पृ० 135
6. बाट निहारे लोभिया गुड़ते मीठी खांड । —कबीर बीजक : साखी 48
वीर रूप हरि नांव है, नीर आन त्योहार ।
हंस रूप कोई साध है, तत का जानण हार ।।
—कबीर ग्रन्थावली, अंक 32, सा० 1
7. जस मांस नलकी तस मांस पशु की, रुधिर-रुधिर एक सारा जी ।
पशु के मांस भखे सब कोई, नलहिं भखे सियारा जी ।।
आगे पृ० 336 पर देखें

और मदिरा का सेवन करते हैं। उन्हें मुक्ति के स्थान पर नरक की यातना भोगनी पड़ती है।[1] कबीर के मतानुसार सांसारिक मदिरा का नशा क्षणिक है और ब्रह्मानन्द की मदिरा मुक्ति की ओर ले जाती है।[2]

आहार : रविदास—रविदास जी ने कहा है कि विषय वासना रूपी चींटियाँ शरीर रूपी चून खाती जा रही हैं। अब भी समय है, अभिमान तज कर, अपने आपको मिटा कर भगति में लीन हो जा। यह जीवन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है।[3] जीव व आत्मा के विरह के प्रसंग में रविदास कहते हैं—जब जीव में आत्म मिलन की विरह अग्नि प्रवज्जलित हो जाती है तो रातों की नींद तो उड़ ही जाती है, स्वादिष्ट आहार भी नहीं भाता।[4]

रविदास जी ने कहा है कि ऐसी मदिरा पीने से क्या लाभ जिसका नशा क्षण में चढ़ जाए और क्षण में उतर जाए। ऐसे "महारस" का पान करना चाहिये, जिसका नशा चढ़ने के बाद कभी न उतरे।[5]

(पृ० 235 का शेष)

बह्म कुलाल भेदिनी भइया, उपजि बिनसि कित गइया जी।
मांस मछरिया जो पै खइहौ, ज्यौं खेतन में बोइया जी।।

—कबीर बीजक : छंद 55

1. पापी पूजा बैसि करि भषे मांस मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होई।।
—कबीर ग्रन्थावली : अंग 22, साखी 13

2. हरि रस पीया जांणिये, जे कबहू न जाइ खुमार।
मैंमता घूंमय रहै, नांही तन की सार।।
—वही अंग 12, सा० 54

3. कहे 'रविदास' तेरी भगति दूर है, भाग बड़े सो पावै।
तजि अभिमान मेटि आपापर, पिपलक ह्वै चुणि खावै।।
—संत गुरु रविदास वाणी—डा० बी०पी० शर्मा पृ० 76

4. जीव तरसै इक दंगि बसेरा करहु संभाल तुम सिरजन मेरा।
विरह तपै तन अधिक जरावै, नींदड़ी न आवै भोजन नहीं भावै।।
—वही पृ० 12

5. रविदास मदुरा का पीजिये, जो चढै चढै उतराय।
नांव महारस पीजियै, जो चढै नांहि उतराय।।
—संतगुरु रविदास वाणी—डा० बी०पी० शर्मा पृ० 79

रविदास जी कहते हैं कि रात सो कर और दिन स्वादिष्ट आहार का स्वाद लेने में व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। इसी प्रतिवादों तो छोड़ कर हरि स्मरण करना चाहिये।[1]

रविदास जी ने आध्यात्मिक रंग में तो आहार का उल्लेख किया ही है। सांसारिक दृष्टि से मांसाहार का कड़ा विरोध किया है। मांसाहारी मछली पकड़ कर, उसे काटता है, रांधता है और अपना पेट भरता है किन्तु क्या जल के बिना उसका आहार पूर्ण हो जाता है ? अर्थात् नहीं होता। वह पानी को भूल नहीं पाता।[2] अपना पेट भरने के लिये लोग गाय और बकरी नित्य काटकर खाते हैं और रात दिन नवाज़ पढ़ते हैं फिर भी वहिस्त (स्वर्ग) नहीं पाते। ऐसे व्यक्ति चाहे कितना भी धर्म कर्म करें उन्हें स्वर्ग मिल ही नहीं सकता।[3]

रविदास कहते हैं कि इस जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिये यह मनुष्य व्यर्थ ही जीव मारता है।[4] इनके पास दया भाव है ही नहीं, इसीलिये पराया मांस खाते हैं। रविदास सत्य ही कहते हैं कि ऐसे मनुष्य नरक में ही जाते हैं।[5] जीवित को मार कर जो मुर्दा खाते हैं, वे मुर्दे के समान ही हो जाते हैं।[6]

रविदास ने आहार के सम्बन्ध में अति उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मैं रूखा-सूखा खाकर भी दूसरों की भूख मिटाने की कामना करता हूं। कोई

---

1. "रविदास" रात न सोइये, दिवस न करिये स्वाद।
   अह निसि हरि जो सुमरिये, छांडि सकल प्रतिवाद॥ —वही पृ० 79
2. मीनू पकरि फांकिअ अरु काटिओ, रांधि कींओ बहु बानी।
   खंड खंड करि भोजनु कीनो, तउ न बिसरिओ पानी॥—वही पृ० 89
3. रविदास जउ पोषणह हेत गनु, बकरी नित खाया।
   पढइं नमाजै रात दिन तवहु भिस्त न पाय॥
   —रविदास दर्शन—आज़ाद पृ० 182
4. रविदास जिम्या स्वाद बस जउ मांस मछरिया खाय।
   नाहक जीव मारन बदल आपन सीस कटाय॥ —वही पृ० 185
5. (अ) दया भाव हिरदै नहीं भखहिं पराया मास।
   ते नर नरक मंद जाइहिं सत भाशै रविदास॥
   —रविदास दर्शन-आज़ाद—पृ० 186
   (ब) अपनह गीव कटा इहिं जो मांस पराया खांय।
   रविदास मांस जो खात है ते नर नरक हि जांय। —वही पृ० 187
6. जीवत कूं मूरदा करहि अरु खाइहिं मुरदार।
   मुरदा सम सभ हो इहिं करी रविदास विचार॥ —वही पृ० 188

दुःखी न हो, सब सुख से रहें।[1]

आहार : दादू—दादू दयाल जी ने शरीर संचालन के निमित्त भोजन का महत्व बताया है। वे कहते हैं कि शरीर को उतना ही भोजन दिया जाये जिससे मन शान्त हो जाये, और मन राम भक्ति में रम जाये।[2] दादू दयाल जी का भोजन आदर्श है कि आहार में लिप्तता न हो वे कहते हैं कि राम भक्ति में आहार लालसा बाधक न बने।[3] सात्विक भोजन का आत्म ज्ञान में महत्व स्वीकार किया है।[4]

दादू दयाल जी ने लिखा है कि गुरु ज्ञान के अभाव में सभी प्रकार के रस विष तुल्य हैं।[5]

दादू दयाल ने मांसाहार का विरोध करते हुए कहा है कि मांस खाने वाले और जंगली जानवरों में कोई अन्तर नहीं है। वे सिंह, सियार, कुत्ते, बिल्ली की तरह हैं[6] मांस खाने वाला प्रायः मद्य का भी पान करता है और उसमें अन्य विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, दादू दयाल जी कहते हैं कि बिना राम की कृपा करे दया भाव भी उत्पन्न नहीं होता।[7]

आहार : मलूकदास—मलूकदास ने मांसाहार का विरोध करते हुए कहा है कि पीड़ा सभी की समान है। इस तथ्य को मांस खाने वाला मूर्ख नही जानता।

---

1. मैं रूखी सूखी खाऊं, औरन की भूख मिटाऊं।
   कोई परै ना दुख की पास, सब सुखी बसैं रविदास॥ —वही पृ० 100
2. दादू भोजन दीजै देह कौ, लीया मन विसराम।
   साधु के मुख में लिये, पाया आतम राम॥ —दादूदयाल पृ० 53
3. दादू कहता सुणता राम कहि, लेता देता राम।
   खाता पीता राम कहि, आत्म केवल विसराम॥ —वही पृ० 76
4. बाचा बंधी जीव सब, भोजन प्राणी घास।
   आतम ज्ञान न ऊपजै, दादू करहि बिन सार॥ —वही पृ० 109
5. घर-घर घट कोल्हू चलै, अमी महा रस जाइ।
   दादू गुरु के ज्ञान बिन, विषै हलाहल खाइ॥ —दादूदयाल पृ० 57
6. दादू मांस अहारी जे नरा, ते नर सिंह सियाल।
   बग, मंजार, सुनहा, सही एता परतषि काल॥ —वही पृ० 108
7. मांस अहारी मद पियै, विष विकारी सोई।
   दादू आतम राम बिन, दया कहा थै होई॥ —वही पृ० 108

कांटा चुभने से वह चीख उठता है किन्तु दूसरों का गला काट कर खाता है।[1]

जो व्यक्ति संध्या के समय बिना दीपक जलाये अर्थात् अंधेरे में भोजन करता है, वह देव का मारा व्यक्ति अत्यन्त मूढ़ होता है।[2]

आहार : सुन्दरदास—सुन्दरदास कहते हैं कि भूख इन्द्र, सुर, असुर, राजा, रंक तीनों लोकों को नचाती है। सभी ओर दुःख से पीढ़ित हैं। ज्ञान के बिना कहीं सुख नहीं है।[3] उनके अनुसार पेट ऐसा चूल्हा अथवा भाड है, जिसमें सभी कुछ जल जाता है। यह पेट ताल, तलैया अथवा सागर है, जिसमें जितना जल डालो सभी समा जाता है। यह पेट दैत्य है या भूत-प्रेत जो सदा खाउ-खाउ करता रहता है और खाने में तनिक नहीं थकता। सुन्दरदास कहते है कि इस पेट में कौन सा पाप है कि जब से जन्म हुआ तब ही से खाने में लगा है।[4]

---

1. पीर सभन की एक सी मूरत जानत नाहिं।
   कांटा चूभे पीर ह्वै, गला काट कोउ खाय ।।
   —संतवानी संग्रह—भाग-1—पृ० 98
2. संझा होय करो तुम भोजन, बिनु दीपक के बारे।
   जौन कहै असुरन की बेरिया, मूढ़ दई के मारे ।।
   —मलूकदास की बानी—पृ० 18
3. भूख नचावत रंक हि रावहि।
   भूख नचाइ के विस्व विनोई।
   भूख नचावत इन्द्र सुरासुर,
   और अनेक जहां लग जोई ।।
   भूख नचावत है अध ऊर्धहिं,
   तीन हु लोक गिनै कहा कोई।
   सुन्दर जाइ तहां दुख की दुख,
   ज्ञान बिना न कहूं सुख होई ।। —सुन्दरविलास पृ० 35
4. किधौं पेट चूल्हो कीधौं, भठि किधौं भाड़ आहि।
   जोई कछु झोंकिये, सु सब जरि जातु है ।।
   किधौं पेट थल किधौ, वापि किधों सागर है।
   जेतो जल परै तेतो, सकल समातु है ।।
   किधौं पेट देत किधौं, भूत प्रेत राच्छस है।
   खाऊं-खाऊं करै कछु, नेक न आधातु है।
   सुन्दर कहन प्रभु, कौन पाप लायो पेट।
   जबही जनम भयो, तब ही को खातु है ।।
   —संतबानी-भाग-2—पृ० 107

मनुष्य अन्न को खाता है, अन्न मनुष्य को खा रहा है किन्तु फिर भी दोनों की तृष्णा शान्त नहीं होती।[1]

सुन्दरदास जी मांस आहार के विरोधी हैं। वे कहते हैं कि इस पेट को भरने के लिये मनुष्य जीव हत्या करके मांस भक्षण करता है और मदिरा पान करता है। यह पेट मनुष्य से चौरी और ठगी कराता है, जुवा खिलवाता है। इस प्रकार वह अज्ञान के अंध कूप में धकेल देता है। अतः इस पेट से बड़ा पापी कोई नहीं है।[2]

सुन्दरदास के अनुसार तीनों लोकों में प्राणी आहार करते हैं और सात समुद्रों का जल पी जाते हैं। पेट भरने पर दूसरों को आंख दिखाता है, दांत दिखाता है। आहार करते-करते कितने दिन बीत गये। किन्तु तृष्णा न मिटी।[3]

सुन्दरदास कहते है कि भोजन की बात कानों में पड़ते ही व्यक्ति मुदित हो

---

1. कनही कन कू बिललात फिरै,
सठ याचत है जनही जन कूं।
तन ही तन कू अति सोच करै,
नर खात रहै अनही अन कूं।
मन ही मन की तृस्ना न मिटी।
पुनि धावत है धन ही धन कूं।
छिनही-छिन सुन्दर आयु घटी,
कहूं न रोया बनहीं बन कूं। —वही पृ०

2. पेटहि कारण जीव हने बहु, पेटहि मांस भख रू सुरा पी।
पेट ही लेकर चोरि करावत, पेटहि कूं गठरी गहि कापी॥
पेट हि पास गेर महं डारत, पेटहि डारत कूप रू वाणी।
सुन्दर कहि कूं पेट दियो प्रभु, पेट सों और नही कोई पापी॥
—सुन्दर विलास—पृ० 41

3. तीन हूं लोक अहार कियो सब,
सात समुद्र पियो पुनि पानी।
और जहां तहं ताकत डोलत,
काढ़त आंख डरावत प्रानी॥
दांत दिखावत जीभ हलावत,
याहि तें मैं यह डाकिनि जानी।
सुन्दर खात भये कितने दिन,
हे तृस्ना अजहूं न अघानी॥ —सुन्दर विलास—पृ० 36

उठता है। भोजन प्राप्त करने से पूर्व ही राल टपकने लगती है। भोजन के लिए वह पाक सामग्री एकत्रित करता है।[1]

सुन्दरदास जी कहते हैं कि प्रेम पूर्वक भक्ति करने से ही हरि प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार भूख लगने पर ही अन्न का महत्व है और बिना प्रेम के स्वाद नहीं है।[2]

सुन्दर दास ने मछली-बगुला, चूहा-सांप, तोता-बिल्ली आदि माध्यम से भी आहार को स्पष्ट किया है।[3] पंच इन्द्रियों के प्रपंच ही मनुष्य से अन्य व्यसनों के समान मांसाहार कराते हैं।[4]

आहार : नानक—डॉ० धर्मपाल मैनी ने लिखा है कि गुरू नानक ने राजसी ठाठ बाट से रहने वाले मलिक "भागों के पकवान अस्वीकार कर के अपने परिश्रम

---

1. भोजन की बात सुनी, मन में मुदित भयो।
मुख मे न परे जौ लौं, मेलिये न ग्रास है।।
सकल सामग्री असि, पाक कूं करन लागों।
मनन करत कब, जीम हूं ये आस है।।
पाक जब भयो तब, भोजन करन बैठो।
मुख में मेलत जाइ, यही निदिध्यास है।।
भोजन पूरन करि, तृपत भयो है जब।
सुन्दर साक्षात्कार, अनुभव प्रकास है।। —सुन्दर विलास पृ० 150
2. प्रीति सहित जै हरि भजैं, तब हरि होहिं प्रसन्न।
सुन्दर स्वाद न प्रीति बिन, भूख बिना ज्यों अन्न।।
—संतबानी संग्रह भाग—1—पृ० 103
3. मछरी बगला कूं गहि खायो, मूसा खायो कारो साँप।
मूवे पकरि बिलाई खाई, ता के मुवे गयो संताप।।
बेटी अपनी मैया खाई, बेटे अपने खायो बाप।
सुन्दर कहै सुनौ हो सन्तो, तिन कूं कोउ न लाग्यो पाप।।
—सुन्दर विलास—पृ० 78
4. करत प्रपंच इन पंचरि के बस परयो,
पर दारा रत भय न आनत बुराई को।
परधन हरै पर जीव की करत घात,
मद्य मांस खाय लव लेस न भलाइ को।। —सुन्दर विलास—पृ० 17

से अर्जित करने वाले भाई लाखो के सादे भोजन को अपनाकर संदेश दिया।[1] इस प्रकार गुरू नानक ने परिश्रम के सादे भोजन को अपना कर अकर्मण्यता का विरोध कर कर्मण्यता का महत्व स्थापित किया।

गुरू नानक कहते हैं कि चाहे सोने का चौका हो और सोने ही की गागरें, सोने के चौके के चारों और चाँदी की लकीर बहुत विस्तार के साथ खींची गई हो, गंगा जल पीने के लिए उपलब्ध हो तथा यज्ञ की पवित्र अग्नि से भोजन पकाया गया हो। कोमल भोजन दूध में मिलाकर खाया जाय तो भी संतुष्टि नहीं। राम नाम में अनुरक्त हुए बिना सब कुछ व्यर्थ है।[2] सच्चा भोजन मिलने पर ही साधक तृप्त होता है। "नाम" रूपी रत्न प्राप्त होने पर ही बड़ाई मिलती है।[3]

गुरु नानक कहते हैं कि संसार में असंख्य म्लेच्छ ऐसे है, जो अखाद्य भक्षण करते हैं।[4] इस प्रकार नानक ने मांस आहार का विरोध किया है। उन्हें खेद है कि मनुष्य रात तो सो कर और दिन खाने-पीने में बिता देता है। अपने अनमोल जीवन को कौड़ियों के मौल बेच रहा है।[5] अन्न त्याग कर मनुष्य बादाम, फल आदि में रस लेता है और इसे तप का नाम देता है।[6]

---

1. गुरु नानक और उनका काव्य—सं० डॉ० महीपसिंह (गुरु नानक की सामाजिक देन)—पृ० 84
2. सुइने का चउका कंचन कुआर। रूपे कीआ कारा बहुतु बिस थारू।
   गंगा का उदक करँते की आग। गरूड़ा खाणा दुध सिउ लाडि (1)
   रे रन लेखै कबहू न पाइ। जानि न भीजै साच नहि (2)
   रहाउ—नानक वाणी-702
3. भोजनु साचु मिलै अघाई। नामु रतु साची वडिआई।।
   चीवै आपु पछाणै सोई जोतीं जीति मिलाई है (7) —वही 617
4. असंख मलेछ मलु भाखि खाहि। —वही—पृ० 87
5. रैण गवाई सोई कै, दिवस गवाया खाया।
   हरि जैसा जनमु है, कउडी बदले जाय।। —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 81
6. अंन छांड़ि करि तपे कहावै, रसकु स स्वाद सवै कुछ पावै।
   पांवै संकर ते विदाम, तिन परि लागैं बहुते दाम।
   पांवै पीवै डोडानी अषरोट, थांपै गिरी छुहारे कोट।
   पांवै पोन पिंडालौं घणां, कंद मूल अरु केता गिणौं।

आगे पृ० 343 पर देखें

जुवा : महावीर

जूवा एक सामाजिक बुराई है। किन्तु महावीर ने इसका उल्लेख आध्यात्मिक भावाभिव्यक्ति के लिए किया है। महावीर कहते हैं कि जो निपुण जुआरी है, वह "कृत" नामक स्थान ही ग्रहण करता है. "कलि" "द्वापर" और "त्रेता" को नहीं और जुआरी जूवे में कभी पराजित नहीं होता। इस जुआरी से प्रेरणा लेकर मनुष्य पण्डितों द्वारा इस लोक के लिए बताए गये उत्तम और अनुत्तम धर्म को ही अपने हित में ग्रहण करे। उसे इन्द्रिय विषयों को छोड़ देना चाहिये। ठीक उसी प्रकार जैसे कुशल जुवारी "कृत" के सिवा अन्य स्थानों को छोड़ देता है।[2]

जुवा : नामदेव—सन्त नामदेव ने जुए को सामाजिक बुराई के रूप में बताया है वे इसे धर्मनिष्ठ व्यापार न मानकर ठग्गी का धन्धा मानते हैं जुआरी तो केवल पासा फेंक कर ही धन ही छीन लेता है। सन्त-नामदेव ने जुए का कड़ा विरोध किया है।[3]

सन्त नामदेव ने जुए अर्थात बाजी का आध्यात्मिक रूप में भी किया है यह सारा संसार उस बाजीगर (जुआरी) का खेल है जिसे खेलने की कला उसने अपने

(पृ० 343 का शेष)

राति दिवस पसु आ ज्यौं चरै, पाषंड करै पेट यौं भरै।
ऐसे तपै न पावै जोग, तिनकौ देषि भूला अंधला लोग।
येक सेर का करै अहार, तित परि कौन घरै पिआर।
घर में छांड़ै अपना देव, बाहरि करै विडांणी सेव।
ऐसे मूंढ़ बसै कलि मांहि, ढेंहा मार अनं नहिं षांहि।
नानक जपिये येको नांव, साचे साहिब की बलि जांव (37)
—गुरु नानक वाणी (गु०ग्र०के०अ०)—डॉ० बी०पी० शर्मा—पृ० 23-24

1. कुजए अपराजिए जहाँ अक्खेंहि कुसलेहिं दीवयं।
कडमेव गहाय णो कलि णो तेयं णो चेव दावरं॥
एवं लोगम्मि ताइणा बुइए जें धम्में अणुत्तरे।
तं गिण्ह हियं ति उत्तमं गउमिव सेसऽवहाय पंडिए॥
—सु० 1, (2) : 2 : 23-24

2. जिऊ बिखई हेरै परनारी।
कउंडा डारत हिरै जुआरी॥—आदि ग्रन्थ—पृ० 837

हाथ में सुरक्षित रखी है, जो किसी को दिखायी नहीं देती, जो उसके इस खेल को जान लेता है वह सुखी हो जाता है अन्यथा सब दुखी रहता है ।[1]

जुवा : कबीर—कबीर दासजी ने भी जुए का प्रयोग आध्यात्मिक रूप में ही किया है वे कहते हैं कि मैंने चौराहै पर चौपड़ बिछा दी है जिसके इधर-उधर बाजारों का आकर्षण है अर्थात सांसारिक आकर्षण है, राम जन ही सोच समझ कर इस चौपड़ पर जुआ खेल सकता है ।[2]

इस जुए को और अधिक स्पष्ट करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि मैंने प्रेम का पासा हाथ में धारण कर लिया है और शरीर को चौपड़ बना लिया है जब स्वयं गुरु ही मुझें दाव बता रहे हैं तब मुझें हराने वाला कौन है ।[3]

जुवा :दादू—दादू कहते हैं कि मनुष्य भ्रम के कारण कांच को कंचन समझता है । जीवन के जूवे में हीरा हार कर कौड़ी पाता है । उसे सच्चे की परख नहीं इसीलिये हानि उठाता है । उसे विष और अमृत का ज्ञान नहीं है । सार हीन सेंवल के फूल को देखकर फूला नहीं समाता । किन्तु वह नही जानता की जीवन तो पल-पल घटता जा रहा है ।[4]

जुवा : सुन्दरदास—सुन्दर दास कहते हैं कि सुजान अति चतुर और प्रवीण

---

1. बाजीगर ने बाजी पाई । कला अपने हाथ रखी, लखी न जाई ।
   बाजी को जाने, जउ सुखिया सेई दावा बांकि नामा दुनिय सम रोई ।
   —पृ० 133
2. चौपडि मांडी चौहटे अरध उरध बाजार ।
   कहै कबीर राम जन खलौं संत विचारि ।। —क०ग्र०पृ०—6
3. पासा पकड्या प्रेम का सारी कीया सरीर ।
   सतगुरि बता इया, खेलेदास कबीर ।।—वही पृ०—6
4. राम बिसारयो रे जग नाथ ।
   हीरा हार्यो देखत हीरे, कौडी कीन्ही हाथ ।।
   काया हुता कंकन करि जानैं, भूल्यौ रे भ्रम पास ।
   साचे सौ पल परचा नाहीं, करि काचे की आस ।।
   विषता कौ अमृत करि जानै, सो संगन आवै सत्य ।।
   सेंवल के फूलन पए फूल्यौ, चूक्यौ अब की घात ।
   हरि भजि रे मन सहज पिछानी, ये सुनि साची बात ।
   दादू रे इब थैं करि लीजै, आव घटैं दिन जात—दादूदयाल—पृ० 39

है। उसका मोह कूवे में धकेलने वाला है। दूसरी ओर तेरे जन्म-जन्म का फल मानव योनी है। मन बड़ा चंचल है। गोविंद के गुणगान करके ही यह जूवा जीता जा सकता है।[1] उनके अनुसार जीवन गीली मिट्टी के ढेंले के समान ढहता जा रहा है। भक्ति मार्ग निकट है। हे मनूष्य सावधान हो जा। अन्तिम समय तो हरि भजन कर, कुछ सुकृत कर ले। जूवे में बाजी लगाने का समय आ गया है। मानुष जन्म जीत ले या हार जा, अब तेरे हाथ है।[2]

जुवा : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार यह संसार ब्रह्म रूपी बाजीगर के द्वारा फैलाया हुआ चौपड़ का खेल है। इस बाजी में भूल चूक स्वाभाविक ही है। सामान्य मनुष्य इस बाजी को जीत नहीं सकता।[3]

जुवा : नानक—गुरु नानक ने संसार के लोगों को जुआरी के रूप में देखा है क्योंकि सभी सुख तो चाहते हैं, किन्तु "नाम" को भूल बैठे हैं, जबकि सुख देना "नाम" के हाथ में है।[4] जो वास्तव में "नाम" में रत है, वह तो बैरागी है। वह

---

1. तो सही चतुर सुजान परवीण अति,
परैं जिनि पिंजरे मोह कूवा।
पाय उत्तम जनम लाय ले चपल मन,
गाय गोविंद गुण जीत जूवा॥
आप ही अज्ञान नलिनी बंधो,
बिना प्रभु विमुख कै बेंर मूवा।
दास सून्दर कहै परम पद तौ लहै,
राम हरि राम हरि बोल सूवा॥ —सुन्दर विलास—पृ० 8
2. घरी घरी घटत छीजत जात छिन छिन,
भीजत ही गली जात माटी को सो ढेल है।
मुकति के द्वार आइ सावधान क्यूं न होइ,
बार बार चढ़त न त्रिया को सो तेल है॥
करि ले सुकृत हरि भजि ले अखंड नर,
याही में "अंतर" परे या में ब्रह्म मेल है॥
मानुष जनम यह जीत भावै हार अब,
सुंदर कहत या में जुवा को सो खेल है॥ —सुन्दर विलास—पृ० 12-13
3. बाजीगरै पसारी बाजी।
भूल भुलायो सब काजी॥ —मलूकदास की बानी—पृ० 20
4. ऐसा जगु देखिआ जुआरी।
सभि सुख मागै नामु बिसारी॥ —नानक वाणी—पृ० 222

कभी भी जीवन रूपी जूए की बाजी में अपना जन्म नहीं हारता। वह "नाम के" अमृत में मस्त रहता है।[1]

गुरु नानक कहते हैं कि मनुष्य सांसारिक प्रपंचों में पड़ कर जीवन की बाजी हार जाता है।[2] वह यहां अहंकार की चौपड़ खेलता है और हार कर ही गुरु के उपदेश की ओर ध्यान देता है।[3] किन्तु इस खेल में जीवन रूपी गोटियां समाप्त होने के उपरान्त पछतावा हुआ भी तो क्या ? मनुष्य जनम की गोट अब न जाने कब हाथ आयेगी, जो थी उसे व्यर्थ में खो दिया।[4]

गुरुनानक के अनुसार यह राज्य का सुख, धन-सम्पदा और यौवन सब कुछ जुवारी के धन के समान क्षण भंगुर हैं। यह नहीं भूलना चाहिये कि समस्त प्राणी परमात्मा की आज्ञा से सृष्टि रूपी चौपड़ पर अपनी-अपनी मुहरों के पासे खेल रहे हैं।[5]

गुरुनानक मनुष्य को चेतावनी देते कहते हैं कि बहुमूल्य जन्म जूवे में कभी न हारे।

विनय : महावीर

विनय जिन शासन का मूल है। इसके द्वारा संयम और ज्ञान की सिद्धि होती है। विनय रहित का धर्म और तप भी नहीं होता है।[6] महावीर के अनुसार खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना तथा गुरुजनों की भक्ति और भावपूर्वक सेवा

---

1. सिफती रता सद बैरागी जूऐ जनमु न हारै।
कहु नानक सुणि भरथरि जोगी खीवा अंमृत धारै॥
—गुरुनानक वाणी (गु०ग्र०के०अ०)—पृ० 32
2. बिरथा जनमु गवाइआ बाजी हारी।
सत गुरु सेवे करणी सारी॥ —नानक वाणी—279
3. हउमै चउपड़ि खेलणा झूठे अहंकार।
सभु जगु हारै सो जिणै गुर सबदु वीचारा॥ —वही पृ० 307
4. पछोतावा ना मिलै जब चूकै गी सारी।
ता फिरि पिआरा रखीऐ जब आवैगी वारी॥ —नानकवाणी—पृ० 432
5. राजै रंक रूप मालै जीबनु ते जुआरी।
हुकमी बाधे पासै खेलहि चउपडि एका सारी॥ वही पृ० 605
6. विणयो सासणमूलो विणयादो संजमो तवो णाण।
विणयेण विप्पहूणस्स कुदो धम्मो कुदो य तवो॥ —मू० 7 : 104

करना विनय है ।[1] महावीर के विनय को स्वयं तप और श्रेष्ठ धर्म मानते हुए आत्म हितैषी साधक को विनय में स्थिर होने को कहा है ।[2] उनका कहना है कि बड़ों के साथ सदा विनयपूर्ण व्यवहार करना चाहिये ।[3]

महावीर के मतानुसार जो शिष्य गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, उनके निकट रहता है और उनके इशारे पर तथा उनकी इच्छा को समझ कर उसके अनुकूल कार्य करता है वह विनीत कहलाता है ।[4] विनीत दो प्रकार के होते हैं—अविनीत और सुविनीत ।

जो चण्ड है, अज्ञ है, स्तब्ध है, अप्रियवादी है, मायावी है और शठ है, वह अविनीतात्मा संसार के प्रवाह में उसी प्रकार प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ काष्ठ ।[5] अविनय भाव बांस के फूल की तरह स्वयं के लिए विनाश का कारण बनता है ।[6] महावीर ने अविनीत के चौदह दोषों का उल्लेख किया है ।[7]

1. जो बार-बार क्रोध करने वाला है ।
2. जो क्रोध का प्रबन्ध करता है ।
3. जो मित्रता करने वाले को छोड़ता है ।
4. जो श्रुत ज्ञान प्राप्त कर अभिमान करता है ।

---

1. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरण तहेवासणदायणं ।
   गुरुभक्ति भावसुस्सूवा विणओ एस विसाहिओ ।। —उ० 30 : 32
2. विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंती हिंयमप्पणे । —उत्त० 1/6
3. रामणिएसु विणयं पउजे । —दश० 8/40
4. आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए ।
   इगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ।। —उत्त० 1/2
5. जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सदे ।
   वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा ।। —दश० 9/2/3
6. सो चेव उ तस्स अभूइ भावो, फलं व की अस्स वहाय होइ । —दश० 9/1
7. अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्ठमाणी उ संजए ।
   अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ ।।
   अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई ।
   मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयँ तद्धूण मज्जई ।।
   सुप्पियस्साविं मित्तस्स रहे भासइ पावंग ।।
   पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
   असंविभागी अचियत्ते अविणी········· ।। —(उ० 11 : 6-9)

5. जो दोषी का तिरस्कार करता है।
6. जो मित्र के साथ कुपित होता है।
7. जो सुप्रिय मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है।
8. जो असम्बद्ध बोलने वाला है।
9. जो द्रोही होता है।
10. जो अहंकारी होता है।
11. जो लोलुप होता है।
12. जो अजितेन्द्रिय होता है।
13. जो असविभागी होता है।
14. जो अप्रतीतिकर होता है। आदि अविनीत कहलाते है। महावीर ने वाचिक विनय के अन्तर्गत—पूज्य वचन बोलना, हितकर बोलना, कम बोलना, मीठा बोलना, आगम के अनुसार बोलना, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन न बोलना. क्रोधादि रहित वचन बोलना, आरम्भ रहित वचन बोलना, असि आदि की क्रिया से असम्पृक्त वचन बोलना तथा अवहेलना रहित वचन बोलने को स्वीकार किया है।[1]

महावीर के अनुसार जो मनुष्य विनय से रहित है, उसकी सारी शिक्षा ही व्यर्थ है। शिक्षा का फल ही विनय है और विनय ही सम्पूर्ण कल्याण है।[2]

महावीर के अनुसार काय-विनय के सात भेद हैं—1. आचार्य आदि को देखकर उठना, 2. नमस्कार, 3. आसनदान, 4. ग्रन्थ आदि देना, 5. भक्ति पूर्वक शील आदि का विवरण, 6. ऊंचे आसन आदि का त्याग, 7. दूर तक साथ जाना।[3]

मानसिक विनय के सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि हिंसादि आदि का त्याग और सम्यक्त्व आदि का विराधना के परिणाम का त्याग और हित में लगना मानसिक विनय कहलाता है।[4] उन्होंने मानसिक विनय के दो भेद बताये है—अकुशल

---

1. पूयावणं हिदभासण च मिदभासणा च मधूरं च।
सुत्तागुवीचिवणं अणिट्ठुरम कक्कसं वयण॥
अवसंतवयणमगिहत्थण मकिरियभ महीलणंव यणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो॥ —मू० 377, 378
2. विणएण विप्पहीस्स ह्वादि सिक्ख णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाण॥ —मू० 385
3. अब्भुट्ठाणं सण्णादि आसणदाणं अणुप्पदाणं च।
किदियम्मं पडिरूव आसण चाओ य अणुव्वाजणं॥ —मू० 382
4. पापविसोतियपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसियो विणओ॥ —मू० 379

मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति ।[1]

विनय रहित मनुष्य की दुर्दशा कुतिया और सूअर के समान होती है । अतः महावीर कहते हैं कि आत्मा का हित चाहने वालों को विनय का मार्ग ग्रहण करना चाहिये ।[2] महावीर के अनुसार आर्जव, मार्दव, लोभ का त्याग, गुरुओं की भक्ति, विनयशील मनुष्य के गुण हैं । इनके अतिरिक्त कीर्ति, मैत्री, गर्व त्याग, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन, गुणों में प्रमोद आदि गुण भी विनयशील में प्रकट हो जाते हैं ।[3] धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय और फल मोक्ष है । विनय से मनुष्य को उक्त समस्त तत्वों की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है ।[4]

महावीर के अनुसार शिक्षा में विनय का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है । वास्तव में शिक्षित वही है जो विनयशील है । सूत्र में उन्होंने कहा है कि अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है ।[5]

महावीर के मतानुसार कलह और जीवहिंसा का वर्जन करने वाला व्यक्ति ही सुविनीत कहलाता है ।[6] सुविनीत में निम्न गुण होते हैं—

1. वह नम्र होता है ।
2. वह चपल नहीं होता ।
3. वह मायावी नहीं होता ।
4. वह कौतूहल नहींक रता ।
5. वह किसी का तिरस्कार नहीं करता ।
6. वह क्रोध को टिकने नहीं देता ।
7. मित्रता करने वालों के साथ मित्र भाव रखता है ।

---

1. हिदमिदपरिमिवभाषा अणुवीची भासणं च बोधव्य ।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ।। —मू० 383
2. सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ।। —उ० 1 : 6
3. (अ) अज्जवमद्दवलाहवभत्ती पल्लादकरण च —मू० 387 ग,'घ
(ब) कित्तो मेत्ती भाणस्स भंजणं गुरुजणे व बहुमाणो ।
त्तिथ्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ।। —मू० 388
4. एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण कित्तिं सुयं, सिग्धं, निस्सेसं चाभिगच्छई ।। दश० 9/2/2
5. विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ ।। द० 9 (2) : 21
6. तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ । —उत्त० 1/7

8. मित्र पर कुपित नहीं होता।
9. अप्रिय मित्र की भी एकान्त में बड़ाई करता है।
10. वह कलह और हाथापायी का वर्जन करता है।
11. वह कुलीन होता है।
12. वह लज्जाशील होता है।
13. वह प्रतिसंलीन होता है (इन्द्रिय और मन को गुप्त रखने वाला)[1]

महावीर ने धर्म का मूल विनय माना है।[2] अतः महावीर ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि धर्म गुरुओं के प्रति सदा विनय भाव रखना चाहिए।[3] और उन्हें देखते ही वन्दन नमस्कार करना चाहिये।[4]

प्रायः दुर्बुद्धि अविनीत शिष्य गुर जनों की शिक्षाओं का बुरा मान जाता है।[5] जबकि गुरुजनों के शिक्षा देने पर उन्हें कुपित और क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।[6] जबकि प्रज्ञाशील शिष्य आचार्य को क्रोधित हुए जानकर भी प्रीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करता है। हाथ जोड़ कर उन्हें शान्त करता है।[7] महावीर ने कहा है कि विनय सम्पन्न शिष्य गुरु द्वारा बिना प्रेरणा दिये ही कार्य करने में प्रवृत्त होता

---

1. अह पन्नसहिं ठाणेहिं सुविणीए हि वुच्छई।
नीयावती अचवले अमाई अकुऊहले॥
अप्पं चाडहिविखवई पवन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणों भव्ई सुय लद्धु न मज्जई॥
न य पावपरिक्खुवी न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियहसावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई॥
कलहडमावजजए बुद्धे अभि जाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई॥ —उ० 11 : 10-13
2. विणयमूले धम्मे पन्नत्ते—ज्ञाता० 1/5
3. जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे। —दश० 9/1/12
4. जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा,
तत्थेव वंदिज्जा नमं सिज्जा। —राज प्र० 4/76
5. हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होई असाहुणो।—उत्त० 1/28
6. अणुसासिओ न कुप्पिजा। —उत्त० 1/·
7. आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्झ पंजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्तिय॥ —उत्त० 1/41

है वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पाकर शीघ्र ही उनके उपदेशानुसार सभी कार्य भली भांति सम्पन्न कर देता है।[1]

महावीर ने चिकित्सा के क्षेत्र में भी विनय की स्थापना की है, उन्होंने स्पष्ट आदेश दिया है कि रोगी की सेवा के लिए सदा जागरूक रहना चाहिये।[2]

विनय : कबीर—कबीर ने अभिमान और पाखण्ड छोड़कर विनम्रता ग्रहण करने की प्रेरणा दी। उन्होंने विनम्रता को कई रूपको के द्वारा प्रस्तुत किया है। कभी वे अपने आपको राम के पिंजड़े में बन्द तोता मानते हैं।[3] तो कभी हरि का हाथी।[4] समाज के प्रति विनम्रता प्रदर्शन ही कबीर का उद्देश्य रहा है।

विनय : सुन्दरदास—वचन विनय के सम्बन्ध में सुन्दरदास का मत है कि वचन का यदि विवेचन से प्रयोग न किया जाये तो उनसे हित के स्थान पर बहुत बड़ा अहित हो जाता है। इनसे विरोध, राग-द्वेष आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। वचन के भेद विभिन्न हैं। ये बन्धन भी निर्मित करते हैं और बन्धन मुक्त भी कर देते हैं।[5]

वचन विनय के कारण ही गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र प्यारे हो जाते हैं। इनके कारण नारी-पुरुष स्नेह बन्धन में बन्ध जाते हैं। वचन राजा रंक का भेद समाप्त

---

1. वित्ते अचोइए णिच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
   जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया॥ —उत्त० 1/44
2. गिलाणस्स अगिलाए सेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयत्वं भवई। —स्था० 8
3. तुम्ह प्यंजरा मैं सुवनां तोरा। —क०ग्र०पृ० 96
4. काहे की हो साथी। हूं हाथी हरि केरा॥ —वही पृ० 132
5. बचन ते दूर मिलै, बचन विरोध होइ।
   बचन ते राग बढै, बचन तें दोष जू॥
   बचन ते ज्वाला उठै, बचन सी जल होइ।
   बचन तें मुदित, बचन ही तें रोष जू॥
   बचन तें प्यारौ लगै, बचन तें दूर भगै।
   बचन तें मुरझांय, बचन तें पोष जू॥
   सुंदर कहत यह, बचन को भेद ऐसो।
   बचन तें बंध होत, बचन तें मोष जू॥ —सुन्दर विलास—पृ० 68

कर देते हैं। सुवचन प्रीति बढ़ाते हैं और कुवचन प्रीति घटाते हैं।[1]

सुन्दरदास कहते हैं कि अविनीत जब बोलते हैं तो ऐसा लगता है जैसे पशु बोल रहे हों। उनके बोलने का ढंग बेहूदा होता है। बहुत से तो रात दिन बकते रहते हैं। जब वे बकते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कूवे में मेंढक बोल रहे हों। इस संसार में लोग भिन्न प्रकार से बोलते रहते है। अनेक मुखों से अनेक प्रकार के वचन उच्चारित होते रहते हैं। किन्तु सुन्दरदास के अनुसार तो वास्तविक वचन वही है, जो विवेक अर्थात विनय युक्त होते हैं।[2]

सुन्दरदास कहते है कि विनयशील वचनों का प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिये जिस प्रकार दूध मथ कर घृत ग्रहण कर लिया जाता है और छाछ को छोड़ दिया जाता है अथवा जिस प्रकार मधुमक्खी और भ्रमर सुबास ग्रहण करते हैं, व्यर्थ त्याग देते है। वचनों के तो अनेक प्रकार हैं, उन्हें विवेक से ही चुनना चाहिये।[3]

---

1. बचन ते गुरु सिष्य, बाप पूत प्यारो होइ।
बचन ते बहुत विधि, होता उतपाठ है॥
बचन तें नारी अरु, पुरुष सनेह अति।
बचन तें दोऊ आप आप में रिसात है॥
बचन तें सब भाइ, राजा के हजूर होई।
बचन तें चाकर हूं, छोड़ि के पलात हैं॥
सुन्दर सुबचन, सुनत अति सुख होई।
कुबचन सुनतहि, प्रीति घति जात हैं॥ —सुन्दर विलास—पृ० 68-69
2. और तो बचन ऐसे, बोलत हैं, पसु जैसे।
तिन के तो बोलिबे में, ढंग हूं न एक है॥
जैसी बिधि कूप में, बकत मानो भेक है॥
बिबिधि प्रकार करि, बोलत जगत सब।
घट-घट प्रति मुख, बचन अनेक हैं॥
सुंदर कहत ता तें, बचन बिचारि लेहु।
बचन तो वहै जा में, पाइये बिवेक है॥ —वही पृ० 67
3. जैसे हंस नीर कूं, तजत है असार जानि।
सार जानि छीर कूं, निरोलो करि पीजिये॥
जैसे दधि मथत मथत काटि लेत घृत।
और रही मही मही सब छाछ छड़ि दीजिये॥
जैसे मधुमच्छिका, सुबास कूं भ्रमर लेते।
तैसे ही बिचार करि, भिन्न भिन्न कीजिये॥ —सुन्दर विलास—पृ० 67

सुन्दरदास कहते हैं कि कहने से पूर्व मन में विचार कर लेना चाहिये। एक दम कहना उचित नहीं है। सुवचनों को संभाल कर बोलना चाहिये। मन में पहले तौल लेना चाहिये बाद में कहना चाहिये। इस संसार में कटु वाणी से दुःख सभी को होता है, सुखी कोई भी नहीं होता। फिर अपने वचनों से व्यर्थ ही दूसरों की छाती पर आघात क्यों किया जाये। सोच समझकर रसयुक्त वचन बोलने के लिये ही अपने मुख रूपी कपाट खोलने चाहिये।[1]

सुन्दरदास सम्यक्त्व के लिये विनय भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह लोक अग्नि के समान और इन्द्र लोक बिहन जैसा है। कीर्ति और कलंक दोनों ही ठगारी हैं। हे प्रभु मुझे ऐसी बुद्धि प्रदान कर, कि दोनों प्रकार की वासना का अन्त हो जाए यही मेरी वन्दना है।[2]

विनय : नानक—वचन विनय के सम्बन्ध में नानक का मत है कि यदि कोई रूखा, अप्रिय और कड़ुआ वचन बोलता रहे तो उसके तन और मन दोनों ही रूखे हो जाते हैं। अप्रिय बोलने वाला संसार में अप्रिय भाषी ही प्रसिद्ध हो जाता है। लोग उसे अप्रिय वचनों से ही याद करते हैं। रूखा व्यक्ति परमात्मा के दरबार से अस्वीकृत कर दिया जाता है और उसके मुंह पर थूक पड़ता है। ऐसे व्यक्ति को मूर्ख कहना चाहिये। उसे जूतों की सजा मिलती है। वह तिरस्कार ही पाता है।[3]

---

1. प्रथम हिये बिचार, ढीम सो न दीजै द्वार।
ताहि तें सुबचन, संभारि करि बोलिये।
जानै न कुहेत हेत, भावे तैसी कहि देत।
कहिये सु तब जब, मन माहिं तौलिये॥
सब ही कूं लागै दुख, कोऊ नहिं पावै सुख।
बोलिये बृथा ही ता तें, छाती नहिं छोलिये॥
सुंदर समुझि करि, कहिये सरस बात।
तब ही तौ बदन कपाट गहि खोलिये॥ —वही पृ० 67
2. अग्नि जैसी इंद्र लोक बिहन जैसी विधि लोक।
कीरति कलंक जैसी सिद्धि जी ठगारी है।
वासना न कोई वा की ऐसी मति सदा जा की।
सुन्दर कहत ताहि बंदना हमारी है। —संतबानी संग्रह—पृ० 106
3. नानक फिकै बोलिऐ तनु मनु फिका होई।
फिको फिका सदीये फिके फिकी सोइ।
फिका दरगह सटीऐ मुहि थूका फिके पाइ।
फिका मूरखू आखीऐ पाणा लहै सजाइ॥—श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 353

विनय के महत्व को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए नानक कहते हैं कि सेमल का वृक्ष तीर के समान सीधा और बहुत ऊंचा एवं मीठा होता है। पर वे पक्षी जो फल की आशा से इस पर आकर बैठते हैं, निराश होकर क्यों लौट जाते हैं ? इसका कारण यह है कि इसके फल फीके तथा फूल बेस्वाद होते हैं और इसके पत्ते भी किसी काम नहीं आते। गुरु नानक कहते हैं कि विनम्रता में मिठास है, गुण है और इसमें सारी अच्छाइयों के तत्व हैं। सभी मनुष्य अपने स्वार्थ के निमित्त होते हैं, दूसरों के लिए नहीं झुकते हैं। तराजू में रखकर कोई वस्तु तौली जाय, तो ज्ञात होता है कि तराजू का जो पलड़ा अधिक झुका होता है उसी का वजन अधिक होता है। किन्तु मलिनता और कपट से झुकना भयानक होता है।[1]

अतः मनुष्य को इस प्रकार की वाणी बोलनी चाहिये जो प्रतिष्ठा प्रदान करने वाली हो। यही प्रामाणिक वाणी है। फीका बोलने से तो मनुष्य नष्ट ही हो जाता है।[2]

गुरु-शिष्य : महावीर

महावीर वाणी में आचार्य (गुरु) को अति उच्च स्थान दिया गया है। महावीर से अनुसार प्रवचन रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् जिनागम के गम्भीर अध्ययन और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं, जो देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, जो

---

1. सिंमल रुखु सरहरा अति दीरघ अति मुचु।
ओइजि आवहि आस करि जाहि निरासे कितु॥
फल फिके फुल बक बके कंमि न आवहि पत।
मिठलु नीवी नानका गुण चंगिआ ईआ ततु॥
सभु को निवैं आप कउ परकउ निवै न कोई।
धरि तराजू तोलीऐ निवै सु गउरा होइ॥
अपराधी दूणा निवै जो हंता भिरगाहि।
सीस निवाइऐ किआ थी ऐ जा रिदै कु सुधे जाहि॥
—नानक वाणी पृ० 344

2. बाबा बोलीऐ पति होइ।
ऊतम से दरि ऊतम कही अहि नीच करम बहि रोई॥
जितु बोलिऐ पति पाईये सो बोलिया परवाणु।
फिका बोलि विगुचणा सुणि मूरख मन अजाणा।
जो तिसु भावहि से भले होरि कि कहणा बखणा॥ —वही 103

सौम्यमूर्ति हैं, जो संग से रहित हैं, जो आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।[1] परमेष्ठी पांच होते हैं—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।[2] महावीर ने अन्य परमेष्ठियों के साथ-साथ आचार्य को भी पूज्य[3] एवं नमस्कार[4] करने का निर्देश मात्र ही नहीं दिया है, स्वयं भी नमस्कार किया है।[5]

महावीर के अनुसार आचार्य स्व-दर्शन एवं परदर्शन के जानकार, आगम और युक्तियों से पदार्थों को जानने वाले, जिन भगवान के द्वारा कहे गए तत्वों का निरूपण करने में पूरे समर्थ तथा प्राणियों की शक्ति के अनुसार विनय की प्ररूपणा करने वाले होते हैं।[6]

गुरु कर्म के अन्तर्गत लज्जा, दया, संयम तथा ब्रह्मचर्य आदि कि कल्याणकारी शिक्षा देना आता है। जो गुरु अपने शिष्यों को इस प्रकार की शिक्षा देते हैं, वे अपने शिष्यों से आदर पाते हैं।[7]

योग्य शिष्यों पर अनुशासन करने में गुरु को उसी प्रकार आनन्द प्राप्त होता है जैसे भद्र घोड़े पर शासन करने में वाहक को प्राप्त होता है। किन्तु मूर्ख शिष्यों को शिक्षा देने में गुरु को उसी प्रकार कष्ट होता है, जैसे गलि-अश्व के वाहक को होता है।[8]

---

1. पवयणजलहिजलोयरहायामलसुद्ध बुद्धि सुद्ध छावासो।
मेरू व्व णिष्पकंपो सूरो पंचाणणी वण्णो॥
देस-कुल-जाइसुद्धो सोभंगो संगमंउ म्मुक्को।
गयण व्व निरूवले वो आयरिओ ऐस्सो होई॥ —ध० 1, 1, 1
2. अरूहा सिद्धायरिया उज्झाया साहू पंच परमेट्ठी। —मो० पा० 104
3. ते अरिहंता सिद्धाऽयरिओ वज्झायसाह्रो नेया।
जे गुणमय भावाओ गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं॥ —वि०आ०भा० 2942
4. विसयसुहणिअत्ताणं विसुद्ध चरित्त निऊमजुत्ताणं।
तच्चगुणसाहयाणं सहाय किच्चुज्जयाण नमो॥ —आ०नि 1006
5. मग्गे अविप्पणासो आयारे विणयता सहायत्ता।
पंच विह्ल मुक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं॥ —आव० नि० 897
6. सग-पर-समयविदण्ह आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण॥ —दश० भ० 6 : 2
7. लज्जा दया संजम बंभचरै कल्लाणभागिस्स विस्पेहिठाणं।
जे में गुरु सययमणुसासयंति ते हं गुरु सययंपूययामि॥
—द० 9 (1) : 13
8. रमए पण्डिए सासं हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मज्ञ सासंतो गलियस्सं व बाहए॥ —उ० 1 : 37

महावीर के अनुसार योग्य शिक्षा वही है, जो लज्जाशील, इन्द्रिय विजेता,[1] तिरस्कार न करने वाला, आत्म प्रशंसा से दूर, शास्त्र ज्ञान के अभिमान को न करने वाला तथा जाति, तप और बुद्धि पर अहंकार न करने वाला हो।[2]

महावीर ने गुरु के प्रति शिष्य के दायित्वों का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण मधु, घृत आदि विविध पदार्थों की आहुति तथा मन्त्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, ठीक उसी प्रकार शिष्य ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी गुरु की विनयपूर्वक सेवा करे।[3] गुरु सेवा के फल पर प्रकाश डालते हुए महावीर ने कहा है कि इस लोक में गुरु की सेवा कर, जिन मत निपुण अर्थात् आगम-निपुण और अभिगम विनय प्रतिपत्ति में कुशल शिष्य पूर्व संचित रज और मल को कम्पित कर प्रकाश युक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।[4]

गुरु की आज्ञा पालन करने के सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की दृष्टि के अनुसार चले, उनकी निःसंगता का अनुगमन करे, उन्हें हर बात में आगे रखे, उनमें श्रद्धा रखे और उनके निकट रहे।[5] गुरु एक बार अथवा बार-बार बुलाए, शिष्य को चाहिए कि वह बैठा न रहे, तुरन्त आसन छोड़ कर गुरु के वचन सुनें।[6]

जो शिष्य गुरु की निकटता पाकर भी विनय नहीं सीखता और गर्व, क्रोध, मायां और प्रमाद में ही पड़ा रहता है, वह इस कमी के कारण उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे बांस का पुष्प उसी के नाश का कारण बनता है।[7] महावीर ने चेतावनी देते हुए कहा है कि चाहे अग्नि न जलाए, चाहे कुपित होने पर भी सर्प ना

---

1. हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए। —उत्त० 11/13
2. न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
   सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चातवस्सि बुद्धिए॥ —दश० 8/30
3. जहाहियग्गि जलणं नमंसे, नाणाहुई-मंत-पयामिसित्तं।
   एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंतनाणोवगओऽवि संतो॥ —दश० 9/1/11
4. गुरुमिह सयंम पडियरिय मुणी जिणमयनिएजे अभिगमकुशले।
   घुणिय रयमलं पुरेकडं भासुरमउलं गइं गय॥ —द० 9 (3) : 15
5. तद्दिट्ठए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे,
   तस्सन्नी, तिन्नवेसणे। —आचा० 5/4
6. आलवन्ते लवन्ते वा न निसी सज्ज कयाइ वि।
   चउऊणमासणं धीरे जओ जत्तं थडिस्सुणे॥ —उ० 1 : 21
7. थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे वियणं न सिक्खे।
   सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ॥
   —द० 9 (1) : 1

खाए, चाहे हलाहल विष भी न मारे किन्तु यह निश्चित है कि गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।[1]

गुरु : नामदेव—अपने गुरु को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे सद्गुरु खेचर, तू सुख देने वाला है और सुख रूप ही है। तूने मुझे परमेश्वर से साक्षात्कार करवा दिया। मैंने परमेश्वर देख लिया और मेरा मन अस्त हो गया। मेरी आंखें ध्यान से भरकर तन्मय हो गई हैं। जिस प्रकार पानी सागर में मिलकर उसी में समा जाता है, मैं उसमें मिल गया, मेरा अहं नष्ट हो गया। अब आनन्द ही आनन्द है। नामदेव कहता है परमेश्वर के द्वार मैं सब जान गया।[2]

अन्यत्र नामदेव कहते हैं—खेचर मां (माउली) से मिलकर उनकी कृपा की अखण्ड छाया मिली। मां की तरह उनका मुझ पर वात्सल्य है। अब मुझे किसी का डर नहीं, जन्म-मरण के दुःख चले गये। संसार के बंधन व मोक्ष की चिन्ता मिट गई। समाधि की स्थिति में अखण्ड अनुभव प्राप्त हुए। नामदेव कहता है कि मुझे मेरे सर्व साधन मिल गये, मैं खेचर के चरण नहीं छोड़ूंगा।[3]

नामदेव का मत है कि गुरु वचनों से अहंकार की अंधेरी रात नष्ट हो गई ज्ञान का प्रभात हो गया। उससे मुझे परमेश्वर की सुहावनी भक्ति प्राप्त हुई और सच्चा मार्ग मिल गया।[4]

---

1. सिया हु से पावय नो उहेज्जा आसीविसो व कुविओ न भक्खे।
सियाविसं हाल हलं न मारे न यावि मोक्खो गुरु हीलणाएं॥
—द० 9 (1) : 7

2. सुखाचा सद्गुरु सुखरूप खेचरू। स्वरूपसाक्षात्कारू दाखविला।
बिट्ठल पहातां मावललें मन। ध्यानीं करले नयन तन्मय जालें॥
भी माझे होते तें मजमाजि निभालें। जले जल गिलिले जयापरी।
तेथे आनंदी आनंदु बोलला परमानंदु। नाम्या जाला बोधु विट्ठल नामें।
—श्री नामदेव गाथा—1378

3. कृपेची साउली अखंड लाधली। खेचर माउलीं भेटलिया।
आतांमज भय नाहीं पैं कोणाचें। जन्ममरणाचें दुख गेलें॥
बंध मोक्षाची फिटली कालजी। समाधि लागजी समाधींसी।
नामाम्हणे माझे सर्वही साधन। खेचर चरण न विसंबे॥
—श्रीनामदेव गाथा—1370

4. बाबा अहंकार निशिदाट। गुरु बचनीं फुटली पहात॥
माता भक्ति भेटली बखंट। तिनें मार्ग दाविला चोखटगा॥
—वही पृ० 2051

नामदेव गुरु को पाकर नाच उठते हैं। गाने लगते हैं। शब्द रूपी नाद में समा जाते हैं। उनकी कृपा से वे आत्म ज्योति को जानकर परमात्मा में लीन हो जाते हैं और सहज में समा जाते हैं।[1] नामदेव का गुरु पर पूर्ण विश्वास है।[2] सद्गुरु से प्राप्त होने वाले लाभों का उल्लेख करते हुए नामदेव कहते हैं कि सद्गुरु ही वैकुंठ तारने वाले तथा जीते जी मरना सिखाने वाले हैं।[3]

गुरु : कबीर—कबीर गुरु के प्रति श्रद्धा, अटूट आस्था एवं अनन्य भाव रखते हैं। कबीर ने गुरु का स्थान गोविन्द अथवा भगवान के समान बताया है। कबीर ने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। "कबीर ग्रन्थावली" का आरम्भ गुरुदेव के अंग से किया गया है। सद्गुरु गोविन्द के समान है। सद्गुरु कठिनाई से मिलता है। अपना सर्वस्व गुरु को अर्पण कर देने पर ही उसके शुद्ध स्वरूप के दर्शन पा सकते हैं। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु का मिलना भगवान के साक्षात्कार के समान हैं।[4]

सद्गुरु की महिमा का गुणगान नहीं किया जा सकता, कबीर गुरु की महिमा को अनन्त बताते हैं, उनका अनुग्रह भी अनन्त है, उनका ज्ञान भी अनन्त है और वह अनन्त भगवान का साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं।[5]

गुरु ज्ञान का प्रकाश देने वाला है। गुरु उपदेश से शिष्ट का भ्रम एवं अंधकार दूर हो जाता है। ऐसे ज्ञानवान गुरु से एक क्षण के लिए भी कबीर अलग होना नहीं चाहते। ज्ञानवान गुरु कठिनाई से ही मिलता है। जब हरि की कृपा होती है तभी सद्गुरु की उपलब्धि हो जाती है।[6]

---

1. आदिग्रन्थ—पान—656
2. निज भाऊ भइआ भ्रमु भागा। गुरु पूछे मनु पतीआगा।
   जल भीतरि कुंभ समानिया। सभ रामु एकू करि नामिआ॥
   गुरु चेले है मनु मानिआ। अन नामै ततु पछानिआ॥
   —आदिग्रन्थ—पान—657
3. आदिग्रन्थ—पान—1166
4. गुरु गोविन्द तौ एक हैं, दूजा यह आकार।
   माया भेट जीवत मरै, तो पावै करतार॥ —क०ग्र०पृ०—2
5. सतुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
   लोचन अनन्त उघाडिया, अनन्त दिखावण हार॥ —वही पृ०—1
6. ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जिन बीसरि जाई।
   जब गोविन्दा कृपा करी, तब गुरु मिलिया आई॥ —वही पृ०-2

साधना की अवधि में शिष्य के कार्य में अनेक बाधाएं उपस्थित होकर उसे साधना पथ से विचलित करने लगती है, यह वह समय होता है जब सद्गुरु के उपदेश से ही शिष्य उन बाधाओं से बच पाता है। और साधना मार्ग पर अग्रसर होता है।[1]

कबीर के युग में गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा की लहर देखकर अनेक ढ़ोंगी गुरुओं से अलग रहते के लिए कबीर ने कहा है कि—यदि गुरु भी ढ़ोंगी और अहंकारी तथा शिष्य भी मूर्ख है तो उन दोनों के द्वारा अहित का सृजन होता है और दोनों ही असफल रहते है अज्ञानी बने रहते हैं।[2]

गुरु के साथ-साथ शिष्य को भी कर्तव्य परायण होना चाहिए। अत: कबीर ने शिष्य को भी जागरूक और सत्पात्र होने की बात कही है।[3]

शिष्य को गुरु के प्रति निश्छल भाव से अनन्य श्रद्धा और भक्ति बरतनी चाहिए, गुरु के मुखारविन्द से निकले उपदेशामृत को महामंत्रवत् ग्रहण करके अनन्य भाव और श्रद्धा के साथ उन पर विचार और मनन करना चाहिए। शिष्य को जागरूक होना चाहिए गुरु उपदेश से तत्व को ग्रहण करने की योग्यता शिष्य में होनी चाहिए। अपनी योग्यता से गुरु उपदेश को स्वानुभूति पर परख कर उसका प्रसार एवं प्रचार करना चाहिए। कबीर अन्धानुकरण न मानने की सीख देते हैं।[4]

गुरु के अनुग्रह एवं कृपा से शिष्य का जीवन सफल हो जाता है, सद्गुरु सुनार की भांति शिष्य के मन से दोष और दुर्गुणों को दूर कर उसे तपे हुए स्वर्ण की भांति खरा और निर्मल बना देता है।[5]

ज्ञान प्राप्ति तथा साधना की पूर्ति के लिए गुरु परामावश्यक और अनिवार्य है।[6]

गुरु : रविदास—रविदास जी ने स्पष्ट शब्दों में गुरु भक्ति का कोई विशेष

---

1. डा० रामजीलाल सहायक—कबीर दर्शन—पृ० 274
2. जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध।
   अन्ध अन्धा ठेलिया, दून्यू कूप पडन्त॥ —क०ग्र०पृ०-2
3. सद्गुरु वपुरा क्या करे, जे सिषही मांगे चूक।
   भावैं त्यूं प्रमोधि लें, ज्यूं बांसि बजाई फूक॥ —वही पृ० 3
4. सद्गुरु तत्त कह्यो विचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार। —वही पृ० 216
5. सत्गुरु सांचा सूरिवां, तातें लोहि लुहार।
   कसणी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार॥ —वही पृ०-4
6. बलिहारी गुरु आपणौ, द्यौ हाड़ी के बार।
   जिन मानिष ते देवता, करत न लागी बार॥ —क०ग्र०पृ० 1

अंग लिख कर तो नहीं, परन्तु संक्षेप में गुरु के प्रति अपने भाव पूर्ण श्रद्धा पूर्वक अभिव्यक्त किये हैं। वे जहां एक ओर परम्परागत रूढ़ धर्म के स्वरूप को त्यागने की बात करते हैं, वहां दूसरी ओर गुरु को अपना मार्ग दर्शक बनाकर आगे बढ़ते हैं। उनके मन में गुरु के प्रति इसलिये भी आदर भाव है क्योंकि वे मानते हैं कि गुरु कृपा से ही उन्हें समत्वबुद्धि प्राप्त हुई है। रविदास गुरु की कृपा के कारण राम के रंग में रंग कर मुक्ति की घोषणा भी करते हैं।

रविदास के अनुसार गुरु चरण की शरण प्राप्त होते ही काम, क्रोध अहंकार तथा समस्त त्रिसनायें समाप्त हो जाती हैं।[1] वे कहते है कि उन्होंने अपने जीवन में एक गुरु को पा लिया है, वही मेरा आदि-अंत सब कुछ है।[2]

गुरु : दादू—दादू की दृष्टि में गुरु का बहुत महत्व है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार बिलोने पर मक्खन निकलता है, उसी प्रकार जब मैने अपने आप का मंथन किया अर्थात् अपने आपको जाना तो उस अदृश्य गुरु को पाया वह मुझमें उसी प्रकार समाया हुआ था। जैसे काठ में अग्नि, मन में निरंजन, पृथ्वी में जल, मन में सत्य, दर्पण में मूर्ति।[3]

राम कृपा से ही तुझे सच्चा गुरु मिला है। जिसने काया-माया का भ्रम दूर भगा दिया।[4] गुरु मार्ग उसी ने दिखाया है और गुरु ने ज्ञान के सभी द्वार

---

1. कांम क्रोध हंकार निबारउ, त्रिसना तिआगहु संत जनां।
कहै "रविदास" अब सीतल हुऐ, जब लागे गुर के चरना॥
—गुरु रविदास-आज़ाद-पृ० 85
2. "रविदास" मानुष जन्म मंह, हौं चितउं गुरु एक।
आद अंत मेरो सतगुरु राखो सभन की टेक॥ —वही पृ० 44
3. आप आपण में खोजौ रे भाई। वस्तु अगोचर गुरु लखाई।
ज्यूं मही बिलोयें माखण आवै। त्यूं मन मथियों तें तत पावै॥
काठ हुतासन रह्या समाइ। त्यूं मन माहि निरंजन राइ।
ज्यूं अवनी में नीर समाया। त्यूं मन माहै साच सयाना॥
ज्यूं दर्पण के न हिलागे कोई। त्यूं मूरति माहैं निरख लखाई।
सहजैं मन मथियों तं तत पाया। दादू उन तौ आप लखाया॥
—दादूदयाल—पृ० 42
4. (अ) साचा सतगुर राम मिलावै। सब कुछ काया माहि दिखावै।
काया मा हैं सिरजन हारा। काया माहैं ओंकान॥
(ब) काया मा हैं लोक सब, दादू दिये दिखाइ।
मनसा वाचा कर्मना, गर बिन लख्या न जाइ॥ —वही पृ० 43

खोल दिये ।[1]

दादू स्पष्ट शब्दों में डंके की चोट पर कहते हैं कि लाख चन्द्रमा और करोड़ों सूरज भी चाहे तो बिना गुरु के अंधकार नहीं भगा सकते हैं ।[2] दादू ने यह भी कहा है कि जो शिष्य अपने गुरु के शब्दों अर्थात् आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह काल के गाल में चला जायेगा ।[3]

गुरु : सुन्दरदास—सुन्दरदास के अनुसार गुरु गोविन्द से भी महान् है क्योंकि गोविन्द के लिये जीव रसातल में जाता है। किन्तु गुरु जम के फंदे से मुक्त कराता है। गोविन्द के कारण जीवकर्म के बस में हो जाता है। जबकि गुरु स्वछंद रहता है। गोविन्द के कारण जीव भवसागर में डूबता है, किन्तु गुरु दुःख-द्वंद से उभारता है। अतः गुरु की महिमा गोविन्द से अधिक है ।[4]

सुन्दरदास कहते हैं कि गुरु मुनियों में श्रेष्ठ सिरमौर मणि है ।[5] सत गुरु वन्दना योग्य है क्योंकि वह "शब्द" रूपी औषधि से सब रोग दूर कर देता है ।[6]

---

1. दादू देव दयाल की, गुरु दिखाई बात ।
   ताला कूंची लाइ करि, खोले सबै कपाट ।। —वही पृ० 19
2. इक लाख चंदा आणी घर, सूरज कोटि मिलाए ।
   दादू गुरु गोविन्द बिन, तैं भी तिमिर न जाए ।। —संत साहित्य-पृ० 42
3. सतगुर सबद उलंघि करि, जिनि को सिष जाइ ।
   दादू पग-पग काल है, जहां जाइ तहं खाइ ।। —वही पृ० 43
4. गोविन्द के लिए जीव, जात है रसतल को ।
   गुरु उपदेसे से तो, छूटैं जम फंद ते ।।
   गोविन्द के लिये, जीव बस परे कर्मन के ।
   गुरु के निवाजे से फिरत है स्वच्छंद ते ।।
   गोविन्द के किये, जीव बूड़त भव सागर में ।
   सुन्दर कहत गुरु काढ़ै दुख द्वंद ते ।।
   और हुं कहां लौं कछू, मुख ते कहूं बनाय ।
   गुरु की तो महिमा, अधिक है गोविन्द ते ।। —संतबानी भाग-2 पृ० 94
5. नभ मणि, चिन्ता मणि कहै हीरा मनि मनि लाल ।
   सकट सिरो मणि मुकट मनि सत गुरु प्रकट दयाल ।।
   —वही-भाग-1 ०पृ 102
6. सुन्दर सतगुरु बदिये सो बंधन जोग ।
   औषध सबद दिबाड़ करि दूर कियो सब रोग ।। —वही पृ० 100

सत गुरु अपने वचनों से शिष्य को सुन्दर बना देता है।[1] सच्चा गुरु समदृष्टि तथा शीतल स्वभाव का हो तो अपने शिष्य को पल में निहाल कर देता है।[2]

सुन्दरदास के अनुसार यह गुरु ब्रह्म के समान है किन्तु शिष्य की दृष्टि तम दृष्टि है। अतः वह उसे समझ नहीं पाता और उल्टा ही देखता है।[3] गुरु के महत्व को बताते हुए सुन्दरदास जी कहते हैं कि गुरु के बिना मुक्ति का मार्ग नहीं है ठीक वैसे ही जैसे बिना कौडी के हाट का कोई महत्व नहीं।[4] सुन्दरदास जी ने परम्परागत रूप में भी गुरु का उल्लेख किया है जैसे गुरु राम से मिलाने का मार्ग सुझाता है।[5]

गुरु : मलूकदास—मलूकदास कहते हैं कि गुरु और गोविन्द ने मुझे जीवन का सार तत्व बताया है।[6] जिससे आत्मा को पहचान लिया। लेकिन एक स्थान पर तो वे यहां तक कह देते हैं कि जब तक गुरु कृपा नहीं होती राम भी कुछ नहीं देते।[7] मलूकदास का गुरु न कुछ खाता है, न कुछ पीता है। न वह सोता है, न जागता है। न मरता है, न जीता है।[8] जिसे भी उसकी कृपा प्राप्त हो जाती है,

---

1. सुन्दर सतगुरु हैं, सही सुन्दर सिच्छा दीन्ह।
   सुन्दर वचन सुनाइ कें, सुन्दर-सुन्दर कीन्ह ।। —वही पृ० 102
2. सम दृष्टी सीतल सदा अछूत जा की चाल।
   ऐसा सतगुरु कीजिए पल में करै निहाल ।। —वही पृ० 101
3. सुन्दर सतगुरु ब्रह्म मय पर सिष की चम दृष्टि।
   सुधी ओर न देखई देखै दर्पण पृष्ट ।। —संतवाणी-भाग-1 पृ० 101
4. गुरु बिन बाट नहीं, कौडी बिन हाट नहीं।
   सुन्दर प्रगट लोक, वेद यों कहतु है ।। —सुन्दरविलास—पृ० 4
5. सुन्दर सतगुरु मिहर करि निकट बताया राम।
   जहां तहां भटकत फिरै काटे को बेकाम ।। —संतवाणी भाग-1, पृ० 101
6. गुरु गोविन्द सार मत दीन्ह। भला माया जो आतम चीन्ह ।।
   —मलूकदास की बानी—पृ० 16
7. साहिब मेरे सिर खड़ा पलक पलक सुधि देव।
   जब ही गुरु किरपा करै तब ही राम कछु देई।
   —संतबानी संग्रह-भाग 1 पृ० 95
8. हमारे गुरु की अदभुत लीला, ना कछु खाय न पीवै।
   ना वह सोवै ना वह जागे, ना वह मरै न जीवै ।।
   —संतबानी संग्रह-भाग-2 पृ० 89

उसे बिना दीपक के प्रकाश प्राप्त हो जाता है। पैरों से सागर पार कर लेता है।[1] उसकी कृपा सुख पथ[2] दिखाने वाली, भ्रम भगाने वाली,[3] माया मोह का निवारण करने वाली,[4] जन्म-मृत्यु का भय,[5] भगाने वाली है।

मलूकदास के अनुसार गुरु अहेरी है और मैं हिरनी। गुरु प्रेम के बाणों से शिकार करता है। जिसे वे तीर कहते हैं, वही जानता है।[6] बड़े प्रताप से ऐसा गुरु मिलता है।[7] जो गुरु ने वचनों से प्रीति करता है, वह संसार जीत लेता है।[8]

गुरु : नानक—"विणु गुरु पीरै को पाई।।
राहु दसाइ ओथै को जाई।
करणी बाझहु भिसति न पाई।।[9]

नानक के अनुसार बिना गुरु कृपा के सद्मार्ग प्राप्त नहीं होता और मानव अंधेरे में भटकता है। उसे स्वर्ग भी प्राप्त नहीं होता। मूल मंत्र "गुरु प्रसाद" का प्रयोग स्वयं सिद्ध करता है कि गुरु नानक की दृष्टि में गुरु का कितना महत्व रहा है।

---

1. बिन दीपक उंजियारा देखै, एड़ी समुद थहावै।
चींटी के पग कुंजर बांधै, जाकौं गुरु लखावै।।
—संतबानी संग्रह-भाग 2 पृ० 89
2. सुखद पंथ गुरु देव यह दीन्ह मोहिं बताय।
ऐसो ऊपट पाय अब जग नग चवै बताय।। —वही पृ० 94
3. (अ) भ्रम भागा गुरु वचन सुनि मीट रहा नहिं लेस।
तब माया छल हित किया महा मोहनी भेस।। —वही पृ० 94
(ब) किरप कर गुरु जगत बताई।
आपा खोजो भरम नसाई।। —मलूकदास की बानी—पृ० 16
4. जीती बाजी गुरु प्रताप तें माया मोल निवार।
कह मलूक गुरु कृपा तें उतरा भवजल पार।।
—संतबानी संग्रह-भाग 1, पृ० 94
5. अब मैं सतगुरु पूरा पाया। मन तैं जनम ढहकाया।।
—मलूकदास की बानी—पृ० 1
6. गुरु जी अहेरी मैं हिरनी, गुरु मारैं प्रेम का बान।
जेहिं लागै सोइ जानई हो, और दरद नहिं जान।। —वही पृ० 6
7. आपा खोजे त्रिभुवन सूझे। गुरु परताप काल से जूझे।। —वही पृ० 16
8. गुरु के वचन करै परतीत। सोई सिद्ध जाय जग जीत।। —वही पृ० 16
9. रामकली की वार, म० 1

उन्होंने सद्गुरु और परमात्मा में अभिन्नता को भी स्वीकार किया है।[1] ब्रह्मज्ञान देने वाला सद्गुरु ही है।[2]

बिना गुरु के बड़े से बड़े को भी कष्ट भोगना पड़ा ब्रह्मा, राजा बलि आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है।[3]

सद्गुरु की भर्त्सना करते हुए गुरु नानक कहते हैं कि असद्गुरु झूठ बोलते हैं और हराम का खाते हैं उनके स्वयं न तो ऐसे आचरण हैं, पर दूसरों को उपदेश देते फिरते हैं। ऐसे गुरु स्वयं तो नष्ट होते हीहैं दूसरों को भी कष्ट देते हैं। ऐसे सद्गुरु संसार में अगुआ के नाम से प्रसिद्धि होते हैं।[4] ऐसे गुरु का शिष्य अंधकार में भटकता है।[5] पथ प्रदर्शक ही अन्धा हो तो ठौर ठिकाना कैसे मिल सकता है।[6]

सच्चा गुरु तो वह है जो हृदय की सच्चाई पर दृढ़ है। अकथनीय परमात्मा का कथन तथा ब्रह्म से मिलाप करता है।[7] गुरु और सबद का गहरा सम्बन्ध है।[8] गुरु नानक गुरु के सामने आत्मसमर्पण करने का उपदेश देते हैं।[9] उनके अनुसार गुरु और परमात्मा दो नहीं है।[10] वह ब्रह्मज्ञान का मार्ग है।[11]

शरीर (मनुष्य) : महावीर

महावीर के अनुसार चेतना विकाश के अनुरूप शरीर की रचना होती है

---

1. ऐसा हमरा सखा सहाई। गुरु हरि मिलिआ भगति हड़ाई॥
—आसा, सबद 24, महला 1
2. गुरु नानक गुरि ब्रह्मु दिखाइआ। मरता जाता नदरि न आइआ॥
—गउड़ी, सबद, महला 1
3. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब—पृ० 224-225
4. जाइ। झूठा आपि मुहाए साथै। नानक ऐसा आगु जायै॥
—श्री गु०ग्र०सा० पृ० 140
गुरु जिना का अंधुला चेलै नहिं ठाउ। —वही पृ० 58
5. नानक अंधा होई कै दसै राहै समसु मुहाए साथै॥ —वही पृ० 140
6. अंधा आगू जो थीए किउ पाधरू जाणै॥ —वही पृ० 764
7. साचउ ठाकुर साधु पियारा। श्री गु० ग्रं० सा० पृ० 686
8. बिनु सबदै जगु भूला फिरै मरि जनमै बारोबार॥ —वही पृ० 58
9. तनु मनु गुर पहि वेचिआ मनु दीया सिरू नालि। —वही पृ० 20
10. बड़ै भाग गुरु सेवहि अपुना, भेदु नाही गुरुदेव मुरार॥—वही पृ० 504
11. कहु नानक गुरि ब्रह्म दिखाइआ।
मरता जाता नदरि न आइआ॥ --वही पृ० 152

और शरीर रचना अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण काल में आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञान काल में शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं। पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है। विकलेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणितबद्ध होता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस शोणित, स्नायु, शिरा बद्ध होता है।[1]

फल चार प्रकार के होते हैं—कच्चे किन्तु मधुर, कच्चे किन्तु अति मधुर, पक्के किन्तु कम मधुर और पक्के किन्तु अतिमधुर। इसी प्रकार महावीर ने मनुष्यों के भी चार प्रकार बताये हैं—[2]

मनुष्य

छोटी उम्र के साधारण समझदार	छोटी उम्र किन्तु बुद्धिमान	बड़ी उम्र किन्तु कम समझदार	बड़ी उम्र के पूर्ण समझदार

महावीर के अनुसार वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो लाभ हर्षित नहीं होता और अलाभ में दुःखित नहीं होता। ऐसा मनुष्य देवताओं में इन्द्र के समान होता है।[3]

महावीर ने कहा है कि सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता से मनुष्य जन्म प्राप्त होता है।[4] मनुष्य जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।[5] वे मनुष्य मूढ़ हैं, जो तत्व को नहीं जानते और इसी लिये दुःखी होते हैं तथा इस

1. ठाणं, 2/159, 160
2. चत्तारि फला—
   आमे णामं एगे आममहुरे।
   आमे णामं एगे पक्कमुहरे।
   पक्के णामं एगे आममहुरे।
   पक्के णामं एगे पक्कमुहरे। —स्था० 4/1/16
3. लाभंमि जेण सुमणे अलाभे णेव दुम्मणे।
   से हु सेट्ठे मणुस्साणं देवाण सयक्कऊ॥ —इसि० 43 : 1
4. चउहिठाणेहि जीवा माणुसत्ताए कम्पं पगरेति—
   पगइ भद्दयाए पगइविणीययाए,
   साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए। —स्था० 4/4
5. दुल्लहे खलु माणुसे भवे।—उत्त० 10/4

संसार में बार-बार पीड़ित होते हैं।[1] मनुष्य आत्मा और शरीर में भेद है यह न जानने के कारण वह अपने आप के लिये कहता है—मैं राजा हूं, मैं मृत्यु हूं, मैं श्रेष्ठी हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं दरिद्र हूं।[2]

महावीर कहते हैं कि दुर्लभ शरीर पाकर भी मनुष्य धर्म से विमुख रहता है।[3] वह नहीं जानता कि यह शरीर कच्चे घड़े के समान[4], बुदबुद के समान[5] और अनित्य एवं अशुचिपूर्ण[6] है। अतः ऐसे शरीर में आसक्त व्यर्थ है, यह आत्मा के सुख का कारण किस प्रकार हो सकता है।[7]

मनुष्य : नामदेव—नामदेव के मतानुसार जिस प्रकार गाय भिन्न-भिन्न रंगों की हो सकती है पर दूध का रंग एक जैसा ही होता है। उसी प्रकार मनुष्य शक्ल,सूरत, वर्ण, रंग, जात-पांत में भिन्न हो सकता है पर मूल रूप से मानव एक ही है।[8]

मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है किन्तु इसे पाकर भी लोग घमंड, निन्दा, गर्व, धन, योवन, पुत्र आदि के चक्कर में इसे व्यर्थ गवां देते हैं। आलस्य में पड़ कर इसका सद्उपयोग नहीं करते। मृत्यु सिर पर आकर खड़ी हो जाती है तब

---

1. जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
   लुप्पंति बहुसो मूढा संसारंमि अणंतए॥ —उ० 6 : 1
2. राजो हूं मिच्चो हूं सिट्ठी हूं चेव दुव्वलो बलिओ।
   दूदि एयत्ताविट्टो दोण्हे मेयं ण बुज्झेदि॥ —द्वा० अ० 187
3. माणुस्सं विग्गाहं लद् धुं सुई धम्मस्स दुल्लाहा।
   नं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं॥ —उ० 3 : 8
4. अद्लालिउपे वि देहो प्हाण सुयंहोहिं विविहभक्खेहिं।
   खणमित्तेण वि विहडइ जल भरिओ आम घडओ व्वं॥ —द्वा० अ० 6
5. (अ) जलबुब्ब सारिच्छं घणजीव्वंणजी विथं पि पेच्छंतम।
   मण्णंति तो वि णिच्चं अइबलिओ मोहमहप्पो॥ —द्वा० अ० 21
   (ब) आसासए सरीरम्मि, रइनोवलभामहं।
   पच्छा पुरा व चइयव्वे फेणबुब्बुयसन्निभे॥ —उ० 19 : 13
6. इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभव।
   असासमावासमिणं दुक्खकेसाण भयणं॥ —उ० 19 : 12
7. देह छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोवख। —भग० आ० 1249
8. नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध। तुम कहां के ब्राह्मन हम कहां के सूद॥
   —हिन्दी पदावली—184

भी वह इसके महत्व को नहीं जानते ।[1]

मनुष्य को परमात्मा ने किस प्रकार बनाया है इस पर विचार करते हुए नामदेव कहते हैं परमात्मा एक कुशल दर्जी है जिसने मनुष्य शरीर रूपी चोगा बनाया है। पवन के धागे से इसे सीने में दस मास लगे। यह देवत्व योग्य है। भक्ति-मुक्ति का इस पर पटा सिया है इसे अपने आप सिया है और स्वयं ही पहना है।[2]

शरीर : कबीर—यद्यपि कबीर के शरीर सम्बन्धी विचार उनकी विचार समष्टि में अधिक महत्व नहीं रखते, तथापि उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। उनके शरीर सम्बन्धी विचार सर्वथा एक जैसे नहीं हैं, फिर भी उन में पर्याप्त सुगति दृष्टिगत होती है। स्पष्टता के लिए श्री विलियम द्वायर[3] ने तीन न्यूनाधिक पृथक-पृथक दृष्टियां प्रस्तुत की हैं—

1. शरीर के प्रति कबीर का दृष्टिकोण उपेक्षा मूलक है।

   रज बीरज की कोथली ता पर साजा रूप।
   एक नांम बिनुबूड़ि है, कनक कामिनी कूप ॥ —(सा० 31.15)

2. कबीर शरीर की क्षणभंगुरता पर बार-बार बल देते हैं।

   झूठे तन कौं क्या मरबावे।
   मरैं तौ पल मरि रहन न पावै ॥ —(पद 62 1-2)

---

1. राम भगति बिनगति न तिरन की। कोटि उपाइजु करही रे नर।
   जलसींचै करि जतन प्रवालै। आंब बबूल न फलही रे नर ॥
   आपा थापि और कूं नींदै। गर्व मान के मारै।
   फिर पीछे पछिताओ बोरै। रतन न मिलहिं उघारे रे नर ॥
   यहु ममिता अपनी जिनि जानौ। धन जीबन सुत दारा।
   बालू के मंदिर बिनसि जंहिगे। झूटे करहु पसारा रे नर ॥
   जोग भोग मोह नहिं माया। का भयौ बन मैं बसा।
   मनिथा जनम आई नहिं चेता। अंधे पूस गंवारा ॥
   तेरे सिर काल सदा सरखाचै। नामदेव करत पुकारा रे नर ॥
   —हिन्दी पदावली—पृ० 92
2. हरि दरजी का मरम न पाया। निजि यहु बागा खूब बनाया ॥
   पाणी का चित्र पवन धागा। ताकूं सीवत मास दस लागा।
   स्यौं सुखाल मुकुट बनि आया। ये दोइ हीरा लाल लगाया ॥
   भगति मुकति का पठा लिखाया। पूरण पारब्रह्म पाया ॥
   आपै सीवै आप पहिरावै निरत नामदेव नावं धरावै ॥ —वही पृ० 130
3. कबीर की भक्ति भावना—विलियमद्वायर—पृ० 105

3. कबीर में उन स्थलों पर शरीर का अधिक व्यापक अर्थ भी मिलता है, जहां इसके द्वारा केवल बाहरी या भौतिक अंगों की संरचना का नहीं, वरन मनोदैहिक प्रकृति का बोध कराया गया है।

श्री विलियम द्वायर के शब्दों में—"कबीर की शरीर विषयक धारणा आशंका पूर्ण है क्योंकि उनके अनुसार शरीर ही में मनुष्य के सभी शत्रु विद्यमान हैं। कबीर की भक्ति साधना में शरीर अंततोगत्वा एक त्याज्य वस्तु है।[1]

शरीर : दादू—दादूदयाल कहते हैं कि इस शरीर को सजाने संवारने से और इस पर अभिमान करने से क्या लाभ ? एक दिन यह साथ छोड़कर मिट्टी में मिल जायेगा।[2] जिस प्रकार दिन-दिन लोहे को काई खाती है और एक दिन लोहा मिट्टी हो जाता है। किन्तु यदि इस लोहे रूपी शरीर को पारस रूपी हरी का स्पर्श प्राप्त हो जाता है तो लोहा स्वर्ण हो जाता है।[3]

दादू के अनुसार यह मनुष्य तो गवाँर है। क्योंकि नहीं जानता कि यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। न जाने कब यह फूट जाये और इसका जल, सागर के जल में खो जाये।[4] वे कहते हैं कि यह शरीर तो हवा भरे गुब्बारे के समान है, न जाने कब हवा निकल जाये।[5]

यह शरीर तो भवसागर में पड़ी हुई नौका के समान है। प्रश्न यह है कि इसे किनारा कैसे प्राप्त हो ? दादू कहते हैं कि खेवट के बिना इसे कैसे किनारा

---

1. कबीर की भक्ति भावना—विलियम द्वायर—पृ० 108
2. जा तन कौं रचि अधिक सँवारा, सो तन ले माटी में डारा।
   जा तन देखि अधिक नर फूले, सोतन छाड़ि चल्या रे भूले॥
   जा तन देखि मन में गरबाना, मिलि गया माटी तजि अभिमाना।
   दादू तन की कहा बड़ाई, निमख माँहि माटी मिलि जाई।
   —दादू दयाल पृ० 81
3. लोहा माटी मिलि रह्या, दिन दिन काई खाइ।
   दादू पारस राम बिन, कतहूं गया बिलाइ।
   लोहा पारस परसिकरि पलटै अपणा अंग।
   दादू कंचन ह्वै रहै, अपणे साइ संग। —दादू दयाल—पृ० 28
4. दादू यहु घट काचा, जल भरया, बिनसत नाँहि बार।
   यहु घट फूटा, जल गया, समझत नाहीं गंवार॥ —वही—पृ० 30
5. बाव भरी इस खालका, झूठा गर्व गुमान।
   दादू बिन सै देखतां, तिस का क्या अभिमान॥ —वही—पृ० 31

मिल सकता है, भवसागर बहुत गहरा है।[1]

यह शरीर तो कागज की गुड़िया है। जब से तूने राम को बिसारा है, तिल-तिलकर इसकी हानि हो रही है।[2] जिस प्रकार जल बिन मछली नहीं रह सकती, उसी प्रकार राम बिन प्राणों की गति भी नहीं। चिंतामणी हाथ से छूटने पर शरीर दुःख तो पाता ही है।[3]

दादू कहते हैं कि हंसने और रोने में ही अमूल्य जीवन व्यर्थ में जा रहा है।[4] मृत्यु हाथ पकड़कर खींचे लिए जा रही है किन्तु मनुष्य फिर भी सो रहा है।[5]

दादू ने कोटि बरस जीने और अमर होने की कामना नहीं की है। उनका मत है कि राम के प्रेम की भक्ति रस बिना यह जीवन व्यर्थ है।[6]

शरीर : सुन्दरदास—सुन्दरदास की मान्यता है कि शरीर बड़ा हो या छोटा हो, सभी पंच भूत से निर्मित हैं। सभी में प्राण, भूख एवं तृष्णा समान रूप से व्याप्त हैं।[7]

सुन्दरदास कहते हैं कि इस शरीर में मनुष्य अनेक सुख मानता है किन्तु यह शरीर मज्जा, मांस से बना है रग-रग में रक्त भरा है। पेट की पिटारी में मल भरा है। मुख, नाक, हाथ और पैर हड्डियों की नलकी से बने हैं। इस शरीर में गंदगी

---

1. यहु तन मेरा, भौजला, क्यों करि लेघै तीर।
खेवट बिन कैसे तिरै, दादू गहिर गँभीर॥ —वही—पृ० 38
2. यह तन है कागज की गुड़िया, कछु एक चेतन बिचारे।
तिल तिल तुम्ह को हाणि होत है, जे पल राम बिसारे। —वही पृ० 37
3. क्यों कर जीवै मीन जल बिछुरैं, तुम बिन प्राण सनेही।
च्यंतामणी जब कर थैं छूटै, तब दुख पावै देही॥ —वही—पृ 58
4. क्या मुंह ले हंसि बोलिये, दादू दीजै रोइ।
जन्म अमोलक आपणा, चले अकरिथ खोइ॥ वही—
5. (दादू) काल हमारा कर गहे, दिन दिन खैंचत जाइ।
अजहुं जीव जागै नहीं, सोवत गई बिहाई॥ —दादू दयाल—पृ० 31
6. कोटि बरस क्या जीवणा, अमर भये क्या होइ।
प्रेम भगति रस राम बिन, का दादू जीवनि सोइ॥ —वहीं पृ० 28
7. देह और देखिये तौ, देह पंच भूतन को।
ब्रह्मा और कीट लग, देह ही प्रधान है॥
प्राण और देखिये तौ प्राण सबही के एक।
धुधा पुनि तृषा दोऊ, व्यापत समान है॥ —संतबानी भाग-2, पृ० 100

भरी है और ऊपर से कलई की गई है।[1]

उनके अनुसार शरीर दो प्रकार है। एक वह जो संसार में डूबा रहता है और दूसरा वह जो पार उतर जाता है।[2]

ऐसे शरीर से मनुष्य ममत्व करता है। अपने मुख से कही बात को ब्रह्म वाक्य बताता है। सुन्दरदास कहते हैं कि मुझे बड़ा आश्चर्य है कि यह मनुष्य स्वयं भूमि पर पड़ा है और चन्द्रमा पर ग्रहण बताता है।[3]

सुन्दरदास के अनुसार इस शरीर में तो विकार ही विकार भरे पड़े हैं। कभी पेट में पीड़ा है तो कभी सिर में दर्द है। कभी आंख तो कभी मुख में रोग है। कभी स्वास रोग है तो कभी खांसी। नख से सिख तक इस शरीर में रोग ही रोग है।[4]

---

1. जा सरीर माहि तू अनेक सुख मानि रह्यौ।
   ताहि तू विचार या मे कौन बात भली है।
   मेद मज्जा मांस रग-रग में रकत भरयो,
   पेटहू पिटारी सी में ठौर-ठौर मली है॥
   हाड़न सूं भरयो मुख हाड़न के नैक नाक,
   हाथ पांउ सोऊ सब हाड़न की नली है॥
   सुन्दर कहत माहि देखि जनि भूलै कोई,
   भीतर भँगार भरी ऊपर तौ कली है॥ —वही पृ० 110
2. सुन्दर मानुष देह यह ता में दोइ प्रकार,
   या तें बूड़े जगत महँ या ते उतरे पार॥
   —संतवाणी संग्रह—भाग—1, पृ० 105
3. देह सूं ममत्व पुनि गेह सूं ममत्व।
   सुत-दारा सूं ममत्व, मन माया में रहतु है॥
   थिरता न लहै जैसे, कुदंक चौगान गांहि।
   कर्मनि के वस मारयो, धका कूं बहुत है॥
   अन्तःकरण सदा, जगत सूं रचि रह्यो।
   मुख सूं बनाय बात, ब्रह्म की कहतु है॥
   सुन्दर अधिक मोहि, याहि ते अचंभो आहि।
   भूमि पर पर्यो कोऊ, चंद कूं गहतु है॥
   — संतवाणी संग्रह—भाग—2, पृ० 104
4. देह तौ मलिन अति, बहुत बिकार भरि,
   ताहूं माहि जरा व्याधि, सब दुख रासी है।
   कबहूंक पेट पीर कबहूंक सिर वाय।

इस शरीर के कारण ही मनुष्य शीत, भूख, खट्टा, खारा आदि का अनुभव करता है। मुख से अनेक बात बनाता है। मौन को भी महत्व देता है तथा सुख-दुःख मानता है।[1]

किन्तु यह मनुष्य उस शरीर को व्यर्थ ही खो देता है, जिसमें देवता निवास करते हैं।[2] मृत्यु निकट है किन्तु बावला मनुष्य चेतता नहीं।[3] यह शरीर बार-बार मिलने वाला नहीं है। राम भजन में लगने की प्रेरणा सुन्दरदास ने बार-बार दी है।[4]

सुन्दरदास जी कहते हैं कि यह सुन्दर शरीर प्राण निकलते ही पड़ा रह जायेगा और घर-बाहर के सभी लोग इसे श्मशान में पहुंचा देंगे।[5] सुन्दरदास जी के मतानुसार यह प्रश्न महत्वहीन है कि शरीर गंगा तट पर छूटे या मगहर क्षेत्र में,

---

(पृ० 370 का शेष)

कबहूंक आंख कान मुख में विथा सीं है ।।
औरहू अनेक रोग नख सिख पूरि रहे,
कबहूंक स्वास चले कबहूंक खांसी है ।
ऐसो ये सरीर ताहि अपनो कै मानत है,
सुन्दर कहत या मैं कौन सुख बासी है । —सुन्दर विलास पृ० 45

1. देह के संजोग ही ते, सीत लगै घाम लगै ।
देह के संजोग ही ते, घुघा तृषा पौन कूं ।।
देह के संजोग ही ते, कटुक मधुर स्वाद ।
देह के संजोग कहै, खाटौ खारो लौन कूं ।।
देह के संजोग कहै, मुख ते अनेक बात ।
देह के संजोग ही, पकरि रहैं, मौन कूं ।।
सुन्दर देह के संजोग, दुख मान सुख माने ।
देह के संजोग गये दुख सुख कौन कूं ।। —संतबानी संग्रह-भाग 1, पृ० 103
2. सुन्दर मनुषा देह की महिमा कहिये काहि ।
जाकौं बछैं देवता तू क्यो खोवै ताहि ।। —संतबानी भाग-1, पृ० 104
3. काल ग्रसत है बावरे चेतन क्यों न अजान ।
सुन्दर काया कोट में, होई रह्यो सुलतान ।। —वही पृ० 105
4. बेर-बेर नहिं पाइये सुन्दर मानुष देह ।
राम भजन सेवा सुकृत यह सौदा करि लेइ ।। —वही पृ० 105
5. सुन्दर देह परी रही निकसि गयौ जब प्रान ।
सब कोऊ यों कहतु है अब ले जाहु मसान ।। —वही पृ० 106

गरीब के घर में या सरपंच के घर में, वन में छूटे या नगर में मरने के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति होगी या नरक की, यह सब भ्रम है।[1]

शरीर : रविदास—रविदास जी शरीर की असारता के सम्बन्ध में कहते हैं कि मनुष्य रहने के लिये भव्य भवनों का निर्माण कराता है किन्तु एक घड़ी भी नहीं रह पाता कि मृत्यु आ दबोचती है। रविदास जी कहते हैं कि यह शरीर तो घास की टाटी के समान है। घास जल जाता है और टटरी भी मिट्टी में मिल जाती है।[2]

रविदास जी कहते हैं कि यह शरीर तो माटी का पुतला है। यह कैसे नाचता है, देखता है, सुनता है और चलता है। तनिक सा कुछ पाने पर गर्व करता है। खोने पर रोने लगता है। यह सब उस बाजीगर का खेल है।[3]

वास्तव में यह शरीर हरि बिन थोथा है।[4] इस शरीर की सार्थकता रविदास

---

1. भावै देह छूटि जाहु कासी माहिं गंगा तट।
भावै देह छूटि जाहु छेत्र मगहर में॥
भावै देह छूटि जाहु, विप्र के सदन मध्य।
भावै देह छूटि जाहु स्वपंच के घर में॥
भावै देह छूटि जाहु आरज अनारज में।
भावै देह छूटि जाहु बन में नगर में।
सुन्दर ज्ञानि के संसय रहत नाहिं।
सुरग नरक सब भागि गयो भर में॥ —संतबानी भाग-1, पृ० 103

2. ऊंचे मंदन साल रसोई, एक घरी फुनि रहतु न होई।
इहु तनु ऐसा जैसे घास की टाटी, जलि गइओ घासुरलिगइओ मांटी॥
—संतगुरु रविदास वाणी—डा० बी.पी. शर्मा, पृ० 119

3. माटी को पुतरा कैसे नचतु है।
देखै-देखै, सुनै-बोलै दउरीउं फिरतु है।
जब कछु पावै तब गरब करतु है, माइआ गई तब रोवनु लगतु है॥
मन बच क्रम रस कसहिं लुभाना, विनसि गइआ जाइ कहूं समाना॥
कहि रविदास बाजी भाई, बाजीगर संऊ मोहि प्रीतिबनि आहि॥
—वही पृ० 119

4. थोथी जिनि पछोरो रे कोई, पछोरो जा में निज कन होई।
थोथी काया, थोथी माया, थोथा हरि बिन जनम गंवाया।
—संत गुरु रविदास बानी—डा० बी.पी. शर्मा—पृ० 98

के अनुसार तभी है, जब इसका सद्उपयोग भक्ति में किया जाये।[1]

मनुष्य इस संसार में तेरा मेरा करता रहता है किन्तु इस संसार में उसका बसेरा, वृक्ष पर पक्षी के बसेरे के समान है। साढ़े तीन हाथ का शरीर उसकी सीमा है।[2]

शरीर : मलूकदास—मलूकदास कहते हैं कि इस शरीर पर गर्व क्या करना और मोह क्या करना। यह तो रेत की दीवार के समान है। बात ही बात में ढह जायेगा।[3] साहेब नाम ही निर्मल और अमोल हीरा है। अन्यथा यह शरीर तो मल मूत्र का ढेर मात्र है।[4]

मलूकदास के अनुसार मनुष्य शरीर दो चार दिन का है।[5] एक न एक दिन मृत्यु आ ही जाती है। अतः तू इससे प्रभु का नाम क्यों नहीं लेता।[6] पाप रहित शरीर से उनके नाम का एक अक्षर लेने मात्र से तू भव सागर से तर सकता है।[7]

मनुष्य : नानक—गुरु नानक ने मानव जीवन की आयु को—गर्भावस्था, बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्था, मरणावस्था में विभाजित करके यह बतलाया है कि उसकी सारी आयु व्यर्थ ही नष्ट हो रही है।[8]

---

1. भगति न होइ रे न होई जब लग तनु सुध न होइ।
   भगति नहीं नांचे अरु गावै, भगति न बहु तम कोंन्हा ।। —वही पृ० 123
2. प्रानी किया मेरा कि आ तेरा, जैसे तरवर पंखी बिसेरा।
   राखहु कंध उसारहु नींवा, साढे तीन हाथ तेरी सींवा। —वही पृ० 119
3. इस जीने का गर्व क्या, कहां देंह की प्रीत।
   बात कहत ढह जात है, बारु कीसी मीत ।।
   —संतबानी संग्रह, भाग 1, पृ० 95
4. नाम तुम्हारा निरमला, नरमोलक हीरा।
   तू साहेब समरत्थ, हम मल मुत्र के कीरा ।।—मलूकदास की बानी—पृ० 2
5. नर देंही दिन दोय की, सुन गुरजन मेरी।
   क्या ऐसों का नेहरा, मुए बिपति घनेरी ।। —वही पृ० 3
6. अंत एक दिन मरौगे रे, गति गुति जैसे चाम।
   ऐसी झूठी देह तें, कहि लेव न सांचा नाम ही ।। —वही पृ० 3
7. पाप न राखं देंह में, जब सुमिरन करिये।
   एक अच्छर के कहत ही, भौसागर तरिदे ।।
   —संतबानी संग्रह-भाग 2, पृ० 90
8. नानकवाणी, पहिलै पहौ रैणि कै वयजारिया मित्र····आदिसिरीराह, पहरे।

उनके मतानुसार मनुष्य की दस वर्ष तक तो बाल्यावस्था रहती है। बीस वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते उसी रमण की अवस्था आ पहुंचती है। तीस वर्ष तक सौंदर्य अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाता है। चालीस वर्ष तक प्रौढ़ावस्था आ जाती है। सत्तर वर्ष की अवस्था में मनुष्य मतिहीन हो जाता है। अस्सी वर्ष में वह व्यवहार के योग्य नहीं रह जाता। नब्बे वर्ष में वह मसनद का सहारा लेता है और सर्वथा शक्तिहीन हो जाने के कारण कोई वस्तु जानता नही।[1]

मनुष्य में परमात्मा के वियोग और मिलने के उपादान दोनों ही विद्यमान रहते हैं। कमल वृत्ति वाले मनुष्य परमात्मा से मिल जाते हैं और मेंढक वृत्ति वाले विषय रूपी सिवार का ही भक्षण करते हैं।[2]

परमात्मा रूपी अमृत मनुष्य के घट के भीतर ही है। उसे बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं।[3]

गुरु नानक ने मनुष्य की व्यापारी, संसार की व्यापार स्थल और अच्छे कर्मों की व्यापार की वस्तुओं से तुलना की है।[4] वे कहते हैं कि हे मनुष्य अपने मन को मन्दिर और शरीर को संन्यासी की पोशाक से सजा लै।[5]

वैश्य : महावीर

निशीथ चूर्णी में उल्लेख प्राप्त होता है कि वणिक अर्थात् वैश्य मूल धन की रक्षा करते हुए धनोपार्जन किया करते थे।[6] कुछ लोग एक जगह दुकान लगाकर व्यापार करते, और कुछ घूम-घूम कर व्यापार करते थे।[7] कक्ख, पुण्डिय, नाम के वैश्य अपनी गठरी दबाकर चला करते थे।[8] आगम साहित्य में बुद्धि व्यवसाय, पुण्य

---

1. दस बालतणि बीस रवणि तीसा का सुन्दर कहावै। नानक बाणी 9
2. विमल मझारि बससि निरमल जल पदमनि जावल रे। —वही पृ० 5
3. मन रेथिरू रहु, मन कत जाही जोउ।
   बाहरि ढूढत बहुत दुखु पावहि थरि अंमृत घट माही जीउ ॥ —वही पृ० 9
4. वणुजु करहु वणाजारिहो वरवरु लेहु समालि।
   तैसी वसतु विसाहीये जैसी निब है नालि।
   अगै साहु सुजाणु है लैसो वसतु समालि ॥
   —गुरुनानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 83
5. मन मन्दर तन वेस कलन्दर —वही पृ० 88
6. निशीथ चूर्णी —11.3532
7. निशीथ भाष्य —16.5750 की चूर्णी
8. निशीथ चूर्णी —10.3226

पौरुष की परीक्षा के लिए एक-एक हजार कार्षापण लेकर देश देशान्तर में वणिज व्यापार के लिए जाने वाले वैश्य पुत्रों का उल्लेख मिलता है।[1] महावीर ने कहा है कि कर्म से वैश्य होता है।[2]

वैश्य : रविदास—रविदास के अनुसार वैश्य वह है जो सत्य के बजार में बैठ कर सच्चा सौदा बेचता है। सत्य की तुलना में तोलता है।[3] सत्य की कमाई करता है। वह सुखी रहता है।[4]

वेश्या : महावीर

आवश्यक चूर्णी में उल्लेख प्राप्त होता है कि एक बार भरत चक्रवर्ती के पास सामन्त राजाओं ने उपहार स्वरूप अपनी-अपनी कन्याएं भेजीं। राजा रानी दोनों ने उनका निरीक्षण किया। रानी ने पूछा यह किसका स्कन्धावार (डेरा) है। भरत ने उत्तर दिया कि इन्हें मेरे लिए भेजा गया है। रानी भयभीत हो गइ कि कहीं ये राजा पर अपना जादू न चला दे। उसने राजा से कहा कि में प्राण दे दूंगी। इस पर भरत ने कहा कि ये मेरे महल में प्रवेश नहीं कर सकेगी। इन कन्याओं को उन्होंने गण राजाओं को दे दिया। जैन आगम साहित्य (महावीर वाणी) के अनुसार गणिकाओं (वेश्याओं) की यही कथा है।[5] जैन आगम साहित्य में चम्पा नगरी की देवदत्ता, कामध्वजा कोका (पाटलिपुत्र) आदि के नामों का उल्लेख हुआ है।[6]

वेश्या : सुन्दरदास—सुन्दरदास के अनुसार जो कुंवारी कन्या घर-घर लोगों से संग करती-फिरती है, वह वैश्या है, पतिव्रता तो एक ही पुरुष के अंग लगती है।[7]

---

1. उत्तराध्ययन सूत्र—7.15 टीका पृ० 119 आदि।
2. वइसो कम्मुणा होइ॥ —भ०म०हू०उ० पृ० 156
3. सांची हाटी बैठी कर सौदा सांचा देइ।
   तकड़ी तौलै सांच की, रविदास बैस है सोई।
   —रविदास दर्शन-आज़ाद पृ० 142
4. रविदास वैस सोइ जानिए जऊ सत्त कार कमाय।
   पुन कमाई सदा लरै, लोरै सर्वत्त सुखाय॥ —वही पृ० 141
5. आवश्यक चूर्णी —पृ० 297
6. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—पृ० 174-179
7. घर-घर फिरै कुवारी कन्या, जने जने सूं करती संग।
   बेस्या सो तौ भइ पतिबरता, एक पुरुष के लागी अंग॥
   —सुन्दर विलास—पृ० 81

पाखण्ड : महावीर

महावीर ने मृग चर्म धारण, नग्नत्व, जटा धारण, सिर मुण्डन, होम, स्नान, वेष आदि को पाखण्ड माना है। उनके अनुसार आत्मा को क्लेश पहुंचाने के ही उक्त साधन हैं, यदि इनका वास्तविक तथ्य जाने बिना इन्हें किया जाये।

पाखण्डी मनुष्य चाहे वल्लकल के चीर धारण करे या मृग चर्म अथवा नग्न रहे, चाहे जटा बढ़ा ले या सिर मुण्डन करवाले किन्तु उनकी रक्षा सम्भव नहीं है।[1]

हवन करने वाले पाखण्डियों से महावीर ने कुछ प्रश्न किये हैं—हे भिक्षो ! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौन-सी है ? तुम्हारा ज्योति स्थान (अग्निकुण्ड) कौन-सा है ? तुम्हारी श्रुवा कौन-सी है ? तुम्हारे कण्डे कौन-से हैं ? तुम्हारा ईंधन कौन-सा है ? तुम्हारा शांतिपाठ कौन-सा है ? तुम किस प्रकार के होम से ज्योति में हवन करते हो ?[2] जीवित पशुओं को अग्नि में झोंक देना तो हवन नहीं ! यह तो पाखण्ड मात्र है।

वास्तविक हवन तो वह है, जिसमें तप ही ज्योति है, जीवन-ज्योति स्थान हो। मन, वचन, काया की शुभ योग-करछियां हों, शरीर का रिषांग कण्डे हों। कर्म का ईंधन, संयम योग का शान्ति पाठ हो। ऋषियों ने ऐसे ही होम को प्रशस्त कहा है।[3]

जो स्नान तथा होमादि से सिद्धि बताते है, उनके सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि वे आत्मार्थ को नहीं पहचानते। इस प्रकार मुक्ति न होगी। ऐसे मनुष्य परमार्थ को समझे बिना प्राणी हिंसा कर संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं।[4]

महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो सुबह और शाम जल का स्पर्श करते हुए जल-स्पर्श से ही सिद्धि होती तो जल में रहने वाले बहुत से जीव मोक्ष

---

1. चीरा जिणं नगिणिणं जडी-संघाडि-मुण्डिणं।
   एयाणि वि न तायांति दुस्सीलं परियागयं ॥ —उ० 5 : 21
2. के ते जोई ? के वते जोइ ठानो ? का ते सुया ? कि व ते करिसंग ?
   एहा य ते कथरा संति ? भिक्खू ! कयरेणु होमेण हुणासि जोइ ?
   (उ० 12 : 43)
3. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगासुया सरीरं करिसंग।
   कम्म एहा संजमजोगसंती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥ —उ० 12 : 44
4. अपरिच्छ दिट्ठिं ण हु एव सिद्धी एंहिति ते धातमुबुज्झमाण।
   भूतेहिं जाण पडिवेह सांत विज्जं महाय तसथावरेहिं ॥ —सू० 1, 7 : 19

चले जाते ।[1]

महावीर पाखण्डियों से पूछते हैं—जैसे जल से पाप-मल दूर होता होगा, वैसे ही पुण्य क्यों नहीं घुलता होगा ? महावीर के अनुसार जल से पाप-मल धुलने की बात मनोकल्पना मात्र है । जिस प्रकार अन्धा पुरुष अन्धे पुरुष का अनुसरण करके अभिप्रेत स्थान पर नहीं पहुंच सकता उसी प्रकार स्नान आदि से मोक्ष मानने वाले मूर्ख प्राणियों की घात करते हुए सिद्धि नहीं पा सकते ।[2]

महावीर के अनुसार केवल साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं हो जाता । जैसे ग्वाला गायों को चराने पर भी, उनका मालिक नहीं हो जात । भाण्डपाल धन की संभाल करते हुए भी उस धन का स्वामी नही हो जाता । इसी प्रकार केवल वेष की रक्षा मात्र से मनुष्य साधुत्व का अधिकारी नहीं हो जाता ।[3]

महावीर ने मुंडन के सम्बन्ध में कहा है कि जो व्रतों में स्थिर नहीं होता और तप के नियमों से भ्रष्ट होता है, वह चिरकाल में मुंडन में रुचि रखते हुए भी चिरकाल तक आत्मा को क्लेश पहुंचाने पर भी इस संसार का पार नहीं पाता ।[4]

पाखंड : नामदेव—नामदेव बाहर मुखी व्यर्थ के कर्म कांडों को पाखंड मानते है । उसके अनुसार बयालीस लाख जीवों से युक्त जल से ठाकुर का अभिशेक करना, ठाकुर को मैला करना है । फूलों की माला ठाकुर पर चढाना भी पाखंड है क्योंकि फूलों को भ्रमर बैठ-बैठकर मैला कर देते हैं । दूध आदि का नैवेद्य करना भी उचित नहीं क्योंकि बछड़े पहले ही उसे झूठा कर देते हैं ।[5] अतः यदि कोई शरीर को लगे

---

1. उदगेण जेसिद्धि मुदाहरंति सायं च पातं उदगं फुसंता ।
   उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि सिज्झि सु पाणा बहवे दगंसि ।।
   —सू० 1, 7 : 14
2. उदगं जाती कम्ममल हरेज्जा एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
   अंध व णेयारमणुस्सरंता पाणाणि चेव विणिहंति मंदा ।। —सू० 17 : 16
3. गोपालो भंडवालो वा जहा तद्दव्वऽणिस्सरो ।
   एय अणिस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि ।। —उ० 22 : 45
4. चिरं पि से मुण्डरूई भविता आर्थरव्वए तननियमेहि भट्ठे ।
   चिरे पि अप्पाण किलेसइत्ता न परए होइ हु संपराए ।। —उ० 20 : 41
5. आनीले कुंभ भराईले अदक ठाकुर कउ इसनानु कारउ ।
   बइआलीस लख जी जल महि होते बीठलु भैला काइ करउ ।।
   जत्र जाउ तत बीठल भैला महा अनंद करे सद केला ।
   आकीले फूल परोईले मरला ठाकुर की हउ पूज करउ ।।

कीचड़ को कीचड़ से ही स्वच्छ करना चाहे तो उसका यह प्रयास व्यर्थ हो जायेगा। जो भीतर से मलिन और बाहर से स्वच्छ है, वह धोखेबाज है। सुरभी को छोड़कर भेड़ की पूंछ पकड़ कर भंवर सागर से पार होना सम्भव नहीं है।[1] भगवान की पूजा के लिए जल, पुष्पमाला, नैवेद्य, दूध आदि का बन्ध आडम्बर पूर्ण है। नामदेव कहते हैं कि भले ही पुजारी इन्हें विशुद्ध और पवित्र समझे कीटों, भ्रमरों, बछड़ों आदि के द्वारा ये पहला ही जुठला दिए हैं, फिर यह पूजा की सामग्री कैसे हो सकती है।[2] नामदेव पाखंड करने वालों से प्रश्न करते हैं कि एक पत्थर पूजा जाता है और दूसरा ठुकराया जाता है। यदि एक में देवत्व है तो दूसरे में क्यों नहीं?[3] यद्यपि प्रथमतः नामदेव विट्ठल मूर्ति के उपासक थे परन्तु बाद में अपने दीक्षा गुरु विसोवा खेचर से निर्गुण निराकार ब्रह्म का उपदेश पाकर गद्गद हुए। उनकी भक्ति में जो अभाव था, वह दूर हो गया। अपने मराठी के अभंग में वे कहते हैं कि पत्थर की मूर्ति अपने भक्तों के साथ बातें करती है, ऐसा कहने वाले और सुनने वाले दोनों मूर्ख हैं।[4]

(पृ० 377 का शेष)

पहिले बासु लई है भवरह बीठल भैला काइ करउ।
आनीले दूधू रीधाईले खीर ठाकुर कउ नैवेद करउ।।
पहिले दूधू बिटारिओं बछरे बीठल भैला काइ कारउ।।

—आदिग्रन्थ-पान-485

1. लागी पंक पंक लै धोवै निर्मल न होवै जनम बिगोवै।
भीतरि मैला बाहरि चोप्प। पाणी पिंड पषालै धोय।
नामदेव कहै सुरही परहिरिये। भेड़ पूंछ कैसे भवजल तरिये।
—संत नामदेव की हिन्दी पदावली—पद 21

2. आणिलै पुहुप गूंथिलै माला बाल गोविन्द हिहार रचुं।
पहली बासु जुं भेवरै लीनी, जूठणि भैला काइं करूं।।
आणिलै तुंलुल रांधिलै षीरा बाल गोविंद हीं भोग रचूं।
पहली दूध जु बछा बिटाल्या जूठाणि भैला कांइ करूं।।
—संत नामदेव की हिन्दी पदावली-पद 61

3. एकै पाथर कीजै भाउ। दूजै पाथर धरीए पाउ।।
जै ओहु देव त ओहु भी देवा। कहि नामदेऊ हम हरि की सेवा।।
—संत नामदेव की हिन्दी पदावली-पद 152

4. पाषाणवादेव बोलत भक्तातें।
संगते एकते मूर्ख दोघे।। —पांच संत कवि—पृ० 150

नामदेव कहते हैं कि पाखंडी भक्त बगुले के समान होता है और उनकी कथनी और करनी में भारी अन्तर होता है। जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली छोड़ सकता है, किन्तु विष नहीं, उसी प्रकार पाखंडी अपना बाह्य रूप बदल सकता है किन्तु पाखंड नहीं छोड़ सकता।[1] नामदेव ने स्पष्ट कहा है कि पाखंड से राम रीझने वाले नहीं हैं।[2]

नामदेव के अनुसार व्रत एवं तीर्थ भी राम नाम के सामने व्यर्थ हैं।[3] वे अश्वमेघ यज्ञ, तुलादान, प्रयाग-स्नान, पिंडदान, अस्सीघाट निवास, वेद पठन, हठयोग, इन्द्रिय दमन तथा शिवशक्ति संवाद आदि कर्म कांडों को भी पाखंड मानते हैं क्योंकि इनसे भवसागर नहीं तरेगा। गोविन्द सुमिरन ही उचित मार्ग है।[4] करोड़ों तीर्थ यात्रायें पिण्ड दान तथा अन्य सभी प्रकार के दान भी व्यर्थ हैं। नामदेव कहते हैं कि हे मन! तू पाखण्ड को छोड़ दे तथा कपट का त्याग कर नित्य मनोयोग से हरि का नाम ले।[5] बिना हरि पर पूर्ण विश्वास किए तीर्थ, व्रत आदि व्यर्थ है। एकादशी का

---

1. सापु कुंच छोड़े बिखुनहि छोड़े। अदक मांहि जैसे बगुधि आनु मोड।
काहे कउ कीजे धि आनु जपना। जब ते सुधु नाहि मनु अपना ॥
सिंघन भोजन जो नरू जाने। ऐसे ही ठग दंउ बखाने।
नामे के सुआमी लाहिले झगरा। राम रसाइन पीउ रे दगरा ॥
—आदि ग्रन्थ-पान-485

2. पाखंड भगति राम नही रीझे। बाहरि अंधा लोक पती जै ॥
—संत नामदेव की हिन्दी पदावली—21

3. एकादसी व्रतु रहै काहे काउ तीरथ जाई।
भनति नाम देउ सुकृत भए ॥
गुरमति राम कहि कां को न बैकुंठि गए ॥
—संत नामदेव की हिन्दी पदावली 218

4. (अ) आदि ग्रन्थ-पान-873
(ब) हिन्दी पदावली-10
(स) असुमेध जगने। तुला परखा दाने। प्राग इस्नाने ॥
तऊ न पूजहि हरि कीरति नामा ॥
अपने रामहि भुजु रे मन आलसीआ ॥
सिमरि सिमिर गोबिन्द। भजु नामातरसि भव सिंध ॥
—पंजाबातीत नामदेव—पृ० 104

5. (अ) हिन्दी पदावली-13
(ब) बनारसी तपु करै उलटि तीरथ मरै।
अगनि देहै काइआ कलपु कीजै ॥

व्रत एक साधन है। गन्तव्य पर पहुंचने के लिए सीढ़ी त्याग दी है।[1] अतः योग, यज्ञ, तप, होम, नेम व्रत आदि बाह्याडम्बर व्यर्थ हैं।[2]

नामदेव कहते हैं कि लोग बहुत चतुर बनते हैं ऊपर से तो भजन करते हुए दिन व्यतीत करते हैं, किन्तु उनका अन्तह मलीन है। ऐसा कोई नहीं जो पूर्ण रूप से शुद्ध हो और प्रभु को जानता हो।[3] रुद्राक्ष और माला का सार तत्व जाने बिना लोग उसे धारण करते हैं, किन्तु इतने मात्र से मुक्ति सम्भव नहीं।[4]

नामदेव ने मूर्ति पूजा और बलि का खंडन बार-बार किया है।[5] उन्होंने पाखंडी भक्तों पर व्यंग्य किया है जो बिना प्रतीति के पत्थर पूजते हैं। नहा धोकर तुलसी की माला पहनते हैं, परन्तु उनका मन काला है।[6] नामदेव कहते हैं कि लोग पाषाण की मूर्तियों के सामने तो नाचते-गाते हैं। घिस-घिस कर चन्दन लगाते है,

---

(पृ० 379 का शेष)

असुनेध जगुकीजै सोना परमादानु दीजै।
छोडि छोडि रे पाखंड मन कपट न कीजै।
रामनाम सरितऊत पूजे ॥
हरिका नामु मित निता ही लीजै ॥
—संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पद 159

1. तीरथ बरत जगत् की आस। फोकट कीजै बिन विश्वास (2)
एकादसी जगत् की करनी। पाया महल तब तजी निसरनी।
—वही, पद 56
2. भइया कोई तू लै रे रांम नांम।
जोग जिग, तप होम नेमव्रत ए सब कौने काम ॥ टेक ॥ —वही पद 138
3. हिन्दी पदावली।
4. मन थिर होइ वा रे न होइ। ऐसा चिहन करै संसार।
भीतरि मैला धूतरि फिरै। क्यूं उतरे भव पार ॥टेक॥
रुद्राष सषा जप माला मंडै। ताको मरम न जानै कोई।
आप न देषै और दिषा वे। कपट मुकित क्यों होई ॥ (1)
संतनाम की हिन्दी पदावली-पद 64
5. पाहन आगै देव कटीला। वाको प्रांण नहीं वाकी पूजा रचीला ॥
निरजीव आगै सरजीव मारै। देषत जनम आपनो हारै ॥ —वही पद 47
6. भगत भला बाबा काइला। बिन परतीते पूजै सिला (टेक)
न्हावै धोवै करै स्नान। हिरदै आषिन माथे कान (1)
गति पहिरै तुलसी की माला। अंतरगति कोइला सा काला।
—वही, पद 24

लेकिन उनका चित चारों ओर भटकता रहता है और वे परमेश्वर को नहीं पहचानते ।[1]

नामदेव स्पष्ट शब्दों में वेद, पुराण तथा पाना-पोथी का पाखंड छोड़कर सहज मार्ग अपनाने का मार्ग दिखाते हैं ।[2] वे पाखंडियों के सम्बन्ध में कहते हैं कि स्वयँ तो जमपुर जाने वाले हैं, किन्तु दूसरों को बैकुंठ का मार्ग बताते हैं। यह तो अन्धे का मार्ग-दर्शक, अन्धा होने के समान है ।[3]

नामदेव ने भैरव, भूत तथा शीतला उपासना को भी पाखंड कहा है ।[4]

पाखंड : कबीर—मध्य युग के परिप्रेक्ष्य में कितने धर्मों का प्रचलन किस आकार-प्रकार में था, उसका चित्र कबीर वाणी में स्पष्ट हुआ है—कोई वेदपाठी था, कोई उदासी, कोई ऐसा था जो दीन बना फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्य में ही व्यस्त था, कोई मदिरा के सेवन को ही चरम साधना मानता था, तो कोई तन्त्र, मन्त्र औषधादि की करामात से ही सिद्ध बना फिरता था, कोई सिद्ध था, तो कोई तीर्थव्रती तो कोई धूम्रपान से शरीर को काला बना रहा था। कबीर इसे बाह्याडम्बर अन्धानुसरण मानते हैं। कबीर के मन में यह सब देखकर बड़ी पीड़ा थी। वे पतित को उठाना चाहते थे ।[5]

समाज रूढ़ियों में घुट रहा था और धार्मिक स्थापनाओं और मान्यताओं में दंभ और अन्धविश्वास का खोखलापन था। कबीर नहीं चाहते कि लोगों की कथनी-

---

1. का नाचीला का माईला। का घसि घसि चंदन लाईला ।।
   आपापर नहिं चीन्हीला । तौ चित्तचितोरे इह कीला ।
   कृत्म आगै नाचै लोई । स्यंभू देव नीचीन्है कोई ।। —हिन्दी पदावली—20
2. जाणौं नै जाणौं वेद पुरानां । छोड़ौं पाना पोथी ।
   बिन मेघा मुक्ताहल बरखै । स्रवे निरन्तर मोती ।। —वही 112
3. मन प्रतीति नहीं रे प्रानी औरन कू समझाइ ।
   लोकन कू बैकुंठ पठावै, आपण जमपुरि जाइ ।।
   जानिबूझि विष षाइये रे, अंधे अंधा हाथि ।
   देखत ही कूंठे पडे, अंधो अंधा साथि ।। —हिन्दी पदावली—142
4. भैरऊ भूत सीतला धावै । खर वाहन ऊहु छार उड़ावै ।
   हऊ तऊ रमई आ लेखउ । आन देव तदलावनि देहऊ ।।
   संत नामदेव की हिन्दी पदावली 207
5. कबीर एक विवेचन—डा० सरनाम सिंह—पृ० 335-36

करनीं में अन्तर हो।[1] उनके मतानुसार जो प्रार्थना को झूठ के गर्त में धकेले, वह प्रार्थना हो ही नहीं सकती।[2] कबीर ने प्रदर्शन-प्रिय धर्म की कटु आलोचना की थी। केस मुंडन करने वालों को उन्होंने समझाने का प्रयत्न किया है।[3] कबीर ने यह भी बताया कि शालिग्राम की सेवा से शांति नहीं मिलती।[4] उन्होंने इस अन्धविश्वास का भी खंडन किया कि इश्वर मन्दिर में वास करता है।[5]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "इनकी गूढ़ व्याख्याओं को या इनकी पृष्ठ-भूमि के तत्ववाद को उल्लेख योग्य नहीं समझा। वस्तुतः सारा हिन्दू धर्म उनकी दृष्टि में एक बाह्याचार और ढकोसला मात्र था। उन्होंने योग मार्ग को भी ढकोसला ही समझा था और हिन्दू-मत या तत्ववाद की ओर न तो उनकी वैसी जिज्ञासा ही है और न निष्ठा ही।[6]

कबीर ने देखा कि धर्म के नाम पर समाज रूढ़ियों से बंधा हुआ है। पाखंड बढ़ता जा रहा है। जैन, बौद्ध आदि व्याप्त हिंसा पर कबीर ने खुला व्यंग्य किया है। ये लोग शुद्ध अहिंसावादी बनने का ढोंग करते हैं पर परोक्ष रूप में हिंसात्मक कार्यों से वंचित नहीं है।[7]

---

1. कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब रोई।
   चढ़ि मसीति एकै कहै, हरि क्यूं साचा हाई॥
   —कबीर ग्रन्थावली : अंग 22, सा० 6
2. सांचै मारै झूठ चढ़ि, काजी करै अकाज।
   यह सब झूठी बंदिगी, बरियां बंच निवाज॥
   —कबीर ग्रन्थावली, अंग 22, सा० 5
3. करता दीसै कीरतन, ऊंचा करि करि तूंड।
   जाणें-बूझे कुछ नहीं, यों ही आंधां सूंड़॥ —वही, अंग 18, सा० 5
4. सेवैं शालिगराम कूं, मन की भ्रांति न जाई।
   सीतलता सुपनै नहीं, दिन-दिन अध की लाइ॥ —वही, सा० 6
5. केसों कहा बिगाड़िया, जै मूड़ै सौ बार।
   मन को कहे न मुडिए, जामै विषै विकार॥ —वही, अंग 23, सा० 3
6. कबीर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० 130
7. अरू भूलेषट दरसन भाई, पाखंड भेख रहे लपटाई॥
   जैन बोध अरु साकत सेनां, चारवाक चतुरंग बिहूंना॥
   जैन जीव की सुधि न जानै, पाती तोरि देहूरै आने॥
   अरू प्रिथमी का रोग उपारें, देखत जीव कोटि संधारें॥
   —कबीर ग्रन्थावली,—पृ० 192

कबीर के अनुसार सरावगी (जैन) पवित्रता का ढोंग रचने के लिए पानी तो छानकर पीते हैं किन्तु पड़ोसियों से रूठे रहते हैं।[1] हिन्दू धर्म में प्रचलित कर्मकाण्डों की भी कबीर ने कटु आलोचना की है। ये दूसरों को तो शिक्षा देते हैं किन्तु स्वरं उनसे दूर रहते हैं।[2]

हिन्दू धर्म की भांति मुसलमान धर्म भी पाखंडों में डूबा हुआ था। कबीर ने खतना की आलोचना करते हैं कि जो तुम तुर्क-तुर्कनी बनते हो तो क्यों नहीं भीतर से खतना कराकर आए।[3]

कबीरदास का कहना है कि नग्न घूमने से यदि योग की प्राप्ति होती तो वन के सभी पशु मुक्त हो गए होते तन के योगी तो बहुत मिलते हैं, पर मन का योगी नहीं मिलता जब तक योग मन का नहीं होता, तब तक सहज की सिद्धि नहीं मिल सकती।[4]

पाखंड : रविदास—सन्त रविदास ने परम्परागत मूर्ति-पूजा का भी विरोध किया था। उनका कथन है कि जो ईश्वर सारे संसार का कर्त्ता, सर्वव्यापी है, संसार के पंचतत्व में जो पूर्ण रूप सदा विद्यमान है, उसकी प्रतिनिधि यह प्रस्तर मूर्ति नही हो सकती। इस मूर्ति में यदि मनुष्य को तारने की शक्ति होती तो वह स्वयं ही तिर 'मुक्ति' हो जाती। आगे रविदास कहते हैं कि यही सब सोचकर उन्होंने मूर्ति पूजा का परित्याग कर दिया। एक अन्य स्थल पर तो वे मूर्ति की शक्ति परीक्षण हेतु जैसे शर्त-सी रख देते हैं कि यदि मूर्ति में प्रभु का निवास होगा तो वह कम से कम पानी में तो तैर ही सकती है किन्तु यह तो स्वयं डूब जाती है।[5]

रविदास ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस व्यक्ति के हृदय में "बाह्य प्रदर्शन के स्थान पर" सदा ही भगवान का ध्यान रहता है उस व्यक्ति को काम क्रोधादि कभी नहीं सताते तथा वह भक्त ईश्वर का स्वरूप हो जाता है (उनके अनुसार धर्म के बाह्य-आडम्बर तथा कर्म काण्ड के स्थान पर धर्म के वास्तविक और सत्य स्वरूप को पहचानना चाहिये।

संत रविदास के मतानुसार धर्म का वास्तविक स्वरूप व्यवहारिक जीवन में

---

1. पडोसी सू रूसणा तिल-तिल सुख की हाणि।
   पंडित भाये सरावगी पाणी पीवे छाणि। —वही पृ० 28
2. पंडित सेती कहि रह्या भीतरि मेघा नाहिं।
   औरूं कूं प्रभोधता गया मुहरका माहिं।। —वही पृ० 29
3. जे तूं तुरक तुरकनी जाया तौ भीतरि खतना क्यूं नराया। —वही पृ० 79
4. संतकाव्य में योग का स्वरूप—पृ० 367
5. संत रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह—पृ० 72

धर्म के सिद्धान्तों को उतारना है।[1]

रविदास जी के अनुसार बिना राम के भक्ति, दान, ज्ञान आदि अंधानुसरण और हंसी मात्र हैं।[2] माथे पर तिलक, हाथ में माला संसार को ठगने का कू स्वांगहै।[3] जहां कहीं भी अन्धविश्वास है। सत्य की परख का अभाव है।[4] पाखण्ड का बोल-बाला है वहां सपने में भी हरि नहीं।[5]

पाखण्ड : दादू—दादू के अनुसार यह पृथ्वी पाखण्ड से भरी है और संसार परपंच का है।[6] आपने पाखण्डियों का भांडा-फोड़ दिया है। कुम्हार द्वारा बनाये गये कुम्भ को आसन के नीचे गाड़कर और उस पर दीपक जला कर पाखण्डी लोगों से रात में कहते हैं कि यह ब्रह्म ज्योति है।[7] दादू ने जादू-टोना[8] तथा बाह्यकारों का

---

1. वही—पृ० 47
2. राम नाम बिन जे कुछ करिऐ, सो सब भरम कहाई।
   भगति न रसदान भगति न कथै ग्यन, भगति न बन में गुफा खुदाई।
   भगति न ऐसे हांसी। —गुरु रविदास-आज़ाद—पृ० 59
3. माथै तिलक हाथ जप माला, जग ठगने कू स्वांग बनाया।
   मारक छांडि कुमारग डह कैं, सांची प्रीति बिनु राम न पाया॥
   —वही पृ० 59
4. जंह अंध निस्वास है, सत्य परख वहं नांहि।
   रविदास सत्त सोई जानिहै, जौ अनभऊ होइ मन मांहि। —वही पृ० 33
5. कहा भयउ बहुत पाखंडकीयैं हरि हिरदै सुपिनै न आनं।
   ज्यों दारा बिभचरिणी, मुखि पतिव्रता जीव आंन। —वही पृ० 59
6. साचे का साहिब धरणी समरथ सिरजनहार।
   पाखंड की यहु पिर्थमी, परपंच का संसार। —वही पृ० 89
7. (अ) कुंम्भ गाड़ि आसन तले, दीपक धरि ढकि मांहि।
   लोकन कूं कहि रात कूं, ब्रह्म जोति दरसांहि॥
   —"युग प्रवर्तक महात्मा" दादू (लेख)—श्री रामदेव चौखानी—
   दादू चतुः शताब्दी विबन्ध से उक्त—पृ० 19
8. (अ) टामन टूमन है सखी, भूलि करो मत कोई। —वही पृ० 22
   (ब) करामति कलंक है, जाकै हिरदै एक।—दादूवाणी-मंगलदास-पृ० 183
   (स) झूठा गर्व गुमान तजि, आपा अभिमान।
   दादू दीन गरीब ह्वै, माया पद निर्वाण॥
   —युग प्रवर्तक महात्मा दादू—पृ० 22

खण्डन भी किया है। मूंड मंडन तथा षट दर्शन आदि का विरोध करते हुए कहते हैं कि माया के कारण लोग मूंड मुडवाते हैं और अपने आपको जोगी बताते हैं किन्तु वे परब्रह्म को नहीं पहचानते। बिना राम के तो षटदर्शन भी पाखण्ड ही हैं।[1]

लोग चिन्तामणि को तो साधारण कंकर समझ कर फेंक देते हैं और पत्थर को धो-धोकर पीते हैं और पत्थर की ही पूजा करते हैं। यह तो पाखण्ड है।[2]

पाखण्ड में फंसा हुआ मनुष्य भटकता ही रहता है वह कभी तो द्वारिका की ओर दौड़ता है, तो कभी काशी की ओर तथा मथुरा की ओर भी लपकता है किन्तु वह नहीं जानता कि उसका परमेश्वर उसके हृदय में ही विद्यमान है।[3] कोटि तीर्थ करने पर, बिना राम के उसका जीवन व्यर्थ है।[4] दादू ने सत्य को महत्व दिया है वे कहते हैं कि सत्य के अभाव में साईं की प्राप्ति नहीं होती चाहे कोई सा भी वेश धारण क्यों न किया जाये अथवा काशी करवट या किसी अन्य तीर्थ की यात्रा की जाये।[5]

दादू के अनुसार नाना प्रकार के भेष कुम्हार के कलश के ऊपर चित्रित चित्रों के समान हैं।[6] संसार और साधु में मौलिक अन्तर यह है कि संसार ऊपरी किन्तु साधु आन्तरिक साधना करता है।[7]

---

1. (अ) दादू माया कारण मूंड मुडाया, यहुनो जोगन होई।
   परब्रह्म सूं परचा नाही कपट न सीझे कोई ॥ —वही पृ० 286
   (ब) जोगी जंगम सेवड़े, बौध सन्यासो सोव।
   षट दर्शन दादू राम बिन, सबे कपट के भेष ॥ —वही पृ० 287
2. चितामणि कंकर किया, मांगे कछु न देह।
   दादू कंकर डारि दे, चित्तामणि कर लेइ ॥ —वही पृ० 114
   पत्थर पीवें धाई करि, पत्थर पूजें प्राण।
   अंतिकाल पत्थर भये, बहु बड़े यहिज्ञान ॥ —वही पृ० 115
3. दादू कोई दौडे द्वारिका, कोई कासी जांहि।
   कोई मथुरा कौ चलैं, साहिब घट ही मांहि ॥
   —दादूवाणी मंगलदास—पृ० 433
4. कोटि जउ तीरथ करै, तन जउ हिवालै गारै ॥
   राम नाम सरि तऊ न पूजै ॥ —दादूवाणी-मंगलदास—पृ० 107
5. दादू सचु बिना साईं ना मिलै, भावै भेष बनाइ।
   भावै करवत उरध-मुखि, भावै तीरथ जाइ ॥ —दादूदयाल—पृ० 113
6. कोरा कलस अवाह का, ऊपर चित्र अनेक।
   क्या कीजै दादू बस्त बिन, ऐसे नाना भेष ॥ —वही पृ० 111
7. ऊपरि आलम सब करै, साधुजन घट मांहि।
   दादू एता अंतरा, ता थैं बनती नांहि ॥ —वही पृ० 22

दादू पाखण्ड छोड़कर जड़ सींचने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि यदि तू अदृश्य को पाना चाहता है तो डाल-पात रूपी भेष त्याग कर जड़ अर्थात् आपा मेटन की साधना कर ।[1] यदि अन्तर में विद्यमान पीव का परिचय नहीं तो सुहागन के लिये सभी भेष व्यर्थ हैं ।[2]

पाखण्ड : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने पाखण्ड के विभिन्न प्रकारों का खुला विरोध किया है । उनके अनुसार कोई तो इस डर से नंगे पैर चलता है, कहीं चींटी दब कर न मर जाये । कोई दूध पीकर व्रत का पाखण्ड करता है तो, कोई फल आहार मात्र करता है । कोई काशी कर वट का आश्रय लेता है । कोई नमक खाना छोड़ देता है, तो कोई मौन धारण करता है । किन्तु ये सब पाखण्ड मात्र हैं । ये भूसा कूटने के समान है । यदि प्रभु से प्रीति नहीं और ज्ञान का परिचय नहीं तो ये सब करने का क्या औचित्य ?[3]

सुन्दरदास जी कहते हैं कि रुद्राक्ष या काठ अथवा सूत की माला फिराने से क्या लाभ ? यदि आत्मा जाग्रत नही । वास्तविक भजन के लिए इन पाखण्डों को

---

1. जे तूं समझे तौ कहां, साचा ए अलेष ।
डाल पात पजि भूल गहि, क्या दिखलावै भेष ।।
सब दिखावै आप कूं, नाना भेष बनाइ ।
जहं आपा मेटन हरि भजन, तोहि दिसि कोइ न जाइ ।।
—दादूवाणी-मंगलदास—पृ० 10-11

2. हम पाया, हम पायारे भाई । भेष बनाइ ऐसी मनि आई ।
भीतर का यहु भेद न जानैं । कहै सुहागिन क्यूं मन मानैं ।।
अंतरपीव सूं परचा नांहि । भई सुहागिन लोगन माहीं ।
सांहि सुपिनै कबहूं न पावै । कहिबा ऐसें महल बुलावै ।
इन बातन मोहिं अचिरज आवै । पटम कियें पिव कैसें पावै ।
दादू सुहागनि ऐसे कोई । आपा मेटि राम रत होई ।
—दादूदयाल की वाणी—पृ० 112

3. कोई फिरै नांगे पांव, गुदरी बनाय करि ।
देह की दसा दिखाई, आइ लोक धूल्यो हैं ।।
कोइ दूधहारा कोई, कोई फलाहारी होई ।
कोई अधोमुख झील झलि धूम छूटयौ है ।।
कोई नहिं खाया गौन, कोई मुख गहै मौन ।
सुन्दर कहत यूं ही, वृथ भूस कूटयो है ।।
प्रभु सू तौ प्रीति नांहि, ज्ञान सूं परिचै नांहि ।
देखो भाई आंधने ने ज्यू बाजार लुटयो है ।। —सुन्दरविलास—पृ० 59

करना व्यर्थ है।[1]

सुन्दरदास जी ने अंगों पर विभूति मलने और दिगम्बर होने को भी व्यर्थ बताया है। इसी प्रकार कषायक वस्त्र ओढ़ना या विभिन्न रंग के कपड़े पहनना भी आडम्बर है। एक आत्मा के ज्ञान के अभाव में ये सब आडम्बर ही है।[2]

पाखण्ड : मलूकदास—संध्या, तरपन और तीर्थ का विरोध करते हुए मलूकदास ने कहा है कि मैंने इन्हें त्याग कर हरि-हीरा अपने हृदय में बसा लिया है।[3] हम तीर्थों को महान जानकर हरि मिलन की आस लेकर वहां जाते हैं, किन्तु जिनके हृदय में हरि का वास होता है। कोटि-कोटि तीर्थ उनके निकट होते हैं।[4] मलूकदास के अनुसार दया भाव के अभाव ने मक्का, मदिना, द्वारिका, बद्रीनाथ तथा केदारनाथ पाखण्ड हैं।[5] लोग राम की खोज उजाड़ में करते हैं कोई काशी में खोजता है तो कोई प्रयाग में किन्तु उनकी यह खोज झक मारने जैसी है क्योंकि राम तो हृदय में बसा हुआ है।

भ्रम के कारण मनुष्य तीर्थों को लेकर अपने आपको बड़ा समझता है। वह वाद-विवाद करते हुए अन्धानुसरण करता है किन्तु निरन्जन के मर्म को नहीं जानता।[6]

---

1. काठ की रुद्राक्ष की रू सूतहू की माला और।
   इनके फिराये कछु कारन सरतु है।।
   सुंदर कहत तातैं आतमा चैतन्य रूप।
   आप को भजन सो आप ही करत है।। —वही पृ० 95
2. कोउक अंग बिभूति लगावत, कोउक होत निरात दिगबंर।
   कोउक संत कषायक ओढत, कोउक काया रंगे बहु अंबर।।
   कोउक वलकल सीस जय नख, कोउक औढत है तु बंधबट।
   सुन्दर एक अज्ञान गये बिनु, ये सब दोसत आहिं आडबंर।।
   —सुन्दर विलास पृ० 60
3. संध्या तरपन सब तजा, तीरथ कबहुं न जांऊ।
   हरि हीरा हिरदे बसै, ताही भीतर न्हांइ।। —मलूकदास की बानी पृ० 33
4. हम जानत तीरथ बड़े, तीरथ हरि की आस।
   जिन के हिरदे हरि बसै, कोटि तिरथ तिन पास।। —वही पृ० 33
5. मक्का मदिना द्वारिका बद्री और केदार।
   बिना दया सब झूठ है, कहैं मलूक बिचार।। —वही पृ० 33
6. (अ) राम राय घट में बसे, ढूंढत फिरै उजाड़।
   कोई कासी कोइ प्राग में, बहुत फिरै झक मार।। —वही पृ० 33
   (ब) तीरथ भर मैं बड़े कहावै बाद करत हैं सोई।
   अंध धुंध चल जात निरंजन, मर्म न जानै कोई।। —पृ० 4

मलूकदास जी कहते है कि मैं मंदिर ढूंढता फिर रहा था कि बजावनहार मिल गया और हृदय में सब बाजे बज उठे और प्रेम पखावज की ताल गूँजने लगी।[1] मलूकदास जी के अनुसार शरीर को फकीरी भेष धारण कराना व्यर्थ है, यदि मन पर नियन्त्रण नहीं है। यदि हृदय फकीर हो जाये तो साहिब की उपलब्धि हो सकती है।[2]

यदि आत्मा की पहचान नहीं है तो पत्थर पूजन अथवा पुराण सुनने मात्र से मुक्ति होने वाली नहीं है।[3] चाहे मन्दिर पूजो, चाहे देवता या पहाड, किन्तु बिना तथ्य जाने सभी पाखण्ड है।[4]

मलूकदास जी कहते है कि हे साधुओं दुनियाँ तो पागल है जो पत्थर पूजती है। आत्मा की साधना ही उत्तम है।[5] जिसने आत्मा को जान लिया है उसने परमात्मा को जान लिया है अतः उस बोलन हार को ही पूजना चाहिए। पत्थर को पूजने से क्या लाभ।[6] देव पूजा सारहीन और आत्मा साधना स्थिर है।[7]

पाखण्ड : नानक—गुरु नानक ने तिलक, माला आदि की निस्सारता पर प्रकाश डाला है।[8] विसंगतियों से भरे लोग जो तिलक लगाते हैं किन्तु शासकों से अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए कसाई बनने से भी नहीं चूकते। अपने चौके में हलाल किया हुआ बकरा पकाते हैं किन्तु चौके की पवित्रता का किसी को पास न आने देने

---

1. सब बाज हिरदे बजै प्रेम पखावज ताज।
   मन्दिर ढूंढत को मिल्यो बजावनहार ।।—संतबानी संग्रह—पृ० 96
2. भेष फकीरी जे करै मन नहिं आवै हाथ।
   दिन फकीर जे ही रहै साहिब तिन के साथ ।।—वही पृ० 97
3. आतमराम न चीन्ह ही पूजत फिरै पषान।
   कैसे हु मुक्ति न होइगी कोटिक सुनो पुरान ।।—वही पृ० 99
4. देवल पुजौ कि देवता की पूजौ पाहाड।
   पूजन को जाता भला जो पीस खाय संसारे ।।—वही पृ० 99
5. साधो दुनियाँ बावरी, पत्थर पूजन जाय।
   मलूक पूजै आतमा, कछु मांगे कछु खास—मलूकदास की बानी—पृ0 32
6. जेती देखै आतमा, तेते सालिगराम।
   बोलन हारा पूजिये, पत्थर से क्या काम ।। वही पृ० 32
7. किरतिभ देव न पूजिये, टेस लगे फुटि जाय।
   कहै मलूक सुभ आतमा, चारो जुग ठहराय ।। वही पृ० 32
8. गलि माला तिलकु ललाटं। दुइ धोती वसत्र कपाटं।
   जे जाणसि ब्रहमं करमं। सभि फोकट निसचउ करमं ।।
   आसादी वार, महला 1

का बन्धन लगाकर ढोंग रचते हैं। चौका देकर लकीर तो खींच देते हैं परन्तु उसमें आ बैठते हैं स्वयं जो महा झूठे हैं। उनका शरीर अपवित्र है, वे मलिन कर्म करते हैं, झूठे मन से कुल्ला करते हैं, परन्तु लोगों से कहते हैं हमें मत छूओं नहीं तो हमारा अन्न भ्रष्ट हो जायेगा।[1]

गुरु नानक जानते थे कि रूढ़ियों और संस्कारों में सदियों से ग्रसित व्यक्तियों को संस्कारहीन कर देने की अपेक्षा उसे उसी में नए अर्थ और नये मूल्य के सृजन की अनुभूति कराना अधिक श्रेयस्कर होगा। इसीलिए उन्होंने दया की कपास की यज्ञोपवीत जो संतोष के सूत से बना हो धारण करने को कहा है। उसमें संयम की गाँठ और सत्य की पूछ भी हो। इस प्रकार का जनेऊ न टूटता है, न इसे मल ही लगता है, न यह जलता है और न नष्ट होता है।[2]

योग के क्षेत्र में प्रचलित पाखंडो के सम्बन्ध में गुरुनानक ने कहा है कि कंथा धारण करने में, हाथ में डंडा ले लेने में, शरीर पर भस्म रमा लेने में, कानों में मुद्रा पहन लेने में, मूड़ मुडवालेने में और शृँगी बजाने में योग नहीं है।[3]

गुरु नानक लालो से कहते हैं लज्जा और धर्म दोनों ही संसार से विदा हो चुके हैं और चारों ओर झूठ का ही साम्राज्य है। काजियों और ब्राह्मणों ने अपने कर्तव्य त्याग दिए हैं और अब विवाह शैतान करवाता है। मुसलमान स्त्रियाँ और हिन्दु-स्त्रियाँ तथा अन्य ऊँची और नीची स्त्रियाँ कष्ट में पड़ कर परमात्मा का

---

1. मथे टिका तेडि धोती करवाई। हथि छुरी जगत कासाई।
मतु भिटै वे मत भिटै। इहु अनु असाडा फिटै॥
दे कै चउका कढी कार। उपरि आइ बैठे कूड़िआर।
तनि फिटै फेड़ करेनि। मनि जूठे चुली भरेनि॥
कहु नानक सचु छिआईए, सुचि होवै ता सचु पाइऐ।
नील वस्त्र पहिरि होवहि परवाणु, मलेछ धानु ले पूजहि पुराणु।
अभाखिआ का कुठा बकरा खाया, चउके उपरि किसै न जाणा॥
आसा दी वार

2. दइया कपाह संतोखु सूतु जतु गंढी सतु वटु।
एहु जनेऊ का हई त पाँडे घतु॥
ना एहु तुटै ना मलु लगै न एहु जलै न जाइ।
धंनु सु माणस नानका जो गलि चले पाई॥ आसा दी वार

3. जोगु न खिया जोगु न डंडे जोग न भसम चढाइऐ।
जोगु न मुन्दी मूंडि मुडाइये जोगु न सिंगी वाइऐ॥—रागसूही

नाम ले रही हैं। नानक कहते हैं कि वे सब खूनी गीता गा रही हैं और केशर के स्थान पर रक्त पड़ रहा है।[1]

नानक के अनुसार बाहरी वेश से भगवान नहीं रीझते।[2] सारा बाह्य आडम्बर छोड़कर एक मात्र नाम की शरण लेने के लिए ही नानक ने संत को चेताया है।

गुरु नानक ने जनेऊ संस्कार के अवसर पर जब पुरोहित यज्ञ के विधि विधान के अनन्तर उन्हें जनेऊ पहनाने लगे तो उन्होंने पुरोहित से प्रश्न किया कि यह जनेऊ किस से निर्मित है और क्यों धारण करनी चाहिए ?[3] पुरोहित के यह कहने पर कि यह पवित्र कपास के सूत से निर्मित है तथा मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित है, इसे उच्च कुल के व्यक्ति पहनते है और यदि यह मैली अथवा नष्ट हो जाए तो दोबारा नया पहना जा सकता है—गुरु नानक ने उस जनेऊ को धारण करने से मना कर दिया। उन्होंने कहा—"हे पंडित। मैं कपास, संतोष रूपी सूत, अच्छे जीवन का निर्माण करने वाली सत्य की गांठ लगाता हूं। इस प्रकार के जनेऊ को गले में धारण करने वाला मनुष्य धन्य है।[4]

हरिद्वार में उन्होंने उगते सूरज को जल अर्पित करते देख उन्हें इस प्रथा की सारहीनता बताई। उन्होंने पश्चिम दिशा में गंगा का जल उलीचना शुरू किया। पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि मैं अपने खेतों को पानी दे रहा हूँ। लोगों को हंसते देख उन्होंने कहा कि जब मेरा दिया हुआ जल इस पृथ्वी पर स्थित मेरे खेतों को नही

---

1. श्री गुरू ग्रंथ साहिब, तिलंग, महला १, पृ० 722—723
(श्री गुरू ग्रंथ दर्शन—पृ० 47)

2 जटा जनेऊ कठिन घर, छापा तिलक लगाय।
लक्षण या वैराग के, जौं भोग सुहाय॥—संतसाहित्य—माधव—पृ० 3

3. गऊ बिरामण कोकर लम्बहू, गोबरि तरणु न जाई।
धोती टीका तै जपमाली धानु बलेच्छा खाई॥
अंतरि पूजा, पड़हि कतेबा, संजमु तरूकां भाई।
छोड़िले पाखण्ड, नाम लइए जाहि तरंदा॥
—संत साहित्य—पृ० 4

4. दइआ कपाह संतोख सूतु जयु गंठी सतु बटु।
एइ जनेऊ जीअ का हई त पांडे घतु।
ना ऐहु तुट न मल लगै ना ऐहु जलै न जाइ।
धन सु प्राणस नानका जो गलि चले पाइ।
—गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 9

पहुंच सकता तो तुम लोगों का चढ़ाया जल पितृ लोक में कैसे पहुँचेगा।[1]

गुरु नानक ने अंधविश्वास करने वालों पर भी गहरा व्यंग्य किया है—मीर तो तुम पर चढ़ आया है और तुम पीरों तथा टोने-टोटके के चक्कर में पड़े हो, ये तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेंगे।[2]

बोद्ध महावीर

महावीर के अनुसार बुद्ध वह है जो परमार्थ को जानता है। सम्यक्दर्शन से युक्त है। वह वीरो के पराक्रम से शुद्ध होता है और संसार वृद्धि में सर्वश निष्फल होता है।[3]

बोद्ध : सुन्दरदास—सुन्दर दास के अनुसार बोद्ध नाम तभी सार्थक है जब बोद्ध कहलाने वाला व्यक्ति अपने मन पर नियन्त्रण करे, आत्मा की शोध करे। मुक्ति मृत्यु उपरान्त नहीं, जीवित रहते हुए प्राप्त करे।[4] ऐसा मनुष्य बोद्ध कहलाने का अधिकारी है।

जातिवाद : महावीर—

ढाई हजार वर्ष से ही जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूप से चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आदि प्राय: सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। ब्राह्मण-परम्परा में जाति को तात्त्विक मानकर "जन्मना जाति:" को सिद्धान्त की स्थापना की गई है। महावीर ने जाति को अतात्विक मानकर" कर्मणा जाति : के

1. गुरु नानक—व्यक्तित्व और विचार : पृ० 12-13
2. कोटि हू पीर वरजि रहा ए जा मीरू सुणिया छाइया।
   थान मुकाम चले बिज मन्दर मुछि कइरू रूलाइया॥
   कोई न मुगलु होआ अद्या किने न परचा लाइया॥

   —राग आसा
3. जे उ बुद्धा महा भागवीरा सम्मत्त दसिणो।
   सुद्ध तेसि परक्कंत अफलं होइ सव्वसो॥—सु० 1, 8 : 24
4. बोध नाम तब जब, मन को निरोध होइ।
   बोध के विचार सोध, आतम को करिये।
   सुन्दर कहत ऐसे, जीवत ही मुक्ति होई।
   मुए तें मुकति कहै, ता के परिहरिये॥—सुन्दरविलास-पृ० 95

सिद्धान्त की स्थापना की है। उन्होंने जातिवाद के विरुद्ध एक व्यापक क्रांन्ति की। ब्राह्मण परम्परा में जहाँ "ब्रह्मा" के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य और पैरों से शूद्र और अन्त में पैदा होने वाले अन्त्यज कहे गये।[1] किन्तु महावीर ने घोषणा की कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म या वृत्ति के अनुसार होते है।[2]

कर्मणा जाति के अनुसार ब्राह्मण आदि असात्त्विक हैं। यदि निश्चयदृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य जाति ही तात्विक है [3] मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है, पशु नहीं हो जाता। कर्मकृत जाति में तात्विकता का कोई लक्षण नही। कर्म के अनुसार जाति है।[4] यदि कर्म बदलता है तो जाति भी बदल जाती है।

जाति तो एक सामाजिक व्यवस्था है। शूद्र और ब्राह्मण में रँग और आकृति का भेद नही है। दोनों की गर्भाधान और जन्म विधि एक जैसी ही होती है। गाय और भैंस में जैसे जातिकृत भेद है, वैसा शूद्र और ब्राह्मण मे नही है। अतः मनुष्य-मनुष्य के मध्य जातिय भेद काल्पनिक है।[5]

ब्राह्मण परम्परा में गोत्र रक्त, परम्परा का पर्यावाची माना गया। महावीर

---

1. ब्रह्मणे मुखान्निर्गता ब्राह्मणः बाहुभ्यां क्षत्रियाः अरूभ्यां वैश्याः
पद्भ्यां शूद्राः अन्त्यजाः—ऋग्वेद, 10।90।12

2. (क) कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
—उत्तर ज्झयणाणि, 33।25

(ख) न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्रह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्रह्मणो।—सुत्तनिपात, सूत्र 13

3. मनुष्य जातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्ति भेदाद्धि तद्भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥—आदि पुराण —38

4. लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद् ब्राह्मणो ब्रह्म चर्यतः —पद्मपुराण, 6।209, 210

5. वर्णाकृत्यादि भेदानां, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मणादिषु शूद्राद्यः गर्भाधान प्रवर्त्तनात्।
नस्ति जातिकृतो भेदो, मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात् अन्यथा परिकल्पते॥—उत्तरपुराण:

वाणी में गोत्र शब्द का उल्लेख जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, ऐश्वर्य के रूप में हुआ।

महावीर ने कहा है कि यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ है और अनेक बार नीच गोत्र में। जन्म मात्र से कोई छोटा, बड़ा नहीं होता। जीव सदा असंख्यात (अनगिनत) प्रदेशी ही रहा और उनका भव-भ्रमण नहीं हुआ (जिस का सम्बन्ध भव-भ्रमण से जुड़ार है) उस उच्च गोत्र की स्पृहा नहीं करनी चाहिए।[1] अतः अपने उच्च गोत्र का हर्ष नहीं करना चाहिए और न ही नीच गोत्र के कारण दूसरों पर कुपित होना चाहिए।[2] यहाँ तो नीच, उच्च हो जाता है और उच्च पुनः नीचत्व को प्राप्त हो जाता है। जीवों के लिए "कुल" तो पथिकों के विश्राम स्थल के समान है।[3] अतः कौन है जो अपने गोत्र का ढिंढोरा/पिटेगा? कौन है, जो उस पर अभिमान करेगा? वह किस प्रकार किसी एक वाद में आसक्त हो सकता है।[4] संसारी जीव इस संसार में विभिन्न प्रकार की जातियों और विविध गोत्रों में उत्पन्न होता रहता है। पृथक-पृथक रूप से प्राणियों ने इस संसार को भर रखा है।[5]

जाति-गर्व का पहला परिणाम सामाजिक दुर्व्यवस्था और विद्रोह के रूप में सामने आता है। महावीर ने इसका पारलौकिक परिणाम भी अनिष्टकर बताया है। जो मनुष्य जाति, कुल, गोत्र आदि पर अभिमान करता है और दूसरों की अवहेलना करता है या निन्दा करता है वह मरकर गर्भ, जन्म और मृत्यु प्रवाह में ही चक्कर लगाता रहता है क्षण भर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।[6]

जिसका आचरण पवित्र होता है, वह आदरणीय होता है। कोई व्यक्ति जाति से भले ही चाण्डाल हो, किन्तु यदि वह व्रती है तो उसे देवता भी ब्राह्मण मानते है।[7] महावीर ने इस संदर्भ में हरिकेश मुनि का उदाहरण दिया है। उन्होंने

---

1. से असइं उच्चागोए असइं णीयागोए।
   णो हीणे णो अइरित्ते णो पीहए॥—आ० 2 (3):49
2. तम्हा पडिए णो हरिसे णो कुज्झे। आ०—2 (3) : 55
3. णोचो विहोइ उच्चो उच्चोणीचत्तणं पुण उवेइ।
   जीवाणं खु कुलाइं पहियस्स व विस्समताण॥—भग० आ० 1228
4. इति संखाय के गोयावादी? के माणावादी?
   कंसि वाएगे गिज्झे 22—आ० 2(3) : 50
5. समावन्नाण संसारे नाणा—गोत्तासु जाइसु।
   कम्मा नाण-विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया॥—उ० 3:2
6. सूयगडो, 2।2।25
7. व्रतस्थमपि चाण्डाल, तं देवा ब्राह्मणं विदुः।—पद्मपुराण—11।203

कहा है—यह आंखों के सामने हैं, तपस्या की प्रधानता है। जाति का कोई महत्व नहीं। जिसकी योग-विभूति और सामर्थ्य अचम्भे में डालने वाली है. वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।[1] जो नीच जन हैं, वे असत्य का आचरण करते हैं। इसके परिणाम यह होता है कि जो असत्य का आचरण नहीं करते, वे नीच नहीं है।[2]

जातिवाद: नामदेव—नामदेव ने जातिवाद का विरोध किया है। उन्हें अपनी हीन जाति होने पर भगवान से शिकायत है कि उन्हें उसने हीन जाति में क्यों उत्पन्न किया।[3] किन्तु वे जाति-पाँति के महत्व को नकारते हुए कहते है कि मुझे जाँति-पाँति से क्या लेना-देना है ? मैं तो रात दिन राम का नाम जपता रहता हूँ। वह मेरी सोने की सुई और चाँदी का धागा है। मेरा चित्त तो भगवान में रम गया है।[4] मेरा मन गज और जिम्भा काली है। राम में रम कर मृत्यु की फांसी भी कट गई।[5] नामदेव के अनुसार ब्राह्मण, बनियां जो अपने आप को ऊँची जाति का मानते हैं, वास्तव में स्वार्थ में डूबे हुए व्यापारी हैं। नामदेव जैसे संतों का उनसे मेल नही हो सकता।[6] उनकी मान्यता है कि मैं तो विट्ठल का बालक हूं। वही मेरा भाई और पिता है। मेरी जाति-पाती, गोत्र वही है जो विट्ठल का है। वही मेरा गुरु है।[7]

जातिवाद: कबीर—कबीर ने वर्णाश्रम की धज्जियाँ उड़ती देखी। पंडित को

---

1. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहु, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥
—उत्तरज्झयणाणि—12।37
2. प्रश्नव्याकरण तथा आश्रवद्वार
3. नामदेव मनि उपरति धरी।
हीन जाति प्रभु काहे मोरी करी॥—संतनामदेव की हिन्दी पदावली—
पृ० 122
4. का करौ जाती का करौं पाती। राजाराम सेऊँ दिन राती।
सुइने को सुई रूपे का धागा। नामे का चितु हरि सूँ लागा—वही 18
5. का करौ जाती का करौपांती। राजा राम सेऊँ दिन राती।
मन मेरी गज जिम्भा मरी काली। रामरमे काटौ जम फासी—
संतनाम देव की हिन्दी पदावली—पृ०123
6. उठिरे नामदेव बाहिर जाइ। जहाँ लोग महाजन बैठे आइ।
बांमन बणीयां उत्तम लोग। नहीं रे नामदेव तेरा जोग—वही पृ० 122
7. बालकबेला भाई विट्ठल बाप विट्ठल।
जाती पाती गुरु गोत विट्ठल॥—वही पृ० 119

यह विश्वास है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं हैं, बल्कि एक अनादि कर्म-प्रवाह का फल है। उसका भ्रम भंजन करते हुए कबीर कहते हैं कि छूत माया जन्य है, उसी के विध्वंस से छूत का विध्वंस हो जायेगा।[1]

कबीर ने ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि के आचरण में मन की शुद्धि के स्थान पर बाह्याचार का प्राधान्य देखा था। उन्होंने देखा है कि ब्राह्मण अपने नित्य नैमित्तिक आचार को ही सब कुछ समझ बैठा है और कुलीनता के गर्व में डूबा हुआ है। क्षत्री को जुझारू होने का अभिमान है।[2]

कबीर का कहना है कि यदि सृष्टिकर्ता को वर्ण व्यवस्था स्वीकार थी तो उसने ब्राह्मणों की पहिचान के लिए उनके माथे पर कोई पहचान क्यों नहीं अंकित की। उनके जन्म की विधि ही क्यों नहीं बदल दी। ब्राह्मण जहां एक ओर वेदों के अध्ययन मात्र में डूबे रहते हैं, वहां उनके वास्तविक ज्ञान से परिचित नहीं हो पाते। जीव रक्षा के नाम पर उन की हत्या करते हैं। कबीर ने जैनों की अहिंसा और शाक्तों की हिंसा पर भी विचार किया है।[3]

---

1. पंडित देखहु मन-मह जानीं। कहु धौं छूति कहां ते उपजी तबहि छूति तुम मानी।
   एकै पाट सकल बैठाए छुति लेत धौं काकी।
   छूतहि जेवन छूतिहि अंचवन छूतिहिं जगत उपाया।
   कहहिं कबीर ते छूटि बिबरिजित जाके संग न माया।।—कबीर बीजक—शब्द 13

2. पंडित भूले पढि गुन्य बेदा, आप न पावै नाना भेदा।
   सन्ध्या तँरपन अरू षट करमा, लागि न हे इनकै अशरमा।।
   अति गुन गरब कै अधिक, अधिकै गरब न होई भलाई।।
   खत्री करै खत्रिया धरमों, तिनकूं होय सवाया करमो।
   जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनो हारे।।
   —कबीर ग्रन्थावली: पृ० 182, रमैणी 5

3. जौ पै करता वरण विचारै, तौ जनमत तीनिडांडि किन सारै।।
   उत्पति ब्यंद कहा थै आया, जोधरी जरू लागी माया।।
   नहीं को ऊँचा नहीं को नींचा, जका ब्यंड ताही की सींचा।।
   —कबीर ग्रन्थावली, पृ 41
   जैन बौध अरू साकत सैना, चारबाक चतुरंग बिहूंना।।
   जैन जीवकी सुधि न जाने, पाती तोरि देहुरै आनै।।—वही-रमैणी—5

कबीर स्पष्ट घोषणा करते है कि जाति का नहीं ज्ञान का महत्व होता है।[1] जाति का प्रश्न वैसे ही निरर्थक है, फिर साधना के क्षेत्र में किसकी कौन जाति। डॉ०आर्य की मान्यता है कि सामाजिक आधार पर अपनी साधना को प्रतिष्ठित करने वाले कबीर की दृष्टि सदा समाजपूरक रही।[2] कबीर की धारणा है कि इस असार-संसार में जन्म लेने वाले मानव सब समान हैं। ऊँच-नीच की भावना रखना व्यर्थ हैं। सभी के खून का रंग लाल है।[3]

जातिवाद: रविदास—रविदास ने जाति के अस्तित्व को किसी भी स्तर पर स्वीकार नहीं किया है। जिस प्रकार केले के पत्ते उसके मूल से जुड़े रहते हैं उसी प्रकार समस्त जातियां उसके मूल प्रभु से जुड़ी है।[4] महावीर के समान रविदास ने भी कर्म के आधार पर ऊँच-नीच का स्वरूप स्पष्ट किया है। रविदास को यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वे "चमार" हैं। उन्होंने अपनी वाणी में एक स्थान पर ही नहीं लगभग 12 बार अपने आप को चमार कहा है।

रविदास के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र सभी की एक जात है अत: उनकी जात पूछने का क्या औचित्य?[5] वो मनुष्य नादान है, जो नीच-नीच कहकर दूसरों को कष्ट देते हैं। सब का सरजन करने वाला तो एक मात्र प्रभु है।[6] सभी उस प्रभु की संतान हैं। कोई भी जात-कुजात नहीं।[7]

---

1. जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
   मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥=कबीर ग्रन्थावली—
   पद 389
2. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन-डॉ आर्याप्रसाद त्रिपाठी-पृ० 274
3. हम कत लोहू तुम कत दूध।—कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट—पद 60
4. जात जात में जाति हैं, ज्यों केलन के पात।
   रविदास मानुष न जुड़ सकें, जौ लौ जाति न जात ॥—
   संतगुरुरविदास-डॉ० शर्मा—पृ० 90
5. रविदास जाति मत पूछइ का जात का पात।
   ब्राह्मण खत्री बैस सूद समन की इक जात।—रविदास दर्शन-आजाद —
   पृ० 129
6. नीच नीच कह मारहिं जानत नांहि नदान।
   सभ का सिरजन हार है रविदास एकै भगवान ॥—वही पृ० 128
7. जन्म-जात मत पूछिए का जात अरू पात।
   रविदास पूत सम प्रभ के, कोई नहिं जात कुजात ॥—वही पृ० 124

रविदास कहते है कि समस्त संसार की उत्पत्ति एक ही नूर (प्रभु) से हुई है, फिर ऊँच-नीच, ब्राह्मण-चमार कैसे बन गये।[1] ब्राह्मण और चांडाल में भी कोई अन्तर नहीं है! दोनों का ही सम्बन्ध प्रभु के घट से है।[2] रविदास ने स्पष्ट घोषणा की है कि मनुष्य जन्म से महान नहीं होता, कर्म से होता है।[3]

रविदास कहते हैं अच्छे कर्म करने पर नीच भी उच्च हो जाता है और बुरे कर्म करने पर उच्च भी नीच हो जाता है।[4] ब्राह्मण, खत्तरी, वैश्य और शूद्र जन्म से नहीं होते। यदि सुवर्ण होना चाहते हो तो अच्छे कर्म करो।[5] वेद पढ़ाने वाला पंडित कहलाता है और जूते गांठने वाला चमार है[6] कुछ वेद पढ़ते हैं, कुछ कुरान और पाण्डे तथा मुल्लाह कहलाते हैं किन्तु सभी एक ही मिट्टी के बने मनुष्य रूपी भाण्डे हैं।[7]

रविदास ने स्वयं अपना परिचय कुशील और चमार कह कर बार-बार दिया है।[8] उन्होंने मस्जिद और मंदिर से समान रूप से आदर करने की प्रेरणा

---

1. रविदास इक ही नूर ते, जिमि उपज्यो संसार।
   ऊंच नीच किप बिप्र भये, ब्राह्मण अरू चमार ॥—वही पृ० 81
2. ब्राह्मण अरू चंडाल मांहि रविदास नह अंतरजान।
   सभ मांहि एक ही जाति है, सभ घट एक भगवान ॥—वही पृ० 81
3. रविदास जन्म के कारनें, होत न कोउ नीच।
   नर कूं नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच ॥—वही पृ० 81
4. रविदास सुकरमन करन सौं नीच-ऊंच हो जाय।
   करइ कुकरम जौ ऊंच भी, तौ महा नीच कहलाय ॥
   गुरु रविदास —आज़ाद पृ० 81
5. बाहमन खत्तरी बैंस सूद रविदास जनम ते नांहि।
   जो चाहत सुबरन कऊ, पावई करमन मांहि ॥ वही पृ० 28
6. वेद पढ़ई पंडित बन्यो, गाँठ पन्ही तउ चमार।
   रविदास मानुष इक हक नाम धरौ हइं चार ॥ वही पृ० 127
7. वेद कतेब पढ़ें वे कतुबा, वे मुल्ला वे पाण्डे।
   विविध विविध के नाम धराए, सम इक मिट्टी के भाण्डे।
   संतगुरु रविदास, डॉ० शर्मा, पृ० 17
8. (अ) मेरी कुचील जाति कुचीला में बास, भगति हेत हरियान निवास।
   चरिउं बेद कीया संजौति जन रविदास करै दंडौति ॥
   वही पृ० 106

(आगे पृष्ठ 398 पर देखें)

दी है।[1]

रविदास ने तो यहाँ तक कहा है कि जो गुनहीन ब्राह्मण है वह पूजा के योग्य नहीं और यदि चंडाल गुणशील है तो उसकी पूजा की जानी चाहिये।[2] नामदेव ओछी जाति के थे किन्तु त्रिलोक में उनका गुणगान हुआ।[3]

रविदास को अपनी ओछी जाति होने का इतना खेद नहीं जितना राम की सेवा से वंचित रहने का है।[4] राम की शरण में वे ओछी जाति का होने का दुःख भी

---

1. जैसा रंग कुसुंभ का, तैसा इह संसार।
मेरे रमईए रंग मजीठ का, कहु रविदास चमार॥
कहि रविदास खलास चमारा, जो हम सहरी-सी मीत हमारा।
मस्जिद सो कछु घिन नहीं, मंदिर सों नहीं पियार॥
गुरु रविदास, आज़ाद, पृ० 12—13
2. रविदास बाह्मन मति पूजिए, जउ होवे गुनहीन।
पूजहिं चरन चंडाल के, जउ होवें गुन परवीन॥ वही पृ० 29
3. नामदेव किह जाति के ओछ, जाको जस गाईए त्रिलोक।
भगति हेत भगता के चलें, अंकमाल लै बीठल मिले॥ वही पृ० 106
4. जाती ओछा पाती ओछा, ओछा जनम हमारा।
राजा राम की सेव न कीनी, कही रविदास चमारा॥
सत गुरु रविदास वाणी, डा० शर्मा पृ० 88

(शेष पृष्ठ 397 का भाग)

(ब) जाति भी ओछी पाँति भी ओछी, ओछा कसब हमारा।
तुम्हारी क्रिया तै ऊंच भए हैं, कहै रविदास चमारा॥
वही पृ० 116
(स) तिउ तिउ सैल जिउ भावै, महरम न को अटकावै।
कहि रविदास खलास चमारा, जो हम सहरी सुमीतु हमारा।
वही पृ० 84
(द) नागर जनां मेरी जाति विखआत चमार।
रिदै राम गोबिन्द गुन सारं॥ वही पृ० 9
(ध) मेरी जाति कुटबांटला ढोर ढोवंता नितहि बनारसि आस-पास।
अब बिप्र परधानतिहि करहिं, तेरे नाम सरणाई रविदास॥
वही पृ० 91
(ण) मेरी जाति कमीनी पांति कमीनी, ओछा जनमु हमारा।
तुम सरनागति राजा राम चंद, कहि रविदास चमारा॥
संतगुरु रविदास वाणी, डॉ० शर्मा, पृ० 119

भूल जाते हैं।[1] ऊँच-नीच करने वाला तो गोविंद है फिर भय कैसा।[2]

रविदास के अनुसार वास्तव में वही ऊँचे हैं जिनके मन में सत्य का वास है और जो पंच दोषों से दूर है।[3]

रविदास ने खेद प्रगट करते हुए कहा है कि जाति-पाँति के चक्कर में समस्त मनुष्य उलझे हुए हैं। जातिवाद का रोग मनुष्यता को नष्ट करता जा रहा है।[4] वेद धर्म का सार बताते हुए उन्होंने कहा है कि जन्म-जात जाति नहीं मनुष्य का कर्म प्रधान है। यही वेद का धर्म है।[5] रविदास ने अचेत मनुष्यों को जातिवाद से हटकर राम भक्ति में चित्त लगाने की प्रेरणा दी है।[6]

जातिवाद : दादूदयाल—दादू ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मेरी वही जाति है जो परमेश्वर की है। मैं भी उसी परिवार से हूँ, जिससे परमेश्वर है। अर्थात् यदि परमेश्वर शूद्र है तो मैं भी हूँ।[7] उन्होंने जाति के आधार पर भेद-भाव स्वीकार नहीं किया। वे कहते हैं कि मैने भली प्रकार देख लिया है कि हिन्दू हो या मुसलमान सभी की आत्मा समान है।[8] उन्होंने स्वयं अपने सम्बन्ध में कहा है—मैं हिन्दू हूँ, न

---

1. जाति भी ओछी, जनम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
   हम सरनागति राम राई की, कहै "रविदास" चमारा।। वही पृ० 88
2. नीचहं ऊंच करै मेरा गोविन्दु काहू तैं न डरै। वही पृ०117
3. (अ) जिन्ह करि हिरदै सत बसई, पंच दोष बसि नांहि।
   रविदास तौ न ऊंच भये, समुझि लेहु मन मांहि।।
   गुरु रविदास आज़ाद, पृ० 81
   (ब पंच दोष तजि जो रहई सत चरन लव लीन।
   रविदास ते ही नर जानई उचंह अरू कुलीन।। वही पृ० 133
4. जात पाँत के फेर मांहि, उरझि रहइ सभ लोग।
   मानुषता कूं खात हइ, रविदास जात का रोग।।
   गुरु रविदास आज़ाद, पृ० 81
5. जन्म जात कूं छांडि करि, करनी जात परधान।
   इह्यो बेद को धरम है, करै रविदास बखान।। वही पृ० 81
6. रे चित ! चेति चेत अचेत, काहे न बालमी कहीं देख।
   किसु जाति ते किहं पदहिं अमरिओ, राम भगति बिसेख।। वही पृ० 94
7. दादू कुछ हमारे केशवा सगात सिरजनहार।
   जाति हमारी जगत गुरु परमेश्वर परिकार।। दादू वाणी, पृ० 176
8. सब हम देख्या सोधिकर दूजा नहीं आन।
   सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू मुसलमान।। वही पृ०421

मुसलमान और न ही षट्दर्शन से सम्बन्ध है मैं तो रहिमान में रम गया हूँ।[1] कर्म की प्रधानता पर बल देते हुए उन्होंने कहा है कि हिन्दू और मुसलमान की अपनी-अपनी करनी है अपना-अपना ठौर है दोनों ही संतों के मार्ग को ग्रहण कर सकते हैं।[2]

हिन्दू अपने मार्ग को और मुसलमान अपने मार्ग को श्रेष्ठ मानते हैं किन्तु श्रेष्ठ तो प्रभु का मार्ग है।[3]

दादूदयाल जी कहते हैं कि अल्लाह और राम का भेद समाप्त हो गया है। जब से तेरे दर्शन किये हैं हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं रहा।[4] जो मुसलमान, रहमान को भूल जाये और मन में रखे वह वास्तव में मुसलमान नहीं।[5]

शूद्र कौन है? इसका उत्तर देते हुए दादू ने कहा है कि जो जड़ और अज्ञानी हैं, वही शूद्र है।[6]

जातिवाद : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी ने प्रेम को बड़ा महत्व दिया है। प्रेम

---

1. दादू न हम हिन्दू होहिंगे, न हम मुसलमान।
   षट दर्सन में हम नहीं, हम राते रहिमान॥ वही पृ० 317
2. दादू करणी हिंदू तुरक की, अपणी अपणी ठौर।
   दुहुँ बिचि मारग साधु का, यहु सन्तौं की रह और॥ दादू वाणी पृ० 318
3. दादू हिन्दू मारग कहैं हमारा, तुरक कहै रह मेरी।
   कहाँ पंथ है कहो अलह का, तुम तौ ऐसी हेरी॥
   स्वामी दादूदयाल की वाणी, पृ० 48
4. अलह राम छूटा भ्रम मेरा।
   हिन्दू तुरक भेद कछु नाहिं देखौं दरसन तोरा॥ संत काव्य संग्रह, पृ० 2
5. कुपार जेके मन में, मीयाँ मुसलमान,
   दादू पेया झंग में बिसारे रहमान।
   जिस का था तिसकर हुआ, तौ काहे का दोस,
   "दादू" बन्दा बन्दगी, मीयाँ ना कर रोस।
   पोथी अपणा प्यराड करि, हरि जस माहैं लेख,
   पण्डित अपणा प्राण करि, दादू कथहु अलेख॥
   दादू दयाल की बानी, पृ० 128—129
6. देहही को अभिमान देहही सो होइ परचो,
   जड़ता अज्ञान तम शुद्र साईं जानिये।
   इन्द्रानि के व्यापारनि अत्यन्त निपुन बुद्धि,
   तमो रस हु हु करि वैसे हु प्रमानिये॥ संतसुधासार, खण्ड 1, पृ० 629

में जाति-पाँति का तथा कुल आदि का कोई स्थान नहीं है।[1] अपने ही मन के भाव के कारण ऊंच-नीच, भला-बुरा, सज्जन-दुर्जन, पंडित-मूर्ख, शत्रु-मित्र और राजा-रंक होते हैं।[2] मोह में बँधकर ऊंच-नीच मानना बहुत बड़ी भूल है।[3] वर्णव्यवस्था पर गहरा व्यंग्य करते हुए सुन्दरदास जी ने कहा है कि केवल सूत का जनेऊ धारण करने से कोई द्विज नहीं हो जाता है। ब्राह्मण तो वह है जो ब्रह्म को जानता है। जो क्षत्री पैदल चलने वालों को नीच समझता है और स्वयं छत्र धारण करके चलता है और क्षत्री कहलाता है, किन्तु वह क्षत्री नहीं है। जो वैश्य झूठ और प्रपंच से व्यापार करता है, वह वैसा वैश्य अर्थात् वह वैश्य कहलाने का अधिकारी नहीं। इसी प्रकार शूद्र की स्थिति है।[4] सुन्दरदास जी कहते हैं यदि तुम उत्तम जाति या बड़े कुल से हो भी, तो इसका अभिमान क्यों इनका अभिमान करना व्यर्थ है।[5]

सुन्दरदास जी कहते हैं ऊँच-नीच को भेद-भाव मिट जाने से असाधु भी संगति पाकर इस प्रकार साधु हो जाता है जैसे शुद्र जल गंगा जल से मिलकर पवित्र गंगा जल हो जाता है।[6]

सुन्दरदास जी ने एक उदाहरण द्वारा जुलाहे को ऊँची जाति में स्थापित

---

1. प्रति कि रीति कछु नांहि राखत जाति न पाँति नहिं कुल गारो।
   प्रेम कुं नेम कहूं नहिं दीखत लाज न कान लाग्यो सब खारो॥
   सुन्दर विलास, पृ० 142
2. नीच ऊँच भलो सज्जन दुर्जन पुनि।
   पंडित मूरख सत्रु मित्र रंक राव है॥
   जोइ कछु देखियो सो अपनो हि भाव है। वही पृ० 107
3. कहूँ भूल्यो नीच मानि, कहूँ मूल्यों ऊँच मानि।
   कहूँ मूल्यो मोह बाँधि कहूँ तो उदासी है॥ वही पृ० 87
4. सूत्र गले महिमेलि भयो द्विज, ब्राह्मण होई के ब्रह्म न जान्यों।
   छत्रिय होइ के छत्र धरयो सिर, हय बाज पैदल सूसम मान्यों॥
   वैस्य भयो वपु की वय देखत, झूठे प्रपंच बनी जाहि ठान्यो।
   सूद्र भयो सूद्र सूद्र सरीरहि, सुंदर आप नहीं पहिचान्यो॥
   वही पृ० 88—89
5. हों अति उत्तम जाति बड़ो कुल हों अतिनी चक्रिया कुल हानी।
   सुंदर चेतनता न संभारत, देह-सरूप भयो अभिमानी॥ वही पृ० 89
6. ज्यूं जाति छुद्र मिलै जब गंगाहि, होई पवित्र उहै जल सोई।
   सुंदर जाति सुभाव मिटै सब, साधु कि संगति साधुहि होई॥
   वही पृ० 124

किया है। सास, बहु को समझाते हुए कहती है बढ़ई ने भली प्रकार चरखा ठीक कर दिया है। अब वह ठीक प्रकार से काम करने लगा है। तू जुलाहे के समान विधि पूर्वक इस प्रकार सूत कात कि सूत का तार टूटने न पाये और रात हो या दिन पूनी घटे नहीं। अर्थात् रात-दिन सूत कातती रहे। यत्नपूर्वक सूत कातने पर जुलाहा भी ऊँची जाति में स्थापित हो जाता है।[1]

जातिवाद : नानक—जाति-पाँति के भेद को दूर कर समाज को एक सूत्र में बाँधने का जो प्रयत्न संतों ने किया, गुरू नानक ने इसे विशेष सम्बल दिया। उन्होंने जातीय बन्धन तोड़ कर मानव जाति बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने जातीय भेद भूलकर मरदाना को अपना साथी बनाकर, अपनी मान्यता[2] को व्यवहारिक रूप दिया। यह कार्य उन्होंने आध्यात्मिक आधार पर किया। सब जीव उस ब्रह्म के ही अंश हैं, फिर कौन ऊँचा और कौन नीचा ? सभी समान हैं। विभिन्न जातियों के संत रविदास, पीपा आदि की वाणियों का संग्रह उन्होंने करके गुरु नानक ने मानव मात्र के लिए संदेश दिया। उनका धर्म मानव धर्म के रूप में सामने आया। उन्होंने कहा अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला ही श्रेष्ठ मानव है।[3]

मक्का में जब काजियों ने उनसे पूछा कि तुम्हारा धर्म क्या है ? तो उन्होंने सोचा कि यदि मैं हिन्दू कहता हूँ तो मारा जाऊंगा और मुसलमान हूँ नहीं; सत्य बात तो यह है कि मैं पाँच तत्वों से निर्मित पुतला हूँ और मेरा नाम नानक है।[4]

उनसे यह भी पूछा गया कि हिन्दू बड़ा है या मुसलमान तो उन्होंने कहा कि शुभकर्मों से विहीन दोनों व्यर्थ है।[5]

गुरु नानक सम्पन्न व्यक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करने में गौरव का

---

1. बढ़ई चरखो भला सँवारयो, फिरने लाग्यो नीकी भांत।
बहू सासु कूँ कहि समुभावै, तू मेरै——— सुन्दर विलास पृ०
2. जाणहु जोति न पूछहु जाति अगै जाति न है। राग आसा० म० 1
3. सो ब्राह्मणु ब्रह्मु बीचारै। आपि तरै सगलै कुल तारै॥
राग धनासरी म० 1, सं० 7
4. हिन्दू कहा तो मारियै, मुसलमान भी नाहिं।
पाँच तत्व का पुतला, नानक मेरा नांह॥
गुरू नानक : व्यक्तित्व और विचार 17
5. पुच्छन गल इमान ही हिन्दू बड़ा कि मुसलमानोई।
बाबा आखे हाजियां शुभ अमला बानों दौवें रोई॥ वही पृ० 17

अनुभव नहीं करते थे।[1] उनकी आस्था थी कि जहाँ पर नीचों के साथ सद्व्यवहार होता है, वहीं पर भगवान की कृपा होती है।[2]

मनुष्य का मूल्य उसकी जाति से नहीं, उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आँको क्योंकि परलोक में जाति-भेद है ही नहीं। उन्होंने लोगों को बताया कि न तो जन्म से न जाति से, न लिंग भेद से और न भाषा से, बल्कि गुणों और कार्यों से मनुष्य का समाज में स्थान आंका जाता है।[3]

नानक कहते हैं कि मैं सदा क्षुद्र जाति से भी क्षुद्र जाति के मनुष्य के साथ रहूंगा उन्हें तथाकथित उच्च जाति से क्या सरोकार? ईश्वर की कृपा उन पर रहती है, जो क्षुद्र मनुष्यों की सेवा करते हैं।[4]

नीच जातियों में जो नीच हैं और उन नीचों में भी जो बहुत ही नीच है, नानक कहते हैं कि मेरे वही संगी-साथी हैं। बड़ों से मैं अपनी क्या तुलना करूँ? जहाँ पर नीच देखे-भाले जाते हैं, वहां तेरी कृपा-दृष्टि होती है।[5]

गुरु नानक कहते हैं कि हे प्रभु तेरी कुदरत कितनी महान् है? तेरे दान कितने बड़े हैं? तुमने जीव-जन्तु की रचना की। तुमने ही कितने रूप रंग और कितनी जातियाँ-अजातियाँ रची है।[6]

महावीर और संत कवियों के समाज सम्बन्धी फुटकर विचार

(1) अनुशासन—महावीर ने कहा है कि मोक्षार्थी सदैव हितानुशासन की

---

1. नीचा अंदरि नीच जाति, नीची हूँ अति नीच।
नानक तिनके संग साथ, वडियाँ सूँ क्या रीस। वही पृ० 26
2. जित्थे नीच सँभालिसनि, तित्थे नदरि तेरी बख्सीस। वही पृ० 26
3. जानो जोत ना पूछो जाती आगे जात न हे। वही पृ० 92
4. नीचा अन्दर नीच जात नीची हूं अत नीच।
नानक तिनके संग साथ बड्यां सगों क्या रीस।
जिथै नीच समालियन तिथै नदर तेरी बखसीस। वही पृ० 92
5. नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।
नानकु तिनकै सगि साथिवडिया सिउ किआ रीस।
जिथै नीच समालीअनि तिथै नदरि तेरी बखसीस ॥ (4) (3)
नानक वाणी पृ० 102
6. केतीआ तेरीआ कुदरती केवड़ तेरी दाति।
केते तेरे जीअ जंत सिफति करहि दिन राति।
केते तेरे रूप रंग केते जाति अजाति (3) वही

अभिलाषा करता है। अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है, उसी के अनुसार आचरण करता है। वह विनय समाधि में कुशल होता है। वह उन्माद से उन्मत नहीं होता।[1] वह कभी अनुशासन से कुपित नहीं होता। शान्त रहता है। शूद्र जनों के साथ-संगत, हास्य व क्रीड़ा नहीं करता।[2]

(2) धर्म व्यवहार— तीन वणिक् मूल पूंजी को लेकर घर से निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, दूसरा मूल को लेकर आता है और तीसरा मूल पूँजी को खोकर आता है। महावीर का कथन है कि वह उक्त धर्म के विषय में भी ठीक घटित होती है।[3]

(3) असामाजिक तत्व- महाबीर के अनुसार निम्न को असामाजिक तत्व माना जाना चाहिए।[4]

1. जो मूर्ख और हिंसक है।
2. जो झूठ बोलने वाला है।
3. जो मार्ग में लूटने वाला है।
4. जो ग्रंथिच्छेदक है।
5. जो चोर, मायाबी और शठ है।
6. जो महापरिग्रही है।
7. जो स्त्री और विषयों में गृद्ध है।

---

1. पेहेइ हियाणुसासणं सुस्सुसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माणमएण मज्जइ विणय समाही आयायाचिट्ठए। म०वा० पृ० 106
2. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा खण्ति सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डोहि सह संसग्गिं, कीउं च वज्जए॥ वही पृ० 63
3. जहां य तिन्नि वणिया मूलं धत्तूण निग्गया।
एगोणत्थ लहई लाह ऐगा मूलेण आगयो॥
एगो मूल पि हरित्ता आगयो तत्थ वणिओ।
ववहारे वसा एसा एवं धम्मे वियाणह॥—महावीर वाणी—पृ० 104
4. हिंसे वाले मुसावाई अद्धाणंमि विलोवाए।
अन्न दत्त हरे तेणे माई कण्हुहरे सढे॥
आयकक्कर भोई य तं दिल्ले चिप लोहिए।
इत्थीविसयगिद्धे य महारंभपारिग्हे॥
आउयं नरए कंखे जहा एसं व एलए॥
भुंजं माणे सुरं मंसं परिवूढे परदमे॥—वही पृ० 98

8. जो सुरा और मांस का खाने पीने वाला है।
9. जो बलवान होकर दूसरों का दमन करने वाला है।

(4) **अपराध**—महावीर ने कहा है कि इस लोक (समाज) में पुण्यहीन मनुष्य अपराध न करता हुआ भी अपराधी हो जाता है और पुण्यवान जीव अपराध करता हुआ भी निरपराधी लोगों के समान हो जाता है।[1]

(5) **मित्र**—महावीर ने कहा है कि हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर से मित्र पाने की इच्छा क्यों करता है।[2] दुःख को सहन कर, निद्रा को जीत कर ही मैत्री भाव का चिंतन करना चाहिए।[3]

(6) **सामाजिक सम्बन्ध**—महावीर ने कहा है कि सभी जीवों के साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि का सम्बन्ध अनेक भागों में हुआ है इसलिए मारने के लिए उद्यम हुआ मनुष्य अपने सम्बन्धी को ही मारता है।[4] मनुष्य किसी के साथ जीवन पर्यन्त मन, वचन, काया से विरोध न करे।[5]

सामाजिक कर्तव्य (नानक)—गुरू नानक कहते है कि मनुष्य को समाज में रहते हुए या उससे दूर होने पर गाफिल नहीं होना चाहिए और न ही दूसरों की दौलत और शान को देखकर कर्तव्य विमुख होना चाहिए। जहाँ भी कोई हो, बिना सतनाम के मन वश में नहीं होता है और न इच्छा निरोध होता है।[6]

समाज सुधार : दादू—दादू ने समाज सुधार की प्रेरणा देते हुए कहा है कि मनुष्य को गौ और बछड़े का ज्ञान प्राप्त कर दूध को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए, गाय के सींग, पूछ, चरण आदि को त्याग कर उसके थनों के दूध का पान

---

1. कारी होइ अकारी अप्पडि भोगो नणो हु लोगम्मि।
   करीवि जणसमक्खं होइ अकारी सपडि भोगो ॥—महावीर वाणी-पृ० 244
2. पुरिसा ! तुम मेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तइच्छसि ?—वही पृ० 25
3. दुखं सप जिण पिद्दा मेंति भावेंहि सुट्ठु वेरग्गं।—वही पृ० 132
4. सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहि।
   तो मारंतो जिवो संबंधी चेव मारेइ ॥—वही पृ० 135
5. प्रभु दोसे णिरकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ।
   मणसा, वयसा चेव कायसा चेव अंतसो ॥—वही पृ० 16
6. हाटी बाटी नींद ना आवे, पर घर चित्तना डोलाई।
   बिन नावै मन टेक ना टिकई नानक भूख ना जाई ॥
   —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 94

करना चाहिए। अतः सार ग्राही प्रवृत्ति से ही समाज सुधार सम्भव है।[1]

दादू ने समाज में पन्थ वाद को लेकर लड़ाई करना बुरा बताया है।[2]

अतः तीर्थंकर महावीर जी के समय में भारतीय समाज सामान्यतः उसी रूप में विद्यमान था, जिस प्रकार अन्य देशों में आज भी विद्यमान है। चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त और भी प्रकार की वन्य जातियां विद्यमान थी। इन विभिन्न प्रकार की जातियों के कुछ तो जाति, धर्म निश्चित थे और कुछ विभिन्न व्यवसायों के आधार पर जातियों का निर्माण हुआ था। उस युग में भी प्रत्येक व्यवसाय के साथ, उस व्यवसाय के शिल्पी अपना अलग संघ बना कर रहते थे।

प्रत्येक वर्ण तथा शिल्प व्यवसाय वाले लोग विवाह करके अपना परिवार बनाते थे और इन परिवारों का प्रायः वर्ण के अनुसार एक समाज बन जाता था। जिस की आचार पद्धति अन्य परिवारों या वर्णों से भिन्न होती थी। किन्तु इस भिन्नता के होते हुए भी देश के विभिन्न भागों में अनेक भाषा भाषी लोगों के अलग मंडल या प्रान्त बने हुए थे किन्तु सांस्कृतिक रूप से समस्त देश में वैदिक धर्म, जैन धर्म अथवा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपने अलग मंडल बनाकर वैदिक कर्मकांड अथवा जैन और बौद्ध जीवन पद्धति के अनुसार आचरण करते थे। समाज में जहाँ एक और अत्यन्त साधु पुरुष विद्यमान थे वही दूसरी ओर असाधु, तस्कर, आदि भी अपने दल बनाकर समाज में अव्ययस्था फैलाते थे। स्वभावतः समाज में फैले हुए पाखंड, अनाचार, अत्याचार और असामाजिक कर्तव्यों के विरोध में तीर्थंकर महावीर, सिद्धार्थ गौतम जैसे महापुरुषों ने तथा संतो ने समाज सुधार व समाज कल्याण के लिये समय-समय पर उपदेश देकर लोगों का मार्ग प्रदर्शन किया। उस प्रसंग में जो उपदेश दिये वे ही तीर्थंकर महावीर की सामाजिक वाणियां है जिस पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

अगले अध्याय में राजनैतिक दशा के सम्बन्ध में जो वचन तीर्थंकर महावीर तथा अन्य संतो ने कहे है उनपर विचार किया जायेगा।

---

1. दादू गऊ बच्छ का ज्ञान गहि दूधरहै त्यौ लाग।
   सींग, पूछ पर हूरै अस्थन लागै धाई॥—सन्त सुधासार-पृ० 480
2. अपने-अपने पन्थ को सबको कोई करै लडाई।
   काथे दादू एक सी अन्तरगति त्यौ लाई॥—वही पृ० 486

—:o:—

अध्याय—5

महावीर की राजनैतिक वाणी के आलोक में हिन्दी का सन्त काव्य

जैन आगम साहित्य में महावीर वाणी संकलित है। महावीर के राजनीति सम्बन्धी विचार आगम साहित्य में व्यवस्थित रूप से उपलब्ध नहीं हैं। वे कथाओं के रूप में हैं। उनके फुटकल राजनीति सम्बन्धी विचारों पर दार्शनिकता का प्रभाव ही मुख्य है।

महावीर के युग में शासन की बागडोर क्षत्रियों के हाथ में थी। उत्तर-पूर्वी भारत में शाक्य, लिच्छवि आदि गणक्षत्रिबहुल और राजशब्दों-पजीवी थे। लिच्छवियों के 7707 राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। कदाचित् ये गण के मुख्य क्षत्रियकुलों के प्रधान थे। लिच्छवियों की न्याय-व्यवस्था विशेष रूप से सुचारू थी। शास्त्रों में भी राजा अथवा "राजशब्दोपजीवी" शुद्धोधन का बाद में उल्लेख आता है। कपिल-वस्तु में शाक्य गण का संस्थागार था। जहाँ पर बूढ़े और जवान एकत्र होते थे और परामर्श से गण के शासन का कार्य चलाते थे। इन गणों की शासन-पद्धति कितनी जनतन्त्रात्मक और कितनी सामन्त-तन्त्रात्मक थी, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता है।[1]

कौशल, मगध आदि जनपदों में भी राजा और उनके सजात क्षत्रिय थे। यद्यपि अजातशत्रु या विडूडम सरीखे राजाओं का बल अपने अमात्यों की कूटनीति,

1. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास—गोविन्द चन्द्र पाण्डेय—पृ० 19

सेना की शक्ति तथा व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक निर्भर था। उनकी मूर्धाभिषिक्तता पर कर्म[1], धर्म और अर्थ की विभिन्न दृष्टियों से राजकीय आदर्श दो रूपों में प्रकट होता है। धर्म की दृष्टि राजा के कर्तव्यों पर अधिक जोर देती थी और अर्थ की दृष्टि राजा की शक्ति पर।[2]

राजाओं और उसके बन्धुओं के मनोविनोद के लिए अनेक व्यसन थे—मृगया, द्यूत, पान, स्त्रियां और युद्ध। किन्तु अनेक राजा अपने अवकाश में धर्म-दर्शन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते थे। केकयराज अश्वपति और काशि राज अजातशत्रु भी ब्राह्मणों को ज्ञान का उपदेश देते पाये जाते है।[3] बुद्ध और महावीर भी क्षत्रिय उपदेशक थे।

इस काल में राजाओं का पारस्परिक संघर्ष उतना ही तीव्र था जितना कि राजाधीन और गणाधीन जनपदों का। जहाँ उपनिषदों में और जातकों में काशी एक बलवान स्वतन्त्र राज्य के रूप में हमारे सामने आती है, महावीर के समय वह कोशल के साम्राज्य का एक अंग बन चुकी है। इसी प्रकार बिम्बिसार के समय में मगध ने अंग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्य गण कोशल की अधीनता स्वीकार करता था। तब भी विदूडम ने उस पर सांघातिक आक्रमण किया और अजातशत्रु ने लिच्छवियों से संग्राम ठाना।[4]

उक्त घटनाओं में गण-राज्यों का ह्रास,राज-तन्त्र का उत्कर्ष और मगध के साम्राज्य का प्रसार स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इस युग के अनेकविध राजनीतिक परिवर्तनों ने स्वभावतः तत्सम्बन्धी विचार विमर्श को प्रोत्साहित किया और दण्डनीति की उस परम्परा को जन्म दिया जिसकी परिणित काल के कौटलीय अर्थशास्त्र में अस्पष्ट होती है। अनेक ब्राह्मण विचारकों ने चक्रवर्ती राजाओं का आदर्श निरूपित किया था और इस आदर्श का तत्कालीन आकर्षक इससे स्पष्ट है कि बौद्धों ने उस का आध्यात्मिक क्षेत्र में उपयोग करना चाहा।[5] राज्य की उत्पत्ति तथा गणों के बलाबल पर दीघनिकाय, लक्खनसुत्तन्त में विस्तार से चर्चा हुई है।

अंगुत्तरनिकाय की एक प्रसिद्ध सूची के अनुसार महावीर के युग में सोलह महाजनपद थे— कासी, कोसल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेतिय वंस, कुरू, पांचाल, मच्छ, सूरसन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज।[6] जैन वियाहपन्नत्ति में अंशतः

---

1. तु० जे० बी० आर ए० एस०, 1921—पृ० 186-87
2. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास—पृ० 19
3. छा० उप० 5011, प्र० बृ० उप० 201
4. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास—पृ 18
5. दीघ० लक्खन-सुत्तन्त, चक्कवत्ति—सीहनादसुत्तन्त, दि० अ-नीरो।
6. अंगुत्तर (रो०) जि० 1 पृ० 213, जि० 4, पृ० 252, 256, 260

भिन्न सूची दी गयी है जिस में बंग, पांड्य (मध्यभार्यखण्डस्य देश ?) और लाट (गुजरात के प्राचीन काल में तीन भाग थे उनमें से गुजरात का मध्य व दक्षिण भाग लाट कहलाता था) के नाम उल्लेखनीय हैं।

जनपद परस्पर संघर्ष में निरत थे और उनकी स्थिति परिवर्तनशील थी। सुदूर उत्तर-पश्चिम में शाखामनीषी साम्राज्य का प्रचार महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि इस प्रकार की देश-गत और कालगत विषय में अथवा इसके तत्कालीन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक प्रभाव के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है। महावीर युग के उदीच्य भारत का महत्व पाणिनी की अष्टाध्यायी में उल्लिखित है।[1]

अतः स्पष्ट है कि महावीर युग राजनैनिक चेतना की दृष्टि से जागरूक युग था और इसे राजनीति का स्थापना-युग भी कहा जा सकता है।

राजा : महावीर

जैन आगम साहित्य के अनुसार ऋषभ को प्रथम राजा माना गया है, जिनकी राजधानी अयोध्या थी। इनसे पहले न कोई राज्य था न राजा। सभी धर्माचरण करते हुए जीवन यापन किया करते थें। उस समय राज्य और राजा की आवश्यकता अनुभव ही नहीं की गई।

किन्तु तीसरे काल में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि यतिगण धर्म से भ्रष्ट हो गये। कल्पवृक्ष प्रभावहीन हो गये। युगल सन्तानों को लेकर प्रजा में झगड़े होने लगे। चारों ओर अव्यवस्था फैलने लगी। कुछ प्रमुख लोग एकत्रित होकर "नाभि" के पास पहुँचे और स्थिति से अवगत कराते हुए, समाधान की प्रार्थना की। इस पर "ऋषभ" का राजपद पर अभिषेक किया गया।[2]

निशीथभाष्य के अनुसार राजा को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिये। यदि वह स्त्रियों में आसक्त रहने वाला, छूत रमण करने वाला, मद्यपान करने वाला, शिकार में व्यस्त, कठोर वचन बोलने वाला, कठोर दण्ड देने वाला तथा धन लोलुप होता है तो वह शीघ्र समाप्त हो जाता है।[3] उसे मातृ एवं पितृ दोनों पक्षों से शुद्ध होना चाहिए। लोकाचार, वेद और राजनीति में कुशल तथा धर्म के प्रति श्रद्धावान होना चाहिये।[4]

---

1. पाणिनिकालीन भारत-वासुदेव शरण अग्रवाल।
2. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 2.29, एवं आवश्यक चूर्णी—पृ० 153-57
3. निशीथभाष्य 15, 4799
4. व्यावहारभाष्य 1, पृ० 128-अ आदि।

निशीथचूर्णी में एक प्रसंग आता है कि राजा उद्रायण ने उज्जैन के राजा प्रद्योत को श्रमणोपासक जानकर, उसके मस्तक पर बने हुए श्वान के पैरों के चिन्ह ढंकने के लिये उसे सुवर्णपट्ट पहना दिया था, तब से पट्टबद्ध राजाओं का राज प्रारम्भ हुआ इससे पहले मुकुटबद्ध राजा होते थे ।[1]

प्रायः राजा वंशपरम्परागत होता था। राजा की मृत्यु के उपरान्त उस का इकलौता पुत्र राजा होता था। किन्तु अन्य भाई होने की स्थिति में साधारणतया ज्येष्ठ पुत्र राजा होता था और कनिष्ट भाई युवराज कहलाता था।

महावीर के अनुसार दो प्रकार के राजा होते थे-सापेक्ष और निरपेक्ष। सापेक्ष राजा अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्र को युवराज घोषित कर दिया करते थे। इससे गृहयुद्ध की स्थिति टल जाती थी। निरपेक्ष राजा वे होते थे, जिनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र को राजा घोषित किया जाता था।[2]

राज पुत्रों के राजा बनने की लालसा के कारण राजा उनसे भयभीत रहता था। राजपुत्र कुचक्र रचते रहते थे। विपाकसूत्र में एक ऐसे राज कुमार का उल्लेख मिलता है जो नंदिवर्धन नाम से जाना जाता था। उसने एक नाई से मिलकर अपने पिता की हत्या का कुचक्र मथुरा का राज्य हड़पने के लिए रचा था।[3]

पुत्रविहीन राजा की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार का प्रश्न जटिल हो जाता था। ऐसी स्थिति में मन्त्रियों की सलाह से धर्मश्रवण आदि के बहाने साधुओं को राजभवन में आमन्त्रित कर उनके द्वारा सन्ततोत्पत्ति करायी जाती थी।[4] अथवा नगर में एक दिव्य घोड़ा घुमाया जाता था। वह जिसके पास ठहर जाता था, उसे ही राजा घोषित कर दिया जाता था।[5]

राज्य-शासन में स्त्रियों का उल्लेख नगण्य सा है। महनिशीथ में एक विधवा कन्या का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है, जो सती हो जाना चाहती थी, लेकिन राजकुल में सती होने की परम्परा न होने के कारण वह सती नहीं हो सकी। उत्तराधिकारी न मिलने पर उसे राजा बना दिया गया था।[6]

महावीर ने राजा के प्रधान पुरुषों में युवराज, अमात्य, श्रेष्टि और पुरोहित

---

1. निशीथचूर्णी—पृ० 52
2. दोच्चं शुवरायणं रायिसिचति ताव ताव जुवरज्जं भराणति-निशीथचूर्णी—11·3363 की चूर्णी
3. विपाकसूत्र 6,—पृ० 36
4. बृहत्कल्पभाष्य—4·4958
5. (अ) उत्तराध्ययनटीका 3, पृ० 63—अ, (ब) औपपातिक सूत्र-2, पृ० 44
6. महानिशीथ—पृ० 30

की गणना की है।[1] इनके अतिरिक्त ग्राममहत्तर, (गाँव का मुखिया) राष्ट्रमहत्ता[2] (राष्ट्र का मुखिया) गणनायक, दण्डनायक, तलवा+[3] कोट्टपाल, कोटुम्बिक, ज्योतिषी, वैद्य, श्री मंत, ईश्वर, सेनापति, सार्थवाह, संधिपाल, पीठमर्द महावत, यानशालिक (यानचालक), विदूषक, दूत, चेट, वार्तानिवेदक, किंकर, कर्मकर, असि ग्राही, धनुग्राही, कोंतग्रही (भाला धारण करने वाला) छत्रग्राही, चामरग्राही, वीणाग्राही, भाण्ड, अभ्यंग लगाने वाले, उबटन मलने वाले, स्नान कराने वाले, वेषभूषा कराने वाले, पैर दबाने वाल, कर्मचारी होते थे।[4]

औपपातिकसूत्र के अनुसार युवराज अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों, बहत्तरकलाओं, अठारह भाषाओं के अतिरिक्त गीत, नृत्य, हस्तियुद्ध, अश्व-युद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुययुद्ध, लतायुद्ध, रथयुद्ध, धनुर्वेद आदि में निपुण होना चाहिए।[5]

उक्त पदों में अमात्य का पद अत्यधिक महत्वपूर्ण था। वह अपने जनपद, नगर और राजा के सम्बन्ध में सदा चिन्तित रहता था, व्यवहार और नीति में निपुण होता था।[6]

पुरोहित का काम धार्मिक कार्यों में सलाह देना था।[7] श्रेष्ठी अर्थात नगर सेठ प्रजा का रक्षक होता था।[8]

जैन आगम साहित्य में पाँच प्रकार की परिषदों का उल्लेख प्राप्त होता है, जो शासन व्यवस्था में राजा की सहायता करती थी।[9] 1—पूरयंती परिषद् 2—छत्रवती परिषद् 3—बुद्धि परिषद् 4—मन्त्री परिषद् 5—राहस्यिकी परिषद्।

राजा जब यात्रा के लिए कहीं जाता था, उस समय उसकी सेवा में रत राज कर्मचारियों को पूरयंती परिषद् कहा जाता था। छत्रवती परिषद् के सदस्यों का काम राजा के सिर पर छत्र धारण करना था। वे राजा के साथ केवल बाहूय शाला तक

1. औपपातिक सूत्र—40—पृ० 185
2. निशीथभाष्य, 4. 1735
3. निशीथभाष्य, 9. 2502
+ कोतवाल
4. मिलिन्द प्रश्न—पृ 114
5. औपपातिक सूत्र—पृ० 185
6. व्यवहारभाष्य 1, पृ० 129
7. स्थानांग सूत्र—7. 558
8. बृहत्कल्पभाष्य 3. 3. 757 वृत्ति, राजप्रश्नीय टीका— पृ० 40
9. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका 378-383

ही जा सकने थे। बुद्धि परिषद् के सदस्यों का दायित्व लोक प्रचलित प्रवादों की छानबीन करना था। मंत्री परिषद् के सदस्यविद्वान तथा वयोवृद्ध होते थे। एकान्त में राजा के साथ मन्त्रणा करते थे। राहस्यिकी परिषद् के सदस्यों का काम राजा तक रानी के रूठने, रजस्वला होने के बाद स्नान करने, राजकुमारी के विवाह योग्य होने तथा रानियों के गुप्त प्रेम आदि की सूचना पहुँचाना था।

पूरयंती परिषद् के सदस्य यात्रा में राजा की सेवा में उपस्थित रहते थे। छत्रवती परिषद् के सदस्य राजा के सिर पर छत्र धारण करते थे। बुद्धि परिषद् के सदस्य लोक, वेद और शास्त्रों के पंडित होते थे। मंत्री परिषद् के सदस्य राजशास्त्रों के ज्ञाता होते थे। राहस्यिकी परिषद् का कार्य रानियों के गुप्त प्रेम आदि की सूचना राजा तक पहुँचाना था।

महावीर ने कहा है कि उक्त सारी व्यवस्था होने पर भी राजा का सारा परिवार तथा धन्वतरि वैद्य भी असंयम और दया की उपेक्षा करते हुए भी कर्मेन्द्रीय से उत्पन्न राजा की वेदनाशान्त करने में असमर्थ होते हैं।[1]

काम भोगों में लिप्त राजाओं को सम्बोधित करते हुए महावीर ने कहा है कि हे राजन्! इन मनोरम काम भोगों को छोड़कर जब तू मृत्यु को प्राप्त होगा तो एक मात्र धर्म ही त्राण देगा।[2]

राजा: नामदेव—नामदेव की वाणी में राजा के लिये सुल्तान और बादशाह आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। नामदेव के अनुसार केवल लोकिक रूप से धनी कोई राजा नहीं होता। राजा वह है जिसके हृदय में परमेश्वर के प्रति प्रेम है, फिर वह दुनिया की दृष्टि से भिखारी ही क्यों न हो।[3] उनके मतानुसार नरहरि सब से बडा राजा है।[4] सुलतान पूछता है संसार में तेरे काम कोन आयेगा? अर्थात राम ही तेरे काम

---

1. राया दिगुडं् वीणं अद्याए असंजम करंताणं.
   धण्णंतरी कि कादं्ण समत्थो वेदणोवसमं ॥ + भग० आ० 1611
2. मरिहिसिरायं! जया तथा वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
   एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ — उ० 14:40
3. जब हम हिरदै प्रीति विचारी, रजबल छाँडि भए भिखारी।
   जब हरि कृपा करी हम जानां, तब था चेरा अब भए रांना।
   नामदेव कहै मैं नरहर गाया। पद खोजत परमारथ पाया।
   हिन्दी पदावली 11
4. पूरले लक्ष्मी पियारी चंद सर जाके दिवला, कंदर्प काल जाने बापुला।
   कोटवाल पुत्र साधरी, असो राजा है नरहरि। पृ० 150

आयेगा।[1]

बादशाह को गज-हसती का अभिमान नहीं होना चाहिए।[2] नामदेव कहते हैं कि कुम्हार के घर हांडी, ब्राह्मण के घर रांडी अच्छी लगती है उसी प्रकार राजा के घर सांडी (ऊटनी) अच्छी लगती है।[3]

राजा : कबीर—कबीर कहते हैं कि प्राय: स्वार्थी तत्व हरियाई गाय के समान राजा के चारो और चक्कर काटने लगते हैं।[4] जो शासक विलासी और निरंकुश है, जनता उससे दूर रहती है।[5] किन्तु राजा उनकी विशेष चिन्ता नहीं करता।[6] अधिकारीगण तो क्रूर और मांस नोचने वाले गीध के समान होते हैं।[7] कबीर ने दुराचारी राजा को परपंची कहा है।[8] कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि दुनिया माया के अधीन है, उसकी आँखों के आगे माया का परदा पड़ा हुआ है, इसीलिए तो जो भी धनवान होता है, उसी जीव को यह मनुष्य राजा कहने लगता है। राम को न जानने के कारण ही ऐसा होता है।[9] कबीर कहते हैं कि एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब राजा को भी बिछड़ना होगा।[10]

राजा : रविदास—रविदास जी ने कल्याणकारी राज्य की कल्पना करते हुए कहा है कि मैं ऐसा राज्य चाहता हूँ, जहाँ सबको अन्न प्राप्त हो। छोटे-बड़े सभी

---

1. सुलतानु पूछे सुनु बे नामा, देखऊ राम तुमारे कामा।
   बिसमिति गऊ देहु जीवाइ, ना तरु गरदनि मार उठाइ॥ पृ० 111
2. बादिसाहु चड़िओ अहंकारि, गज-हसती दीनो चमकारी। पृ० 111
3. कुम्भार के घर हांडी आछै, राजा के घर सांडी गा।
   बामन के घर रांडी आछै, रांडी, सांडी, हांडी गो॥ पृ० 102
4. राज दुआरे यौं फिरे, ज्यूं हरियाई गाय। क०ग्र० : अंग 17, साखी 6
5. जांण भगत का नित मरण, अणंजाणो का राजा।
   सर अवसर समझे नहीं, पेट मरण सूं काज। वही—अंग 29, सां० 7
6. राजा रंक दोऊ मिलि रोवै — वही— पद 131
7. को अस करे, नगर कोतवलिया।
   मांसु पसारि गीध रखवरिया॥ कबीर : बीजक, पृ० 260, 95
8. राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी। वही शब्द 64
9. कबीर रांमहिं थोड़ा जांणि करि, दुनियां आगै दीन।
   जीवों कूं राजा कहैं, माया के आधीन॥ क०ग्र० 58
10. कबीर एक दिन ऐसा होइगा, सब थे पड़े बिछोह।
    राजा राणां छत्रपति, सावधान किन होई॥ वही पृ० 39

समान रूप से राज्य में निवास करे। सभी प्रसन्न रहे। कोई दु:खी न रहे।[1]

रविदास जा कहते हैं कि पंडित हो, शूरवीर अथवा स्वयं राजा किन्तु इनमें से एक भी भगवान के भक्त की बराबरी नहीं कर सकता।[2] अतः मन विषय वासनाओं के कारण नंद के द्वार से बिछड़ गया है। रविदास कहते हैं कि सबसे बड़े राजा का स्मरण करना चाहिए।[3]

रविदास के अनुसार सांसारिक राजा होना तो ऐसा है जैसे स्वप्न में कोई राजा भिखारी हो जाये और छत्र आदि बिछड़ने से दुःखी हो जाये।[4]

रविदास जी कहते हैं कि हे प्रभु ! तू सुलतानों का सुलतान है, मैं तो अंजान सकिस्तान (पराजित) हूँ।[5] एक स्थान पर उन्होंने अपने लिए "चमराज" (बहुत बड़ा चमार) शब्द का प्रयोग भी किया है।[6]

राजा : दादू—दादू के अनुसार अन्य मनुष्यों के समान छत्रपति राजा को भी भगवान ने कागज का ही मनुष्य बनाया है। हरि की कृपा के बिना राजा अपना राज-पाट सुचारू रूप से नहीं चला सकता।[7]

राजा : सुन्दरदास—सुन्दरदास कहते हैं कि राजा अहंकार के तथा भ्रम के कारण गर्वोक्ति कहता है कि मेरी आन है, मेरा चक्र चारों ओर चलता है। किन्तु खेद है कि वह रंग वहीन द्रव्य के समान है।[8] राजा राज्य करने की लालसा से सारी

---

1. ऐसा चाहूं राजा में, जहां मिलै सबन कौ अन्न।
छोट बड़ो सभ सब बसैं, रविदास रहें प्रसन्न ॥
गुरू रविदास आजाद पृ० 57
2. पंडित सूर छात्रपति राजा, भगत बराबरि अउरू न कोइ। वही पृ० 121
3. द्वारै नंद-सा बिकट विष कारन, भूलि परयौ मन या बिषिया बन।
कहै रविदास सुमिरौं बड़ राजा, काढि दियौं जन साहिब लाजा।
संत गुरू रविदास वाणी—डॉ० वी० पी० शर्मा —पृ० 124
4. नरपति एकु सिंघासनि खोइया, सुपने भइआ भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुःख पाइआ, सो गति भई हमारी ॥ वही पृ० 97
5. तू सुलतान सुलताना, बंदा सकिस्तान अजाना।
संत गुरु रविदास वाणी, डॉ० वी० पी० शर्मा पृ० 94
6. बिरद तजो कै बिरद संभारौ, कहे रविदास 'चंमराज'। वही पृ० 125
7. कागज का माणस किया, छत्रपती सिर मौर।
राजपाट साधै नहीं, दादू परिहरि और ॥ दादूदयाल पृ० 115
8. मैं हूं राजा मेरी आन, फिरै चहूं चक्र माहिं।
मैं सो रंग द्रव्यहीन, मोहिं तो संताप है। सुन्दर विलास पृ० 88

पृथ्वी को अपने इशारे पर नचाता है ।[1] किन्तु पृथ्वीपति होकर वह पाताल पर राज्य स्थापित करना चाहता है । इतना ही नहीं वह स्वर्ग-पाताल पर भी राज्य करना चाहता है ।[2] वह एक पृथ्वीपति होकर तृप्त नहीं होता वह दस-बीस और असंख्य पृथ्वियों का राजा होने की चाह उसके मन में जगेगी ।[3] अतः वह राजा नहीं भांड है ।[4]

सुन्दरदास कहते हैं कि उसी राजा का प्रजा द्वारा सम्मान किया जाता अर्थात् प्रजा उसी राजा के सामने झुकती है, जिस के मन में राम नाम का वास होता है । अन्यथा लोग राजा से डरते रहते हैं ।[5] जब राजा के शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा रूपी देव प्रकट हो जाता है तो राजा छोटे-बड़े का भेद भूल कर रंक की सेवा भी करता है ।[6]

सुन्दरदास कहते हैं कि राजा होना आँख बन्द का स्वप्न है । आंख बन्द होने पर राजा भिखारी हो जाता है और आंख खुलने पर महाभूप होता है । यह ऐसे ही हैं,

---

1. रंक कु नचावै अभिलाख धन पाइबे की,
निसि दिन सोचकरि ऐसे ही पचत है ।
राजा ही नचावै सब भूमि ही को राज लेवें,
औरइ नचावै जोई देह सूं रचत है ।। वही पृ० 52
2. जो दस, बीस, पचास भये सत, होइ हजार तु लाख मंगैगी,
कोटि, अरब्ब, खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी ।
स्वर्ग पाताल को राज करौं, तृस्ना अधिकी अति आग लगैगी ।
सुन्दर एक संतोष बिना सठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी ।।
सुन्दर विलास पृ० 34
3. जो दस, बीस, पचास, भये सत होइ हजार तु लाख मगैगी ।
कोटि, अरब्ब, असंख्य पृथ्वीपति होने की चाह जगैगी ।।
संतवानी, भाग-2, पृ० 107
4. तैं सब लोग भ्रमाय भली विधि ।
भांड किये सब इकट्ठ राजा ।। सुन्दर विलास पृ० 38
5. राम नाम जा के हिये ताहि नवें सब कोइ ।
ज्यों राजा की संक तें सुन्दर अतिडर होइ ।।
संतवाणी संग्रह, भाग-1 पृ० 102
6. देव माहिल ते देवल प्रगटयो, देवल माहीं प्रगटयो देव ।
सिष्य गुरुहि उपदेसा न लग्यो, राजा करैं रंग की सेव ।।
सुन्दर विलास, पृ० 78

जैसे भ्रम के कारण कहे कि मेरा सिर कहां है ? भ्रम दूर होने पर सिर का अनुभव करने लगे ।[1]

सुन्दरदास के अनुसार शरीर में जब तक चेतन है तभी तक हजूर, सुलतान और तख्त का सम्मान है ।[2] एक न एक दिन सभी को जाना है। वह राजा हो या रंक[3] यौवन के जाते ही सब राज-साज समाप्त हो जाता है ।[4]

सुन्दरदास जुल्म का कारण राजा को मानते हुए कहते हैं कि राजा ग्राम छोड़कर चला गया है, यह जानकर चारों ओर शोर मच गया है। प्रजा उसके चले

---

1. जैसे कोई राजा पुनि सोवत भिखारी है ।
आंख उघरें तो महाभूपन को भूप है ।
जैसे कोऊ भ्रमहु ते कहे मेरा सिर कहा ।
भ्रम के गये जानें सिर तदरूप है ।
तैरे ही सुन्दर यह भ्रम करि भूल्यों आप ।
भ्रम के गये ते यह आतमा अनूप है ।। सुन्दर विलास, पृ० 13

2. देह तो सुरूप तो लो जो लो है अरूप मांहि ।
सब कोउ आदर करत सनमान है ।।
टेढ़ी पाग बांधि बार, बा रही मरोरै मूछ ।
बांहहू संवारै अति धरत गुमान है ।।
देस-देस ही के लोग आप के हुजूर होई ।
बैठि करत तखत, कहावे सुलतान है ।।
सुन्दर कहत जब, चेतन सकति गई ।
उहै देह ताकी कोऊ, मानत न आन है ।। वही पृ० 33

3. केते राव राजा रंग भये रहे चले गये,
मिलि गये धूरि माहीं आये ते कहानी में । वही पृ० 19

4. जोबन को गयो राज और सब भयो साज,
अपनी दुहाई फेरी दमामों बजायो है ।
लुकटी हथियार लिये नैंन कर ढाल दिये,
सेंत बार भये ताके तंबू सो तनायो है ।
नसन गये सु मानो दरबान दूरि किये,
जो गरी परी सो आन बिछाने बिछायो है ।
सीस कर कंपत सु सुन्दर निकारयो रिपु,
देखत ही देखत बुढ़ापो दौरि आयो है ।। वही पृ० 13

जाने से सुखी हो गई है और ग्राम में जुल्म, जोर समाप्त हो गया है।[1]

राजा : मलूकदास—मलूकदास कहते हैं, हे प्रभु मेरे लिए तो तुम ही राजा हो।[2] उन्होंने मन को भी एक स्थान पर राजा मानते हुए उसे राम नाम लेने की प्रेरणा दी है।[3] ढोंगी राजाओं को लक्ष्य कर मलूकदास कहते हैं कि ये प्रकट तो यह कहते हैं कि बिना गऊ को दान किये वे भोजन नहीं करते किन्तु वे नरक में जाते हैं। वे अपने पूर्व जन्म की संचित जमा भी गवां देते हैं। वे तो गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं।[4]

मलूकदास के अनुसार राजा का शरीर भी अन्य मनुष्यों के समान लोहू आदि का बीज है जिसके ऊपर सुन्दर छिलका रूपी चादर मढ़ी हुई है। ऐसी वस्तु अर्थात् शरीर के लिए सारवान वस्तु खो कर मनुष्य अपना ही अहित कर रहा है।[5]

मलूकदास की दृष्टि में राजा—रंक सभी मोह के बन्धन है।[6]

राजा: नानक—गुरू नानक ने तत्कालीन राजाओं का भयानक चित्रण किया है। वे कहते है कि राजा कसाई हो गये है।[7] वे उसकी तुलना हिंसक सिंह से करते हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि राजा (शासक) सिंह के समान हिंसक होता है। और उसके

---

1. पहराइत वर मुसो साह को, रच्छा करने लागो चोर।
कोटवाल काठों करि बाध्यो, छूटें नहीं सांझ अरु भोर॥
राजा ग्राम छोडि कें भाग्यों हूवो सकल जगत में सोर।
परजा सुखी भई नगरी में, सुन्दर कोई जुलुम न जोर॥
सुन्दर विलास, पृ० 81
2. एक तुम्हें प्रभु चाहो राजा।
भूपति रंक संति नहि पूछों चरन तुम्हार सवारयों काज॥
मलूकदास की बानी, पृ० 5
3. राम नाम क्यों लीजें मन राजा।
काहु भांति मेरे हाथ न आवें महा बिकट दल साजा॥ वही पृ० 9
4. लच्छ गऊ दे अन्न खात थे, राजा नृग से प्यारे।
पुन्न करत जमा और गँवाई, लैं गिरगिट कें डारे॥ वही पृ० 15
5. होता बीज औंट के लोहू, सो देंही का राजा।
ऐसा वस्तु अकारथ खोवें, अपना करें अकाजा॥ वही पृ० 11
6. उनकी नजर न आवते, कोई राजा रंक।
बंधन तोड़े मोह के फिरते निहसंक॥—संतबानी संग्रह, भाग—2, पृ० 9
7. कलिकाती, राजे कासाई धरमु पंख करि उडरिआ।
विचि हउमै करि दुख रोई। कहु नानक किनी बिधिगति होइ॥—श्री गुरू
—ग्रंथ साहिब: वार मलार की महला।—पृ० 145, 1288

अधिकारी कुत्तों के समान हैं, जो शान्त बैठे अथवा सोते हुए लोगों को अकारण ही जगा देता है। राज्य के अन्य कर्मचारी उन कुत्तों के समान हैं, जो अपने नाखूनों से घाव करके खून पी जाते हैं।[1]

गुरू नानक से आध्यात्मिक आधार पर कहा है कि सरकार, बादशाह, राजा, खान, और चौधरी का अभिमान भी सामान्य जन के समान नष्ट हो जाता है। अहंकार में उस की वही स्थिति होती है, जैसे दावाग्नि में सरपत की होती है।[2] सुलतान आदि सभी को एक न एक दिन कूच करना है।[3]

गुरू नानक के अनुसार राजपाट आदि वृक्ष की छाया के समान छणिक हैं। इनमें लिप्तता निष्फल है।

राजभवन: महावीर—

महावीर युग में राजा के रहने के स्थान को राजभवन तथा देवों के निवास स्थान को प्रासाद कहा जाता था।[4] एम्पा नगरी अपने श्रेष्ठ भवनों के कारण विख्यात थी।[5] निशीथचूर्णी में एक खंभेवाले भवन का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] राजभवनों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अन्त: पुरों का उल्लेख आगम साहित्य में हुआ है। जीर्ण अन्त: पुर, नव अन्त: पुर और कन्या अन्त: पुर इनके उदाहरण हैं। इनमें आयु के

---

1. राजे सीह मुकद्दम कुत्ते। जाये जगाइन बैठे सुत्ते।
चाकर नहंदा पाइन्ह घाउ। रत पित कुतिहो जाहु।
गुरू नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 2
2. महर मलूक कहाईक राजा राउ कि खानु।
चउधरी राउ सदाईये चलि बलीऐ अभिमानु ॥
मनमुखि नासु विसारिआ लिउ डवि दधा कानु (6) नानक वाणी— 158
सुलतान खान मलूक उमरे एण्ड करि-करि कूतु।
घड़ी मुहति कि चलणा दिल समझु तं भि पहुचु (4) वही—पृ० 160
3. राज पाट अरू अनिक जाग रस, सकत तरवर की छांम।
छ्याइ छ्याइ बहुत विधिकरि सकल निरफल कांम (1)
गुरू नानक वाणी (गु० प्र० सा0 केश0)—पृ0 37
4. व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका 5. 7, पृ० 228
5. ओपपातिक सूत्र 1,
6. निशीथचूर्णी पीठिका, पृ० 9

अनुसार स्त्रियों को रक्खा जाता था।[1] कांचनपुर के राजा विक्रमयश के अन्तः पुर में 500 रानियां रहती थी।[2] नपुंसक और वृद्ध अन्तः पुरों की रक्षा के लिये रहते थे।[3] बचपन में ही बच्चे को नपुंसक बनाने की प्रथा का प्रचलन।[4] केवल कंचुकी ही राज के भवन में जा सकती थी। दण्डधर दण्ड धारण कर तथा दौवारिक द्वार पर बैठकर अन्तः पुर की रक्षा करते थे।[5]

राजभवन (महल) मलूकदास—मलूकदास ने "महल" शब्द का प्रयोग राज-महल के अर्थ में न कर के प्रासाद के अर्थ में किया है। वे कहते है कि यह महल हर अर्थात प्रभु का है और इसमें बैठकरे उसे भी पुकारना चाहिये।[6] अन्यत्र वे कहते हैं कि मेरा महल तो शून्य में है और उसमें निर्गुण की सेज बिछी हुई है। गुरु-चेले दोनों ही बड़े आराम से इसमें सो रहे हैं।[7]

मलूकदास ने राजभवन के अर्थ में भी "महल" शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि जो महलों में गाफिल होकर मीठी नींद में सोते हैं और कभी नहीं जागते उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है।[8]

कर: महावीर—

व्यवहार भाष्य में कर सिद्धान्त का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके अनुसार राजा को प्रजा से दसवां हिस्सा करके रूप में लेना चाहिये।[9] इस युग में पैदावार के

---

1. वही 9. 2513 की चूर्णी
2. उत्तराध्ययनटीका 18, पृ० 239
3. वृहत्कल्पभाष्य 4. 51 66-67
4. औपपातिक सूत्र 9, पृ० 25
5. वही।
6. मेहर का आसा और तमासा भी मेहर का।
   मेहर के महल बिच मेहरबान को मनाइये॥—मलूकदास की बानी पृ० 28
7. सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई।
   चेला गुरु दोउ सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई॥—मलूकदास की बानी— पृ० 21
8. मीठा नींद सोये सुख अपने, कबहुँ नहिं अलसाने।
   गाफिल होके महल में सोये, फिर पाछे पछिताने॥—वही पृ० 13
9. व्यवहार भाष्य 1, पृ० 128-अ

अनुसार कर की दर में परिवर्तन होता रहता था। खेत आदि के अतिरिक्त प्रत्येक घर से भी लिया जाता था। उल्लेख प्राप्त होता है कि शूर्परक नगर में व्यापारियों के 500 घर थे। उन पर राजा ने एक रुपया परिवार कर लगा दिया था। इनमें कर देने का प्रचलन नहीं था। अतः अपनी परम्परा की सुरक्षा के लिए ये व्यापारी जल कर मर गये थे।[1] इस युग में बिक्री कर भी प्रचलित था।

कर वसूल करने वालो को शुल्क पाल कहा जाता था जो बड़ी निर्दयता से कर वसूल करते थे। अधिनस्थ राजाओं से कर वसूल करने के लिये उन पर आक्रमण भी किये जाते थे।[2]

जैन आगम साहित्य में निम्न करों का उल्लेख मिलता है।

1. गोकर (गाय बेचकर दिया जाने वाला कर) 2. महिषकर 3. उष्ट्रकर 4 पशुकर 5. छगलीकर (बकरा कर) 6. तृणकर 7. पलालकर (पुवालकर) 8. बुसकर (भूसा कर) 9. काष्ठकर 10. अंगाकर 11. सीताकर (हल पर लिया जाने वाला कर) 12. अंधाकर (चरागाह पर कर) 13. बलिवर्दकर (बैल पर कर) 14. घटकर 15. चर्मकर 16. चल्लकर (भोजन पर कर) 17. उंबरकर (परिवार से लिया जाने वाला कर) आदि।

ये कर गाँवों में से वसूल किये जाते थे। नगर इनसे मुक्त रहते थे। नगरों से कर वसूल न करने के कारण न×कर=नगर हुआ है।[3] विशेष अवसरों पर कर माफ भी कर दिये जाते थे।

राजस्व: कबीर—कबीर के समय में राज्य-कर की वसूली सख्ती से की जाती थी।[4] उनकी वाणी में कर निर्धारण से सम्बन्ध अधिकारियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

---

1. निशीथभाष्य 16. 5 153
2. आवश्यकचूर्णी 2, पृ० 190
3. नत्थेत्थ करो नगर-बृहत्कल्पभाष्य 1. 1089
4. नउ डाड़ी दस मुंसंक धावहिं। रई अति बसन न देही।
   डोरी पूरी मापहिं नाहिं, बहु विसठाला लेहिं॥—संतकबीर, 15
5. गाँव कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
   जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोंको मारै हो राम॥
   खोटो महतो विकट बलाहीं, सिर कसदम या पारै।
   बुरो दीवान दाद नहिं लागै, इक बांधै इक मारै हो राम॥
   धरमाराइ जब लेख्या मांग्या, बाकी निकसी भारी।
   पांच किसाना भजि गए हैं, जीव घर बांधयौं पारी हो राम॥
   —कबीर ग्रंथावली, पद 222

न्याय : महावीर

जैन आगम साहित्य के अनुसार न्यायाधीश के लिये कारणिक या रूपयक्ष शब्द का प्रयोग होता था। इनके लिये कहा गया है कि इन्हें दण्डनीति में कुशल और निष्पक्ष होना चाहिये।[1]

महावीर युग में प्रायः राजा बड़े निरंकुश थे। साधारण से अपराध के लिए कठोर दण्ड दे दिया करते थे। कभी-कभी तो निरपराधी दंडित हो जाते थे और अपराधी छूट जाते थे।[2]

महावीर ने न्याय पक्ष में शास्त्र अध्ययन की सार्थकता बताते हुए कहा है कि दीपक हाथ में होते हुए भी यदि मनुष्य कुएँ में गिर जाये तो दीपक हाथ में लेने का क्या लाभ? इसी प्रकार यदि मनुष्य शास्त्रों के ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके भी अन्याय करे तो शास्त्र अध्ययन व्यर्थ है।[3]

न्यायः कबीर—कबीर का कहना है कि जीव-वध में किसी भी प्रकार का बल प्रयोग करना अन्याय है। ईश्वर तो सब जीवों के प्रतिन्याय चाहता है। जब ईश्वर के द्वार पर खूनी पहुँचेगा तो उसके मुख पर ताबड़-तोड़ प्रहार होंगे। उसे भी उसी प्रकार यातनायें दी जायेगी, जैसे वह अन्य जीवों को देता है। कबीर काजियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि बाह्याडम्बर से परिपूर्ण तुम्हारी बंदगी झूठी है।[4] कबीर वाणी में दण्ड व्यवस्था की पद्धतियां भी मिलती है।[5]

न्यायः नानक—बाबर के आक्रमण के प्रति आक्रोश तथा खेद प्रकट करते हुए नानक कहते हैं खुरासान की तूने रक्षा की और हिन्दुस्तान को भयभीत कर दिया। तुम्हें दोष न हो इसलिए यम रूपी मुगलों का आक्रमण करा दिया। हमें इतनी मार पड़ी, इतनी पीड़ा पहुँचाई गयी, फिर भी तुम्हें हम पर दया नहीं आई।

---

1. व्यवहार भाष्य 1 भाग 3, पृ० 132
2. उत्तराध्ययन 6. 30
3. जदि पडदि दीवहत्थो अवडे कि कुणादि तस्य सो दीवो।
   जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥—मूल 90:95
4. यहु सब झूठी बन्दिगी, बरियां पंच निवाज।
   साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥—संत कबीर-पृ० 98
5. जेते तेरे रैणि के तेतौं बैरी मुझ।
   घड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ, न बिसरौ तुझ ॥—कबीर ग्रंथावली—अंग 45, साखी 29

यदि एक शक्ति-शाली दूसरे शक्तिशाली को मारे तब तो ठीक है, लेकिन यदि अति पराक्रमी सिंह निरीर पशुओं पर आक्रमण कर दे तो उसका मालिक क्या पुरुषार्थ नहीं दिखाएगा।[1]

युद्ध : महावीर

महावीर युग में सामन्त राज्य विस्तार, शौर्य प्रदर्शन के लिये युद्ध किया करते थे। अधिकांश युद्धों के पीछे स्त्री होती थी। उन्हें पाने अथवा उनकी रक्षा के लिये युद्ध होते थे। स्वंयवरों के अवसर पर इस युग में अनेक युद्ध हुए। जैन आगम साहित्य में अनेक युद्धों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। तारा को लेकर एक युद्ध का वर्णन त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित में उल्लेखित है।[2]

इसके अतिरिक्त एक राजा दूसरे राजा की बहुमूल्यवस्तु को पाने के लिये भी आक्रमण किया करते थे। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत और कंपिल्यपुर के राजा दुर्मुख के बीच बहुमूल्य दीप्तिवान महामुकुट को लेकर युद्ध हुआ था। एक अन्य युद्ध का उल्लेख उत्तराध्ययटीका[3] में हुआ है कि एक बहुमूल्य हार को लेकर चम्पा नरेश कूणिक और गणराजा चेटक के मध्य युद्ध हुआ।

कभी-कभी सीमाओं के विवाद को लेकर भी युद्ध छिड़ जाते थे।[4]

इस युग में भी लोग युद्ध से डरते थे। शाम, दाम, दण्ड तथा भेद की नीति असफल होने पर ही युद्ध होते थे। शत्रु के आत्म समर्पण के लिए भी, युद्ध के पूर्व

---

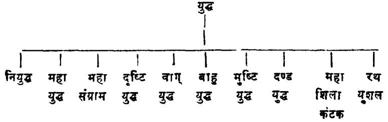
1. खुरासान खसमाना कीया हिन्दुस्तान डराए आ।
आपै दोष न देई करता जम करि मुगल चढाए आ।
ऐती मार पई कुरलाणी तैं कीदरद न आएया।
जे सकता सकते को मारे ता मन रोस न होई।
सकता सहि आरै पै बर्ग खसमैं सा पुरसाई॥
—गुरुनानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 4

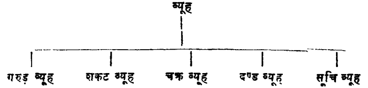
2. त्रिषष्टिशला का पुरुषचरित्त—7. 3
3. उत्तराध्ययन टीका 9, पृ० 135
4. (अ) जम्बूद्वीय प्रज्ञप्ति 3·41—71
(ब) आवश्यक चूर्णी पृ० 182—228
(स) उत्तराध्ययन टीका 18, पृ० 232-अ
(द) वसुदेवहिण्डी—पृ० 183

प्रयत्न किए जाते थे। लोग युद्ध कला से अच्छी तरह परिचित थे। चतुरंगिणी (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल) सेना तथा आवरण और प्रहरण के साथ-साथ कौशल, नीति, व्यवस्था और शरीर की सामर्थ्य को युद्ध के लिए आवश्यक समझा जाता था।[1]

स्कन्धावार-निवेश युद्ध का एक आवश्यक अंग होता था, जिसे आता हुआ देखकर साधु अन्यत्र चले जाते थे।[2] लोग ईंटों के कुठार बनाकर अनाज युद्धकाल के लिए सुरक्षित कर लिया करते थे।[3]

जैन आगम साहित्य[4] में युद्ध के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख हुआ है तथा विभिन्न प्रकार के व्यूह रचना प्राप्त होती है।





युद्ध से पहले आक्रमण करने वाला राजा नगर को घेर कर शत्रु पक्ष को आत्म समर्पण के लिए विवश करता था। सफलता न मिलने पर युद्ध होता था। इसे दृष्टि में रखते हुए नगर की किलेबन्दी की जाती थी।[5]

युद्धों में कूटनीति का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। इसके द्वारा शत्रु-पक्ष को

---

1. (अ) उत्तराध्ययन चूर्णी-3·093
   (ब) आवश्यक चूर्णी, पृ० 452
2. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका 559
3. आवश्यक चूर्णी पृ० 89
4. औपपातिक 40 पृ० 186, प्रश्न व्याकरण-3, प० ४०
   उत्तराध्ययन टीका 9, पृ० 135-6
5. आवश्यक चूर्णी 2—पृ० 173

आत्म समर्पण के लिए बाध्य किया जाता था।[1] चारकर्म इस नीति का मुख्य अंग था। इसके अन्तर्गत शत्रु-पक्ष के खेमे में गुप्तचर भेजे जाते थे।

महावीर के अनुसार युद्ध शास्त्र का अध्ययन बुरा नहीं है। किन्तु यह अध्ययन लोगों को ठगने के लिए नहीं किया जाना चाहिए यदि इस उद्देश्य से इस शास्त्र का अध्ययन किया जाता है, तो स्वाध्याय निष्फल है।[2] महावीर ने युद्ध के संबंध में एक नीति का निर्देश दिया है कि जब देव, मनुष्य तथा तिर्यंच परस्पर युद्ध करते हो तो उनमें से किसी भी पक्ष की विजय या पराजय के सम्बन्ध में नहीं कहना चाहिए। ऐसा करने से एक न एक नाराज अवश्य होगा।[3]

युद्ध : कबीर--कबीर ने युद्ध का वर्णन आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए किया है। वे युद्धवादी का उल्लेख करते हैं।[4] कबीर के अनुसार वे शूरवीर नहीं हैं जो शत्रु से युद्ध करते समय गज, रथ, अश्व और पैदल सेना को मार भगाये। कबीर के अनुसार सच्चा शूरवीर वह है जो जीवन मरण, जय-पराजय को हृदय में धारण न करके, युद्ध भूमि में बिना मुंह मोड़े उत्साह से दोनों पक्षों के बीच में जूझता है। कबीर पर शूरवीरों का गहरा प्रभाव था। उन्होंने शूरवीर की तुलना सती नारी से की है।[5] कबीर वाणी में सैनिक व्यवस्था, फौज, लश्कर आदि का आध्यात्मिक रूप में चित्रण हुआ है।

युद्ध : नानक—गुरु नानक ने युद्ध के परिणामों का चित्र प्रस्तुत करते हुए युद्ध करने वालों से पूछते हैं—तुम्हारे वे सब खेल कहां चले गए? तुम्हारे घोड़ों और अस्तबल का भी पता नहीं है। तुम्हारी भेटियां और शहनाइयों की मधुर ध्वनि का भी पता नहीं। तुम्हारी तलवारों की म्यानें, तुम्हारे रथ, तुम्हारी लाल वर्दियों,

---

1. वही —पृ० 159
2. जो जुद्ध-काम-सत्थ रायदोसेहिं परिणदो पढ़इ।
   लोयावंचण-हेदुं सज्झाओ णिप्फलो तस्स॥ द्वा० उ० 464
3. देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गेह।
   अमुगाणं जओ होउ मा वा होउत्ति नो वए॥
   भ० म० हृ० उ० पृ० 226
4. गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानैं घाव।
   खेत बुहार्‌या सूरिवै, मुझ मरणो का चाव॥
   कबीर ग्रन्थावली अंग 45, सा० 6
5. टूटीं बरत अकाश थैं, कोइ न सकै झड़ झेल।
   साध, सती अरु सूर का अणीं उपला खेल॥
   कबीर ग्रंथावली—वही, अंग 45, साखी 32

तुम्हारे उर्पण, तुम्हारे सुन्दर मुख कहा विलीन हो गए ? वे यहां तो कहीं भी दिखायी नहीं पड़ रहे हैं।[1]

युद्ध सामग्री : महावीर

जैन आगम साहित्य में निम्न युद्ध सामग्री का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसे वर्गीकरण सहित दिया जा रहा है।

उल्लेख प्राप्त होता है कि कन्या को विवाह के अवसर पर रथ, अश्व, हस्ति आदि दहेज के रूप में भी दिया जाता था।[2] महायुद्धों में महोरग, गरुड़, आग्नेय, वायव्य तथा शैल आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था।[3] अरिष्टनेमि द्वारा पांच जन्य फूंके जाने पर देव, असुर और मनुष्य कांप उठते थे।[4]

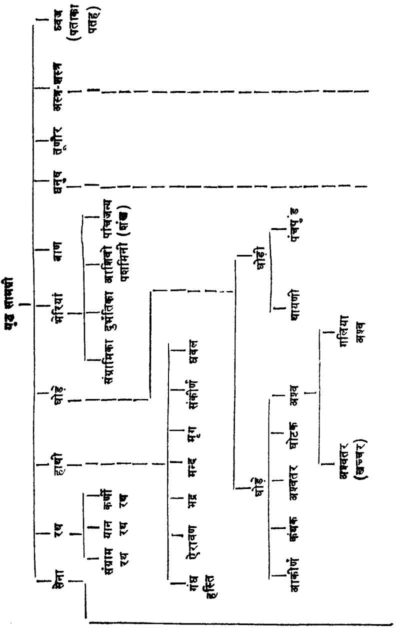
आलोच्य संत कवियों की वाणी में प्रयुक्त युद्ध सामग्री

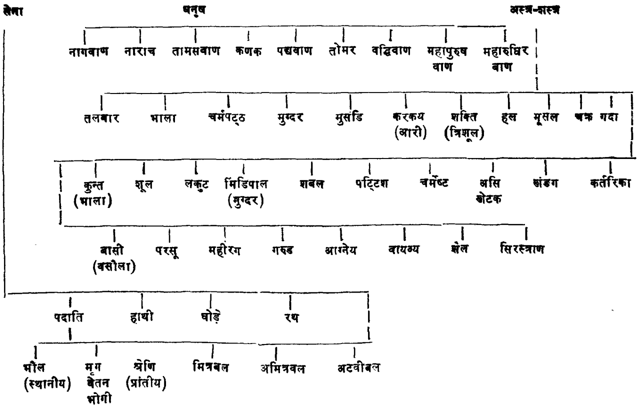
संत कवियों के काव्य में भी युद्ध सामग्री के शब्दों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। किन्तु इन कवियों ने इनका प्रयोग प्राय: आध्यात्मिक परिपेक्ष्य में किया है। नोबत, ढोल, दमामा, नगाडा, दुडबडी, सहनाई, सांगि (बरछी) भेरि आदि युद्ध वाद्यों के अतिरिक्त गज, हुसती (छोटी कटार), हय और धनुष, तरकस, नारवा, बरछी, तिरछी तलवार, खडग्, अंकुश आदि अस्त्र-शस्त्रों को उल्लेख इन कवियों की वाणी में प्राप्त होता है।[5] इनमें से कुछ युद्ध सामग्री ऐसी है, जिनका विवरण प्राप्त नहीं होता।

---

1. कहां सु खेल तबेला घोड़े, कहां भेरी सहनाई।
   कहां सु तेगबन्द, गाड़ेरड़ि, कहा सु लाल कवाई ॥
   कहां सु आरसी आ, मुंह बंके, ऐथै दिसहि नाही।
   श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा, महला 1, पृ० 417
2. उत्तराध्ययनटीका 4, पृ० 88
3. वही 18, पृ० 238—अ
4. वही 19, पृ० 277—अ
5. (क) कबीर नौबति आपणों, दिन दसलेहु बजाय। क०ग्र०—पृ० 38
   (ख) कबीर ढोल दमांमा दुडबड़ी, सहनाई सींगी भेरि। वही पृ० 38
   (ग) जैसे एक लोह के हथियार नाना विध किये —सुन्दरविलास पृ० 17

(आगे का पृष्ठ 428 पर देखें)


युद्ध सामग्री
सेना
रथ
हाथी
घोड़े
भेरियां
बाण
धनुष
तूणीर
अस्त्र-शस्त्र
ध्वज (पताका पतह)
संग्राम रथ
यान रथ
कर्णी रथ
संग्रामिका
दुर्भूतिका
आशिवो पशमिनी
पांचजन्य (शंख)
गंध हस्ति
ऐरावण
भद्र
मन्द
मृग
संकीर्ण
धवल
घोड़े
घोड़ी
आकीर्ण
कंथक
अश्वतर
घोटक
अश्व
थायणी
पंचपुंड
अश्वतर (खच्चर)
गलिया अश्व


सेना
धनुष
अस्त्र-शस्त्र
नागवाण
नाराच
तामसवाण
कणक
पद्मवाण
तोमर
वह्निवाण
महापुरुष वाण
महारुधिर वाण
तलवार
भाला
चर्मपट्ठ
मुग्दर
मुसंडि
करकच (आरी)
शक्ति (त्रिशूल)
हल
मूसल
चक्र
गदा
कुन्त (भाला)
शूल
लकुट
भिंडिपाल (मुग्दर)
शबल
पट्टिश
चर्मेष्ट
असि खेटक
खांडग
कर्तरिका
बासी (बसौला)
परसू
महोरग
गरुड
आग्नेय
वायव्य
शैल
सिरस्त्राण
पदाति
हाथी
घोड़े
रथ
मौल (स्थानीय)
मृग वेतन भोगी
श्रेणि (प्रांतीय)
मित्रबल
अमित्रबल
अटवीबल

योद्धा : महावीर

जैन आगमों के अनुसार योद्धा हाथ में तलवार, भाला, धनुष, बाण आदि लेकर चलते थे और इनके प्रहार से रक्षा करने के लिए सन्नद्ध-बद्ध होकर वर्म तथा कवच धारण करते थे। भुजाओं पर चर्मपट्ट बांधे रहते और उनकी ग्रीवा आभरण तथा मस्तक वीरता सूचक पट्ट से शोभित रहता था।[1] योद्धा-धनुष-बाण चलाते समय समपाद आसन का प्रयोग करते थे।[2]

महावीर ने कहा है कि सच्चे योद्धा के अस्त्र-शस्त्र क्षमा, जितेन्द्रियता रूपी खड्ग-तलवार होते हैं और वह इनका प्रयोग कर कषाय रूपी शत्रु पक्ष पर विजय प्राप्त करता है।[3] महावीर के अनुसार ध्यान युक्त तथा तप, संयम और स्वाध्याय योग के प्रवृत्त योद्धा उसी प्रकार होता है, जैसे परचक्र का भय होने पर और रथ से युक्त राजा।[4]

---

1. (अ) औपपातिक 31, पृ० 132
   (ब) विपाक सूत्र 2, पृ० 13
2. निशीथाभाष्य, 20, 6300
3. (अ) ते धीर वीर पुरिसा खम दम खग्गेष विप्फुरतेण।
   दुज्जय पबलब्लुद्धरक सायभड णिज्जिमा जोहि॥ भा०पा० 156
4. (अ) तवं चिमं संजम जोगय च सज्झाय जांग च सया अहिट्ठए।
   सूरे व सेणाए समत्तमाउहे अलमप्पणं होइ अलंपरोंसि॥ द० 8 : 61
   (ब) झाणं कसाय परचक्क भए बल बाहण ढुढओ राया।
   परचक्क भए बल वाहण ढुढओ होई जह राया॥ भग० आ०1900

(पृष्ठ 425 का शेष भाग)

(घ) पाँव रोपि रहै, इण माँहि रजपूत कोऊ।
हय गज गाजत, जुरत जहाँ दल है॥
बाजत जुझाऊ सहनाई, सिंधु राग पुनि।
सुनतहि कायर की, छूटि जात कल है॥
झलकत बरछी, तिरछी तरवार बहै।
मार-मार करत, परत खलभल है॥
संत वानी संग्रह, भाग-2, पृ० 95

(ङ) सोउ साथ छिमा के, हथियार सूँ बिदा रचो।
सुन्दर बिलास, पृ० 122

(ढ) मारैं तब ताकि ताकि, तरवार तीर सूँ॥ वही पृ० 122

(ण) सुनत नगरि चोट विकसें कमल मुख वही पृ० 119

कायर और सच्चे योद्धा का अन्तर स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा है कि कायर मनुष्य जब तक विजेता पुरुष को नहीं देखता तब तक वह अपने आपको शूरवीर समझता है, किन्तु वास्तविक संग्राम के समय वह उसी तरह क्षोभ करता है जिस तरह युद्ध में प्रवृत्त दृढ़ धर्मी महारथी कृष्ण को देखकर शिशुपाल ने किया था।[1]

योद्धा : दादू—दादू ने आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से योद्धा का वर्णन किया है। दादू कहते हैं कि सच्चा शूरवीर एक बार संग्राम में पदार्पण करने के उपरान्त अपना पग पीछे नहीं हटाता। युद्ध भूमि से भागना लज्जाजनक है। भागने वालों का जीवन धिक्कार योग्य है।[2] सच्चा वीर आमने-सामने मुकाबला करता है। अंग-अंग कट जाने पर भी घाव मुंह पर खाता है, पीठ पर नहीं।[3]

आध्यात्मिक पक्ष में कायर और शूरवीर का अन्तर स्पष्ट करते हुए दादू ने कहा है कि कायर कुछ भी काम नहीं करता किन्तु शूरवीर का कर्म क्षेत्र युद्ध भूमि होता है। सच्चा शूरवीर अपना तन, मन ही नहीं सीस अर्थात् प्राण भी राम को सौंप कर निश्चित हो जाता है।[4]

योद्धा : सुन्दरदास—भौतिक दृष्टि से विचार करते हुए सुन्दरदास कहते हैं कि शूरवीर मरने और मारने में विश्वास रखता है।[5] वह कभी भी बान और कवच को अपने अंग से अलग नहीं होने देता।[6] वह युद्ध भूमि में घमासान युद्ध करता है।[7] रण भेरी सुनकर वह युद्ध के लिए मचल जाता है।[8] ऐसे शूरवीर की समस्त संसार

---

1. सूर मण्णइ अप्पाणं जाव जेयं ण पस्सई।
   जुज्झंतं दढ धम्माणं सिसुपालो व महारहं॥ सू० 1, 3 (1) : 1
2. सूरा चढि संग्राम कौं पाछा पग क्यो देइ।
   साहिब लाजै भाजतौं, धृग जीवन दादू तेई॥ दादूदयाल, पृ० 85
3. दादू पाखर पहरि करि, सब को झूझण जाइ।
   अंगि उघाड़ै सूरिवाँ, चोट मुँहै मुँह खाइ॥ वही पृ० 86
4. काइर काम न आवई, यहु सूरे का खेत।
   तन मन सौंपे राम कौ, दादू सीस सहेत॥ वही पृ० 85
5. सोई सूरबीर धीर मरजाइ मारि है।
   अधिक आजानबाहु मन में उछाल किये॥ सुन्दर विलास, पृ० 122
6. सोई सूरबीर धीर स्याम के हजूर है। सुन्दर विलास, वही पृ० 121
7. मारि घमसान करि सुन्दर जुहारै स्याम।
   सोई सूरबीर रोपि रहै जाइ रन में— वही, पृ० 119
8. संतवानी संग्रह, भाग-2, पृ० 95

में जयकार होती है। किन्तु ऐसा वीर कोटि में एक आध होता है।[1]

सुन्दर दास के अनुसार सच्चा योद्धा तो साधु होता है। वह काम, क्रोध, लोभ और मोह को पीस डालता है। इन्द्रियों का कत्ल कर देता है। वह महामत्त मन और डरावने अहंकार को मार डालता है तथा आसा, तृष्णा, पापिनी (ईडा) साँपिणी (पिंगला) को भी मार कर निज पद पर विजय पाता है।[2] वास्तव में साधु-योद्धा हर समय अपने मन से युद्ध करता रहता है। वह कभी क्रोधित नहीं होता किन्तु किसी शत्रु के पाव वह नहीं टिकने देता।[3]

---

1. सुन्दर सकल लोह माहिं ताकी जैजैकार।
   ऐसो सूरबीर कोऊ कोटिन में एक है। वही, पृ० 121
2. (अ) मारे क्रोध काम सब लोभ मोह पीसि डारें।
   इंद्रिहु कतल करि, कियो रजपूतो है॥
   मारयो महामत्त मन मारे अहंकार भीर॥
   मारे मद मतसर हूँ ऐसो रण रूतो है।
   मारी आसा तृष्णा पुनि, पापिनी साँपिनी दोउ।
   सब को प्रहार करि, निज पद पहूतो है॥
   सुन्दर कहत ऐसो, साधु कोई सूरबीर।
   बैरी सब मारि के निचिंत होइ सूतो है॥ वही, पृ० 123

   (ब) काम सों प्रबल महा, जीते जिन तीन लोक।
   सो तौ एक साधु के, बिचार आगे हारयो है॥
   क्रोध सों कराल जाके देखत न धीर धरै।
   ... ... ॥
   लोभ सों सुभट साधु, तोष सूं गिराय दियो।
   मोह सों नृपति साधु, ज्ञान सूं प्रहारयों है॥
   सुन्दर कहत, ऐसो साधु कोउ सूरबोर।
   ताकि-ताकि सबही पिसुन दल मारयो है॥ वही, पृ० 122
3. सूरबीर रिपु सनमुख, दैखि चोट करै।
   — — — — ॥
   साधु आठो जाम बैठो, मनही सं जुद्ध करै।
   जा के मुंह माथो नहिं देखिये सरीर सूं॥
   सूर बीर भूमि पर, दूर हीं तैं दौरि लगै।
   साधु सों न कोप करै, राउ धरि धीर कूं।
   सुन्दर कहत तहाँ, काहूं को पांव टिकै॥
   साधु को संग्राम है, अधिक सूर बीर सूं॥—सुन्दर विलास पृ० 122

सुन्दर दास कहते हैं कि साधु जैसा वीर अन्य नहीं है। वह ज्ञान के बाद से महाबली मन को मार गिराता है। मार्ग में आने वालों का कत्ल कर देता है। शत्रु उसे देखकर डरते हैं।[1] ऐसे वीरों का गुणगान शास्त्रों आदि में किया जाता है।[2]

युद्ध में हाथियों के पीलवानों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सुन्दरदास ने पीलवानों के माध्यम से भी विचार व्यक्त किए हैं—मन हाथी के समान हैं और पीलवान साधु योद्धा के समान है। मन बहुत प्रचंड है। उसे अपने आप पर बहुत गुमान है। पीलवान ने हाथ में गुरु ज्ञान रूपी अंकुश से, उसके काम, क्रोध, लोभ और मोह रूपी पैरों को बांध दिया है। इसे अन्य कोई बस में नहीं कर सकता।[3] प्रायः सभी

---

1. खैंचि करडी कमान, ज्ञान को लगायो बान।
   मारयो महाबल मन, जग जिन राम्यों है॥
   ता के अगवानी पंच जोधाहु कतल किये।
   और रह्यो परयो सब अरि दल भान्यो है॥
   ऐसो कोई सुभट जगत में न देखियत।
   जाके आगे कालहू सो कंपि के परान्यो है॥
   सुन्दर कहत ताकी, सोभा तिहूं लोक माही।
   साधु सो न सूर बीर कोई हम जान्यो है॥—वही-पृ० 122
2. कियो जिन मन हाथ इंडिन को सब काथ।
   घेरि-घेरि आपनेहि, नाथ सं्‌ लगाये हैं॥
   औरहूँ अनेक बैरि मारै सब जुद करि।
   काम क्रोध लोभ मोह खोद के बहाये हैं।
   कियो है सग्रांम जिन दियो है भगाइ दल।
   ऐसे महा सुभट सु ग्रन्थन में गाये हैं।
   सुन्दर कहत और सूर यूं ही खपि गये हैं।
   साधु सूर बीर वेई, जगत में आपि है॥—सुन्दर विलास-पृ० 123
3. महामत्त हाथी मन, राख्यो हैं पकरि जिन।
   अति हि प्रचंड जा में बहुत गुमान है॥
   काम क्रोध लोभ मोह, बांधे चारों पांव पुनि।
   छूटने न पावे नेक, प्राण पीलवान है।
   कवहूं जो करै जोर, सावधान सांझ भोर।
   सदा एक हाथ में, अंकुस गुरु ज्ञान है॥
   सुन्दर कहत और, काहू के नवस होई।
   ऐसो कौन सूरबीर, साधु के समान है॥—वही-पृ० 123

संत कवियों ने युद्ध का वर्णन अध्यवसान के रूप में किया है।

आलोच्य संत कवियों के काव्य में प्रयुक्त कतिपय राजनैतिक शब्दावली

आलोच्य कवियों के काव्य में छत्र[1], तथा राजधानी[2], कोकवाल,[3] सिकदार (पुलिस अधीक्षक), दीवान, पातसाह, सिकार[4], सिंहासन[5] और वजीर[6] आदि शब्दों का प्रयोग महावीर वाणी में प्रयुक्त अर्थों के परिपेक्ष में हुआ है।

तीर्थंकर महावीर स्वयं राजपुत्र थे उन्होंने राजशासन की सारी व्यवस्था, राज के उपादान, उपकरण, संधि विग्रह आदि सब का प्रत्यक्ष अनुभव किया था इसीलिये उन्होंने तत्कालीन राज्य व्यवस्था और आजशासन से सम्बन्धित विषयों को आधार बना कर लोकोपकार के लिये और अध्यात्म साधना का पथ निर्धारित करने के लिये, उनका यथा स्थान प्रयोग किया है।

वस्तुतः उनका उद्देश्य न तो राजनीति का वर्णन करना था और न राज्य व्यवस्था का। उन्होंने तो इन राजसी उपकरणों को अपने उपदेशों का आधार मात्र बनाया था और इसी दृष्टि से इन राजनैतिक वाणियों पर विचार किया गया है। संतों ने भी मुख्यतः इसी दृष्टि से अपनी वाणियों में राजनीतिक उपमानों का अध्यवसान के रूप में प्रयोग किया है।

अगले अध्याय में हम तीर्थंकर महावीर एवं संतों की अर्थ सम्बन्धी वाणियों पर विचार करेंगे।

---

1 हैंवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा खड।—क० ग्र० 40
2. मैं सुखिया सुख सेज सुखासन, हय गज भूमि महा रजधानी।—सुन्दर विलास पृ० 89
3. पीजी पेट काज, कोटवाल के अधीन होइ।
कोटवाल सो तौ सिकदार आगे दीन है।।
सिकदार दीवान के, पीछे लग्यो डोलै पुनि।
दीवानहु जाय पातसाह आगे लीन है।।
पातसाह कहै या खुदाय मुझे और देइ।
पटही पसारे वही पेट बस कीन्हू है।।—वही-पृ० 39
4. एक अहेरी बन में आयो खेलन लाग्यो भली सिकार।—वही पृ० 82
5. हृदय सों न आसन सहज सों न सिंहासन।—संतबानी भाग-2, पृ० 110
6. एको साहिब एकु वजीरू। नानकवाणी —पृ० 281

———

महावीर की आर्थिक वाणी के आलोक में हिन्दी का संत काव्य

महावीर युगीन आर्थिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बहुत कम उपलब्ध है। किन्तु जो कुछ भी उपलब्ध है महत्वपूर्ण है। अर्थशास्त्र के अनुसार उत्पादन के मुख्य साधन भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध हैं।

भारत प्राचीन काल से ही कृषि-प्रधान देश रहा है और भूमि की पूजा मां की तरह होती है। महावीर युग में भी यही स्थिति रही है। इसे दस परिग्रहों (वास्तु, संचय, मित्र, वाहन) शयन-आसन, दास-दासी और बर्तन क्षेत्र, धन, धान्य के साथ महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[1] इस युग में दो प्रकार के खेत होते थे—सेतु और केतु। सेतु की सिंचाई रहट आदि से की जाती थी और केतु वर्षा जल से सींचे जाते थे। उनमें धान बोया जाता था।[2] धान की खेती नौका पर भी की जाती थी। मथुरा में प्रायः खेती नहीं होती थी, व्यापार की प्रधानता थी।[3]

विभिन्न प्रान्तों में सिंचाई के साधनों में भिन्नता थी। वर्षा (लाट प्रान्त), नदी (सिन्धु प्रान्त), तालाब (द्रविड़ प्रान्त), कुंवे (उत्तरापथ) तथा अन्य क्षेत्रों में बाढ़ जल सिंचाई के साधन थे।[4]

जंगलों को जलाकर खेती करने का चलन था।[5] जैन आगम साहित्य में तीन प्रकार के हलों का उल्लेख प्राप्त होता है—हल, कुलिय (इसका प्रचार सौराष्ट्र में था) तथा नंगल।[6] उल्लेख प्राप्त होता है कि कृषक-बालिकाएं "टिट्टि" शब्द का

---

1. बृहत्कल्पभाष्य 1.825
2. वही 1.826
3. वही—1.1239
4. वही 1
5. वही 4.4891
6. आवश्यकचूर्णी—पृ० 81

बार-बार उच्चारण करके तथा हाथ में लाठी लेकर जानवरों से खेतों की रक्षा करती थीं।[1]

जैन आगम साहित्य में 17 प्रकार के धानों* की खेती करने का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें व्रीहि (चावल), यव (जौ), गोधूम (गेहूं) और कलाय (मटर) मुख्य हैं।[2]

इस युग में अन्य व्यवसायिक दृष्टि से गन्ना, मसाले, कपास आदि भी उत्पन्न किये जाते थे।

दुष्काल के समय लोग अपनी भूख के लिये अपने बच्चों तक को बेच दिया करते थे[3] तथा दास-वृत्ति तक स्वीकार कर लेते थे।[4]

इस युग में उद्यान कला भी पर्याप्त मात्रा में विकसित थी। उद्यानों द्वारा आम, जामुन, कथित्थ (कैथ), फणस (कटहल), दाडिम (अनार), कदलीफल (केला), खजूर, नारियल आदि उत्पन्न किये जाते थे।[5]

जंगल के फलों को जिस स्थान पर रखा जाता था उसे कोट्टक कहा जाता था। इस स्थान से फलों को गाड़ी में भरकर अथवा गट्ठर में बांध कर नगर में बिक्री के लिये ले जाया जाता था।[6] उल्लेख प्राप्त होता है कि कोंकण के निवासी फूलों और फलों में बहुत रुचि रखते थे। इन्हें बेचने का व्यापार करते थे।[7] वृक्षों की बिक्री का भी प्रचलन था।[8]

महावीर युग में पशु भी महत्वपूर्ण धन था।[9] दूध, दही तथा घी एवं दूध से

---

1. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका 77
* 1. चावल 2. जौ 3. मसूर 4. गेहूं 5. मूंग 6. उड़द 7. तिल 8. चना 9. अणु (चावल की एक किस्म) 10. कंगनी 11. कोदों (एक प्रकार का धान) 12. कूट्ट 13. शालि (चावल) 14. आढकी 15. मटर 16. कुलथी 17. सन।
2. निशीथचूर्णी पीठिका 12
3. महानिशीथ, पृ० 28
4. व्यवहारभाष्य 2.207। महानिशीथ, पृ० 28
5. प्रज्ञापना 1.23 12-27, आचारांग 2, 1.8, 266, बृहत्कल्पभाष्य 1.3093
6. बृहत्कल्पभाष्य 1.872
7. वही 1.1239
8. निशीथचूर्णी 15, पृ० 581
9. औपपातिक सूत्र 6, आवश्यकटीका—पृ० 128

बनी हुई मिठाइयों की बिक्री की जाती थी। गांव के अहीर अपनी गाड़ियों में घी के घड़े रखकर नगर में बेचने के लिये ले जाते थे।[1] पशुओं के चमड़े, हड्डियों, दांतों (हाथीदांत) तथा बालों का उपयोग होता था। प्रतिदिन सैकड़ों भैंस आदि का वध होता था।[2] मांस[3] अंडों[4] आदि को भी बाजारों में बेचा जाता था। मछलियों और चिड़ियों आदि की भी बिक्री होती थी।

कृषि के अतिरिक्त इस युग में वस्त्र कताई-बुनाई उद्योग भी महत्वपूर्ण था। इस उद्योग से आजीविका चलाने वालों में दूष्य (घुस्सा), सोत्तिय (सौत्रिय) कप्पासिय, तुन्नाग (तूमने वाले), तन्तुवाय (बुनकर), पट्टकार, सीवग (दर्जी) तथा छिंपाय (छिंपी) मुख्य थे।[5] वस्त्र रंगने का कार्य भी होता था। वस्त्र रंगाई करने वालों को रजक कहा जाता था।[6]

इस युग में खानों का उद्योग भी महत्वपूर्ण था। इन्हें आकर नाम से संबोधित किया जाता था।[7] इन आकरों से लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चांदी, सोना, मणि तथा लवण (नमक), गेरू एवं सागरा (पारा) आदि निकाल कर बेचा जाता था।[8]

इस युग में स्वर्णकारों का व्यवसाय भी उन्नत था। कुमारनन्दी[9] और मुसियदारय[10] इस युग के प्रसिद्ध स्वर्णकार थे चौदह प्रकार के आभूषणों* का उल्लेख जैन आगम साहित्य में उपलब्ध होता है। जिनमें हार, तुडिय (बाजूबंद) तथा

---

1. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका—360-361
2. आवश्यकचूर्णी—2—पृ० 169
3. विपाकसूत्र 4, पृ० 29-30
4. वही 3, पृ० 22
5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 3, पृ० 193-अ
6. ज्ञातृधर्मकथा 1 पृ० 7, बृहत्कल्पभाष्य पीठिका 613
7. बृहत्कल्पभाष्य टीका 1.1090
8. निशीथसूत्र 5.35, 11.1
9. आवश्यक चूर्णी पृ० 397
10. ज्ञातृधर्मकथा 14

* 1. अठारह लड़ी का हार 2. नौलड़ी का हार 3. एक लड़ी का हर 4. कनकावलि 5. रत्नावलि 6. केयूर 7. कड़ा 8. बाजूबंद 9. मुद्रा 10. कुण्डल 11. उरसूत्र 12. चूडामणि 13. तिलक।

अंगुलीय (अंगूठी) के नाम उल्लेखनीय हैं ।[1] सोने के बर्तनों का भी उल्लेख प्राप्त होता है । मणि और मुक्ता आदि का व्यापार भी होता था ।

स्वर्णकार बेईमानी भी करते थे । इस प्रकार का उल्लेख निशीथचूर्णी (11.3700) में प्राप्त होता है ।

लुहार, कंसेरे, कुम्हार, राजगिर, बढ़ई, चर्मकारों के व्यवसायों के उल्लेख जैन आगम साहित्य में भरे पड़े हैं ।

महावीर युग की श्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में अधिक सामग्री तो उपलब्ध नहीं होती किन्तु जितने प्रकार के श्रमिकों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में उपलब्ध होता है उसे निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

श्रमिक

जाति से हीन (जुगिय)	दास	दासचेटियां	भृत्य (मजदूरी पर काम करने वाले)	अन्य
1. स्त्री	1. कर्मकर (कम्भकर)	1. पाकशाला दासी	1. दिवस भृतक	1. अश्वपोषक
2. मोर-मुर्गा पालक	2. घोट (चट्ट)	2. घर से बाहर कार्य करने वाली	2. यात्रा भृतक	2. हस्तिपोषक
3. चर्मकार	3. प्रेष्य (पेस)	3. विदेशों से क्रियत	3. उच्चताभृतक (ठेके पर)	3. महिषपोषक
4. नाई	4. कौटुंनिक पुरुष	4. कुब्जा	4. कब्बालभृतक (काम के आधार पर)	4. वृषभपोषक
5. धोबी	5. गोपालक	5. किराती	5. कौटुम्बिक	5. सिंहपोषक
6. नटनर्तक	6. जन्म से दास	6. वामना (बौनी)	6. चेट अंगरक्षक	6. व्याघ्रपोषक
7. लंख	7. क्रीट दास	7. वडभी		7. अजपोषक
8. बाजीगर	8. ऋणक दास	8. बर्बरी (बर्बर देश की)		8. मृगपोषक

1. आवश्यकचूर्णी, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, निशीथसूत्र, औपपातिक सूत्र आदि ।

श्रमिक

जाति से हीन (जुगिय)	दास	दासकेटिया	भृत्य (मजदूरी पर काम करने वाले)	अन्य
9. व्याध	9. दुर्भिक्ष कालीन दास	9. बकुशी (बकुश देश की)		9. पोतपोषक
10. खटीक	10. जुर्माना व कर्ज न दे सकने के कारण बने दास (ऋण दास)	10. योनिका (जोनक देश की)		10. शूकरपोषक
11. मच्छीमार	11. रुद्धदास जैसे बंदी दास (चन्दनबाला)	11, पह्व्या (पट्टव देश की)		11. कुक्कुटपोषक
12. अंगारकर्मी		12. ईसनिका		12. मैंढ्रपोषक
13. वनकर्मी		13. धोरूनिका		13. तित्तिरपोषक
14. शकटकर्मी		14. लसिका (लासक देश की)		14. हंसपोषक
15. भाटकर्मी		15. लकुसिका (लकुश देश की)		15. मयूरपोषक
16. स्फोटकर्मी		16. द्रविडी (द्रविड ,,)		
17. दन्त वाणिज्य कर्मी		17. सिंहली (सिंहल ,,)		
18. लाक्षा वाणिज्य कर्मी		18. आरबी (अरब ,,)		
19. केशवाणिज्य कर्मी		19. पुलिंदी (पुलिंद ,,)		
20. रस वाणिज्य कर्मी		20. पक्ककी (पर्शिया ,,)		
21. विषवाणिज्य कर्मी		21. शबरी (,,)		

श्रमिक

जाति से हीन (जुंगिय)	दास	दासचेटिया	भृत्य (मजदूरी पर काम करने वाले)	अन्य

22. यन्त्रपीडनकर्मी	22. पारसी (,,)
23. निर्लाछनकर्मी (बैलों को बधिया करने वाला)	23. दाई
24. दावाग्निदापन कर्मी	दूध पिलाने वाली (क्षीर) · मण्डन · मजंण · क्रीडपन · अंक
25. सरोवर, द्रह शोषण कर्मी (अपतिव्रता का पोषण करने वाली)	

पिण्डनिर्युक्ति में उल्लेख प्राप्त होता है कि ऋण कभी-कभी प्रति दिन दुगुना हो जाता था। इस सन्दर्भ में "सम्मत" नाम के एक व्यक्ति की चर्चा हुई है जिसकी बहन को दो पली तेल एक घट हो गया था। न चुकाने पर उसे दासता स्वीकार करनी पड़ी।[1]

भृत्य पैसा या जिन्स लेकर मजदूरी किया करते थे किन्तु उनकी दशा अच्छी नहीं थी। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से वे अन्य दासों से अच्छे थे।

दासियां उपहार में भी दी जाती थीं।[2] गांव के मुखिया उनके साथ व्यभिचार करने से भी नहीं चूकते थे।[3]

महावीर युग में राजा की ओर से उद्योगों में धन लगाने का प्रचलन नहीं था। पूंजीपतियों की संख्या कम थी।[4] श्रेष्ठी प्रायः धन को भोग विलास, दान, ब्याज आदि में लगाते थे। धन को जमीन में गाड़ कर रखने का प्रचलन था।[5]

इस युग में प्रबन्ध के नाम पर कुछ भी उपलब्ध नहीं होता इसका कारण यह रहा होगा कि उद्योगों में पूंजी लगाने का प्रायः अभाव था। प्रबन्ध के नाम पर

1. पिराडनिर्युक्ति—317-318
2. ज्ञातृधर्म कथा 1, पृ० 23
3. आवश्यकचूर्णी—पृ० 284
4. औपपातिक सूत्र 6, पृ० 20, उत्तराध्ययन सूत्र 9.43
5. जम्बूद्वीपप्रज्ञाप्तिटीका 3.193

व्यापारिक संगठनों के उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं। स्वर्णकार संघ आदि का उल्लेख जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिटीका में प्राप्त होता है।[1]

इस युग में आय का विभाजन किराया, वेतन (मजदूरी), ब्याज और लाभ में होता था। मजदूरों का भाग प्रायः जिन्स के रूप में दिया जाता था।[2] हिस्सेदारों को आधा, चौथाई अथवा लाभ का छठा भाग देने का प्रचलन था।[3] कर्ज और सूदखोरी की प्रथा थी।

जैन आगम साहित्य में उपलब्ध वणिक न्याय[4] के अनुसार यदि कोई समुद्री व्यापारी का जहाज डूब जाये और वह एक धोती मात्र में तैर कर किनारे तक लौट आता था तो उससे ऋण वसूल नहीं किया जाता था। अन्य स्थिति में दास बनकर ऋण चुकाने की प्रथा थी।[5]

किराया, आदि चुकाने के बाद जो बचता था उसे लाभ कहते थे।

इस युग के वणिक् अपने मूलधन की रक्षा करते हुए धन उपार्जन किया करते थे।[6] व्यापार दुकानों पर अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम-घूम कर किया जाता था। जल मार्गों द्वारा अन्तर्देशीय व्यापार होता था।[7] चम्पा, उज्जैनी, मथुरा और शूपरिक आदि व्यापार के मुख्य केन्द्र थे।

उल्लेख प्राप्त होता है कि रत्न, शंख और हाथीदांत का व्यापार करने वाले कर बचाने के लिये दुर्गम मार्गों से यात्रा करते थे।[8]

महावीर युग में वस्तुओं के मूल्य प्रायः निश्चित नहीं थे। जहां पर भाषा का प्रश्न उपस्थित हो जाता था वहां हाथ के इशारे से मोल-तोल होता था। जब तक उचित कीमत का इशारा नहीं होता था, माल के ऊपर से हाथ नहीं उठाया जाता था।[9] माल में मिलावट करने की घटनाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[10]

इस युग में रुपया विनिमय का माध्यम था। अन्य मुद्राओं में कार्षापण,

1. वही 1
2. बृहत्कल्पभाष्य 2.358
3. पिंडनिर्युक्ति 369
4. बृहत्कल्पभाष्य 1.2.690 आदि।
5. वही 1
6. निशीथचूर्णी 11.3532
7. बृहत्कल्पभाष्य 1, 2397, निशीथचूर्णी 16.5323
8. उत्तराध्ययनटीका, सूत्र 164
9. आवश्यकचूर्णी, पृ० 120, सूत्रकृतांगटीका 3.3.18
10. उत्तराध्ययनटीका 4, पृ० 81-अ, आवश्यकचूर्णी—पृ० 117

मांस, अद्धमांस तथा रूपक का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] सुवण्णमासय (सुवर्णमाषक) की गिनती छोटे सिक्कों में होती थी।[2] कौड़ी, काकिणी (तांबे का सिक्का), द्रम्म (चांदी का सिक्का), दीनार[3] का भी उल्लेख मिलता है।

इस युग में एक कार्षापण में तीतर,[4] सिक्कों में गाय,[5] इस उदाहरण से क्रय-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राय: विश्वास के आधार पर उधार दिया जाता था। धरोहर रखने का भी प्रचलन था।[6] पर्चे लिखकर भी उधार लिया व दिया जाता था।[7] ऋण भुगतान करने में असमर्थ होने पर ऋण ग्रहिता अपने घर पर एक मैली झण्डी लगा देता था।[8]

जैन आगम साहित्य में पांच प्रकार के मापों का उल्लेख मिलता है—मान, उन्मान, अवमान, गणिम तथा पतिमान। लम्बाई नापने के लिये परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु बालाग्र, लिक्षा यूका और यव का उल्लेख मिलता है।[9] निशीथचूर्णी आदि (329) में तुला और कम तोलने के भी उल्लेख मिलते हैं।

धन : महावीर

महावीर वाणी में प्रयुक्त "द्रव्य" शब्द की व्याख्या करतेहुए मुनि नथमल ने कहा है कि द्रव्य वही है जिसमें गुण और पर्याय होते हैं। द्रव्य शब्द की, उत्पत्ति बताते हुए उन्होंने कहा है—"अद्रुवत्, द्रवति, दोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति-द्रव्यम्"—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अवस्थाएं उसी में उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रह सकता। द्रव्य की दो

---

1. सूत्रकृतांग 2, 2 पृ० 327 उत्तराध्ययनसूत्र—817
2. उत्तराध्ययन 8, पृ० 124
3. निशीथभाष्य 13.4315
4. दशवैकालिक चूर्णी पृ० 58
5. आवश्यकचूर्णी, पृ० 117
6. आवश्यक टीका (हरिभद्र) पृ० 820
7. वही 1
8. निशीथभाष्य 11.3704
9. अनुयोगद्वारसूत्र 132

परिभाषाएं की जा सकती हैं। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है और जो सत् है वह द्रव्य है।[1]

आचार्य कुन्द-कुन्द ने द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार स्वीकार किया है—1. द्रव्य का लक्षण-उत्पादय व्यय ध्रौव्य संयुक्त है 3. द्रव्य का लक्षण गुणाश्रित है।[2]

महावीर ने कहा है कि आत्मस्वभाव से भिन्न, स्त्री, पुत्र, धन-धान्य, आभूषण तथा अन्य पदार्थ हैं जो वे सभी पर द्रव्य है।[3]

महावीर के अनुसार बिना व्यय के उत्पादन नहीं होता और बिना उत्पादन के व्यय नहीं होता तथा ध्रौव्य पदार्थ द्रव्य के बिना उत्पन्न और व्यय नहीं होता।[4]

अतः महावीर के अनुसार स्वद्रव्य (आत्मा) को छोड़ कर सभी परद्रव्य धन है।

महावीर ने कहा है कि जोमनुष्य लक्ष्मी में आसक्त होकर कष्ट अर्थात् लालच के साथ अपना गुजारा करता है वह मूढ़ है। इस प्रकार तो वह राजा तथा कुटुम्बियों का ही स्वार्थसिद्धि करता है।[5] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अन्तिम क्रिया के बाद, लोग उसके धन का हरण कर लेंगे और पापकर्म करने वाला अकेला ही अपने कर्मों के कारण पीड़ित होता है।[6]

महावीर के अनुसार मोह के कारण यदि किसी मनुष्य की परद्रव्य (धन) में परमाणु भर भी आसक्ति होती है तो वह मूर्ख और अज्ञानी है।[7] परद्रव्य (धन) में राग करने से दुर्गति तथा स्वद्रव्य (आत्मा) में राग करने से सुगति होती है।[8]

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 157
2. कुन्द कुन्द, पंचस्तिकाय, गाथा 10
3. आदसहावादण्णं सच्चित्ताचितमिस्सियं ध्वदि।
   तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहि ॥ —मो० पा० 17
4. ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
   उप्पादोवि य भंगी ण विणा दव्वेण अत्थेण ॥ (प्र० सा० 2 : 8)
5. लच्छी-संसत्त-मणो जो अप्पंण घरेदि कट्ठेण।
   सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढाया ॥ (द्वा० अ० 16)
6. आघातकिच्चमाहेउं णाइओ विसएसिणो।
   अण्णे हरंति तं वित्तं कम्मी कम्मेहि किच्चती ॥ (सू० 1, 9 : 4)
7. परमाणुषभाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
   सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥ (मो० पा० 69)
8. परद्रवादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई ह्वइ।
   इय पाऊण सदव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥ (मो० पा० 16)

धन : नामदेव—नामदेव के अनुसार माधव ही सबसे बड़ा धन है।[1]

धन : कबीर—कबीर समाज की आर्थिक स्थिति से अभिज्ञ थे। उन्होंने धनी को निर्धन के साथ समुचित प्रकार से व्यवहार न करते देखा था।[2] वे स्वयं ऐसे निर्धन परिवार के थे, जिन्हें सदैव ही आर्थिक कष्ट सहने पड़ते थे। उन्होंने अपने जीवन को कठिनाई के साथ व्यतीत किया था।[3] रात-दिन काम-काज करने पर भी जीवन यापन कठिन हो जाता था और इसके लिए घर में कलह बनी रहती थी।[4] उन्हें इसलिये यह कहना पड़ा कि भगवान हमसे भूखे पेट भक्ति नहीं होती। तू अपनी यह माला संभाल।[5] उन्होंने आर्थिक विषमता समाप्त करने का प्रयत्न किया। कबीर व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी थे। उनकी मान्यता है कि लक्ष्मी समाज की है। कबीर ने धन का प्रयोग आर्थिक एवं आध्यात्मिक[6] क्षेत्र में किया है।

धन : रविदास—रविदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है धन तो झूठी आशा है।[7]

---

1. मेरो बापु माधउ तू धन, कैसे सांवली औं बिठुलाइ लै ॥
—नामदेव की हिन्दी पदावली—पृ० 107
2. निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करै ओहुचित न धरे ई ॥
जौ निर्धन सरधन कै जाई। आगे बैठा पीठ फिराई ॥ —क०ग्र० 302
3. नित उठि कोरी गगरिआ ने लीयत जनम गयो। —वही पृ० 301
4. सुन्हु जिठानी सुनहु दिरानी अचरज एक भयो।
सात सूत इन मुंडियों खोये इहु गुंडिया क्यों न मुयो ॥ —वही पृ० 302
5. भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै ॥ वही पृ० 314
6. मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज, मूल घटै सिर बंधे ब्याज।
णाइक इक बनजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ ॥
नव बहियो दस गौनि अहि, कसनि बहतरि लागे ताहि।
सात-सूतमिलि बनिज कीन्ह, कर्म कयादौ संग लीन्ह ॥
तीन जगाती करत रारि, चल्यौं है बनिज बन बनज भरि।
बनिज खुटानौ पूंजी टूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि ॥
कहै कबीर यह जन्म वाद, सहजि समांन रही लादि ॥
—कबीर ग्रन्थावली : पद 383
कबीर पूंजी साह की, तूं जिनि खोवौ ष्वार।
खरी बिगूचनि होइगी, देखा देती बार ॥ —वही : अंग 22 सा० 1
7. धन जोबन की झूठी आसा, सति सति भाषै जन रविदासा।
संत गुरु रविदास वाणी—डा० बी० पी शर्मा—पृ० 114

वास्तविक धन तो राम का नाम है ।[1]

धन : दादू—दादू ने विभिन्न दृष्टिकोणों से धन पर विचार किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निर्धन के चित्त में धन उसी प्रकार बसता है जैसे अमली के चित्त में अमल या शूरवीर के मन में संग्राम अथवा दादू के मन में उसके राम ।[2] वे कहते हैं कि मैंने इस जन्म में ही कभी भी नष्ट न होने वाला धन राम नाम प्राप्त कर लिया है ।[3] उनके अनुसार यह शरीर[4] माणिक, मोती और हीरा भी धन नहीं है सबसे अनमोल मणी तो रामधन रूपी चिन्तामणि है ।[5] सुबुद्धि देकर सतगुरु ने राम धन मुझे दिया है ।[6]

धन : सुन्दरदास—सुन्दरदास के अनुसार धन धूल के समान व्यर्थ है ।[7] यह एक धोखा है ।[8] विभिन्न प्रकार के वस्त्र व आभूषण, जिन्हें धन समझा जाता है ये

---

1. राम नाम धय पायौ, तातैं सहज करौ व्यापार रैं । —वही पृ० 108
2. ज्यूं अमली के चित अमल है, सूरे के संग्राम ।
   निरधन के चित धन बसै, यों दादू के राम ।। —दादूदयाल पृ० 22
3. ऐसा जनम अमोलिक भाई । जा में आइ मिलै राम राई ।
   जा मैं प्राण प्रेम रस पीवै । सदा सुहाग सेज सुखी जीवैं ।।
   आतम आइ राम सूं राती । आखिल अगर धन पावै थाती ।
   परगट पारान दरसन पावै । परम सुरिष मिलि मांहि सभावै ।।
   ऐसा जनम नहीं नर आवै । सो क्यूं दादू रतन गंवावै ।। —वही पृ० 29
4. तन नहीं तेरा धन नहीं तेरा, कहा रह्यो इहि लागि ।
   दादू हरि बिन क्यों सुख सोवैं, काहे न देखैं जागिर ।। —वही पृ० 33
5. रतन पदारथ माणिक, मोती, हीरौं का दरिया ।
   चिंतामणि चित राम धन, घट अमृत भरिया ।। —वही पृ० 65
6. (अ) सब्दौं माहैं राम धन, जे कोइ बिचारि ।
   दादू इस संसार में, कबहू न आवैं हारि ।। —वही पृ० 71
   (ब) सतगुरु दीया राम धन, रहै सुबुद्धि बताइ ।
   मन सा बाचा करमणा बितड़ै खाइ ।। —वही पृ० 58
7. धूलि जैसो धन जा के सूलि सो संसार सुख ।
   भूलि जैसो भाग देखै, अन्त कैसी यारी है ।
   —संतबानी संग्रह—भाग-2, पृ० 105
8. धन तो धखो ही रहै, चलत त कौड़ी गहै ।
   रीते हातन से, जैसो आयो, तैसो जाइ है ।।—सुन्दरविलास—पृ० 27

सब भी भ्रम मात्र है ।[1] इस व्यर्थ धन को प्राप्त करने के लिए ये मनुष्य प्रातः काल से संध्या तक क्या-क्या उपाय नहीं करता । लेकिन नहीं जानता कि मौत न जाने कब अचानक आ जाए ।[2]

सुन्दरदास कहते हैं कि हे मनुष्य तू सोचता कुछ है, होता कुछ और ही है। तेरा सोचा हुआ रखा ही रह जाता है । धन के लिए तू चाहे कितने ही उपाय कर ले, किन्तु उतना ही धन मिलेगा जितना तेरे भाग्य में है ।[3]

धन : मलूकदास—मलूकदास कहते हैं कि हे मनुष्य तू अपने तन, मन, पुत्र, नारी को अपना धन समझता है किन्तु अच्छी तरह विचार कर ले कि इनसे बिछुड़ने में देर नहीं लगेगी ।[4] अतः वे कहते है कि इनकी आशा त्याग कर राम धन की कामना कर ।[5]

धन : नानक—नानक कहते है कि हे मनुष्य ! अरबी और तुर्की घोड़े, सोना, चांदी एवं कीमती कपड़ों के अम्बार, जिसे तू धन समझता है, ये तेरे साथ जाने वाले नहीं हैं । अमृत रूपी "नाम" ही तेरे साथ जाने वाला है ।[6]

---

1. आसन बसन बहु, भूषण सकल अंग ।
संपति बिबिधि भांति भरयो सब हार है ।।
संतबानी संग्रह भाग-2, पृ० 95
2. कोटि उपाय करै धन के हित, भाग लिख्यो तित नोहि लहै गो ।
भौर कि सांझ घरी पल मांझ सु, काल अचानक आइ गहै गो ।।
सुन्दर विलास पृ० 22
3. तू कछु और बिचारत है नर, तेरो बिचार धरयोहि रहै गो ।
कोटि उपाय करै धन के हित, भाग लिख्यो तितनोहि लहै गो ।।
संतबानी संग्रह भाग-2 पृ० 109
4. तन मन धन नहिं अपना, नहिं सुत औं नारी ।
बिछुरत बार न लागई, जिय देखु बिनारी ।।
—मलूकदास की बानी—पृ० 10
5. कहत मलूकदास छोड़ दे पराई आस,
राम धनी पाय के अब का की सरन जाइये ।।
—मलूकदास की बानी—पृ० 24
6. ताजी तुरकी सुइना रूपा कपड़ केरे भारा ।
किस ही नालि न चले नानक झड़ि झड़ि पए गवारा ।।
कूजा मेवा मैं सभ इकु अंमृत नामु तुमारा (4) —नानक वाणी—210

नानक ने अपनी वाणी में धन के लिए "द्रवै" अर्थात् द्रव शब्द का भी प्रयोग किया है। द्रव महावीर वाणी का महत्वपूर्ण शब्द है। नानक कहते हैं कि यह शब्द प्रीति जगाकर कपट में उलझाने वाला है।[1]

धन संचय : महावीर

महावीर ने लक्ष्मी के अन्तर्गत क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, कुप्यभांड, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन और आसन को लेते हुए इन्हें बाह्य परिग्रह माना है।[2] उन्होंने कहा है कि जो मनुष्य अनेक प्रकार की बुद्धि के द्वारा लक्ष्मी को बढ़ाता है, तृप्त नहीं होता। रात-दिन उसी का चिन्तन करता रहता है। यहाँ तक कि समय पर भोजन नहीं करता। हमेशा चिंतित रहता है और रात्रि में सोता भी नहीं वास्तव में वह लक्ष्मी पति न होकर उसके रूप पर आसक्त दास है।[3] उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि उसे यदि सारे जगत का धन भी दे दिया जाए तो भी वह तृप्त नहीं होगा। न ही उस धन की रक्षा कर सकेगा।[4]

महावीर ने स्पष्ट कहा है कि जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके जमीन में गाड देता है, वह लक्ष्मी को पत्थर कर देने का अपराधी है।[5]

धन संचय : नामदेव—नामदेव ने धन संचय का कड़ा विरोध किया है। मूढ़ मनुष्य धन के निमित्त अति करता है। धन संचय का मोह जिह्वा के स्वाद और

1. द्रवै प्रीति गइ जादवनि सौं, मन में कपट रचाया।
   करि निंद्या साधू हरिजन की, अपना बंस गमाया (3)
   —गुरु नानक वाणी (गु० ग्र० के० अ०)—पृ० 32
2. वाहिरसंगा खेत्तं वत्थं धण्धण्णकुप्पभंडाणि।
   दुपयउप्पयं जाणामि चेव सयणासणे य तहा॥ —भग० अ० 1119
3. जो वड्ढारदि लच्छिंबहु-विह-बुद्धीहिंणेय तिप्पेदि।
   सव्वारंभ कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पिंचितेई॥
   णय भुंजदि वेलाए चिंताक्त्थो ण सुयादि रयणीय।
   सो दासत्तं कुव्वादि किमोहिदो लच्छि तरूणीए॥ —द्वा० अ० 17-18
4. सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा विधणं भवे।
   सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव॥ —उत्त० 14/39
5. जो संचिऊण लच्छिं धरणियले संठवेदि अइदूरे।
   सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समणियं कुणादि॥ —द्वा० अ० 14

कामनी के समान है। माया को जमीन में गाड़ने वाले नहीं जानते कि उनका धन जमीन में सुरक्षित नहीं है। वह धन धरती के अन्दर पड़ा-पड़ा धूल की ढेर हो जाता है।[1]

धन संचय : कबीर—कबीर ने लक्ष्मी पतियों की घोर निन्दा की है, जो विलासी हैं, ब्याज पर पैसा देकर गरीबों का शोषण करते हैं।[2] उन्होंने धन संचय करने वालों को मृतक कहा है और खाने पीने पर खर्च करने वालों को जीवित।[3] क्योंकि संचित धन को मरने के बाद कोई सिर पर नहीं ढोता।[4] सब कुछ यहीं पर छूट जाता है। रावण ने अपार धन सम्पदा संचित करके अपने साथ उसका अंश मात्र भी नहीं ले जा सका, सब यहीं छोड़ गया।[5] कबीर कहते हैं कि लक्ष्मी के नाम पर सुख का महल खड़ा करना मूर्खता है। सम्पत्ति उतनीं ही होनी चाहिए कि अपना पेट पालन हो सके।[6]

धन संचय : रविदास—रविदास कहते हैं कि मनुष्य धन संचय करके खजाने भरता है किन्तु क्या जवानी सदैव बनी रहती है ? क्या उदित सूर्य कभी ढलता नहीं ? जिस प्रकार इनमें स्थायित्व नहीं, उसी प्रकार तेरा खजाना भी स्थाई नहीं है।[7]

---

1. जिभ्या स्वादी लीलत लोह। ऐसे कनक कामिनी मोह।
माया कारन स्र अति करै। सो माया लै गाड़ै धरै।
अति संचै समझै नहिं मूढ़ धन धरती तन ह्वै गयो घूड़ा।।
संतवानी संग्रह भाग-2 पृ० 27
2. कलि का स्वामी लोभिया मनसा धरी बधाइ।
देंहि पईसा ब्याज कौं लेखा करता जाइ।। —क० ग्रा० पृ० 28
3. सोइ भुये धन संचते सो उबरे जे खाइ।। —वही पृ० 26
4. कबीर सो धन संचिये जो आगे कूं होइ।
सीस चढ़ाये पोटली ले जात न देख्या कोइ।। —वही पृ० 26
5. ना को बंध न भाई साथी, बांधे रहे तुरगम हाथी।
मैड़ी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि गए सब भूपति राजा।।
—क० ग्र० पृ० 92
6. अधसेर मांगौ दाले, मोकौ दोनों बखत जिवाले।। —वही पृ 240
7. ज्वानी दुनी जमाल सूरहि देखिए थिरि नांहि वे।
दम छः सौ सहस इक्कीस हरदिन खजानै थैं जांहि वे।।
—संत गुरु रविदास वाणी—डा० वी० पी० शर्मा पृ० 87

धन संचय : दादू—दादू धन संचय के स्थान पर आगम ज्ञान के संचय की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि इसे संचय करने से तू सुखी हो सकता है ।[1]

धन संचय : सुन्दरदास—धन संचय करने वालों के सम्बन्ध में सुन्दरदास कहते हैं कि तू दूसरे को ठग कर धन घर लाता है । तेरा संचित धन दूसरे घर फोड़ कर ले जाते हैं । तू दमरी-दमरी करके धन का संचय करता है किन्तु आग लगने पर सब जल जाता है । तू हाकिम से तनिक भी नहीं डरता, वह एक बार में सारा धन हड़प लेता है । संचित धन तू तो भूखा रहकर एकत्रित करता है, किन्तु वह तेरे काम नहीं आता ।[2]

वास्तव में धन क्या है, इसे एक उदाहरण द्वारा सुन्दरदास जी ने बताया है । एक रंक ने किसी से पूछा—तुमने धन कहां पाया ? कान खोलकर सुनो मैंने धन फला स्थान पर पाया है, उसे उत्तर मिला । पूछने वाले ने उसे खोजा, न मिलने पर फिर पूछा ! उसे उत्तर में कहा गया कि धन तो तेरे शरीर रूपी घड़े में गड़ा हुआ है । ध्यान की कुदाल से खोदकर जब धन पाया तो गरीबी दूर भाग गई ।[3]

---

1. मन रे बहुरिन ऐसैं होई ।
पीछे फिर पछितावैगा रे, नींद भरे जिनि सोई ।।
आगम सारैं संचु करीले तो सुख होवैं तो ही ।
प्रीति करी पिव पाइए, चरणों राखे मोही ।। —दादूदयाल पृ० 29

2. तू ठगि के धन और कूं ल्यावत, तेरउ तौ घर औरहि फोरैं ।
आग लगैं सबही जरि जाइ सु, तू दमरी दमरी करि जोरैं ।।
हाकिम को डर नाहिन सूझत, सुन्दर एक हि बार निचोरैं ।
तू खरचैं नहिं आप न खाय सु, तेरिहि चातुरि तोहि ले बोरैं ।।
—सुन्दर विलास पृ० 17

3. काहू कूं पूछत रंक, धन कैसे पाइयत ।
कान देके सुनत, स्रवण सोई जानिए ।।
उन कह्यो धन हम, देख्यो है फलायी ठौर ।
मनन करत भयो, कब घर आनिए ।।
फेरि जब कह्यो धन, गड्यों तेरे घर माहिं ।
खोदन लाग्यो है तब, निदिध्याव ठानिए ।।
धन निकस्यो है जब, दरिद गयो है तब ।
सुन्दर साक्षात्कार, नृपति बखानिए ।।
—संतबानी संग्रह—भाग—2, पृ० 105

धन संचय : नानक—गुरु नानक कहते हैं कि मनुष्य नींव दे देकर दीवाल बनाता है किन्तु वह भस्म के बने महल की ढेरी हो जाती है। अन्धा मनुष्य वस्तुओं का संग्रह करता है, उस पर अपना अधिकार मानता है। जब रावण की लंका ही उसकी नहीं हो सकी तो, साधारण मनुष्य का संचित धन उसका कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।[1] साहूकार धन को स्थाई समझकर संचित करता है और बन्धन में पड़ जाता है।[2] इस संसार में कितना भी धन संग्रह कर ले, कितने ही भोग भोग ले। सब कुछ एक दिन खाक में मिल जाता है।[3]

गुरु नानक के अनुसार धन संचय के कारण अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि दुःख-सुख धन के नहीं परमात्मा के अधीन है। सच्चा सुख उसके नाम में है।[4] कृपण को तो एक न एक दिन पछताना पड़ता है।[5]

गुरु नानक कहते हैं कि यदि संचय ही करना है, तो हरि नाम का संचय करना चाहिए।[6]

व्यापार : महावीर

महावीर के अनुसार सदाचरण युक्त व्यापार व्यवहार करने वाला कभी भी

---

1. दे दे नीव दिवाल उसारी भसमंदर की ढेरी।
   संचे संचि न देई किस की अन्धु जाणै सभ मेरी।
   सोइन लंका सोइन भाड़ी संपै किसै ना केरी॥ —नानक वाणी पृ० 110
2. बंधन साह संचहि धनु जाइ। —नानक वाणी पृ० 110
3. कीचहि रस भोग खुसीआ मन केरी। धनु लोकां तनु भसमै ढैरी।
   खाक खाकु रलै सभु फैल, बिनु सब दै नहीं उतरै मैलु॥ —वही पृ० 479
4. संपउ सहजे जपि रिदै विकार।
   हरख सोग उभे दरबारि॥
   सुख सहजे जपि रिदै मुरारि॥ —वही पृ० 221
5. क्रिपन रोवै धन संचै जाइ, पंडित रोवै ग्यांन गंवाइ।
   बालि रोवै नहीं भरतार, नानक दुषिया सब संसार (14)
   —गुरु नानक वाणी (गु० ग्र० के० अ०) डा० बी० पी० शर्मा पृ० 21
6. हरि धनु संचहु रे जन भाई। सतिगुर सेवि रहहु सरणाई।
   तसकरु चोरु न लागै ता कउ धुनि उपजै सबदि जगाइआ (1)
   —ना० बा० 626

निन्दा का पात्र नहीं होता।[1] उन्होंने व्यापार का मूल सूत्र बताते हुए कहा है कि जो व्यापारी अपने ग्राहक को अभीष्ट वस्तु देता है और प्रीति-वचन से सन्तुष्ट भी करता है वह व्यवहारी अर्थात् व्यापारी है। जो न देता है और न प्रतिवचन से ही संतुष्ट करता है वह अव्वहारी (अव्यावहारिक) अर्थात् व्यापारी कहलाने योग्य नहीं है।[2]

व्यापार : नामदेव—नामदेव के काव्य में हाट, मंडी, बनज आदि व्यापारिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। नामदेव के अनुसार यह संसार एक हाट[3] और मंडी[4] है। यहां प्रत्येक व्यक्ति बनज अर्थात् व्यापार करने के लिए आता है। बुद्धिमान यहाँ से कुछ कमाकर जाता है और मूर्ख अपना मूलधन भी खोकर चला जाता है।

भौतिक दृष्टि से विचार करते हुए नामदेव कहते हैं कि यहाँ व्यापारी सत्य पर आधारित व्यापार नहीं करते। सुनार इसका उदाहरण हैं, जो आभूषण बनाते समय सोना उड़ा देते हैं।[5]

व्यापार : कबीर—कबीर वाणी में गाइक (ग्राहक) महगे-मोलि बिकाइ (व्यापार) कमाई पोत आदि व्यापारिक शब्दावली का प्रयोग आध्यात्मिक पक्ष में हुआ है।

कबीर दास जी कहते है कि इस संसार में आकर लोग बुरी कमाई करते हैं और विष की पोटली बांधते हैं।[6] कबीर कहते हैं कि जब स्वयं राम ग्राहक के रूप में उपस्थित है तो माल सस्ते में नहीं बेचना चाहिये। उनके रहते हुए, अन्य कौन

---

1. धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धे हायरियं समा।
   तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई।। —उत्त० 1/42
2. जे से पुरि से देति वि, सण्णवेइ वि से णं ववहारी।
   जे से पुरिसे नो देति, नो सण्णवेइ से णं अववहारी।।
   —भ० म० के० हृ० उ० पृ० 276
3. यह संसार हाट को लेखा, सब कोउ बनिजहिं आया।
   जिस जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गंवाया।।
   —संतबानी संग्रह, भाग-2 पृ० 26
4. संसार सागर मंडी बाजी, सुरति कीन्ही सारि।
   मनिष जन्म का हाथि पासा जीति भावै घरि।। —वही पृ० 130
5. जिऊ मीना हेरै पसुआरा। सोना गड़ते हिरे सुनारा। —वही पृ० 104
6. कबीर पहली बुरा कमाइ करि, बांधी विष की पोट।
   कोटि करम फिल पलक मैं, जब आया हरि की ओट।। —क०ग्र०पृ० 10

ग्राहक पास आ सकता है ।[1]

कबीरदास कहते हैं कि पापिनी माया फंदा लेकर बाजार में बैठी है और सबको अपने फंदे में फंसा रही है । केवल कबीर ही उससे बचा हुआ है ।[2]

व्यापार : रविदास—रविदास के काव्य में बनजारा, व्यापार, टांडा, तोल आदि व्यापारिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है । रविदास जी कहते हैं कि मैं तो राम का बनजारा हूं और सच्चा व्यापार करता हूं । राम धन लाद कर संसार में निकला हूं ।[3] रविदास कहते हैं कि अति आतुर व्यापारी कांचा (कच्चा=कम) ही तोलता है ।[4]

व्यापार : दादू—दादू की वाणी में बनिक (व्यापारी) साह, जौहरी, कनक (सोना) तथा तराजू रजिक (रोजी देने वाला), रिजक (रोजी) आदि व्यापारिक शब्दावली प्रयुक्त हुई है ।

दादू आध्यात्मिक पक्ष में "बनिक" शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि तीन लोक की पूंजी तेरे साथ है । हे बनिक तू देर क्यों कर रहा है और भ्रमित है ? जब तक तेरे हृदय में सांस है तब तक उसे स्मरण करता रह अन्यथा पछताना पड़ेगा ।[5]

---

1. नांन्हां काती चित्त दे, महगै मोलि बिकाइ ।
   गाहक राजा राम है, और न नेड़ै आइ ।। —वही पृ० 48
2. (अ) कबीर माया पापिणी, फंध ले बैठी हाटि ।
   सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीर काटि ।। —वही पृ० 56
   (ब) कबीर माया मोह की, भई अंधारी लोइ ।
   जे सूता ते मुसि लीया, रहे बसत कौं रोइ ।। —वही पृ० 59
3. (अ) हउ बनजारौ राम को, सहज करउं व्यापारू ।
   मैं राम धन लादिया, बिखु लादी संसारी ।।
   —संतगुरु रविदास वाणी—डा० वी.पी. शर्मा—पृ० 108
   (ब) हौं बनिजारौ राम कौ, हरि जू कौ टांडौ लादौ जाब रे ।—पृ० 108
4. अति ही आतुर हूवै, कांचा ही तौलै रे ।
   ऊंडे जल पैसे नहीं, पांड रोषो रें ।। —वही पृ० 81
5. तूं मति जानै बहुरि पाइये, अब के जिनि डहकावै रे ।
   तीन लोक की पूंजी तरी, बनिक बोगी सो आवै रे ।।
   जब लगी घट में सांस बास है, तब लग काहे न धावै ।
   दादू तन धरि नांउ न लीन्हा, सो प्राणी पछितावै रे ।।
   —दादूदयाल पृ० 30

दादू कहते हैं कि इस संसार में कूड़ा करकट बिक रहा है। हीरे का खरीदार जब आयेगा तो मुंह मांगा मूल्य देकर खरीद लेगा।[1]

दादू कहते हैं कि साह ने व्यापारी को भेज दिया है किन्तु भ्रम के कारण वह ठीक स्थान पर नहीं पहुंचा।[2]

दादू के अनुसार कनक और कामिनी का संग कभी नहीं करना चाहिये।[3]

दादू कहते हैं कि सबको रोजी देने वाला परमात्मा है जो हाथों-हाथ रोजी देता है। वह सदैव मेरे पास रहता है।[4]

दादू के अनुसार एक ओर स्वर्ग और पाताल के सुख हैं और दूसरी ओर एक पल का हरि सुख है। तू अपने विवेक एवं ज्ञान को तराजू पर तोल कर किसी एक को अपना सकता है।[5]

व्यापार : सुन्दरदास—सुन्दरदास के काव्य में प्रयुक्त आर्थिक शब्दावली में गांठ, पैसा, मुहर, रुपया, गिन्नी तथा गंगु तेली आदि उल्लेखनीय हैं। इनका प्रयोग उन्होंने आध्यात्मिक भाव अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से किया है। वे कहते हैं जो स्वयं तो मोह माया में उलझे हुए हैं और दूसरों को उपदेश देते हैं वे गांठ में रुपया न होने पर भी साहूकार बताने का प्रयत्न करते हैं और मुह से बातें बनाकर मुहर, रुपया तथा गिन्नी हड़प लेते हैं। वे राजा भोज न होकर गंगू तेली ही हैं।[6]

---

1. (दादू) सबको बणिजै खार-खालि, हीरा कोई।
   हीरा लेगा जौहरी, जो मांगे सो देइ॥ —वही पृ० 29
2. साह पठाया बनिज न आया, जिनि इहाकावैरे।
   झूठ न भावै फेरि पढावैं, कीया पावै रे॥ —वही पृ० 105
3. दादू मन मिरतक भया, इन्द्री अपणैं हाथ।
   तौ भी कदे न कीजिये, कनक कामिनी साथ॥ —वही पृ० 35
4. दादू रजिक रिजक लीये खड़र, देवैं हाथौं हाथ।
   पूरिक पूरा पास है, सदा हमारे साथ॥ —वही पृ० 49
5. (दादू) सब सुख सरग पयाल के, तोल तराजू बाहि।
   हरि सुख एक पलक्क का, ता सम कह्या न जाइ॥ —दादूदयाल पृ० 74
6. मुख सूं कहत ज्ञान, भ्रमैं मन इन्द्री प्रान।
   मारग के जल में, न प्रतिबिम्ब लहिये॥
   गांठ में न पैसा कोऊ, भयो रहै साहुकार।
   बातन में मुहर, रुपैया गिनि लहिये॥
   सुपने में पंचामृत, जीभ के तृपत भयो।
   जागे ते मरत भूख खाइबै कूं चहिये॥

सुन्दरदास कहते हैं कि रंक के हाथ यदि हीरा लग जाये तो वह उसका मूल्य न आंकने के कारण घर-घर लिये फिरता है।[1]

व्यापार : मलूकदास—मलूकदास कहते हैं कि संसार में व्यापार करते-करते जुग बीत गया किन्तु कभी लाभ नहीं हुआ। दिन पर दिन घाटा ही होता रहा। अबकी बार ऋण मुक्त हुआ हूं।[2] वे कहते हैं अब मैं फिर संसार के हिसाब-किताब में नहीं पड़ना चाहता।[3] मुझे चार प्रकार का लाभ प्राप्त हो गया है अब पुनः सांसारिक व्यापार नहीं करूंगा। अब तो घर पर बैठकर खाऊंगा।[4]

मलूकदास कहते हैं कि झूठे बाट बांधकर कोई पार नहीं उतर सकता।[5] लालची व्यापारी को दिन-दिन घाटा ही होता है।[6]

मलूकदास कहते हैं कि बनिया ठीक तोल नहीं तोलता उसने बाटों के भार में कमी कर दी है और दिखाने के लिये तराजू के सिरे बराबर करता है। उसे पता नहीं कि पांच और पचीस चोर उसके शरीर रूपी दुकान को लूट रहे हैं। उसकी

(पृ० 451 का शेष)

सुन्दर सुभट जैसे कायर मारत गाल।
राजा भोज सम कहा, गांगू तेली कहिये ।। —सुन्दरविलास, पृ० 63

1. रंक हाथ हीरा चढचो ता को मौल न तौल।
घर-घर डौले बेच तो सुन्दर याही मोल ।।
—संतबानी संग्रह-भाग 1, पृ० 102

2. सौदा करत बहुत जुग बिते, दिन दिन टूटी आई।
अब की बार बेबाक भये हम, जम की तलब छोड़ाई ।।
—मलूकदास की बानी पृ० 7

3. हाथ कछु मेरे नाहिं हाथ सब मेरे सांई।
खलक के हिसाब बीच मुझ को मत सानिये ।।
—मलूकदास की बानी पृ० 26

4. चार पदारथ नफा भया मोहि, बनिजै कबहुं न जाइ हौं।
अब पहकाय बलाय हमारा, घर ही बैठे खई हौं ।। —वही पृ० 7

5. थोथे बांट बांधि के भोंदू, येहि बिधि जाव न पारा।
ऋद्धि सिद्धि में बूड़ि मरोगे, पकड़ो खेवनहारा ।। —वही पृ० 13

6. सब से लालच का मत खोटा।
लालच तें बैपारी सिद्धी, दिन दिन आवै टोटा ।। —वही पृ० 17

पुकार सुनने वाला भी कोई नहीं। जब ठीक तोल तोलेगा तभी दाम पायेगा।[1]

मलूकदास ने कहा है कि धर्म पर आधारित व्यापार ही उचित है। तथा दया का व्यवहार भला है। रामनाम की हाट के किवाड़ खोल कर बैठना चाहिये। राम सबको देने वाला है। हरि की कमाई में तेरा भी हिस्सा है।[2]

व्यापार : नानक—गुरु नानक के पिता ने उन्हें व्यवसाय में लाने का प्रयास किया। बीस रुपए देकर उन्हें लाभप्रद वस्तुओं को खरीदकर लाने को कहा। गुरु नानक रुपए लेकर चले तो रास्ते में भूखे साधुओं को देखकर उन्होंने सब रुपए उन्हीं के खान-पान में व्यय कर दिए। उनकी दृष्टि में यही सच्चा सौदा था।[3]

गुरु नानक ने सत्य की कमाई को ही ग्राह्य माना है। जो कमाई समाज के एक अंग का खून चूसकर कमाई गयी हो, उससे उनका कोई सरोकार नहीं था। उनके विचार में यदि खून के छींटे पड़ा हुआ वस्त्र गंदा कहला सकता है तो उन लोगों के मन को किस प्रकार शुद्ध माना जा सकता था जो दूसरों का खून चूसकर गन्दे हो चुके हैं।[4]

धन सम्पत्ति को गुरु नानक अग्राह्य मानते थे क्योंकि उनके अनुसार उनको संगृहीत करने के लिए अनेक पाप, अपकर्म करने पड़ते हैं जिसके बिना वह प्राप्त नहीं होती और मृत्यु होने पर वह साथ नहीं देती। अतः उसका अर्जन करना

---

1. मन नहिं तौले यार, का रे तौले बनियां।
   घाट बाट सोध लेइ, सम रहै नकुनियां॥
   बिसरै ना सुरति, नाहिं फेरि होय तनियां॥
   पांच और पचीस चोर, लूटिहै दुकनियां।
   सुनहि ना गोहार कोउ, हाकिम हैरनियां॥
   कहत मलूकदास, तौलै जब चार रास।
   साहेब मिल साहु होय, मिलै तब दमनियां॥ —वही पृ० 23
2. धर्महिं का सौदा भला, दाया जग व्योहार।
   राम नाम की हाट ले, बैठा खोल किवार॥
   रहूं भरोसे राम के, बनिजे कबहूं न जावै।
   दासम लूका यों कहै, हरि बिड़वे मैं खावं॥ —मलूकदास की बानी-पृ० 30
3. गुरु नानक : व्यक्तित्व और विचार। —पृ० 10
4. जे रत लग्गे जामेआ जामा होए पलीत।
   जोरत पीवै मानसा तिन क्यों उत्तम चीत।
   —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 26

व्यर्थ है।[1]

गुरु की शरण से छुटकारा मिलता है, मन मुख के पास तो खोटी पूंजी है। जिस प्रकार बादशाह की आड धातुओं को गला कर सिक्के गढ़े जाते हैं और उन पर शब्द खोदा जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के भी वर्ण-वर्ण के मनुष्य होते हैं उन्हें शब्द द्वारा गढ़ा जाता है और वे विकसित होकर उच्च बनते हैं। प्रभु स्वयं ही पारखी हैं, वह अच्छे सिक्कों को परख कर खजाने की राशि में डाल देता है।[2]

गुरु नानक कहते हैं कि व्यापारी और बनजारे अपनी-अपनी तनख्वाह लिखा कर आ गए हैं। यदि सच्चे परमात्मा का काम ईमानदारी और सच्चाई से करें तो उन्हें उसकी मरजी से अवश्य लाभ मिलेगा। सच्ची पूंजी से ही गुरु प्राप्त होता है।[3]

गुरु के उपदेश द्वारा शिष्य पूरी तौल तौला जायेगा, हरि के तराजू की तौल बड़ी सच्ची है। आशा और वासना शिष्य को मोहने वाली है किन्तु गुरु ने अपनी वाणी से उन्हें रोक दिया है। वह स्वयं ही भली भाँति तौलेगा। उसकी तौल पूरी है।[4]

गुरु नानक व्यापारियों को सम्बोधित करते हुए कहते है कि हे व्यापारियों, व्यापार तो करो किन्तु ऐसी वस्तु खरीदो, जो साथ-साथ निबह सके। परलोक मे बैठा परमात्मा बड़ा चतुर है वह बहुत सोच-समझ कर तुझसे सौदा खरीदेगा।[5] वह खोटे सिक्के (व्यक्ति) स्वीकार नही करेगा। खोटे व्यक्ति तो इस संसार में आते हैं

---

1. पायां बाझहु होवै नाही, मुइयां साथ न जाई। —वही पृ० 82
2. गुर सरणाई छुटीऐ मनमुख खोटी रासि।
   असट धातु पातिसाह की घड़ीऐ सबदि विगासि ॥
   आपे परखे पारखू पवै खजानै रासि (4) नानक वाणी—153
3. वापारी वणजारिया आए वजहु लिखाइ।
   कार कमावहि सच को लाहा मिलै रजाइ ॥
   पूंजी साची गुरु मिलै ना तिसु तिलु न जमाइ (6) वही पृ० 145
4. गुरमुखि तोलि तोलाइसी सचु तराजू तोल।
   आशा मनसा मोहणी गुरु ठाकी सचु बोलु ॥
   आपि तुलाए तोलसी पूरे पूरा तोलु (7) वही पृ० 145
5. वणजु करहु वणजारिहो वखरू लेहु समालि।
   तैसी वसतु विसाहिऐ जैसी निबहै नालि ॥
   अगै साहु साहु सुजाणु है लैसी वसतु समालि (1) नानक वाणी 123

और यों ही चले जाते हैं ।[1]

गुरु नानक कहते हैं कि उस व्यापारी को लाभ प्राप्त होता है जो नाम रूपी रत्न को परख लेता है । उसे वस्तु अपने घर में ही मिल जाती है और वह अपना कर्म पूरा करके चला जाता है । व्यापारियों के साथ व्यापार करो तथा गुरु की शिक्षा ब्रह्म का विचार करना चाहिये ।[2]

गुरुनानक रूपक द्वारा व्यापारिक शब्दावली को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हृदय एवं मस्तिष्क दुकान हैं । शरीर नगर तथा दशमद्वार गढ़ एवं शरीर की विभिन्न शिराएं कोठरियां हैं ।[3]

यदि तुम गुणों के मूल्य को न समझने वाले ग्राहक को गुण बेचोगे तो वे बहुत ही सस्ते विकेंगे । यदि गुण का सही ग्राहक मिल जाए तो वही गुण लाखों का बिक जायेगा । यदि तुम अपने गुणों को ऐसे व्यक्ति से प्राप्त करो जिसमें वे सब गुण विद्यमान हैं तो तुम सच्चे गुरु के साथ एकाकार हो जाओगे । गुरु नानक कहते है कि यदि तुम पूरा तौलोगे तो कभी घाटा नहीं पड़ सकता ।[4]

अतः तीर्थंकर महावीर जी के समय में और उसके पश्चात् भी देश में सभी प्रकार के लोग अनेक प्रकार के अर्थ साधकों से जीविकोपार्जन करते थे । इन व्यवसाइयों में जहां एक ओर सत्यनिष्ठ और सद्वृत व्यवसायी थे वही दूसरी ओर धूर्त और असद्वृत व्यवसायी भी थे इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के कार्यों में लगे हुएशिल्पकार तथा अन्य प्रकार का कार्य करने वाले भी थे जिनकी बहुत बड़ी

---

1. खोटे पोतै न पवहि तिन हरिगुर दरसु न होइ ।
   खोटे जाति न पति है खोटि न सोझसि कोइ ।।
   खोटे खोटु कमावणा आइ गइआ पति खोइ (3) वही पृ० 123
2. लाहा अहिनिसि नउतना परखे रतनु बीचारि ।
   वसतु लहै घरि अपणै चलै कारजु सारि ।।
   वणाजरिया सिउ वराजु करि गुरमुखि ब्रह्मु बीचारि (3)
   —वही पृ० 140
3. हाट पटण गड़ कोठड़ी सचु सउदा वापार (2) वही पृ० 141
4. विणु गाहक गुणु वेचीयै तऊ गुणु सह धो जाइ ।
   गुण का गाहक जे मिले तऊ गुण लाख बिकाइ ।
   गुण ते गुण मिलि पाइयै सतिगुर माहि समाइ ।
   मोल अमोल न पाईयै वणजि न लीजे हाटि ।
   नानक पूरा तोलु है कबहुं न होवै घाटि ।
   —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 28

सूची जैन आगमों में प्राप्त होती है। स्वभावतः तीर्थंकर महावीर ने अपनी वाणियों में कुछ तो व्यवसायियों को लक्ष्य करके और कुछ दृष्टान्त, उदाहरण अथवा रूपक के द्वारा उन अनेक व्यवसायों के सम्बन्ध में वाणियां कही हैं। उनके अतिरिक्त अन्य संतों ने भी अपने समय के व्यवसायियों की अर्थ नीति व व्यापार नीति को लक्ष्य करके अनेक वाणियां कही हैं जिनका इस अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है।

अगले अध्याय में तीर्थंकर महावीर तथा अन्य संतों की नैतिक वाणियों पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

अध्याय — 7

महावीर की नैतिक वाणी के आलोक में हिन्दी का संत काव्य

"नीति" शब्द का अर्थ है ले जाने का तरीका अर्थात् जीवन को लक्ष्य की ओर किन-किन नियमों के पालन करने से ले जाया जा सकता है। संस्कृत के "नी" धातु से जिसका अर्थ ले चलना है यह शब्द बना है।[1] नीति के अन्य अर्थ आचरण, आचार, नैतिकता आदि भी है।[2]

नीति शास्त्र दो शब्दों से बना है—एक नीति और दूसरा शास्त्र। शास्त्र शब्द शास् (शासु-अनुशिष्टों सेट्) धातु से बना है जिसका अर्थ है सीखना, बतलाना, नियन्त्रण करना, दण्ड देना और सलाह देना।[3] शब्द-विज्ञान के अनुसार एथिक्स अर्थात् नीतिशास्त्र ग्रीक शब्द एथौस से लिया गया है। यह चरित्र का विज्ञान है। एथिक्स का ही पर्यायवाची शब्द मॉरल फिलासफी है। मॉरल शब्द लेटिन के "मारेस" से लिया गया है। इस प्रकार मॉरल फिलासफी का अर्थ हुआ रीति-रिवाज, प्रचलन अभ्यास का दर्शन। कर्तव्य, अधिकार, बाह्यता, सद्गुण, उत्तरदायित्व आदि भी इन्हीं के अनुगामी शब्द है।[4]

---

1. भारतीय नीति-शास्त्र का इतिहास—डा० भीखन लाल आत्रेय पृ० 9
2. नीति : (स्त्री)० (नी-क्तिन्) 1. निर्देशन, दिग्दर्शन, प्रबंध 2. आचरण, चाल-चलन, व्यवहार, कार्यक्रम 3. औचित्य, शालीनत 4. नीति-कौशल, नीतिज्ञता, बुद्धिमत्ता, व्यवहार कुशलता 5. योजना, उपाय, कूटयुक्ति 6. राजनय, राजनीति विज्ञान, राजनीतिज्ञता, राजनीतिक बुद्धिमत्ता 7. आचार शास्त्र, आचार, नीतिशास्त्र, आचार दर्शन 8. अवप्ति, अधिग्रहण 9. देना, प्रदान करना, प्रस्तुत करना 10. सम्बन्ध सहारा। विषय नैतिकता या दूरदर्शी व्यापार का क्षेत्र। व्यतिक्रमः 1. नीतिशास्त्र या राजनीति ज्ञान के नियम का उल्लंघन 2. चाल चलन की त्रुटि, नीति विषयक भूल, शास्त्रम् नीतिशास्त्र या राजनय, नैतिकता।
—संस्कृत-हिन्दी कोष-वामनशिवराज आप्टे पृ० 550
3. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास—पृ० 1
4. नीति शास्त्र-शन्ति जोशी—पृ० 4-5

कर्ता, कर्म और ध्येय के नैतिक स्वरूप को समझने के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है अर्थात् उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अधिकार, सद्गुण-दुर्गुण, पाप-पुण्य, स्वतन्त्रता-उत्तरदायित्व आदि, जिन्हें नैतिक प्रत्यय कहते हैं। नीतिशास्त्र में वे विशिष्ट अर्थों से युक्त है और नैतिक निर्णय में सहायक होते हैं।[1]

नैतिक सिद्धान्त उस बौद्धिक प्रणाली को अपनाता है जिसके द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य को क्या करना चाहिए अथवा वह कौन सा शुभ है जिसे मनुष्य स्वेच्छाकृत कर्मों द्वारा प्राप्त कर सकता है। नैतिक आदर्श काल्पनिक नहीं वास्तविक जीवन पर आधारित है। नैतिक "चाहिए का स्वरूप क्या है" पर निर्भर है।[2]

नैतिक आदर्श वह आदर्श है जो कि मानवीय प्रयास और पुरुषार्थ से पृथ्वी पर स्थापित किया जा सकता है।[3] गूढ़ नैतिक सिद्धान्त उस परम मापदण्ड की खोज करता है जो विभिन्न सिद्धान्तों को संगठित कर उनके मूल कारणों को विशिष्ट समयानुसार प्रकाश में ला सके। नैतिकता की उत्पत्ति की मांग उस सिद्धान्त या मापदण्ड की मांग है जो जीवन के ध्येय और मूल्य को सम्यक् ज्ञान द्वारा प्रदर्शित कर सके।[4] नैतिक आदर्श का मापदण्ड अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख है।[5] नैतिक नियम निश्चित और अपरिवर्तनशील नहीं है। वे देश काल और परिस्थिति से विमुख नहीं हो सकते। नैतिक कर्म परम ध्येय के लिए साधन मात्र हैं।[6] नैतिक कर्म वह कर्म है जिसके साध्य और साधन दोनों पवित्र हैं।[7]

नैतिकता और चरित्रता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में नैतिकता तथा चरित्रता में कोई अन्तर नहीं है। चरित्र शिक्षा को ही नैतिक शिक्षा कहते है कर्मों से ही चरित्र अच्छा या बुरा बनता है।[8]

सभ्यता का प्रथम चरण बाह्य-नियमों अथवा प्रचलित नैतिकता का चरण था। उस समय का व्यक्ति झुण्ड का सदस्य था। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। वह प्रचलनों, रूढ़ि-रीतियों और नियमों के जगत् में रहता था उसका

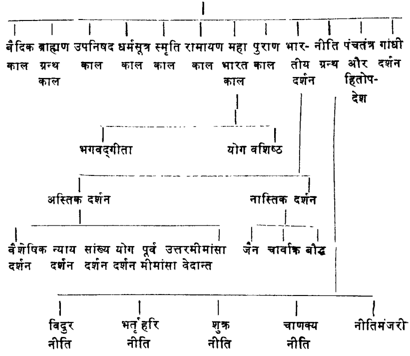
---

1. नीतिशास्त्र—पृ० 69
2. वही—पृ० 170
3. वही—पृ० 17
4. वही—पृ० 31
5. वही—पृ० 137
6. वही—पृ० 62
7. नीति दर्शन—पृ० 66
8. आदर्श नैतिकता—लक्ष्मीचन्द वेणीलाल—पृ० 3

विश्व जाति का विश्व था। उसके नैतिक निर्णय झुण्ड, जाति एवं समाज के प्रचलनों को अभिव्यक्ति देते थे। जाति के आचरण का अनुकरण करना उसका एक कर्तव्य था। सामाजिक व्यवस्था के नियमों का पालन करना उसका एकमात्र ध्येय था।[1]

प्राचीन भारत में जनता के लिए दो प्रकार के आदेश थे—धार्मिक तथा नैतिक। धार्मिक आदेशों की अवज्ञा, धर्म के विपरीत कार्य करना "पाप" समझा जाता था और नैतिक अर्थात् सामाजिक आदेशों की अवज्ञा "अपराध" कहा जाता था। धार्मिक तथा नैतिक-सामाजिक दोनों ही दृष्टि से अपने कर्तव्य को न निभाने वाला या उनके विपरीत चलने वाला "पतित" कहा जाता था।[2] भारतीय नैतिकता के इतिहास को निम्न रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

भारतीय नैतिकता का इतिहास क्रम



1. नीतिदर्शन—पृ० 97
2. पतन की परिभाषा वर्मा—परिपूर्णदन्दन—पृ० 1

1. **वैदिक काल**—वैदिक काल में मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य सुख और शान्ति था। वह बुढ़ापे, रोग और मौत से बचना चाहता था। वह स्वतन्त्रता, सम्पन्नता, बुद्धि, बल, तेज और यश आदि की कामना करता था। जीवन एक संग्राम था। सफलता के लिए वे ईश्वर से प्रार्थना करते थे। अतिथि सत्कार, मैत्री, सुखी-पारिवारिक जीवन, वर्णव्यवस्था आश्रम सम्बन्धी उनके नैतिक आदर्श थे। उनका विश्वास था कि ऋत सबका नियन्त्रण करता है और नैतिक आचरण करने वालों को शुभगति प्राप्त होती है।[1]

वैदिक काल की नीति का आधार ऋत और सत्य थे। ऋत से नियंत्रित होकर सत्य का आचरण करते हुए जीवन का वैभव और सुख प्राप्त करना तथा आत्म-ज्ञान द्वारा जरा-मृत्यु के शोक से बचना मनुष्य का लक्ष्य था। जो वैदिक काल में ऋत कहा जाता था वह पीछे समय में धर्म कहलाया जाने लगा। धर्म और आत्म ज्ञान भारतीय नीति के मूल आधार हैं। धर्म के अनुसार जीवन यापन और समाज संगठन होना चाहिए तथा आत्म ज्ञान द्वारा जरा मरण के भय से मुक्त होना चाहिए। यही वेदों का उपदेश है। यही विचार परवर्ती सभी शास्त्रों में भी मिलता है। इसी कारण वेदों को धर्म का मूल स्त्रोत और परम प्रमाण माना जाता है।[2]

वेद के स्वरूप, अर्थ और उपदेश को सुरक्षित रखने एवं विशद करने के लिए वैदिक ऋषियों ने जिन छः वेदांगों की रचना की थी उनमें से कल्प एक वेदांग है। वेद में विहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्था करने वाले शास्त्र को कल्प कहते हैं। ये ग्रन्थ सूत्रों में लिखे गए। कल्पसूत्र श्रोत, गृह्य-सूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व सूत्र चार प्रकार के है। धर्म सूत्र में वर्णों, आश्रमों और राजाओं के कर्तव्यों तथा धर्म का वर्णन है। धर्म सूत्रों में बोधायन धर्म सूत्र तथा गौतम धर्म सूत्र मुख्य हैं। गौतम सूत्र के नैतिक उपदेशों में धर्म का मूल, आश्रम धर्म, ब्रह्मचारी का कर्तव्य, विद्यार्थी पर शासन, गृहस्थ के कर्तव्य, विवाह, पंच महायज्ञ, क्रोध, अतिथि, वानप्रस्थ कर्तव्य, सन्यासी कर्तव्य, वर्णधर्म, स्वधर्म पालन, आत्मा के गुण, निषिद्धकर्म, सत्य, दण्ड विधान, स्त्री-धर्म आदि मुख्य हैं।

---

1. ऋग्वेद, 5/51/11-15, 10/63/3/16, 1/89/1, 2, 6, 8, 9, 10/7/1 अथर्ववेद 1/31/4 तथा 19/8/7, ऋ० 1/89/6, अथर्व० 19/8/7, यजुर्वेद 36/8/10, 11, 17, ऋ० 7/66/16, ऋ० 10/158/4, ऋ० 4/33/11, ऋ० 10/153/1, ऋ० 10/117/6, अ० 9/8/8, 10/19/11, 4, ऋ० 6/58/4, ऋ० 8/70/11, शु०य० 31/18 आदि।
2. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास—पृ० 46

आपस्तम्ब धर्मसूत्र की नैतिक शिक्षा में चार वर्ण सम्बन्धी कर्तव्य, पथ देने के नियम, चार आश्रम, गुरु कर्तव्य, विद्यार्थी के कर्तव्य, भोजन के नियम, धर्म, पाप तथा दाय विभाग चोरी, हिंसा आदि उल्लेखनीय हैं।

अतः स्पष्ट है कि उस समय जीवन नियमों में बहुत जकड़ा हुआ था। धर्म पालन करते हुए सब कामों को करने में ही मनुष्य अपने को धन्य समझता था।

2. **ब्राह्मणग्रन्थ काल**—ब्राह्मणों का संकलन काल 3000-2000 वि०पू० माना जाता है।[1] इस काल में भी जीवन के उद्देश्य और नैतिकता का प्रायः वही रूप रहा जो वैदिक काल में था। पर इस समय में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों का महत्व बहुत बढ़ गया। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम विद्यमान थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य की महिमा (शतः 1/1/1/4-5), तप की महिमा (शत० 3/4/4/27, त० ब्रा० 1/1/2), दमन-दया-दान (प्रत० 14/8/2/2-3-4), जीवन से पुरुषार्थ का महत्व, (ऐ०ब्रा० 33/3), साफ सुथरा रहने का उपदेश (ते० 1-26), प्रातः कत्थम् (ते०ब्रा० 3/8/1 आदि), पशु पालन (शत० 1/7/2/22) सन्ध्योपासना (तै०शा० 212), भोजन का महत्व (गौ० 30/3), वर्ण-व्यवस्था (शत० 4/2/2/14), स्त्री का पुरुष के जीवन में स्थान (तै०ब्रा० 3/8/23), स्त्रियों का धर्म (शत० 4/1/5/7), पुत्र-कामना और पुत्र का महत्व (ऐ०ब्रा० 33/1), ब्रह्मचर्य (गो०प० 2/5 सोमयज्ञ), विद्या का महत्व (शत० 10/5/4/16), यज्ञ (शत० 1/7/3/5), सर्वश्रेष्ठ का उपदेश (तै०आ० 10/63 आदि) आदि नैतिक विषयों पर विचार उपलब्ध होते हैं।

3. **उपनिषदों का काल**—उपनिषदों में जीवन तथा संसार सम्बन्धी विचार सूक्ष्म रूप में पाए जाते हैं। जीवन सम्बन्धी रहस्यों का पूर्ण उद्घाटन हुआ है। नैतिक विचार एवं आदर्श तत्कालीन ऋषियों की प्रार्थना में व्यक्त हुए हैं। इस काल में नैतिक विचारों में एक महान क्रान्ति आई। उपनिषदों के लेखकों ने जीवन के बाहरी विषयों और सुखों से हटकर आन्तरिक निरीक्षण किया कि मानव के सुख-दुःख का रहस्य उसके मन में है।[2]

4. **धर्म सूत्र**—वेद के स्वरूप अर्थ और उपदेश को सुरक्षित रखने एवं विशद करने के लिए वैदिक ऋषियों ने जिन छः वेदांगों की रचना की थी उनमें से कल्प एक वेदांग है। वेद में विहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्था करने वाले शास्त्र

---

1. भारतीय नीतिशास्त्र—पृ० 47
2. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास—पृ० 595

को कल्प कहते हैं। ये ग्रन्थ सूत्रों में लिखे गए हैं।[1] कल्पसूत्र चार प्रकार के हैं— श्रोत, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र तथा शुल्व सूत्र। धर्म सूत्रों में कई ग्रन्थ हैं, जिनमें बोधायन सूत्र, आपस्तम्ब तथा गौतम धर्म सूत्र मुख्य है।

5. **स्मृति काल**—प्राचीन काल में "स्मृति" शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता था। एक अर्थ था वे सब ग्रन्थ जो "श्रुति" की कोटि में नहीं आते थे किन्तु प्रमाणिक माने जाते थे। प्रयोग-पारिजाति के अनुसार 18 मुख्य स्मृतियां हैं और 18 उपस्मृतियां हैं। विख्यात स्मृतियों में से कुछ के नाम ये हैं—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, यम स्मृति, आपस्तम्ब स्मृति, संवर्त स्मृति, कात्यायन स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पराशर स्मृति, व्यास स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति, दक्ष स्मृति, गौतम स्मृति, शातातप स्मृति और वसिष्ठ स्मृति। सभी स्मृतियों में मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियां अधिक प्रामाणिक और मान्य हैं।

एक श्लोक में मानव मात्र के लिए सामान्य नियम बताए गए है—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विज्ञा, सत्य, अक्रोध। कुछ स्मृतिकारों ने दान, दया और अहिंसा को भी धर्म के लक्षणों में जोड़ना आवश्यक माना है।[2]

याज्ञवल्क्यस्मति में वर्ण आश्रम आदि धर्मों का वर्णन हुआ है। आचार प्रायश्चित्त पराशरस्मृति के मुख्य विषय हैं। वारदस्मृति में से बहुत से विषयों का वर्णन है और इसमें मनुस्मृति का अनुकरण हुआ है। बृहस्पतिस्मृति में बहुत-सी बातों का वर्णन नारदस्मृति के समान है। कात्यायनस्मृति में व्यवहार के विषय में नारदस्मृति और बृहस्पतिस्मृति को आदर्श मानकर उनका अनुकरण किया गया है। इसमें स्त्री धन के विषय में सबसे अधिक लिखा गया है।

स्मृतियों के कतिपय नैतिक आदर्श—

1. वेदज्ञों की स्मृति तथा शील धर्म का मूल है। साधुओं का आचार तथा आत्मा (मन) का सन्तोष धर्म के प्रमाण हैं (मनु 2-8)
2. वेद में चार अथवा तीन जिसको कहें उसी को धर्म समझना चाहिए। अन्य हजार व्यक्तियों का कहा भी धर्म के लिए प्रमाण नहीं होता (पराशर स्मृति 8-15)

---

1. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास—पृ० 72
2. वही—पृ० 598

3. वेद विहित कर्म ही धर्म है । उसके अभाव में शिष्ट पुरुषों का आचार धर्म के लिए प्रमाण है (वशिष्ठ स्मृति-1)
4. सब लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारवान्, श्रद्धावान् तथा ईर्ष्याहीन है, वह सौ वर्ष तक जीता है। (मनु० 4-157)
5. दुराचारी मनुष्य लोक में निन्दित, दुःखी, सदा रोगी तथा अल्प आयु वाला होता है। (वशिष्ठ 6-6)
6. आचार ही वेद तथा स्मृति में कहा हुआ परम धर्म है। अतः ब्राह्मण को जितेन्द्रिय तथा धर्मेच्छु बनकर सदा आचारयुक्त होना चाहिए। (मनु० 1-108)
7. मुनियों ने आचार के द्वारा धर्म गति जानकर कहा है कि कठिन से कठिन तप का मूल आचार है। (मनु० 1-110)
8. दुराचारी पुरुष संसार में निन्दित सर्वदा दुःख के भागी और अल्प आयु वाले होते हैं। (मनु० 4-156)
9. जिस प्रकार दीमक वल्मीक का संचय करती हैं, उसी प्रकार परलोक की सहायता के लिए किसी भी जीव को पीड़ा न देते हुए धीरे-धीरे धर्म का संचय करें (मनु० 4-238)
10. अधर्म के चार पद होते हैं। पहला पाद (अधर्म करने वालों को, दूसरा देखने वाले को, तीसरा सभासदों और चौथा राजा को पहुंचता है अर्थात् चारों पाप के भागी हैं। (मनु० 8-18)
11. सत्ययुग में धर्म सर्वांग-पूर्ण था और उसमें सत्य की भी पूर्ण मात्रा थी। त्रेता इत्यादि में अधर्म आदि द्वारा धन एकत्र करने पर एक-एक चौथाई धर्म घटता गया, तदन्तर लुप्त प्रायः ही हो गया। चोरी झूठ और छल ये तीनों त्रेता आदि तीनों युगों में क्रम से बढ़ते जाते हैं। (मनु० 1-82)
12. सत्य और प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए तथा झूठ प्रिय नहीं बोलना चाहिए। (मनु० 4-138)
13. वाणी को चुराने वाला समस्त वस्तुओं का चोर होता है। (मनु० 4-256)
14. सत्य गवाही देनी चाहिए। गवाह को कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए। सत्य बोलने से साक्षी पवित्र हो जाती है तथा धर्म की वृद्धि होती है। अतः सभी वर्णों को गवाही में सत्य ही बोलना चाहिए।

(मनु० 8-81-82-83)

15. ब्रह्म हत्या करने वाले को जो पाप लगता है, तथा स्त्री-बालक की हत्या का जो पाप है, मित्र के साथ वैर और कृतघ्नता करने से जो पाप लगता है, झूठ बोलने से वे सभी पाप लगते हैं (मनु० 8.69)

16. विवाह के समय में, रतिकाल में, प्राण संकट में, समस्त धन के अपहरण के अवसर पर तथा ब्राह्मण की रक्षा आदि के लिए झूठ बोला जा सकता है। (वशिष्ठ स्मृति 16)
17. इन्द्रियों के द्वारा विषयों के उपभोग से इच्छा कभी शान्त नहीं होती। घी से अग्नि की भाँति उपभोग से इच्छाएं बढ़ती जाती हैं। (मनु० 64)
18. जो मनुष्य (प्रशंसा या निन्दा की बात को) सुनकर, (चिकने कोमल रेशमी तथा रूखे कम्बल आदि वस्त्र को) छूकर, (सुन्दर या कुरूप को) देखकर, (स्वादयुक्त तथा स्वादहीन वस्तु को) खाकर, (सुगन्धित तथा दुर्गन्धि वस्तु को) सूंघ कर न प्रसन्न होता है और न खिन्न वहीं जितेन्द्रिय है। (मनु० 2-96)
19. जो अपने आनन्द के लिए हिंसा न करने वाला जीवों का नाश करता हैं, वह इस लोक तथा परलोक में कहीं भी सुख नहीं पाता (मनु० 5-45)
20. सुख चाहने वाला अत्यन्त सन्तोष धारण कर संयमी बने। क्योंकि सन्तोष समस्त सुखों का मूल और असन्तोष समस्त दुःखों का उद्गम है। (मनु० 4-12)
21. यमों का सदा सेवन करना चाहिए। अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा दान, ऋजुता, प्रीति, प्रसन्नता, मधुरता तथा मृदुता ये दस यम हैं। शौच, यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, इन्द्रियनिग्रह व्रत, मौन, उपवास तथा स्नान ये दस नियम हैं। (अत्रिस्मृति- 48/47)
22. वेदज्ञ विद्वान बिना किसी को पढ़ाये विद्या के साथ भले ही मर जाए दुर्गम परिस्थिति एवं महा आपात्काल में भी अपात्र शिष्य को विद्यादान न दे (मनु० 2-113)
23. सत्पात्र को प्राप्त कर श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान देने वाले को स्वर्ग में थोड़ा बहुत फल देने वाला होता है (मनु० 7-86)
24. वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं। माता से बढ़कर कोई गुरु नही और दान से बढ़कर इस लोक या परलोक में कोई मित्र नहीं (अत्रि० 148)
25. तृण, भूमि, जल और मधुर वचन, ये चारों तो सज्जनों के घर से कभी दूर नहीं होते, अतएव उन्नदि के अभाव में इन्हीं के द्वारा अतिथियों का सत्कार करना चाहिए। (मनु० 3-101)
26. कठोर बचन कहना, झूठ बोलना, परोक्ष में निन्दा करना, बिना मतलब बकवाद करना, ये चार प्रकार के वाचिक अशुभ कर्म कहे गए हैं। (मनु० 12-6)
27. लोभ, अधिक शयन, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, भिन्न वृति, मांगने का

स्वभाव तथा प्रमाद ये तामस गुण के लक्षण हैं। (मनु० 12-33)

28. ब्राह्मण की हत्या करने वाला, मद्यपान करने वाला, चोर और गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला, ये भिन्न-भिन्न कर्म करने वाले महापापी हैं। (मनु०)

29. प्राणियों के लिए तीक्ष्ण तलवार तथा दूर रहने वाला सर्प उतना विनाशक नहीं होता जितना विनाशक शरीर में रहने वाला क्रोध होता है। (आपस्तम्ब 10-4)

30. क्षमा प्राणियों का गुण है। क्षमावान् पुरुषों में इस एक दोष के अतिरिक्त दूसरा दोष नहीं कि लोग क्षमावान् पुरुष को असमर्थ समझते हैं। (आपस्तम्ब 10-10-5)

31. दूसरा आहार न मिलने पर प्राणों का नाश होता है और रोग उत्पन्न होता है तो नियमपूर्वक मांस खाया जा सकता है। किन्तु यह विधान केवल आपत्काल के लिए है। (मनु० 5-27-28)

32. क्षमा, सत्य और शौच बिना कोई विशेषता विचारे सब वर्णो का विहित धर्म है। (शंखस्मृति 1-5)

33. हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, इन पांचों बातों को संक्षेप में मनु ने चातुर्वर्ण्य का धर्म कहा है। (मनु० 10-63)

34. जहाँ गुरु की बुराई या निन्दा होती हो, वहाँ ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले या वहां से अन्यत्र चला जाय। (मनु० 2-200)

35. ब्रह्मचारी सर्वत्र अकेला ही सोए। कहीं इच्छापूर्वक वीर्यपात न करे। ऐसा करने पर वह अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है। (मनु० 2)

36. जिस प्रकार सभी नद और नदियाँ समुद्र में आश्रय पाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम, गृहस्थ आश्रम में आश्रय पाते हैं। (मनु० 6-70)

37. जो प्रति दिन दूसरे की स्त्री और धन का अपहरण करता है वह समस्त तीर्थों का अभिषेक भले ही करे, पापों से मुक्त नहीं हो सकता। (व्यास 4-5)

38. आयु की अवधि, गृह का भेद, मन्त्र, मैथुन, औषधि, तप, दान, और अपमान को सर्वदा गोरय रखना चाहिए। (दक्षस्मृति 3-14

39. आंख से देखकर चलना चाहिए, पानी छानकर पीना चाहिए, सत्य से पवित्र वाणी कहनी चाहिए। मन को पवित्र कर सदाचरण करना चाहिए। (मनु० 6-46)

रामायण काल—राम वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों में मर्यादा पुरुषोत्तम माने गए हैं। बौद्ध कवि कुमारलात (ई० 100) की कल्पना मण्डलिका में रामायण के पारायण की चर्चा आयी है। जैन कवि विमल सूरि ने "पउम चरिउ" नामक प्राकृत भाषा के ग्रन्थ में रामकथा का अनुवाद किया है। इसकी रचना का समय लगभग 62 ई० माना जाता है।[1]

बाल्मीकि रामायण में राम का चरित्र नैतिकता का आदर्श है। राम किसी के गुण की अवहेलना नहीं करते। कोई कठोर वचन कहे तो उत्तर नहीं देते। वे अक्रोधी हैं। वे उपकार को भूलने वाले नहीं हैं। अपकार करने वालों के प्रति उनके मन में प्रतिशोध की भावना नहीं जागती। वे समय का सद्उपयोग करते हैं। उन्हें अपने पराक्रम का अहंकार नहीं है। वे असत्य भाषी भी नहीं है। चरित्र, ज्ञान और अवस्था में वे अपने से बड़ों का आदर करते है। वे दयाशील हैं। क्षात्र धर्म का पालन करते हैं। उनकी बुद्धि स्थित है, वे बुरी वस्तुओं तथा बुरे मनुष्यों का संग्रह करने वाले नहीं है। उनकी क्षमा पृथ्वी की क्षमा के समान है।

राम कहते हैं—"राजा की आज्ञा से मैं अग्नि में कूद सकता हूं, तीक्ष्ण विष खा सकता हूं तथा समुद्र में गोते लगा सकता हूं। यदि हितकारी पिता, गुरु या राजा की ओर से मुझे वैसा करने के लिए आज्ञा मिल जाय। (अयो० 18-22-17)। इससे बढ़कर दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है, जैसा कि पिता की सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन है। अयो० 19-22

बाल्मीकि रामायण में कतिपय नैतिक आदर्श—

1. इस लोक के धर्म के फल की प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम निश्चय रूप से विद्यमान रहते हैं अर्थात् धर्म में ही, धर्म, काम तीनों उसी प्रकार सहायक होते है जिस प्रकार वेश्य, अभिजात तथा पुत्रवती भार्या धर्म, अर्थ और काम में सहायक होती है। (अयो० 21-57-58/21-57)
2. सत्य ही सब धर्मों का मूल है। अतः उससे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। दान, यज्ञ, हवन, तपस्या, वेद इन सबका मूल सत्य ही है। अतएव मनुष्य को सत्यपरायण होना चाहिए। (अयो० 14-3-109-10/13/109-14)
3. उत्साह सम्पत्ति का मूल है, उत्साह सबसे बड़ा सुख है। उत्साह सब कार्यों में सफलता प्रदान करता है। (सुन्दर काण्ड 12-10-11)
4. क्षमा चाहे पुरुष में हो, अथवा स्त्री में वह भूषण होती है। वह ही क्षमा देवताओं के लिए भी कठिन है, मानवों की बात ही क्या है? क्षमा दान

1. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास—पृ० 142

है, क्षमा सत्य तथा क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश तथा धर्म है। क्षमा में ही सारा संसार प्रतिष्ठित है। (सू० 33-7/33-8/33-9)

5. क्रोधी मनुष्य कौन-सा पाप नहीं कर सकता ? वह गुरुजनों का भी वध कर सकता है, वह कठोर वचनों से सज्जनों का तिरस्कार कर सकता है। क्रुद्ध मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। वह यह नहीं समझ पाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। वह अकर्तव्य, अवाच्य नहीं जानता (सु० 55-4/55-5)
6. उपकार के बदले में प्रत्युपकार करना सनातन धर्म है। (अ० 1-106)
7. धनी हो या दरिद्र, दुःखी हो या सुखी, दोषी हो या निर्दोष पर मित्र ही मित्र के लिए शरण होता है। मित्र का उत्कट प्रेम देखकर उसके लिए मित्र धन त्याग, सुख त्याग देश त्याग भी करता है। (कि० 8-8/8-9)
8. गृहस्थों की स्त्रियां उनकी आत्मा है। (अयो० 30-24)
9. कौसल्या दासी के समान, मित्र के समान, बहन के समान और माता के समान सदा व्यवहार करती आयी है। सर्वाधिक पुत्र को प्रिय मानने वाली तथा प्रिय बोलने वाली कौसल्या ने सदा मेरे प्रिय काम किए है। (अयो० 12-68/12-69)

महाभारत काल—महाभारत संस्कृत साहित्य का सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। इस में सब प्रकार का ज्ञान भरा हुआ है। यह कहा गया है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जितना भी कुछ कथनीय है वह सब इस में कह दिया गया है जो कुछ इस में है वही अत्यन्त भी है जो इस में नहीं है वह कहीं भी नही है।[1] इस कृति के अनुसार पूर्ण जीवन के चार उद्देश्य हैं —धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म, वे नियम जिनके द्वारा हमारा व्यवहार इसलिए नियन्त्रित होना चाहिए कि संसार में सभी प्राणी एक दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रह सकें, सभी सुखी हो सकें, सभी को आवश्यकतानुसार और यथोचित अर्थ की प्राप्ति और कामोपभोग का सुख प्राप्त हो सके, जिनके अनुसार व्यवहार करने से मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक उन्नति कर सके।[2]

महाभारत-कार व्यास का मत स्पष्ट शब्दों में यह है कि मनुष्य को धर्म का पालन करने के लिये यदि जीवन का त्याग भी करना पड़े तो उचित है। धर्म का त्याग न काम के लिए, न भय के लिए और न जीवन के लिए ही कभी करना चाहिए।

---

1. महाभारत आदि पर्व— 62/53
2. भारतीय नीति शास्त्र—पृ० 159

धर्म तो नित्य है सदा साथ रहने वाला है और सुख-दुःख अनित्य है। जीव नित्य है किन्तु कर्म करने के हेतु सभी अनित्य हैं।[1]

सत्य के व्यवहार करने का प्रयत्न करना चाहिए। सत्य से ही बल मिलता है। अपने आप को वश में रखने वालों को चाहिए कि कभी क्रूरता का व्यवहार न करें। सत्य और अहिंसा की महाभारत में प्रशंसा की गयी है और धार्मिक जीवन के ये दो महान् आधार माने गये हैं। 13 शत्रु असत्य आचरण को उत्पन्न करने वाले हैं—क्रोध, काम, शोक, मोह, दूसरों पर शासन की इच्छा, हिंसा, लोभ, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, कुत्सा, असूया, तथा अकृपा। धर्म के लक्षणों का उल्लेख भी महाभारत में हुआ है—स्वायम्भुव मनु ने अद्रोह, सत्य बचन, संविभाग, दया, दम अपनी पत्नी के सन्तान उत्पन्न करना, मृदुता, लज्जा और चपलता रहित होना। (सं० म० भा० 12-3-124) यज्ञ, स्वाध्याय, नितप, सत्य, क्षमा, दया और अलोभ ये धर्म के आठ प्रकार हैं। निश्चय ही अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अक्रूरता दम, सीधापन धर्म के लक्षण हैं। (13-2.40 सं० म० भा०) ब्रह्मचर्य से रहना, मांस और मदिरा का निषेध और मर्यादा तथा राम के भीतर रहना धर्म के लक्षण हैं। (13-2-41 सं० म० भा०)

अच्छे लोगों का यह सदा का धर्म है कि वे मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं करते। शाश्वत आर्यत्वयुक्त आचार को जानकर दूसरों का उपकार करते हैं। किसी की अवहेलना नहीं करते। (म० भा० 3-297/35, 36, 49)

क्रोध के आवेग में कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। यहां तक कि गुरुओं को भी कष्ट देने लगता है। क्रोधी व्यक्ति दक्षता, अभय, शौर्य और शीघ्र निर्णायकता को प्राप्त नहीं करता। वह माता-पिता आदि को भी मारने से नहीं चूकता। क्रोध पर नियन्त्रण करने वाला तत्वज्ञानियों की दृष्टि में तेजस्वी होता है (म० भा० 3-29/18, 20, 28, 17)

क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद और श्रुति का उपदेश है, जो यह जानता है वह सब को क्षमा कर देता है। क्षमा तप है, क्षमा शैय है, क्षमा ही संसार को धारण किये हुए है। क्षमा अशक्त का बल है और शक्तिमान का भूषण है। जिसने क्षमा रूपी शस्त्र हाथ में ले रखा है, उस का दुर्जन भी कुछ बुरा नहीं कर सकता। (म० भा० 3-29/36, 37, 40, 43, 42) सब से ऊँचा धर्म दूसरों के साथ अद्रोह, अनुग्रह और उपकार करना, सब के साथ मित्रता का वर्ताव करना है। (सं० म० भा० 12/10-5-88)

महाभारत में बहुत से ऐसे स्थल हैं जहां पर कृष्ण, युधिष्ठिर तथा अर्जुन को

---

1. वही—पृ० 162

अहिंसा के स्थान पर युद्ध की प्रेरणा दी है। सत्य बोलना यद्यपि समान धर्म कहा गया है पर विशेष अवस्थाओं में असत्य बोलना ही धर्म हो जाता है। (शान्ति पर्व)

महाभारत के अनुसार जो अपने उद्देश्यों को छोड़कर दूसरों के उद्देश्यों को अपनाता है और मित्र के साथ मिथ्या आचरण करता है वह मूर्ख है। जो चाहने के अयोग्य वस्तुओं को चाहता है और उन को छोड़ भी देता है, बलवानों के साथ जो वैर करता है वह मूर्ख है। बिना बुलाये जो जाता है। और बिना पूछे जो बहुत बोलता है और अविश्वासियों का विश्वास करता है, वह मूर्ख है, नराधम है। जो अपने दोष दूसरों पर आरोपित करता है, जो बिना प्रभुत्व शक्ति के क्रोध करता है, वह मूर्ख है। (सं० म० भा० 5/3/113-116)

भगवद्गीता—भगवद्गीता महाभारत का ही अंग है किन्तु अब यह विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। इसमें युद्ध भूमि में खड़े हताश और निराश अर्जुन को कृष्ण ने उपदेश दिया है जो नैतिकता तथा सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का आधार है।

अर्जुन के मन में बार-बार विचार आता कि क्या अपने ही भाई बन्धुओं को मार कर राज्यभोग करना उचित है। भगवद् गीता के आरम्भ में अर्जुन कहता है—हे कृष्ण! इस युद्ध की इच्छा वाले स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं। (1-29-46) जो कल्याण का साधन हो मुझे बताइए। मुझे दीजिए (2/7) इस महान प्रश्न के उत्तर में ही गीता का उपदेश है—

जो जीवन का निश्चित श्रेय है वह मुझे बतलाओ? यही जीवन का महान् प्रश्न है। मानव जीवन क्या निश्चित श्रेय है? वह श्रेय क्या है जिस को ध्यान में रखकर हमारे सब कर्म होने चाहिए? वह श्रेय क्या है जिस को प्राप्त किये बिना मानव जीवन में शान्ति का अनुभव नहीं होता, जिस के अनुसार चलने से मनुष्य उत्तम से उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है और पाप-पुण्य के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष के आनन्द का अनुभव करता है? मनुष्य जीवन का पग-पग पर यही प्रश्न है—निश्चित श्रेय क्या है?

श्री मद्भगवद्गीता के अनुसार साधारण मनुष्य का जीवन सुखी नहीं है। यह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखों के दोषों से पूर्ण है (13-9) ब्रह्मलोक तक के प्राणी भी बारम्बार जन्म-मरण के चक्कर में रहते हैं (9-16) साधारण मनुष्य इन्द्रियों के विषयों की ओर प्रवृत्त होता है और उन को ही प्राप्त करने का ध्यान करता रहता है। इच्छा जब पूर्ण नहीं होती तो क्रोध आता है और बुद्धि का नाश होता है। (2-62-63)

भगवद्गीता के अनुसार मनुष्य का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है। सनातन ब्रह्म को पा लेना (4-31) या परम तत्व को पा लेना (3-19) ब्रह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त कर लेने पर—

1. पुनर्जन्म नहीं होता। (2-51, 4-9, 8-16, 14-4, 15-6, 8-15)
2. परम शान्ति का अनुभव होता है। (2-11, 4-39, 5-12, 6-15, 2-18, 62)
3. दुःखों का अभाव हो जाता है। (14-20, 2-51, 76-23, 6-27, 9-21, 5-21)
4. प्रकृति के बन्धनकारक गुणों से जीव ऊपर उठ जाता है। (14-21)
5. बाह्मी स्थिति परम गति है (8-21, 8-13, 16-12, 13-12, 8-16)
6. कर्मों के फल से मुक्ति (3-13, 4-16, 18-66, 4-14, 3-17)

भगवद्गीता में लक्ष्य प्राप्ति के साधन ज्ञान, बुद्धियोग, ध्यान योग, भगवद्-भक्ति, निष्काम कर्म हैं। गीता के अनुसार तू नियमतः (शास्त्रों के विधान के अनुसार) कर्मों को कर क्यों कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। (3/8) यदि मैं स्वयं आलस्य के कारण कर्म न करूँ तो, हे अर्जुन! सब मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्ताव करने लगेगें। (3/21-24)

हे कुन्तीपुत्र! अपनी प्रकृति के अनुसार यदि कर्म दोष युक्त भी हो तो भी उनको त्यागना नहीं चाहिये। (18/48) सदा (जो कुछ प्राप्त है उसमें) तृप्त और (किसी वस्तु के) अधीन न रहने वाला कर्मों के फल के प्रति आसक्ति को छोड़कर कर्मों में लगा हुआ भी कुछ नहीं करने वाला (जैसा) होता है। (4/22)

गीता के 16वें अध्याय में देवी प्रकृति और आसुरी प्रकृति वाले गुणों का वर्णन मिलता है—

हे अर्जुन! देवी सम्पदा को प्राप्त पुरुषो के ये लक्षण है—निर्भीकता, मन की स्वच्छता, ज्ञानयोग में स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञमय कर्म, स्वाध्याय, शारीरिक कष्ट सहन, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अनिन्दा, दया, लालचहीनता, कोमलता, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, अद्रोह, अभिमान का अभाव (16/1-3)

योगवसिष्ठ—योगवसिष्ठ महारामायण संस्कृत साहित्य में एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें वे नैतिक तथा धार्मिक उपदेश हैं, जो रामचन्द्र जी को, वसिष्ठ ऋषि ने दिये थे, जिनको पाकर राम मर्यादा पुरुषोत्तम राम बन गये।

राम के मन में उत्पन्न अनेक जिज्ञासाओं का उत्तर इस ग्रंथ में देने का प्रयत्न किया गया है। राम कहते हैं—

हे मुनि! आरे के दाँतों से चीरा जाना मैं सहन कर सकता हूं, पर संसार के व्यवहार से उत्पन्न आशा और विषयों द्वारा प्राप्त वेदनाओं को मैं सहन नहीं कर सकता। (1/27/11) राम ने सत्य, शान्ति आदि से सम्बन्धित अनेक प्रश्न पूछे हैं।

संसार के प्रवाह में पड़कर व्यवहार करता हुआ भी मनुष्य कमल के पत्ते के

ऊपर पड़े जल के समान कैसे बन्धन को प्राप्त न हो ? (1/30) इस संसार रूपी वन के रास्तों पर उस पुरुष की भांति कैसे व्यवहार करे, जिसने कि संसार की गति को भली भांति जान लिया है और जिसने इस लोक और परलोक दोनों के भोगों की वासनाओं का नाश कर दिया है ?

उत्तर में वसिष्ठ कहते हैं, हे राम ! संसार रोग बहुत ही दु:खदायी होता है। यह सांप की भांति डसता है। मोह के अंधेरे कुएं में डाल देता है, तृष्णा मनुष्य को जर्जर बना देती है। संसार के सब सुख-दु:ख अज्ञानियों को ही होते हैं और अज्ञानियों के द्वारा ही संसार और इनका व्यवहार चल रहा है। (2/12/4)

जिस प्रकार वर्षा से भीगते हुए वन को अग्नि की ज्वालाएं नहीं जला सकतीं, उसी प्रकार मानसिक दु:ख भी ज्ञानी को, जिसने जो कुछ जानने योग्य है जान लिया है और युक्त दृष्टि प्राप्त कर ली है, वेदना नहीं सह सकते। (2/11/41) अतः हे राम ! मैं कहता हूं कि संसार के बन्धन में पड़े हुए मन के लिए संसार से पार होने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। (5/67/2)

जब हृदय की इच्छाएं समाप्त कर दी जाती हैं, तब मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है और उसके मुख की शोभा चन्द्रमा की तरह हो जाती है। (5/74/24) विषयों की वासनाओं के तागों से मन अपनी मूर्खता के कारण अपने आपको रेशम के कीड़े की तरह बन्धन में डाल लेता है। (6/10-8)

इस संसार में दु:खों का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। (6/14) आलस्य करने से कुछ प्राप्त नहीं होता। यदि जीवन में आलस्य रूपी अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता। आलस्य के कारण ही यह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी निर्धनों और मूर्खों से भरी पड़ी है। (2/5/30)

हे राम ! सबसे पहले शास्त्रों के श्रवण, सज्जनों के सत्संग से और परम वैराग्य से मन को पवित्र करो। (5/5/14) स्वाध्याय, सत्संग और शुभ कर्मों के करने से जिनके पाप दूर हो गए हैं, उनकी बुद्धि दीपक के समान चमकने वाली होकर, सार वस्तुओं को पहचानने के योग्य हो जाती है। (5/5/5)

आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन, साधुओं की संगति, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध चित्त पर विजय पाने के उपाय है। (5।92।36) जो मनुष्य किसी और वस्तु को प्राप्त नहीं करता, वहीं अमृत आत्मा को पा लेता है। (5।34।76) जो सब कुछ है, उस सबके एक कारण (परमात्मा) में सबका त्याग, अर्पण, करने से सर्व त्याग सम्पन्न होता है। (6।193।30)

जीवन्मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न निरतस। (62।169।9) वह न किसी को उद्विग्न करता है और न वह किसी से उद्विग्न होता है। वह दूसरों के मन के भावों को जानकर लोकप्रिय आचरण करता

है और प्रिय तथा मधुर वाणी बोलता है। वह क्षण भर में कार्यों का विवेचन और निर्णय कर लेता है। (6।2।98।3-4)

योगवसिष्ठ के अनुसार मन के निरोध का विशेष महत्व है। क्योंकि आत्मा जो कि देशकाल आदि से अनवच्छिन्न है और परमानन्द तथा चित्तस्वरूप है वह अपनी लीला से अपने को मन के आकार में परिमित करके उसके द्वारा विश्व की रचना करता है।

पुराण काल—जो अत्यन्त प्राचीन काल से चला रहा हो उसे पुराण कहते हैं। भारतीय परम्परा में 18 पुराण हैं। पुराणों के समान 18 उप पुराण माने गए हैं। वेद, स्मृति और सदाचार ये तीन भारतीय साहित्य में आत्प्त प्रमाण माने जाते हैं। पुराणों का समावेश सदाचार मे होता है। पुराण का लक्ष्य बताया गया है, जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मनवन्तर और राजर्शियों का वंशानुचरित हो उसे पुराण कहते हैं।[1]

मानव जीवन को नैतिक और धार्मिक बनाने के लिए देश की उन्नति, समाज का विकास तथा व्यक्ति के उत्थान में पुराणों का विशेष हाथ रहा है। अनन्त काल से पुराण अपनी अपूर्व कथाओं द्वारा धर्य, सन्तोष, त्याग, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, परोपकार, देश-सेवा, मानव प्रेम और विश्वबन्धुत्व की शिक्षा देते आ रहे हैं।[2]

विष्णुपुराण में धन, स्त्री, मित्र, विवाह, क्रोध तथा सत्य आदि पर बहुत अधिक कहा गया है। विष्णुपुराण के अनुसार पाखण्डी दुराचारियों और पापियों का संसर्ग दूर ही से त्यागने योग्य है। (100,101) इस पुराण में वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय कर्म, वैश्य कर्म, शूद्र कर्म, आश्रम धर्म, ग्रहस्थ कर्म, वानप्रस्थ कर्म, सन्यास आश्रम के कर्म, तृष्णा आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। विष्णुपुराण के अनुसार काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्ष्या मात्सर्य आदि मानसिक ताप के भेद हैं। (6।5।5)

शिवपुराण में तप, कर्म, पाप, योग, पुरुषार्थ, सदाचार, सत्संग, परिवार, निन्दा आदि विषयो पर कहा गया है। शिवपुराण के अनुसार गृहस्थ को सदा आचार का पालन करना चाहिए। आचार विहीन को यहां अथवा परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता। (34।6)

मत्स्य पुराण में मनुष्य की श्रेष्ठता, सत्य, कर्म, ब्रह्मचर्य, दान आदि विषयों

---

1. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणार।
2. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास। —पृ० 223

पर चर्चा हुई । 18 पुराणों में व्यास जी ने दो ही बातें कही हैं कि दूसरे का उपकार करना ही पुण्य है और दूसरे को कष्ट देना पाप है ।[1]

भारतीय दर्शन—प्राचीन भारत में अनेक दर्शन थे किन्तु न्याय (गौतम) वैषषिक (कणाद), सांख्य (कपिल), योग (पंतजलि), मीमांसा (जैमिनी), वेदान्त (वादरायण), चार्वाक (बृहस्पति), जैन (महावीर) और बौद्ध दर्शन मुख्य हैं । इन सबमें जीवन और संसार के मूल तत्वों के सम्बन्ध में तो मतभेद है, किन्तु नैतिक विचारों में केवल चार्वाक को छोड़कर विशेष अन्तर नहीं है । इन दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दर्शन में विभाजित किया गया है । प्रथम में वे आते हैं जो वेदों को प्रमाण नही मानते जैसे चार्वाक दर्शन आदि ।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म वह है जिसके द्वारा ऐहिक समुन्नति या पारलौकिक परमानन्द प्राप्त होता है ।[2] न्याय दर्शन के अनुसार भी अन्य भारतीय दार्शनिक साम्प्रदायों की भांति आत्मा का चरम कल्याण तथा उसकी प्राप्ति का सफल उपाय और उस उपाय के विभिन्न स्तर ही नीति के विषय कहे जा सकते हैं । न्याय और वैशेषिक में प्राय: अन्तर नहीं है । योग में जो यम और नियम हैं उनका सम्बन्ध नैतिकता से ही है । मीमांसा के अनुसार प्रारब्ध कर्मों का विनाश अच्छे और बुरे फलों के उपयोग से ही होता है तथा इन फलों का निवारण आत्म संयम तथा शिक्षा के द्वारा होता है । वेदान्त मुक्ति के ज्ञान को आवश्यक मानता है किन्तु ज्ञान की भूमिका के लिए शुभ कर्मों पर जोर देता है । कर्म चित्त शुद्धि के लिए आवश्यक है । किन्तु ज्ञान की भूमिका के लिए शास्त्र प्रतिपादित शुभ कर्मों के अनुष्ठान पर जोर देता है । कर्म चित्त की शुद्धि के लिए आवश्यक है । विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीवन-मरण, दु:ख-सुख का मूल कारण कर्म है जो अविद्या से उत्पन्न होता है । पर अविद्या स्वयं अनादि है । इस अनादि अविद्या के निवारण का केवल एक उपाय है—ज्ञान । ज्ञान शुभ कर्मों या उपासना से होता है । उपासना के पांच प्रकार हैं—अभिगमनम् (मन्दिर का दर्शन), उपादान (मूर्तिपूजा), इज्या (यज्ञ), स्वाध्याय और योग । द्वैत वेदान्त का मत है कि जीवन का चरम लक्ष्य नि:श्रेयस की प्राप्ति है । किन्तु इनके नि:श्रेयस की अवस्था अन्य सम्प्रदायों की अवस्था से भिन्न है । इसमें न केवल दु:खों का ही अभाव होता है बल्कि सुख की कामनायें भी समाप्त हो जाती हैं । यह अवस्था ज्ञान से उपलब्ध होती है परन्तु ज्ञान का स्वरूप जीवन और ईश्वर में अभेद स्थापन रूप नहीं है बल्कि भेद ज्ञान रूप है ।

---

1. अष्टादशपुराणेषु व्यास्त वचनद्वयम ।
   परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।
2. पतोद्भ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि: सधर्म: । —वैषेशिक दर्शन

चार्वाक—चार्वाक मत के नैतिक सिद्धान्त उसके ग्रंथ "चार्वाकर्षष्टि" के अनुसार ये है कि जब तक प्राणी जीये सुख से जीवे, अपने सुख के लिए यदि आवश्यक हो तो ऋण लेकर भी घी-दूध पीवें, क्योंकि भस्मीभूत हो जाने के बाद इस शरीर को पुनः लौट कर आना नहीं होता। अपनी स्त्री हो अथवा परायी स्त्री हो उसके साथ स्वेच्छा से विहार करें तथा गुरु-शिष्य परम्परा को अपना हित चाहने वाला सदा के लिए छोड़ दे। (55-56) अंगनाओं के आलिंगन से उत्पन्न होने वाला सुख ही पुरुषार्थ है तथा काटे आदि की पीड़ा से उत्पन्न होने वाला दुःख ही नरक है। लोक सिद्ध राजा ही ईश्वर है। इसके अतिरिक्त संसार की उत्पत्ति नाश तथा पालन करने वाला ईश्वर दूसरा कोई नहीं है। (58) सांसारिक विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख युक्त है अतएव त्याज्य है, यह मूर्खों का विचार है। अरे! कौन ऐसा अपना हित चाहने वाला मनुष्य है जो तुष और किणकी से युक्त सुन्दर उत्तम चावलों से परिपूर्ण ब्रीहियों को त्यागना चाहता हो (59)[1]

बौद्ध नीति--बुद्ध की मृत्यु के 500 वर्ष बाद उनके उपदेशों का संग्रह किया गया। इस साहित्य का नाम त्रिपिटक है। त्रिपिटक के तीन भाग हैं—सुत्त, विनय और अभिधम्म। सुत्त पिटक के पांच शास्त्र हैं। उनमें से एक खुद्दक निकाय है। इसके 15 ग्रन्थ हैं, जिनमें से एक 'धम्म पद' है। बौद्ध साहित्य में सम्यक् दृष्टि को विशेष महत्व दिया गया है। इन्होंने चार अरिय सच्च (आर्य सत्य) माने है—दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध गामिनी प्रतिपथ।

सम्यक् दृष्टि का अर्थ है, दुराचरण को पहचान लेना। दुराचरण निम्न हैं—

1. शरीर से होने वाले—जीव हिंसा, चोरी, काम भोग सम्बन्धी दुराचार।
2. वाणी से होने वाले—झूठ बोलना, चुगली करना, कठोर वचन व्यर्थ बोलना।
3. मन से होने वाले—लोभ, क्रोध मिथ्या दृष्टि।

सभी दुराचारों के मूल कारण लोभ, द्वेष और मोह है। इन दुराचरणों के विरुद्ध आचरण सदाचरण है, वह दस प्रकार का है। (1) अहिंसा (2) अस्तेय (3) ब्रह्मचर्य (4) सत्य (5) अनसूया (6) कठोर वचन न बोलना (7) व्यर्थ न बोलना (8) अलोभ (9) अद्वेष (10) सम्यक् दृष्टि।

नीति ग्रन्थ—नीति ग्रंथों में मुख्य विदुरनीति, नीति शतक (भर्तृहरि), शुक्रनीति, चाणक्यनीति, नीति मंजरी, सुभाषित रत्न भाण्डागार आदि हैं। इनमें भी

---

1. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास। —पृ० 263-264

नैतिक विषयों पर पर्याप्त मात्रा में उल्लेख हुआ है।

भगवद्‌गीता की भांति विदुरनीति भी महाभारत का एक अंग है। विदुरनीति के अनुसार मनुष्य, वचन, लक्ष्मी अतिथि आदि विदुरनीति के नैतिक विषय हैं। जीव को न सताना, न मारना, दूसरे के धन के हरण करने से मन व शरीर को रोकना, सच बोलना, समय-समय पर यथा शक्ति दान देते रहना, स्त्रियोंके सम्बन्ध में वार्तालाप न करना, लोभ के वेग को रोकना, गुरुजनों में विनय, सब प्राणियों पर दया रखना, यही सब शास्त्रों से अनुमोदित सकल जन साधारण धर्म का मार्ग है (26) यह नीति शतक की नैतिकता है।

शुक्र नीति, वृहस्पतति के नीति शास्त्र का संक्षेप है, जिसे शुक्राचार्य ने किया। आत्मा, पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, वर्ण, ब्रह्मचर्य, व्यवहार आदि शुक्रनीति के विषय हैं। शुक्रनीति के अनुसार दयालु होना, समस्त प्राणियों का सर्वोत्कृष्ट धर्म है। (616)

चाणक्यनीति को नीतिकाव्य का बहुत पुराना ग्रंथ चाणक्य शतक भी कहा जाता है जिसमें जीवन के विभिन्न विषयों पर थोड़े शब्दों में स्मरण योग्य कहा गया है। दान के सम्बन्ध में चाणक्य नीति है कि दान, यश, होम तथा बलि के कर्म सभी नष्ट हो जाते हैं, परन्तु सुपात्र को दिया हुआ दान तथा प्राणियों को दिया हुआ अभयदान नष्ट नहीं होते। (16-14)

नीति मंजरी में आख्यायिकाओं के माध्यम से नैतिक शिक्षा दी गई है। नीति मंजरी के अनुसार हिंसा और क्रूरता के आचरण से विश्व को अपना शत्रु न बनावे। (13)

सुभाषित रत्न भाण्डागार में नीति विषतक 1058 उक्तियों का संग्रह है। एक उक्ति है कि अपना भाई भी यदि स्नेह से हीन हो जाये तो उसे छोड़ देना चाहिये, अन्य की तो बात ही क्या है ? (30)

पंचतंत्र और हितोपदेश—भारत में कहानियों द्वारा नैतिक उपदेश देने वाले ग्रन्थों में पंचतंत्र और हितोपदेश प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पंचतंत्र में प्रायः सभी पूर्वकालीन नीति ग्रन्थों से जीवनोपयोगी उपदेशों का संकलन करके और उनको पशु पक्षियों की रोचक और उद्‌बोधक कहानियों द्वारा सजीव बनाकर जीवन में उचित प्रयोगों की शिक्षा दी गई है।

इन ग्रन्थों में आत्मरक्षा, दण्ड, मित्र, शत्रु, बुद्धिमानी, धर्म, बुढाया, नौकरी, मनुष्य, कर्म, अर्थ, अतिथि, उद्योग तथा काम आदि की व्यापक चर्चा हुई है। पंचतंत्र के अनुसार दैव के विपरीत होने पर भी अपने दोष नष्ट करने के लिये तथा चित्त को ढाढ़स बंधाने के लिये बुद्धिमान को काम करना चाहिये (1-391) हितोपदेश में भी कहा गया है कि केवल उद्योग से ही कार्य सिद्ध होता है, मनोरंजन से नहीं (प्र० 36)

अतः नैतिकता का इतिहास यह भली-भांति सिद्ध कर देता है कि व्यवहार और सिद्धान्त एक ही सत्य के दो रूप हैं नैतिक सिद्धान्त मूर्त सत्य (व्यवहारिक आवश्यकताओं) के ही अमूर्त रूप हैं नैतिकता अपनी प्रथम स्थिति में सहजप्रवृत्ति, रूढ़ि और आदेश के रूप में प्रस्फुटित हुई, और बाद में इसके प्रति व्यक्ति अधिकाधिक सचेत होता गया। जीवन की बढ़ती हुई अव्यवस्था ने उसे संगति और विधान खोजने को प्रेरित किया। प्रवृत्तियों के विरोध ने तथा बाह्य शक्तियों की कान्ति ने मनुष्य के नैतिक ज्ञान को चेतावनी देते हुए जाग्रत किया।[1]

महावीर वाणी के नैतिक विषय भी प्रायः परम्परागत हैं। जैन दर्शन को दूसरे शब्दों में महावीर वाणी भी कहा जा सकता है। महावीर की नैतिक वाणी के आलोक में हिन्दी के संत काव्य को देखना हमारा उद्देश्य है।

महावीर : अभिमान

महावीर ने कहा है कि मान विनय गुण का नाश करता है।[2] जो मनुष्य मान करता है उसके हृदय में माया भी निवास करती है।[3] मान को जीतने से जीव को नम्रता की प्राप्ति हो जाती है।[4] अतः अहंकार को नम्रता से ही जीतना चाहिये।[5] महावीर के अनुसार पत्थर के खम्भे समान जीवन में कभी नहीं झुकने वाला अभिमान आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है।[6] जो आत्मा गर्व में चूर है और दूसरों को सदा तुच्छ मानता है या दूसरों की उपेक्षा करता है वह मन्द बुद्धि है।[7] अतः अहंकार करना अज्ञानी का द्योतक है।[8]

अभिमान मनुष्य को अनेक भवों में नीच गोत्र में भेजता है।[9] अभिमानी सबका द्वेषपात्र बन जाता है। वह इहलोक और परलोक में कलह, बैर, दुःख और

1. नीतिशास्त्र—पृ० 29-30
2. माणो विणयनासणो। —दश० 8/38
3. जे माणदंसी से मायादंसी। —आच० 3/4
4. माणविजएणं मद्दवं जणयइ। —उत्त० 29/68
5. माणं मद्दवया जिणे। —दश० 8/39
6. सेलथंम समाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे।
   कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति॥ —स्था० 4/2
7. (अ) अन्नं जणं पस्सइ बिम्बभूयं। सूत्र० 1/13/8
   (ब) अन्नं जणं खिसइ बालपन्ने। सूत्र० 1/13/14
8. बालजणो पगब्भई। सूत्र० 1।11।2
9. कुणादि य माणो बीचागोंद सुरिसं भवेसु बहुएसु। —भग०आ० 1236

अपमान ही पाता है।[1] महावीर ने कहा है कि जो मनुष्य अपमान के कारणभूत दोषों का हमेशा ही सावधानी के साथ त्याग कर देता है, वही वास्तव में सच्चा मानी है। गुण रहित होकर भी मान करने से कोई मानी नहीं होता।[2]

आयुस्वल्प है और जीवन बहुत विघ्नों से भरा है।[3] रात्रियां बीत जाने पर वृक्ष का पका हुआ पान, जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक न एक दिन इसी प्रकार समाप्त हो जायेगा।[4] कुश की नोंक पर स्थित ओसबिंदु की अवधि के समान जीवन है।[5] जीवन का धागा बड़ा नाजुक है, टूट जाने पर पुनः जुड़ नहीं सकता।[6] अतः महावीर ने अपने शिष्य गौतम को सम्बोधित करके कहा है कि तू क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद न कर।

महावीर कहते हैं कि अरति, फोड़ा-फुन्सी, विसूचिका तथा नाना प्रकार के घातक रोग शरीर को आक्रांत कर रहे हैं। शरीर बल हीन होकर ध्वंस को प्राप्त हो रहा है।[7] शरीर जीर्ण हो रहा है, केश श्वेत हो रहे हैं और पूर्ववर्ती बल भी क्षीण हो रहा है।[8] अतः आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच में जाग्रत रहे। आयुष्य में विश्वास करे। महूर्त्त बड़े निर्दय हैं, शरीर दुर्बल है। इसलिए मनुष्य भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त रहे।[9]

---

1. माणी विस्सो सव्वस्स होदिकलह भयवेरदुक्खणि।
पावदि माणी णियदं दूहपरलोए य अवमाण॥ —भग०आ० 1377
2. जो अवमाणणकरण दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो।
सो णाम होदिमाणी ण दु गुणचत्तेणमाणेण॥ —भग०आ० 1429
3. इह इत्तीयम्मि आउएजीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम : मा. परमायए। —उ० 10 : 3
4. दुमपत्तए पंडुयए जहा। निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवंमणुमाण जीवियं, समयं गोयम ? मा परमायए॥ —उत्त० 10 : 1
5. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मापमायए। —उत्त० 10 : 2
6. असंखय जीविय मा पमायए। —उत्त० 4।1—वही 252
7. अरई गण्डं विसूइया आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समय गोयम ! मा मापमायए॥
—उ० 10 : 27
8. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया ह्वन्ति ते।
से सव्वबले य हायइ, समयं गोयम ! मा पमायए॥ —उत्त० 10 26
9. सुत्ते सु यावी पडिबुद्ध जीवीन बोस सेपंण्डिए आसु-पन्न।
घोरा मुहुत्ता अबलं शरीरं व्यारूण्ड-पक्खी व चरप्पमत्तो॥ —उ० 4 : 6

महावीर ने मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा* ये पांच प्रकार के प्रमाद कहे हैं, इनसे विरक्त होना ही अप्रमाद है ।[1] प्रमत्त आत्मा को सभी ओर भय रहता है । जबकि अप्रमत्त को कोई भय नहीं रहता ।[2] चतुर वही है, जो कभी प्रमाद नहीं करता ।[3]

अहंकार : नामदेव

नामदेव को खेद है कि मनुष्य अहंकार के कारण इतना अंधा हो गया है कि अपनी आत्मा के सत्य को पहचानने की शक्ति भी उसमें नहीं रही । अन्त में वे कहते हैं कि हे मनुष्य अहंकार छोड़कर प्रभु का नाम धारण कर ।[4]

अहंकार : कबीर—कबीर ने अपने एक प्रसिद्ध दोहे में अहंकार के सम्बन्ध में कहा है कि खजूर के वृक्ष के समान बड़ा होना व्यर्थ है । क्योंकि खजूर के वृक्ष पर फल पहुंच से बहुत दूर लगते हैं तथा किसी को छाया भी प्राप्त नहीं होती । अर्थात् व्यर्थ में बड़े होने का अहंकार करना उचित नहीं ।[5]

कबीर दास के अनुसार माया अर्थात् धन को त्यागना सरल है किन्तु अहंकार को त्यागना कठिन है । अहंकार सभी को खा जाता है । मुनिवर भी उससे नहीं

---

* अनेक प्रवक्ताओं के विचार का जो विषय या पदार्थ हैं उनके वाक्य संदर्भ का नाम कथा है । विकथा, कथा का एक भेद है । इसके अन्तर्गत स्त्रीकथा, धन कथा, भोजन कथा, नदी पर्वत से घिरे हुए स्थान की कथा, केवल पर्वत से घिरे हुए स्थान की कथा, राजकथा, चोरकथा, देशनगर कथा, खानि सम्बन्धी कथा, नट कथा, भाटकथा, मल्लकथा, कपटजीवी कथा, व्याघव ज्वारी की कथा, हिंसकों की कथा ये सब लौकिकी कथा, विकथा है ।

1. मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
इअ पंचविहो ऐसो होई पमाओ या अप्पमाओ ।। —उत्त० नि० 180
2. सव्वओपमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।
—आचा० 3।3।4—वही 252
3. जेछेय से विप्पमायं न कुज्जा । —सूत्र० 1।14।2—वही 252
4. अभिमान लीषां नर आयो रे । पर आत्म आत्म नहीं चीन्हो ।
नर वपु नावं धरायो रै ।। —संत नामदेव—कृ०गो०वानखड़े पृ० 131
5. बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर ।
पंछी को छाया नहीं फल लागै अति दूर ।।
—कबीर वचनावली (हरिऔध) पृ० 137

बच पाते ।[1]

कबीर के अनुसार अहंकार चार रोगों में से एक है। जहां पर अहंकार है, वहां पर आपदा का होना स्वाभाविक ही है।[2]

कबीर ने कहा है कि अपनी जीभ से अहंकार को धो डालना चाहिए। अहंकार के चक्कर में अपना मूल नहीं खोना चाहिए।[3]

संतों ने मान और बड़ाई को कुत्तिया समझ कर खदेड़ दिया। पांडवों का यज्ञ तभी पूरा हुआ, जब चांडाल वहां आ गए।[4] संसार में मान और बडाई, कुत्ते की पहचान है (यदि उसे अपना मित्र बना लोगे तो तुम्हारा मुख चाटने लगेगा, और बैर करने पर शरीर को काट लेगा।[5]

कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य जीवन, जिस पर वह घमंड करता है, उसकी आशा कितनी है, कितने दिन तक चलेगा यह जीवन ? यह तो टेसू के फूल की तरह चार दिन फलने-फूलने वाला है। अन्त में धूल में मिलने वाला है।[6] ऊंचे-ऊंचे भवनों का अहंकार करना भी व्यर्थ है। क्योंकि वह दिन दूर नहीं जब, इन भवनों में रहने वालों को भूमि पर लेटना पड़ेगा और ऊपर से घास जम जायेगी।[7]

अहंकार : दादू—दादू मनुष्य को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देते हुए कहते हैं कि तू अपनत्व के अहंकार में डूब कर राम के नाम को भूल गया है। अहंकार को

---

1. माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय।
   माण बड़े मुनिवर गले मान सबन को खाय॥ —वही
2. जहं आपा तहं आपदा जहं संसय तहं सोग।
   कह कबीर कैसे मिटैं चारों दीरघ रोग॥
   —कबीर वचनावली (हरिऔध) पृ० 137
3. कबिरा अपने जीव तें ये दो बातें धोय।
   मान बड़ाई कारने आछत मूल न खोय॥ —वही
4. मान बड़ाई कूकरी संतन खेरी जानि।
   पाडंव जम पूरा भया सुदच बिराजे आनि॥ —वही
5. मान बड़ाई जगत में कूकर की पहिचानि।
   मीत किए मुख चाटही बैर किए तन हानि॥ —वही
6. कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
   टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास॥ —कबीर ग्रन्थावली पृ० 16
7. कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
   कालिह परयूं भवैं लेटणां, अपरि जामैं घास॥ —वही

त्याग कर, यदि कर सके तो राम नाम के रस में लीन हो जा। जो बहुमूल्य जीवन का अवसर तुझे प्राप्त हुआ है, वह बीता जा रहा है। यदि तू अहंकार की निद्रा से जागना चाहे, जाग जा। अन्यथा पछताना ही पड़ेगा।[1]

अहंकार : रविदास—रविदास कहते हैं कि हे मनुष्य तू अहंकार में गाफिल होकर, निर्दयी हो गया है। यौवन के मद में खोया हुआ है और बुरे कर्म ही करता जा है। इस अहंकार ने तुझ में अपने पराए का विवेक भी समाप्त कर दिया है। तू प्रभु का नाम भूल कर निरन्तर बुरे कर्म करता जा रहा है।[2]

अहंकार : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी ने कहा है कि हे मनुष्य तू क्यों विचार नहीं करता कि इस शरीर पर घमण्ड करना व्यर्थ है। क्योंकि गर्भ धारण से लेकर अन्तिम समय तक यह शरीर गन्दगी से पला है। मुख में थूक और राल भरा है आंख तथा नाक के द्वार भी गन्दगी से सने हैं। दस मास तक यह शरीर गर्भ में उल्टा लटका रहा और मल आदि में डूबा रहा। इस शरीर को लेकर तू मद में टेढा-टेढा चलता है। अर्थात् अहंकार में झूमता हुआ क्यों चलता है।[3]

अहंकार : मलूकदास—अहंकारी मनुष्य अपने शरीर के ऊपर विभिन्न प्रकार की पगडियां बांधकर उसी प्रकार अहंकार करता है, जैसे कौवा प्रति दिन

---

1. आपा पर सबदूरि करि, रामनाम रसलागि।
   दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि ॥ —दादूदयाल पृ० 109
2. नांव न लीया औगुन कीया, इस जोबन कै ताण बे।
   अपनी पराई गिनि न कोई, मंदे करम कमांण वे ॥
   —संतगुरु रविदास-वाणी-डा० बी.पी. शर्मा पृ० 82
   मनी मारै गरब गाफिल, बेमिहिरि बेपीर के।
3. थूक रुलार भरयो मुख दीसत, आंखि में गीडर नाक में सेढो।
   और हु द्वार मलीन रहै अति, हाड़रु मांस के भीतर मेढ़ो ॥
   ऐसे सरीर में बास कियो तब, एक से दीसत ब्राह्मण ढेढो।
   सुन्दर गर्ब कहा इतने पर, काहे कूं तू नर चालत टेढो ॥
   जादिन गर्भ संजोग भयो जब, ता दिन बूंद छिया हुती ताहीं।
   द्वादस मास अधोमुख, झूलत, बूड़ि रह्यो पुनि वा रसमाहिं।
   ता रज बीरज की यह देह सो, तू अब चालत देखत छाहीं।
   सुंदर गर्ब गुमान कहा सठ, आपनि आदि बिचारत नाहीं ॥
   —सुन्दरविलास पृ० 46

अपने शरीर को देखकर अपनी चौंच संवारता है।[1] इस शरीर पर अहंकार करना व्यर्थ है, क्योंकि शरीर तो रेत की दीवार की तरह है, जो बात ही बात में ढ़ह जायेगा।[2]

अहंकार : नानक—गुरु नानक देव ने अहंकार (अभिमान) और द्वैतवाद का विशद चित्रण किया है। अहंकार के विविध स्वरूपों तथा इसके होने वाले परिणामों की ओर उनकी व्यापक दृष्टि पड़ी है। उन्होंने अहंकार नाश के विविध उपायों को भी बताया है। अहंकार और मन का क्या सम्बन्ध है, इसे भी नहीं भूले हैं।[3]

गुरु नानक के अनुसार अफुर ब्रह्म में परमात्मा के हुकम से क्रियाशीलता उत्पन्न होती है और यही क्रियाशीलता अगुण ब्रह्म बन जाती है। हुकम की उत्पत्ति के साथ ही साथ हउमैं (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। यही हउमैं (अहंकार) जगत् की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।[4]

हउमैं, इतना भयानक रोग है कि मनुष्य ही इस रोग के वशीभूत नहीं है, पवन, पानी, वैश्वानर, धरती, सातों समुद्र, नदिया, खण्ड, पाताल, षट्दर्शन, सभी पर इसका प्रभुत्व है। यहां तक कि त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) भी इस रोग से मुक्त नहीं हैं।[5]

गुरु नानक जन्म-मरण, लेना-देना, लाभ-हानि, सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग, हंसना-रोना, शौच-अशौच, जात-पाँति, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मोक्ष आदि का कारण हउमैं मानते हैं।[6] श्री ग्रंथ साहिब के अनुसार डा० जयराम मिश्र[7] ने हउमैं के सात भेद किये हैं—1. धार्मिक अहंकार 2. विद्यागत अहंकार 3. कर्मकाण्ड और

---

1. गर्व भूलाने देंह के, रचि रचि बांधे पाग।
   सो देंही नित देखि के, चोंच संवारे काग॥
   —संतबानी संग्रह, भाग 1 पृ० 95
2. इस जीने का गर्ब क्या, कहां देंह की प्रीत।
   बात कहत ढह जात है, बारू की सी भीत॥ —वही
3. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन—डा० जयराम मिश्र पृ० 29
4. हउमैं विचि जगु उपजै, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, रामकली, महला 1, सिध गोसटि, पृ० 946
5. श्री गुरु ग्रंथ साहिब, भैरउ, असटपदीआ, महला 1 पृ० 1153
6. वही आसा, महला 1 पृ० 466
7. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन—पृ० 127

वैशादिक अहंकार 4. जाति का अहंकार 5. धन-सम्पत्ति का अहंकार 6. परिवार का अहंकार तथा 7. रूप यौवन का अहंकार। गुरु नानक ने सभी प्रकार के अहंकार त्यागने पर बल दिया है।[1] उनका कहना है कि बड़े से बड़े अहंकारियों का अहंकार भी टूट जाता है। अतः सिर पर व्यर्थ का भार लादने से क्या लाभ ?[2]

दान : महावीर

महावीर ने कहा है कि मरण-भय से भयभीत सब जीवों को जो अभयदान देता है, वही दान सब दानों में उत्तम है। महावीर ने दान को श्रेष्ठ आचरण भी स्वीकार किया है।[3]

दान : कबीर—कबीर दास ने अपने दान सम्बन्धी विचार एक उदाहरण द्वारा प्रकट किए हैं। ऋतु बसंत याचक बनकर वृक्ष के निकट गया। वृक्ष ने प्रसन्न होकर पत्तों का दान कर दिया। फलस्वरूप नव पात उसे पुनः प्राप्त होंगे। वसंत में वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं और नये पत्ते आ जाते हैं।[4]

अतः दान हर्ष पूर्वक देना चाहिये। ऐसे दान का फल भी तुरन्त मिलता है।

दान : नामदेव—नामदेव ने सांसारिक वस्तुओं सोना, घोड़े, हाथी और हजारों गऊओं के दान की तुलना में "नाम" अर्थात् भगवान के भजन को अधिक महत्व दिया है। क्योंकि उक्त सांसारिक वस्तुओं से आत्मा की प्यास शान्त नहीं

---

1. श्री गुरु ग्रंथ साहिब—पृ० 467, 468, 469, 1015, 416, 1287, 1288
2. टेढ़ी बंधण मुड़ि चलण, बंकी के असवार।
   गरब न कीजै नानका, मत सिरि आवै भार (19)
   सुषी बसौ मसकीनियां, आपनि बारि तले।
   बड़े बड़े हंकारियां, नानक गरब गले (20)
   —गुरु नानक वाणी (गु०ग्र०के०अ०) डा० बी.पी. शर्मा पृ० 22
3. (अ) मरण भयमी रुआणं अभयं जोदेवि सव्वजोवाणं।
   तं दाणाणवि दाणं ते पुण जोगे सु मूल जोगांदि॥ —मू० 939
   (ब) दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं। —सूत्र० 1/6।23
4. ऋतु बसंत जाचक भया, हरिख दिया द्रुम पात।
   तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहीं जाता। —कबीर वाणी

होती। वह तो "नाम" स्मरण से ही शान्त हो सकती है।[1]

दान : नानक—गुरु नानक के अनुसार परमात्मा दान का प्रतीक है। वही सबको देने वाला है। इसीलिये लोग उसके दान के गीत गाते हैं।[2] यदि परमात्मा किसी को दान न दे तो क्या मनुष्य अपने गहने गिरवी रख कर दान पा सकता है? परमात्मा का दान केवल उन्हीं को प्राप्त होता है जिसे उसकी कृपा होती है।[3] मनुष्य दूसरों को दान देकर, परमात्मा से हजार गुणा अधिक मांगता है और आश्चर्य यह है कि संसार ऐसे दानियों की बड़ाई करता है।[4]

शौच : महावीर

शौच के सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि जो मनुष्य समभाव और सन्तोष-रूपी जल से तृष्णा और लोभ रूपी मल के समूह को धोता है और भोजन की गृद्धि से रहित है, उसे निर्मल शौच धर्म प्राप्त होता है।[5] महावीर के अनुसार जो मनुष्य आकांक्षा भाव को दूर करके वैराग्य भावना से युक्त रहता है, उसे ही शौच धर्म होता है।[6]

पवित्रता का नाम शौच है। भोग, उपभोग, जीवन एवं इन्द्रियों के विषयों के चार प्रकार के लोभ के त्याग का नाम शौचधर्म है। आत्मस्वभाव को आच्छन्न करने

---

1. कंचन मेरू सुमेरू, हय गज दीनै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना।।
जोग जग्य तें कहा सरै, तीरथ व्रत दाना।
ओसै प्यास न भगि है, भाजिये भगवाना।।
—संतबानी संग्रह, भाग-2 पृ० 25

2. गावै को ताणु होवै किसै ताणु।
गावै को दाति जाणे नीसाणु।।
—नानक वाणी—डा० जयराममिश्र पृ० 80

3. जे तू किसै न देही मेरे साहिबा किआ को कढै गहणा।
नानकु बिन वै सो किछु पाईऐ पुरबि लिखे ला लहणा।। —वही पृ० 409

4. सतीआ मानि संतोखु उपजै देणै कै बीचारि।
देदे मंगहि सहसा गुणा सोम करे संसार।। —वही पृ० 332

5 सम-संतोस-जलेणं य जो धोवदि तिव्व-लोह-मल-पुंजं।
भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।। —द्वा०अ० 397

6. करवामावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणा जुत्तो।
जो कट्ठदि परममुणी तस्स धम्मो हवे सोच्च।। —कुन्द० उ० 75

वाली शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय जब अपनी तीव्रता में होती है तो अन्य कषायों को भी दबा देती है। शौचधर्म मात्र लोभकषाय के अभाव का ही नाम नहीं, वरन् लोभान्त-किषायों के अभाव का नाम है। क्योंकि यदि पवित्रता का नाम ही शौच धर्म है तो क्या सिर्फ लोभकषाय ही आत्मा को अपवित्र करती है, अन्य कषाय नहीं ? यदि कभी कषाय आत्मा को अपवित्र करती हैं, तो फिर समस्त कषायों के अभाव का नाम ही शौचधर्म होना चाहिए। सभी प्रकार के कषायभावों से आत्मा अपवित्र होती है और सभी कषायों के अभाव होने पर शौचधर्म प्रकट होता है। यह पूर्ण शौचधर्म की बात है। अंशरूप में जितना-जितना लोभान्तकषायों का अभाव होगा, उतना-उतना शौचधर्म प्रकट होता जावेगा। पूर्ण पवित्रता को लक्ष्य में रखकर ही लोभ के अभाव को शौचधर्म कहा है। अंशरूप से जितना कषायभाव कम होता है, उतनी शुचिता आत्मा में प्रकट होती है। इस महान शौचधर्म को लोगों ने नहाने-धोने तक सीमित कर दिया है। शौचधर्म आत्मा का धर्म है, यह तो वीतरागी सर्वज्ञों के ही होता है। अत: पवित्र स्वभाव को छूकर जो पर्याय स्वयं पवित्र हो जाय, उस पर्याय का नाम ही शौचधर्म है।[1]

शौच : नामदेव—नामदेव ने शरीर की शुद्धि (शौच) से अधिक अन्त:करण की शुद्धि पर अधिक बल दिया है। उनके मतानुसार जब तक अन्त:करण शुद्ध नहीं तब तक ध्यान, जप आदि करने से क्या लाभ ? साँप केचुंली छोड़ सकता है परन्तु विष नहीं।[2] अनेकों तीर्थों में स्नान करने पर भी सम्पूर्ण शौच प्राप्त नहीं होता।[3]

शौच : कबीर—जब मिट्टी आदि के द्वारा शरीर, वस्त्र, गृह आदि को स्वच्छ करना बाह्य स्वच्छता कही जाती है। साधक को बाह्य स्वच्छता तो करनी ही पड़ती है, परन्तु उसके लिए आन्तरिक स्वच्छता भी आवश्यक है। जप-तप एवं शुद्ध विचारों के द्वारा आन्तरिक स्वच्छता को ही शौच की संज्ञा दी जाती है। कबीर साधक के लिए अन्त:करण की शुद्धि महत्वपूर्ण कार्य समझते हैं। उन्होंने कलुषित हृदय के रहते

---

1. धर्म के दस लक्षण—डा० भारिल्ल—पृ० 57 से 72 (का सार)
2. काहे कू कीजै ध्यान जपना। जो मन नाही सुध अपना।
   सांप कोंचली छाड़ें विष नहीं छाडै। उदिक में बग ध्यान माड़ै ॥
   —संत नामदेव की हिन्दी पदावली
3. विश्व सगली जो दीजै दान। कोट कोट तिरथ कीजै अस्नान।
   कोट कोट जपतप साधे पान। तऊ न आवै नाम समान ॥
   —संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ० 181

हुए बड़ी से बड़ी योग-सिद्धि को भी तुच्छ बताया है ।[1]

मुंह से ज्ञान की बात कहना और हृदय को छल कपट से परिपूर्ण रखना कबीर पानी से घी निकालने जैसा व्यर्थ प्रयास बताते हैं । यदि हृदय अपवित्र है तो ऊपरी शारीरिक स्वच्छता, वेशभूषा आडम्बर है ।[2]

कबीर कहते हैं कि शरीर को मांज-मांज कर धोने तथा कपड़ों को उज्ज्वल करने से क्या लाभ यदि अन्त:करण शुद्ध नहीं है ।[3]

स्पष्ट है कि कबीर ने जीवन की शुचिता के लिए शौच का पालन करना अनिवार्य बताया है ।

शौच : रविदास—रविदास जी कहते हैं कि यदि मन में विकार (मैला) भरा हो तो शरीर की शुद्धता का कोई औचित्य नहीं ।[4] केवल मैले कपड़े धोने मात्र से शुद्धता नहीं होती ।[5]

शौच : दादूदयाल—दादूदयाल के अनुसार तीर्थ, स्नान व्यर्थ हैं ।[6] सद्गुरु जब एक बार धो देता है तो फिर मैला नहीं होता । वह तन और मन दोनों को स्वच्छ कर पार उतार देता है ।[7] दादू कहते हैं कि यदि अन्त:करण शुद्ध है तो पाखंड

---

1. हिरदै पपट हरि सूं नहिं सांचौ, कहा भयो जे अनहद सांच्यौ ।
—कबीर ग्रन्थावली, पद 278
2. हृदय कपट मुख ज्ञानी, झूठे कहा विलोवसि पानी ।
—वही-परिशिष्ठ-222
3. कबीर काया मांजत क्या करै, कपड (क्पड़) धोइम धोइ ।
उजल (उज्ज्वल) हुआ न छूटिए, सुख नीदंडी न सोइ ।।
—क० ग्र० पृ० 47
4. बहार उदक पखारिये, घट भीतर विविध विकार ।
सुद्ध कवन पर होइबो, सुचि कुंजर बिधि त्यौहार ।।
—संतबानी संग्रह, भाग-1, पृ० 62
5. मैंले कपरे लउ धोवउं, आवेगीनींद कहां लगु सोवउं ।
—संत गुरु रविदास वाणी—डा० बी० पी० शर्मा पृ० 112
6. जोग जज्ञ तूं साधन जापं । तुम हीं मेरे आपं आपं ।।
तप तीरथ तूं ब्रत असनाना । तुम हीं ज्ञान, तुम हो ध्याना ।।
—दादूदयाल पृ० 53
7. सतगुरु साचा धोवै तौ बहुरि न मैला होवै ।
तन मन फेरि संवारै । दादू कर गहि तारै ।। —वही—पृ० 59

नहीं होता। बाहर शुद्धता हो या न हो किन्तु अन्तःकरण का मल धो डालना चाहिए।[1]

शौच : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने भाव शुद्धीकरण पर बल दिया है। जैसा भाव होता है वैसा ही जीवन बन जाता है।[2] सुन्दरदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अंजन-मंजन त्यागकर ब्रह्म की साधना में रत होना चाहिए।[3] मंजन स्वयं मैल युक्त है, वह तुम्हें कैसे शुद्ध कर सकता है?[4]

शौच : मलूकदास—मलूकदास भाव के शुद्धीकरण में विश्वास करते हैं। जिसको जीतने में ही मानव की जीत है।[5] मनुष्य गर्व की विभिन्न पगडियां बांधकर अपने शरीर को सजाता-संवारता है। किन्तु यह शरीर अपना नहीं है।[6] मन की पवित्रता के सम्बन्ध में मलूकदास कहते हैं कि यदि हरि हीरा हृदय में बस जाये तो मन का शुद्धीकरण हो जाए और संध्या, तर्पन तथा तीर्थ की आवश्यकता ही न रहे।[7] मलूकदास सभी जीवों में पवित्रता अनुभव करते हैं।[8]

---

1. दादू पाखंड न पीव न पाइये, जे अंतरि साच न होइ।
   ऊपरि थैं क्यौं हीं रहौ, भीतरि के मल धोइ।। —वही—पृ० 90
2. सुन्दर जैसो ही भाव है आपनो है।
   सोई होय गयो यह प्रानी। —सुन्दरविलास पृ० 121
3. जो पिय को व्रत लै रहै कंव पियारी सोइ।
   अंजन-मंजन दूरि करि सुन्दर सनमुख होइ।।
   —संतबानी संग्रह, भाग-1 पृ० 104
4. मंजन सो जु मनो मल भजन, सज्जन सो जुकहै गति बूझै।
   गंजन सो जुइद्रि गहे मंजन, रंजन सो जु बुझावे अबूझै।।
   —सुन्दरविलास पृ० 70
5. या के जीते जीत अब मैं पाया भेव। —मलूकदास की बानी, पृ० 38
6. गर्व भुलनि देंह के रचि-रचि बांधे पाग।
   सो देंही नित देखि के चोच सवारे काज।।
   देहीं होय न आपनी समुझि परि है मोहि।
   अब हीं ते तजि राख तूं आखिर तजि है तोहि।।
   —संतबानी संग्रह, भाग-2, पृ० 95
7. संध्या तर्पन सब तजा तीरथ कबहुं न जाऊ।
   हरि हीरा हिरदे बसै ताही भीतर न्हाउ।। —वही पृ० 99
8. सब कलियन में बास है, बिना बास नहिं कोय।
   अति सुचित्ता में पाइये जो कोडफूली होय।। —वही पृ० 100

शौच : नानक—मन की शुद्धि तीर्थों में स्नान नरने मात्र से सम्भव नहीं। इस प्रकार के स्नान नानक की दृष्टि से व्यर्थ हैं।[1]

गुरु नानक कहते हैं कि अपवित्रता न तो रागों में है न वेदों में ही और न सूर्य, चन्द्र और ऋतु परिवर्तन में ही। यह अन्न अथवा स्नान में भी निहित नहीं है। वर्षा में भी अपवित्रता नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र होती है। पृथ्वी, जल और वायु भी अपवित्र नहीं है। हे नानक ! जिनके कोई गुरु नहीं है, जो निर्गुण है और जो भगवान से मुंह फेर लेते हैं उन्हीं में अपवित्रता प्रवेश करती है।[2]

गुरु नानक के अनुसार ईश्वर केवल शुद्धात्मा में निवास करता है।[3] अपनी काया में शुद्धि करके तथा आत्म तत्व पर विचार करके ही संसार सागर से पार उतरा जा सकता है।[4] उन्होंने तीर्थों में स्नान करने का फल गुरु प्राप्ति के फल की तुलना में बहुत कम बताया है।[5]

दुष्प्रवृतियां : महावीर

महावीर ने कहा है कि जब कभी मनुष्य मन, वचन या काया से दुष्प्रवृत्त* होता हुआ प्रतीत हो, तो मनुष्य घोड़े की लगाम के समान तुरन्त उन पर नियन्त्रण कर ले।[6]

---

1. अठ सठि तीरथ जे नावहि उतरै नाहि मैलु।
   जिन पट अंदरि बाहरि गुदड़ ते मले संसार।।
   —गुरु नानक व्यक्ति और विचार पृ० 31-32
2. जूठि न रागी जूठि न वेदी, जूठि न चंद सूरज की भेदी।
   जूठि न अन्मी, जूठो न नाई। जूठि न भीहू वरियै सब थाई।
   जूठि न धरती, जूठी न पाणी। जूठि न पौणी माहि समाणी।
   नानक निगुरिया गुणु नाही कोई। मुहि केरियै मुहू जूठा होई।
   —वही—पृ० 85
3. सूचै भांढे साच समावै। —वही पृ० 89
4. काइआ सोधि तरै भव सागरु आतम तत विचारी।।—मानकवाणी पृ० 514
5. तीरथ न्हाये ऐकु फल, साध मिले फल चाणि।
   सत गुरु मिलिया अनंत फल, नानक कहे विचारी।।
   —गुरुनानक वाणी डा० बी.पी. शर्मा पृ० 19

* मन, वाणी या शरीर से किसी बुरे काम में लगना।

6. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं काएण वाया अदु माणसेणं।
   तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं।।
   —द०पू० 2 : 14

दुष्प्रवृतियां : कबीर—कबीर के अनुसार जीवन कागज की नौका के समान है। पंचकुसंगी (दुष्प्रवृतियों) के संग संसार सागर को पार करना संभव नहीं है।[1]

दुष्प्रवृतियां : रविदास—रविदास जी के अनुसार दुष्प्रवृत मनुष्य भी उच्चव हो सकते हैं, जिस प्रकार गंध भी सुगन्ध में बदल जाती है। तुम चन्दन हो तो हम तो अरंड बापुरे हैं।[2]

दुष्प्रवृतियां : सुन्दरदास—सुन्दरदास कहते हैं कि दुष्प्रवृत मनुष्य अपना काम सुधारने के लिए दूसरों का काम बिगाड़ देते हैं। वे अपना काम बना पाते हैं या नहीं किन्तु दूसरों के काम अवश्य बिगाड़ देते हैं। यदा कदा वे अपनी और दूसरों की भी हानि करते हैं।[3] सुन्दरदास जी का मत है कि सर्प, बिच्छू, सिंह, हाथी, अग्नि तथा पर्वत से गिरने पर भी इतना अहित नहीं होता जितना दुष्प्रवृत मनुष्य कर सकता है।[4]

दुष्प्रवृतियां : मलूकदास—मलूकदास जी के अनुसार दुष्प्रवृत मनुष्य अत्यधिक कठोर होते हैं। वे स्वान की पूंछ के समान टेढे होते हैं और टेढे ही रहते हैं।[5] वे

---

1. कागद केरी नावरी, प्रांणी केरी गंग।
   कहै कबीर कैसे तिरौ, पंच कुसंगी संग॥ —कबीर ग्रंथावली पृ० 52
2. तुम चन्दन हम रण्ड बापुरो, संग तुम्हारे बासा।
   नींच बृत तैं ऊंच भये हैं, गन्ध सुगन्ध निवासा॥
   —संत रैदास डा० योगेन्द्र सिंह पृ० 184
3. आपनु काज संवारन के हित, और कू काज बिगारत जाई।
   आपनु कारज होउ न होउ, बुरो करि और कुं डारत भाई॥
   आपहु खोवत औरहु खोवत, खोइ दुनों घर देत बहाई।
   सुंदर देखत ही बनि आवत, दुष्ट करैं नहिं कौन बुराई॥
   —संतबानी संग्रह भाग 2, पृ० 106-107
4. सर्प डसै सु नही कछु तालक, बीछू लगैं सु भले करि मानौ।
   सिंहहु खाय तु नाहिं कछु डर, जो गज मारत तौ नहिं हादो॥
   आगि जरो जल बूड़ि मारौ, गिरि जाइ, गिरौ कछु भै मत आनौ।
   सुंदर और भले सब ही यह, दुर्जन संग भलो जिनि जानौ।
   —संतबानी संग्रह-भाग 2, पृ० 107
5. दुर्जन दुष्ट कठोर अति ता को जाति न ऐड़।
   स्वान पूंछ सुधरै नहीं अंत टेठ ही टेठ। —संतबानी संग्रह-भाग 1, पृ० 97

मूर्ख होते हैं और उन्हें समझाना ऐसा है जैसे पत्थर पर तलवार का प्रहार करना। तलवार ही टूट जाती है किन्तु पत्थर का कुछ नहीं बिगड़ता।[1] दुष्प्रवृत मनुष्य बड़ा दुखदाई होता है। यह सब जानते हैं। मलूकदास कहते हैं कि पृथ्वी से कांटा निकल जाने से पृथ्वी का कुछ भार ही कम होता है।[2]

दुष्प्रवृतियां : नानक—गुरु नानक कहते हैं कि परमात्मा की तमोगुणी सृष्टि अनन्त है। इसमें बहुत से लोग ऐसे हैं जो आसुरी वृत्ति में ही रहना पसन्द करते हैं। उन्हें परमात्मा के अस्तित्व का बोध नहीं।[3]

दया : महावीर

महावीर के अनुसार दया आत्म विशुद्धि के साधनों में से एक साधन है।[4] उनकी दया के पात्र चींटी से हाथी तक ही नहीं वनस्पति भी है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि जो वाहन में दुष्ट वृषभों को भी जोतता है और मार-मार कर उन्हें क्लेश पहुंचाता है। वह असमाधिका अनुभव करता है और उसका तोत्रक (आर) तक टूट जाता है।[5]

दया : नामदेव—एक बार जब नामदेव को छाल लेने के लिए भेजा गया। छाल निकालने के लिए उन्होंने जब अपना चाकू वृक्ष में घुसाया, तो उसमें से पानी निकला। उनको यह महसूस हुआ कि वृक्ष में से खून निकला। वे यह सहन नहीं कर पाये कि वृक्ष को तकलीफ दी जावे और बिना छाल लिए लौट आए।[6]

---

1. मूरख को का बोधिये मन में रहो विचार।
   पाहन मारे क्या भया जहं टूटै तलवार॥ —वही पृ० 97
2. दुखदाई सब ते बुरा, जानत है सब कोय।
   कह मलूक कंटक मुवा, धरती हलकी होय॥—मलूकदास की बानी पृ० 34
3. असंख मूरख अंध घोर। असंख्य छोर हरामखोर॥
   असंख अमर करि जाहि जोर। असंख गलवत हतिआ कमाई॥
   असंख पापी पापु करि नाहि। असंख कूड़िआर कूड़े फिराहि॥
   —नानक वाणी पृ० 86
4. लज्जा-दया-संजम बंभचरें।
   कल्लाणभाविस्स विसोहिठाणं॥ —दशवै० 9/1/13
5. खलुंके जो जोएइ विहम्माणी किलिस्सई।
   असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई॥ —उ० 27 : 3
6. संत नामदेव—राधा स्वामी सत्संग, व्यास—पृ० 3

दया : रविदास—रविदास ने दया का महत्व प्रतिपादित करते हुए अपनी वाणी में कहा है कि जिस मनुष्य के मन में दया नहीं है, उसका मन पाप ही पाप की कीचड़ से भरा रहता है। ऐसा मनुष्य पातकी और नीच होता है।[1]

दया : दादूदयाल—दादू का कहना है कि बिना दया के मानव तत्व ग्राही नहीं हो सकता। मांसभक्षी जीव वस्तुतः सिंह, सियार और कुत्ते के सदृश है। संत तो स्वभाव से ही दयावान् होता है। दादू की मान्यता है कि संसार के सभी जीव एक ही परिवार के हैं। अतः दया के पात्र है।[2] दादू के अनुसार जिस मनुष्य के मन में दया नहीं है, वे मनुष्य संगदिल है।[3] भगवान की भक्ति भी दया के अभाव में अपूर्ण हैं।[4] दया, धर्म का वृक्ष है जो सदा फलता-फूलता और विकसित होता रहता

---

1. दया धर्म जिन्ह में नाहिं, हिरदै पाप की कीच।
रविदास तिन्हहि जानि हो, महा पातकी नीच।
—गुरु रविदास-आज़ाद पृ० 81

2. दादू सूक सहलें कीजिये, नीला भानै नाहिं।
काहे को दुख दीजिये, साहिब है सब माहिं॥
—दादूदयाल बानी-1, पृ० 223

दादू काई काहू जीव की करै आतमा घाट।
सांच कहूं संसा नहीं सो प्राणी दोजगि जात। ,, पृ० 125
दादू मिहिर मुहब्बत मन नहीं, दिल के ब्रज कठोर।
काले काफिर ते कहिय, मोमिन मालिक और। ,, पृ० 125
आतम भाई जीव सब, एक पेट परिवार।
दादू मूल बिचारिये, तौ दूजा कौन गंवार। ,, पृ० 223
काला मूंह करिकद का, दिल थैं दूरि निकार।
सब सूरति सुबहार की, मुल्लो मुग्धन मार।
गला गुसे का काटिये, मियां मनी कौ मारि।
पंचौं बिसमिल कीजिये, ये सब जीव उबारि।
बैर विरोधैं आतमा, दया नहीं दिल माहिं।
दादू मूरति राम की, ता कौं मारन जाहिं। ,, पृ० 224

3. दादू मुई मार माणस घणे, ते परंतषि जम काल।
मिहर दया नहिं सिहदिल, कूकर काग सियाल॥
—संतवाणी संग्रह-भाग 1, पृ० 108

4. भावहीण जे पिरथमी, दया बिहूणा देस।
भगति नहीं भगवंत की, तहं कैसा परवेस॥ —वही पृ० 90

है ।[1] जो जीव दया का पालन करता है, वह अमृत पान करता है ।[2] दादू कहते हैं कि सत गुरु ने दया करके ही ज्ञान दान दिया है ।[3]

दया : मलूकदास—मलूकदास जी कहते हैं कि जिसके मन में दया का वास होता है, उसी की वाणी भी अमृतमय हो जाती है । वास्तव में वही ऊंचा है, जो नीचे देखकर चलता है ।[4] संसार का सार तत्व दया ही है अन्यथा सब जल ही है । जिस जीव ने दूसरों की आत्मा के दु:ख को जान लिया वही पार उतर जाता है ।[5] मलूकदास जी के अनुसार जो व्यक्ति भूखे व्यक्ति को अन्न देता है, वह भूखे व्यक्ति के लिये साहब (ईश्वर) तुल्य है ।[6]

संयम* : महावीर

महावीर ने संयम को बालू-रेती के कौर के समान नीरस कहा है ।[7] उन्होंने इनके चार प्रकार बताये हैं—मन का संयम, वचन का संयम, काया का संयम और उपधि-सामग्री का संयम ।[8] जीवों की रक्षा में तत्पर जो मनुष्य गमनागमन आदि सब कार्यों में तृण का भी छेद नहीं चाहता, उसे ही संयम की प्राप्ति होती है ।[9]

---

1. दया धर्म का रुखड़ा, सत सौं बधता जाइ ।
   संतोष सौं फूलै फलै, दादू अमर फलखाइ । —वही पृ० 93
2. काल जाल थैं काढ़ि करि, आत्म आंगि लगाइ ।
   जीव दया यहु पालिये दादू अमृत खाइ ।।—संतबानी संग्रह-भाग, 1 पृ० 90
3. दादू सतगुरु सूं सहजैं मिल्या, लिया कंठ लगाई ।
   दया भई दयाल की, तब दीपक दिया जगाइ ।। —वही पृ० 72
4. दया धर्म हिरदे बसै बोलें अमृत बैन ।
   ते ऊंचे जानिये जिन के नीचे नैन ।। —संतवाणी संग्रह-भाग 1, पृ० 98
5. सब पानी की चूपरी एक दया जग सार ।
   जिन पर आतम चीन्हिया तेही उतरे पार ।। —वही पृ० 99
6. जो भूखे को अन्न खवावै ।
   सो सिताब साहेब को पावै ।। —मलूकदास की बानी—पृ० 20
7. बालुयाकलले चेव, निरस्साए उ संजमे । —उत्त० 19/38
8. चउव्विहे संजमे—
   मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे । —स्था० 4/2
9. जो जीव-रक्खण-परोगमणागमणादि-सव्व-कम्मेसु ।
   तण-छेदं णि ण इच्छदि संजम-भावो हवे तस्स ।। —द्वा०अ० 399

* "संयम" को तृतीय अध्याय में परिभाषित कर दिया गया है ।

संयमी जीवन के लिये मन, वचन, काया पर नियन्त्रण आवश्यक है।[1] गृहस्थों की अपेक्षा साधुओं का संयम श्रेष्ठ है।[2] संयमी साधु ही पूज्य होता है, अन्यथा वह राज्यच्युत राजा की तरह अनुताप करता है।[3] सभी साधुओं द्वारा मान्य संयम पाप का नाश करता है। इसकी आराधना से जीव संसार सागर को पार कर देवयोनि पाता है।[4] किन्तु जिस प्रकार भुजाओं से तैर कर समुद्र को पार करना अत्यधिक कठिन है, उसी प्रकार संयम रूपी समुद्र को पार करना कठिन है।[5] संयम का महत्व बताते हुए महावीर ने कहा है कि संयमी उस मनुष्य से भी अधिक श्रेष्ठ है, जो प्रतिमास दस-दस लाख गायें दान देता है।[6]

महावीर कहते हैं कि यतनपूर्वक चलने, खड़ा होने, यतनपूर्वक बैठने, यतनपूर्वक सोने, यतनपूर्वक भोजन करने, और यतनपूर्वक बोलने वाला संयमी पुरुष पाप-कर्मों का बन्ध नहीं करता।[7]

अतः असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करने की प्रेरणा महावीर ने दी है।[8] संयमी को हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, भोग-लिप्सा एवं लोभ का परित्याग कर देना चाहिये।[9]

संयम (आत्म) : कबीर—कबीर की वाणी में आत्म-संयम के विषय में

---

1. जस्सेरिया जोग जिइंदियस्स धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्ध जीवी सो जीवइ संजम जीविएणं॥ —द०चू० 2 : 15
2. गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा। —उत्त० 5/20
3. जया य पूइमो होइ पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ॥ —द०चू० 1 : 4
4. जं मयं साहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते॥ —सूत्र० 1/15/24
5. जहा भुयाहि तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो॥ —उत्त० 19/42
6. जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्सवि किंचण॥ —उत्त० 9/40
7. जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जायं भुंजतो भासतो पावं कम्मं न बंधई॥ —द० 4 : 8
8. असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं। —उत्त० 31/2
9. तहेव हिंस अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए॥ —उत्त० 35/3

अनेक स्थानों पर विचार किया गया है। वास्तव में आध्यात्मिक लक्षणों की प्राप्ति की लिए आत्म-संयम से श्रेष्ठ मार्ग की कल्पना नहीं हो सकती।[1] कबीर का निश्चित मत है कि आत्म-नियन्त्रण के अभाव में मनुष्य को किसी प्रकार की सफलता मिलना सम्भव नहीं। चाहे साधारण जीवन-यापन की बात हो अथवा हरिपद प्राप्ति की, काम, क्रोध, लोभ और मोह को त्यागने पर ही लक्ष्य प्राप्ति सम्भव है।[2]

संयम : दादूदयाल—दादूदयाल के अनुसार संयम का वही महत्व है, जो जप तप का है। संयम से सिरजनहार की प्राप्ति हो सकती है।[3]

संयम : रविदास—रविदास जी के अनुसार इंद्रियों पर संयम रखने से आत्म विश्वास प्राप्त होता है।[4]

सम्यक्त्व : महावीर—(सम्यग्दर्शन-समत्व)

वैषम्य एक समस्या है। उसका कारण है—समत्व के दृष्टिकोण का अविकास। समत्व अर्थात समता का अर्थ है सामायिक अथवा मोक्ष मार्ग। महावीर ने साम्य का जो स्वर उद्बुद्ध किया, वह आज भी माननीय है। महावीर ने कहा प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, हे वादियो ! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय ? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्वों को दुःख महा भयंकर अनिष्ट और अशान्तिकर है। जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे तर्जित करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्यु से लगातार रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्वों को होता है। यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उन्हें परिताप नहीं पहुंचाना चाहिए, उन्हें उद्विग्न नहीं

---

1. तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्म अध्ययतन।
—डा० रवीन्द्र कुरार सेठ पृ० 57
2. काम क्रोध लोभ विबरजित हरिषद चीन्हे सोई—कबी ग्रंथावली पृ० 19
3. दादू तिस सग्वर के तीर, जप तप संजम कीजिये।
तहं सनमुख सिरजनहार, प्रेम पिलावै पीजिये।। —दादूदयाल पृ० 46
4. कुरमे भाँति जउ रहहिं, मन इंदिरियां "रविदास"।
सांत रहइ नित आतमा, बढ़हिं आतम बिसास।।
—गुरु रविदास—आजाद—पृ० 71

करना चाहिये ।[1]

जीवों के शरीर छोटे-बड़े अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु आत्मा सब की समान है। निम्न दृष्टिकोणों से भी सभी जीव समान हैं—

1. परिमाण की दृष्टि से। (चींटी और हाथी में समान आत्मा है)
2. ज्ञान की दृष्टि से। (ज्ञान की विकास समान न होते हुए भी, ज्ञान शक्ति समान है)
3. वीर्य की दृष्टि से। (आत्म या योग्यातात्मक वीर्य में न्यूनाधिक नहीं होता)
4. अपौद्गलिकता की दृष्टि से। (सुन्दरता आदि से कोई छोटा बड़ा नहीं)
5. निरूपाधिक स्वभाव की दृष्टि से। (वैषम्य का कारण मोह है अन्यथा सभी जीव समान)
6. स्वभाव बीज की समता की दृष्टि से। (आत्मा के लक्षणों के आधार पर सभी जीव समान हैं)

महावीर ने कहा है कि जो मनुष्य सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखता है, वह न तो किसी का प्रिय करता है और न ही अप्रिय ।[2] धर्मोपदेष्टा जिस प्रकार पुण्यवान्-धनवान् को उपदेश देता है उसी प्रकार तुच्छ-दीन, दरिद्र को भी उपदेश देता है उसी प्रकार पुण्यवान् को भी ।[3] किन्तु समभाव की साधना सरल नहीं है। महावीर के अनुसार समभाव वही साधक रख सकता है जो अपने आप को हर किसी भय से विलग रखता है ।[4] उनके अनुसार—

1. मिलने पर गर्व, न मिलने पर शोक नहीं करना चाहिये ।[5]
2. न जीने की अभिलाषा करनी चाहिए न मरने की कामना ।[6]

---

1. सूयगडो, 2/1/15
2. सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
   पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा। सूत्र० 1/10/6
3. जहा पुण्णास्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
   जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णास्स कत्थइ ॥ —आचा० 1/2/6
4. सामाइयमाहु तस्स जं,
   जो अप्पाण भए ण दंसए। —सूत्र० 1/2/2/17
5. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलामुत्ति न सोइज्जा। आचा० 1/2/5
6. जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नो विपत्थए।
   दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा ॥ —आचा० 1/8/8/4

3. संकट के समय मन डांवा-डोल नहीं करना चाहिये।[1]
4. राग-द्वेष में सम भाव रखे।[2]
5. सदा समता का आचरण करें।[3]

महावीर ने कहा है कि सम्यकत्व से सम्यग्ज्ञान होता है और ज्ञान से सब पदार्थों के स्वरूप की पहचान होती है और जिसने पदार्थों का स्वरूप अच्छी तरह जान लिया है वही हित और अहित को जानता है।[4]

महावीर ने रत्नत्रय में सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्दर्शन को स्थान दिया है और रत्नत्रय का आचरण करने की प्रेरणा दी है।[5] जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है (श्रद्धा करता है) वह दर्शन है और जो पुण्य और पाप का परित्याग है वह चरित्र है।[6] रत्नत्रय को मोक्ष मार्ग तक का महत्व देते हुए महावीर ने कहा है कि आत्मा में लीन आत्मा निश्चय रूप से सम्यक् दृष्टि है। आत्मा को यथार्थ रूप में जानता है, वह सम्यक्ज्ञान है और आत्मा में तन्मय होकर आचरण करना चरित्र है।[7] महावीर ने यह भी कहा है कि तत्वों में रुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। तत्वों के स्वरूप को ठीक-ठीक ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। कर्मों को लाने वाली क्रियाओं को त्यागना सम्यक्चरित्र है।[8]

जिस प्रकार विधिपूर्वक बोये हुए बीज की वर्षा से फल रूप में उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अरहंत आदि की भक्ति से ज्ञान, चरित्र, दर्शन और तप रूपी फल की

---

1. नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा। आचा० 2/3/1
2. वियणिया अत्पगमप्पएणं,
   जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो। दश० 6/3/11
3. समयं सया चरे। —सूत्र० 2/2/3
4. सम्मत्तादो णाणं पापादो सव्वभाव उवलद्धो।
   उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥ —मूल० 10 : 12
5. रयणत्ते सुअल्द्धे एवं भभिओसि दोहसंसारे।
   इय जिणवरेहिं भण्यिं तं रयणत्तं समायाह ॥—भा० पा० 30
6. जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णंय।
   तं चरित्तं भणिय परिहारो पुण्णापावाणं ॥ —मो० पा० 37
7. अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडुजीवो।
   जाणइ तं सण्णाणं परदिह चरित्तमग्गुति ॥ भा० पा० 31
8. तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
   चरित्त परिहारो पयपियं जिणवरिदेहि ॥ मो० पा० 38

उत्पत्ति होती है ।[1]

जो जीव मिथ्यादर्शन* में रत हैं, जो फल पाने की कामना करता है तथा हिंसा में प्रवृत्त है ऐसा जीव मरते हुए पुनः बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं पाते ।[2] इस प्रकार संसार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र दुर्लभों से भी अधिक हैं ।[3] ये महावीर के सारभूत उपदेश हैं और जरा मरणादि हरने वाले हैं । ये मुनि और श्रावक दोनों को उपलब्ध हो सकते हैं ।[4] इनकी साधना से समभाव उत्पन्न होता है ।

सम्यक्त्व (समान अनुभूति) : **नामदेव**—नामदेव कहते हैं कि जीवों को संसार में अनेक प्रकार की अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है । कभी अच्छे कर्मों का प्रकाश आ जाता है तो कभी बुरे कर्मों का अंधकार । सुख के समय अधिक खुश और दुःख में अधिक दुखी नहीं होना चाहिए । समभाव रखना चाहिए । मालिक की मौज समझ कर मन को अडोल रखे ।[5]

सम्यक्त्व (समान अनुभूति) : **कबीर**—कबीर के अनुसार सम्यक्त्व प्राप्त करने का मार्ग भक्ति है । इस सम्यक् दृष्टि के अभाव में मनुष्य अन्धा है । यह जीवन और जगत् के वास्तविक ज्ञान से वंचित ही रह जाता है । ऐसे अन्धों से

---

1. विधिणा कदस्ससस्सहस जहा णिप्पादयं हवदि बासं ।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ।। —भग०आ० 751

* स्वात्म तत्व से अपरिचित लौकिक जन शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदि में ही स्वव मेरापन तथा इष्टनिष्टापना मानता है और तदनुसार ही प्रवृत्ति करता है । इसीलिए उसके अभिप्राय या रुचि को मिथ्यादर्शन कहते हैं ।

2. मिच्छादंसणरता सनियाण हु हिंसगा ।
इय जे मरंति नीवा तेसिं पुण दुल्लहा वोही ।। —उ० 36 : 257

3. इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायंर कुणह तिण्हं पि ।। —द्वा०उ० 301

4. इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए ज तु ।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं पि ।। —मो०पा० 40

5. कबहु खीर खांड घीउ न भावे । कबहु घर-घर टक मंगावे ।
कबहु कूरनु चने बिनावै । जिउ राम राखै तिउ रहीऐ भाई ।।
कबहु तुरे तुरंग नचावे । कबहु पाइ पनहीओ न पावै ।।
कबहू खाटु सुपोद सुवावै । कबहू भूमि पैआरू न पावै ।।
—आदि ग्रंथ-राग 1169

कबीर भी भयभीत हैं ।[1]

सम्यक्त्व : रविदास—रविदास जी ने समत्व भाव का उल्लेख सृष्टि निर्माता के सम्बन्ध में किया है । वे कहते हैं कि वह सबको समान दृष्टि से देखता है । वह सबका सर्जन करने वाला है और सभी में समान रूप से व्याप्त है ।[2]

सम्यक्त्व : दादूदयाल—दादू कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शन की दृष्टि प्राप्त हो जाती है उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है ।[3]

सम्यक्त्व : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी ने महावीर के सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के सम्बन्ध में कहा है कि जो मनुष्य स्वयं तथा जगत् को ब्रह्मरूप समझता है, वही सच्चा ज्ञानी है । इस समत्वज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सम्पूर्ण भ्रमों का निवारण हो जाता है ।[4]

सुन्दरदास जी ने सम्यक् चरित्र का उपदेश देते हुए कहा है कि जैन (महावीर) का सार रूप तत्व, तप, शील तथा सत्याचरण हैं । सच्चा जैनी (महावीर का अनुयायी) मन, वचन, काया से शुद्ध होकर सबके प्रति सहानुभूति और दया का भाव रखता है और अपनी बुद्धि से विकारों को दूर कर देता है ।[5]

---

1. पूरे की पूरी द्रिष्टि, पुरा करि देखै ।। —क०ग्र०पृ० 112
   ऊंच नीच सम सरिया । ताथैं जन कबीर निसतरिया —वही पृ० 173
   भगति कौ हीन जीवन कछू नाहिं, उतपति परलै बहुरि समाई ।।
   —वही पृ० 173
   आपण अंध और कूं कानां, तिन को देखि कबीर डरांना ।। —वही पृ० 101
2. इक नजिर सों सभ कूं देखइ, सरिष्टि का सिरजनहार ।
   सब घट व्यापक अलख निरंजन, कहि रविदास पमारा ।।
   —गुरु रविदास-आज़ाद पृ० 12
3. चरम दृष्टि देखै बहुत आतम दृष्टि एक । —दादू भाग-1 पृ० 87
4. आप ब्रह्म कूं जगत एक कर जैन ।
   सब सुन्दर कहत वह ज्ञान भ्रम भाग है । —सुन्दरविलास : पृ० 148
5. जैन मति उहै जिन राजक न भूलि जाय ।
   दान तप शील सत्य भावना से तरिए ।
   मन बच काय शुद्ध सबसूं दयाल ह्वै ।
   दो बुद्धि दूरि कर या उर धारिए ।। —सुन्दरविलास पृ० 107

सम्यक्त्व : मलूकदास—मलूकदास जी के अनुसार जिसके मोह के बन्धन टूट जाते हैं उसे सम्यक्त्व उपलब्ध हो जाता है। उसकी दृष्टि से राजा और रंक का भेद समाप्त हो जाता है वह निहसंक विचरण करता है।[1]

सम्यक्त्व : नानक—गुरु नानक कहते कि सबको उच्च मानों, कोई भी नीच नहीं है क्योंकि सबका कर्त्ता एक है और तीनों लोकों में उसका प्रकाश व्याप्त है।[2]

लोभ : महावीर संतोष

लोभ के सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि लोभ सद्गुणों का नाश कर देता है।[3] जो व्यक्ति लोभ करता है वह अपनी ओर से चारों ओर वैर की अभिवृद्धि करता है।[4] लोभ का प्रसंग उपस्थित होने पर व्यक्ति सत्य को झुठला कर असत्य को अपनाता है।[5] लोभ मजीठ के रंग के समान है, जो जीवन से कभी नहीं छूटता और आत्मा को नरक की ओर ले जाता है।[6]

मनुष्य की इच्छायें आकाश के समान अनन्त है।[7] यदि बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण समूचा लोक भी यदि किसी मनुष्य को दे दिया जाये तो भी उसे सन्तोष नहीं होगा।[8] ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है, दो मासे सुवर्ण से पूरा होने वाला काम करोड़ों से भी पूरा नहीं होता।[9]

महावीर बानर के एक उदाहरण द्वारा विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं

---

1. उनकी नजर न आवते, कोइ राजा रंक।
   बंधन तोडे मोह के, फिरते निहसंक ॥ —मलूकदास की बानी पृ० 7
2. सबको ऊंचा आखिये नीच ना दीसै कोय।
   झकनै भांडे साजिये इक चारण तेह लीये।
   —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार पृ० 92
3. लोभों सव्वविणासणो। —दश० 8/38
4. कोइ लोहं, वेरं वड्ढइ अप्पणो —आचा० 2/5
5. लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए। —आचा० 2/3/15/2
6. किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभं अणुपविट्ठे
   जीवे कालं करेइ नेरइएसु उक्वज्जति। —स्था० 4/2
7. इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥ —उत्त० 9/48
8. कसिणं पि जोइमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
   तेणापि से न संतुस्से इह दुप्पूरए इमे आया ॥ —उत्त० 9/16
9. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
   दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ —उत्त० 8/17

कि जिस प्रकार खा-पीकर बानर तृप्त हो जाता है, किन्तु फिर भी किसी भी लाल फूल को दूर से देखकर, उसे पाने के लिए दौड़ पड़ता है यद्यपि वह उसे लेकर तुरन्त त्याग देता है। इसी प्रकार लोभी जिस पदार्थ को भी देखता है उसे ही पाने के लिए मचल उठता है और कभी तृप्त नहीं होता।[1]

महावीर के अनुसार सन्तोष से ही लोभ को जीता जा सकता है।[2] लोभ पर विजय पाने पर सन्तोष की प्राप्ति हो जाती है।[3]

लोभ : कबीर—परिणाम अथवा फलाशा के विचार से रहित होकर स्व-कर्त्तव्य को करते रहना, किसी वस्तु के अभाव पर खिन्न न होना, जिस स्थिति एवं अवस्था में रहने का संयोग हो जाय, उसी में सहर्ष रहना तथा किसी प्रकार भी अपनी इच्छा से वशीभूत न होना सन्तोष कहलाता है। इच्छायें अपरिमित होती हैं। समुद्र की तरंगों की भांति वे मनुष्य के मन में सदैव विद्यमान रहती हैं। वे आती-जाती रहती हैं। इच्छाओं के वशीभूत होकर ही मनुष्य विविध व्यांधि एवं कष्टों में फंसता है। इसीलिए कबीर ने सन्तोष नियम का पालन करना हितकर बताया है। व्यक्ति को भगवान पर विश्वास रखना चाहिए वह सामर्थ्यवान् है। मन में आशा-तृष्णा, मनोरथ को स्थान नहीं देना चाहिए।[4] कबीर के अनुसार सन्तोष धन के सामने अन्य धूल के समान हैं।

लोभ : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी ने सन्तोष को इतना अधिक महत्व दिया है कि इसे ईसन का ईस तक कह दिया है।[5]

सुन्दरदास कहते है कि लोभ के कारण असंख्य नीलम पद्म आदि जोड़-जोड़ कर तूने अपने भण्डार भर लिए। किन्तु तेरा लोभ फिर भी शान्त नहीं हुआ। तुझे पता नहीं है कि मृत्यु तेरे सिर पर खड़ी है। मरने के बाद तू मिट्टी में मिल

---

1. जह मक्कउओ घादो वि फलं दठ्ठण लोहिदं तस्स।
   दूरत्यस्स बि डेवदि घित्तूण वि जइ वि छंडेदि॥
   एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पविदुं तं तं॥
   सव्वजगेण विजीवो लोभाइट्ठोण तिप्पोदि॥ —भग०आ० 854-55
2. लोभं संतोसओ जिणें। —दश० 8/39
3. लोभविजएर्ण संतोस जुणयई—उत्त० 29/70
4. मनह मनोरथ छांदि दे, तरा किया न होइ।
   पांणी में नीकसैं, तौ रूखा खाइआ न कोइ॥
   —कबीर ग्रन्थावली, अंग 13, सा० 29
5. ब्रक्त का विचार कहूं और न सुहात है,
   सुन्दर कहत सोई ईसन को ईस है॥ —सुन्दरविलास पृ० 5

जायेगा ।[1]

लोभ : मलूकदास—मलूकदास जी मनुष्य के दुःख के कारण पर विचार करते हुए कहते हैं कि लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति गांठ में होने पर भी लोभी मनुष्य रोता ही रहता है । उसकी रक्षा की चिन्ता में वह मरता रहता है तब उसे सुख की नींद किस प्रकार आ सकती है ।[2] सन्तोष के न होने के कारण वह भरमाया रहता है और दुःखी रहता है । निराश होकर ही वह सरनागति आता है ।[3]

नारी : महावीर

महावीर ने नारी पर आंख साधना, विषय-सेवन का साहस करना तथा नारी के साथ विहार करना आत्मा को असुरक्षित करना कहा है ।[4] स्त्री-प्रसंग सूअर को फंसाने वाले चावल के कण की तरह है । महावीर के अनुसार विषय और इन्द्रियों को जीतकर जो मनुष्य छिन्नस्त्रोत हो गया है तथा राग-द्वेष रहित हो गया है वह पुनः स्त्री-प्रसंग में न फंसे । जो मनुष्य विषय-भोगों में अनाकूल और सदा इन्द्रियों को वश में रखने वाला पुरुष है वह अनुपम भाव-सन्धि को (कर्म क्षय करने की मानसिक दशा) प्राप्त करता है ।[5] महावीर ने कहा है कि हे मनुष्य अगर तू स्त्रियों को देखकर तू इसीं तरह प्रेम-राग किया करेगा, तो हवा से आहट हट की

---

1. लाभ करोर अरब्ब खरब्बनि,
   नील पदम्म तहां लगी बाढ़ी ।
   जोरिहि जोर भंडार भरे सब ।
   और रही सुजमी तर गाढ़ी ।।
   तौहु न तोहिं संतोष भयो सठ,
   सुंदर तैं तृस्ना नहिं काढ़ी ।
   सूझत नाहिन कालहि तो सिर,
   मारि के थाप मिलाइहि माढ़ी ।। —सुन्दरविलास पृ० 34-35
2. लाख करोड़ जो गांठि में, तौ भी यह रोवै ।
   मरता मारे फिकिर के, सुख कब हूं न सोवै ।।—मलूकदास की बानी पृ० 22
3. बिन संतोष दुखी भया, बहुत भरमाया ।
   कहत मलूक यह जानकर, सरनागति आया ।। —वही पृ० 22
4. णो तासु चक्खु संधेज्जाणो वि य साहसं समणुजाणे ।
   णो संढियं हि विहरेज्जा एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ।। —सू० 1, 4(1) 5
5. णीवारे व ण लीएज्जा छिण्णसोते अणाइले ।
   अणाइले सदा दन्ते संधिं पत्ते अणेलिसं ।।—सू० 1, 15 : 12

तरह अस्थिरात्मा हो जायेगा । तेरा चित्त-समाधि को खो देगा ।[1]

जिस प्रकार कुत्ता रक्तहीन सूखी अस्थि को चबाता हुआ रस को प्राप्त नहीं करता किन्तु अपने ही तालू से निकले हुए रक्त को चूसता है और सुख मानता है, उसी प्रकार नारी भोग करने वाला भी तनिक ही सुख पाता है वह तो अपने शरीर के परिश्रम को ही सुख मान लेता है ।[2]

महावीर ने काम भागों की कटु निन्दा की है । उनके अनुसार जैसे कुष्ठी मनुष्य अग्नि का सेवन करता हुआ राग की शान्ति को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार भोगों को भोगते हुए प्राणी को भी सुख प्रप्त नहीं होता ।[3] महावीर ने कहा है कि सूक्ष्म रूप से अन्वेषण करने पर भी कदली में कहीं भी कोई सार नहीं होता, उसी प्रकार खोजने पर भी भोगों में थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता ।[4] काम भोगों का सुख तो ग्रीष्मकाल में सूर्य की धूप से अभितप्त बिना रुके दौड़ते हुए पथिक को रास्ते में वृक्ष की अल्प छाया के समान है ।[5] अथवा नदी में जल के प्रवाह में बहते चले जाते पुरुष को अँगूठे से भूमि का स्पर्श जैसे थोडा सा आश्वासन के सुख जैसा है ।[6] घोषातकी नामक कड़ए फल को खाता हुआ मूर्ख कृमि जैसे उसको मीठा मानता है, वैसे ही कामी पुरुष वास्तव में दुःख का भोग करता हुआ उस को सुख मानता है ।[7]

महावीर के अनुसार काम भोग शल्य रूप हैं, तथा विष रूप हैं, ये सर्प विष

---

1. जइ तं काहिसि भावं जा-जा दिच्छसि नारिओ ।
   वायाविद्धो व्य हठो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ।।— उ० 22 : 44
2. ण लहदि जह लेहंती सुक्खल्लयामट्ठियं रस सुणहो ।
   से सगतालुगरूहिरं लेहंती मण्णए सुक्खं ।।
   महिलादिभोगवेणी ण लहदि किंचवि सुहं तथा पुरिसो ।
   सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ।। —भग० आ० 1255-56
3. जह कोडिल्लो अग्गि तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
   तह भोगे भुजंतो खण पि णो उवसमं लभदि ।। —भग०अ० 1251
4. सुठठु वि मग्गिजतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो ।
   तह णत्यि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ।। —भग०आ० 1254
5. तह अप्पं भोगसुहं जह घावंतस्स अठितवेगस्स ।
   गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ।। —भग०आ० 1259
6. अहवा अप्पं आसासुहं सरिदाए अप्पियंस्स ।
   भूमिच्छिवकं गुट्ठस उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ।। भग०आ० 1290
7. घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ।
   तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ।। —भग०आ० 1253

के समान घातक हैं। भोगों की कामना करते-करते जीव दुर्गति में चले जाते हैं।[1] मनुष्य नहीं जानता कि काल बीता जा रहा है। रात्रि भागी जा रही है। काम भोग नित्य नहीं हैं। जैसे पक्षी क्षीण फल वाले द्रुम को छोड़कर चले जाते हैं, उसी प्रकार काम भोग भी पुरुष को छोड़ देते हैं।[2] शत्रु तो केवल एक ही भव में शरीर को दुःख दे सकते हैं, परन्तु काम भोग तो कोटि-कोटि भवों में दुःख देते हैं।[3] महावीर ने स्पष्ट कहा है कि जो भी भोग तुम्हें अनन्त बार प्राप्त हुए हैं, अतः प्राप्त कर छोड़े हुए भागों में विस्मय की बात नहीं।[4] जब दुःख के कारण मनुष्य, मनुष्य का शत्रु हो जाता है, तो अतिशय दुःख देने वाली इन्द्रियों से प्राप्त सुख से बड़ा शत्रु कौन हो सकता है।[5] इस जन्म में या दूसरे जन्म में शत्रु पुनः मित्र बन सकता है किन्तु काम भोग तो लोक और परलोक में सदा ही दुख देते हैं।[6]

महावीर के कथनानुसार सब गीत विलाप है और सर्व नाट्य विडम्बना तथा सभी आभूषण भार हैं एवं सर्व काम भोग दुःख का कारण है।[7] आयु सीमित है और काम भोग कुश के अग्रभाग के स्वल्प है।[8]

महावीर ने कहा है कि संसार में और पदार्थ की तो बात ही क्या, अपने जीवन का ही अवलोकन करो। यह पल-पल क्षीण होता जा रहा है। कभी तो आयु

---

1. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
   कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं॥ —उ० 9 : 53
2. उच्चेइ कालो तूरंति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
   उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥
   —उ० 13 : 31
3. एगम्मि देव देह करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी।
   भोगा से पुण दुक्खं करंति भव कोडिको डीसु॥ —भग०आ० 1273
4. जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते।
   को णाम तत्थ भोगेसु विभओं लद्धविजडेसु॥ —भग०आ० 1261
5. दुक्खं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सत्तू।
   अदिदुक्खं कदमाण भोगा सत्तूकिह ण हुंत्तो॥ —भग०आ० 1271
6. इघडूं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तणं पुणमुवेंति।
   इंगइं परलोगो वा सदाइ दुःखबहा भोगा॥ भग०आ० 1272
7. सव्य विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
   सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा। —उ० 13 : 16
8. कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धंमि आटए।
   कस्स हेडि पुराकउं, जोणक्खेयं न संविदे ?॥ —उ० 7 : 24

तरुणावस्था में ही पूरी हो जाती है। अधिक हुआ तो सौ वर्ष के छोटे से काल तक जी लिये। संसार में कितना क्षणिक निवास है। हे जीव, कितना आश्चर्य है कि आयुष्य का भरोसा न करते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामों में मूर्च्छित रहते हैं।[1] हे पुरुष ! पाप कर्मों से निवृत्त हो जा। यह मनुष्य जीवन शीघ्रता से दौड़ा जा रहा है। भोग रूपी कीचड़ में फंसा हुआ और काम भोगों में मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित को खोकर मोह ग्रस्त होता है।[2]

महावीर के अनुसार भोगों की कामना करना नन्दन बन के अमृत को छोड़ कर विषपान करना।[3] या रत्न द्वीप में रत्नों को छोड़कर लकड़ियों को एकत्रित करने के समान है।[4]

काम भोग तो अनर्थों की खान है।[5] भोग में कर्मों का उपलेपवन्धन होता है। अभोगी लिप्त नही होता। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है, जबकि अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है।[6] जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टी के गोलों को फेंकने पर दोनों दीवारों पर गिरते हैं, किन्तु गीला ही दीवार के चिपकता है, उसी प्रकार जो काम लालसा में आसक्त और दुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य होते हैं, वे संसार में बन्धन को प्राप्त होते हैं तथा जो कामभोगों से विरक्त होते हैं, वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते, जैसे सूखा गोला दीवार से नहीं चिपकता।[7]

महावीर ने पांच प्रकार के काम भोग बताये हैं—शब्द, रूप, गन्ध, रस और

---

1. इह जीवियमेव पासहा तरुण एवं वासजयस्स तुवृई।
   इत्तरवासं व बुज्झहा णिद्ध णरा कामेसु मुच्छिया॥ —सू० 1, 2 (3) 8
2. पुरिसोम पावकम्मुणा पलियंतं मणुयाण जीवियं।
   सण्णा इह काममुच्छिया मोहं जंति णरा असंवुडा॥— सू० 1, 2 (1) : 10
3. गंतूण णंदवणं अभयं छंडिय विसं जहा पियइ।
   माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा॥ —भग०आ० 1832
4. छुट्टिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्टाणि।
   माणुसभवे वि छुट्टिय धम्मं भोगे भिलसादि तहा॥ भग०आ० 1831
5. खाणी अणत्थाण उ काम भोगा—उ० 14 : 13
6. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
   भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥ —उ० 25 : 39
7. उल्को सुक्को य वो छूढा, गोलया महियामया।
   दो वि आवडिया कुहे, जो उल्लो सोतत्थ लग्गई॥
   एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
   विरत्ता उन लग्गति, जहा सुक्को उ गोलको॥ —उ० 25 : 40, 41

स्पर्श सम्बन्धी ।[1]

जिस प्रकार वाहक द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ अर्थात् त्रास देकर हांका हुआ बैल थक जाता है और मारे जाने पर भी कमजोर होने के कारण आगे नहीं चलता तथा रास्ते में कष्ट पाता है, उसी प्रकार क्षीण मनोबल वाला अविवेकी मनुष्य भी सद्बुद्धि पाने पर भी काम भोग रूपी कीचड़ से नहीं निकल पाता। आज कल पर टालता रहता है। सुख चाहने वालों को इन्हें त्याग देना चाहिये।[2]

महावीर काम भोग को वमन की हुई वस्तु बताते है कि हे कामी ! तू भोगी जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे अच्छा तो तेरा मर जाना ही है। अत: तुझे धिक्कार है।[3]

महावीर वाणी में वीर पुरुष का वीर्य, सुव्रत सकर्म वीर्य, अकर्म वीर्य, बाल वीर्य और पण्डित वीर्य का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रमाद होने से बाल वीर्य और अप्रमाद होने से पण्डित वीर्य होता है। जब पण्डित माया और मान का त्याग कर देते हैं और मोक्ष की साधना कहते हैं तो उन्हें वीर पुरुष का अकर्म वीर्य प्राप्त होता है।[4]

---

1. जे गिद्धे काम-भोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
   न मे दिट्ठे परे लोए, पक्खु-दिट्ठा इमा रई ॥ —उ० 5 : 5
2. वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।
   से अंतसो अप्पथामए, णाईवचए अबले विसीयइ ॥
   एवं कामेसणाविऊ, अज्ज रुए पयहेज्ज संथवं।
   कामी-कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुइं ॥—सू० 1,2 (3) : 5,6
3. घिरत्थु ते जसोकामी ! जो तं जीवियकारणा।
   वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे ॥ —उ० 22 : 42
4. (अ) दुहा वेयं सुयक्खायं विरियं ति पवुच्चई।
   किण्णु वीरस्स वीरितं ? केण वीरो त्ति बुच्चति ? । —सू० 1,8 : 1
   (ब) कम्ममेव पवेदेति अकम्मं वा वि सुव्वय।
   एतेहिं दोहिं ठाणेहिं दीसंति मच्चिया ॥ —सू० 1, 8 : 2
   (स) पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं।
   तब्भावादेसओ वा वि बालं पंडियमेव वा ॥ —सू० 1, 8 : 3
   (द) णेयाउयं सुयक्खातं उवादाय समीहते।
   भुज्जो, भुज्जो दुहावासं असुहत्तं तहा तहा। —सू० 1, 8 : 11
   (क) अणु माण च मायं च तं परिण्णाय पंडिए।
   अययट्ठ सुयादाय एवं वीरस्स वीरियं ॥ —सू० 1, 8 : 18

मैथुन से वीर पुरुष का अकर्म वीर्य तथा पण्डित वीर्य नष्ट होता है। मुनि नथमल जी ने स्वीकार किया है कि मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से होती है। उन्होंने मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण बताये है।[1]

1. मांस और रक्त का उपचय।
2. मैथुन सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
3. मैथुन सम्बन्धी चिन्तन।

महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार कच्छु रोग को नखों से खुजलाने वाला मनुष्य दुःख में सुख का अभिमान करता है। अथवा जिस प्रकार मैथुन में प्राणी सुख का अभिमान करता है।[2] अथवा जिस प्रकार श्मशान में व्याघ्र शव का भक्षण करके तृप्त होता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य मकुत्सित शरीर के स्पर्श से सुख का अनुभव करता है।[3]

महावीर ने ब्रह्मचर्य को भगवान माना है।[4] उनके अनुसार आत्मा में ही चर्या करना ब्रह्मचर्य है। जो साधक पर देह से विमुक्त होकर ब्रह्म में चर्या करता है वही सच्चा ब्रह्मचारी है।[5] जो स्त्रियों की संगति नही करता, उनके रूप को नहीं देखता, काम कथादि से रहित होता है तथा मन, वचन, काया तथा कृत, कारित अनुमति से ऐसा करता है, उसे ही ब्रह्मचर्य धर्म प्राप्त होता है।[6]

जिस प्रकार पतंग अग्निशिखा पर मोहित होकर अतृप्त ही मर जाता है, उसी प्रकार की गति रूप के प्रति आकर्षण में होती है।[7]

महावीर ने कहा है कि जो मनुष्य स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ भी उनके प्रति मन में किसी भी प्रकार का कुविचार नहीं लाता वही ब्रह्मचर्य भाव का

---

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—पृ० 528
2. कच्छुं कंडुयमाणे सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे।
   दुक्खे मुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा। —भग॰आ॰ 1252
3. वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि।
   तह कुणिभदेहसंफंसणेण अबुहा सुखायंति॥ —भग॰आ॰ 1258
4. बंभ भगवंत—प्रश्नव्य, करण, 2/4
5. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्जज्क जदिणो।
   तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स॥ —भग॰आ॰ 878
6. जो छरिहरेदि संगं, महिलाणं णेव परसदे रूवं।
   कामकहादिणियत्तो णवहा बभं हवे तस्स॥ —द्वा॰आ॰ 403
7. रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
   रागाउरे से जहं वा पयंगे आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥ उ॰ 32 : 24

धारी हैं ।[1]

महावीर ने दस अब्रह्म का उल्लेख किया है ।[2]

1. स्त्री के साथ विषय भोग की अभिलाषा ।
2. प्रणीत स्निग्ध रसों का सेवन ।
3. स्त्री और पशुओं से संसक्त वस्तुओं का सेवन ।
4. स्त्री की इन्द्रियों का अवलोकन ।
5. स्त्रियों का सत्कार ।
6. स्त्रियों की क्रीड़ाओं का सम्मानजनक स्मरण ।
7. स्त्रियों की क्रीड़ाओं की भविष्य में कामना करना ।
8. इष्ट विषयों का सेवन ।
9. इन्द्रिय विकार ।

महावीर के अनुसार ब्रह्मचर्य के प्रकार[3]

मन में ब्रह्मचर्य | वचन में ब्रह्मचर्य | काय में ब्रह्मचर्य

द्रव्य ब्रह्मचर्य | भाव ब्रह्मचर्य

मुनि नथमल जी ने महावीर वाणी के आधार पर ब्रह्मचारी की चर्या का उल्लेख किया है—

1. एकान्तवास—विकार-वर्धक सामग्री से दूर रहना ।
2. कथा-संयम—कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना ।
3. परिचय-संयम—कामोत्तेजक सम्पर्कों से बचना ।

---

1. सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बह्मचेर भावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ।। —कुन्द०आ० 11 : 80
2. इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे ।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ।
इठ्ठविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविह एदं ।। —भग०आ० 879-80
3. मण बंभचरे विचि बंभचरे तह काय बंभचरें च ।
अहबा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति वुवियप्पं ।। —मू० 994

4. दृष्टि-संयम—दृष्टि के विकार से बचना।
5. श्रुति-संयम—कर्ण विकार पैदा करने वाले शब्दों से बचना।
6. स्मृति-संयम—पहले भोगे हुए भोगों को याद न करना।
7. रस-संयम—पुष्ट-हेतु के बिना सरस पदार्थ न खाना।
8. अति भोजन-संयम—जीवन-निर्वाह मात्र खाना।
9. विभूषा-संयम—शृंगार न करना।
10. विषय-संयम—मनोज शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना।
11. भेद-चिन्तन—विकार हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक मानना।
12. शीत और ताप सहन—ठंडक में खुले रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।
13. सौकुमार्य-त्याग।
14. रागद्वेष के विलय का संकल्प करना। (उत्तरज्झपणाणि, 32/101)
15. गुरु और स्थिविर से मार्गदर्शन लेना।
16. अज्ञानी या आसक्त का संग-त्याग करना।
17. स्वाध्याय में लीन रहना।
18. ध्यान में लीन रहना।
19. सूत्रार्थ का चिन्तन करना।
20. धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना। (उत्तरज्झयणाणि, 32, 3)
21. शुद्धाहार—निर्दोष और मादक वस्तु-वर्जित आहार।
22. कुशल साथी का सम्पर्क (उत्तरज्झयणाणि, 32, 3)
23. विकार पूर्ण सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन, अकीर्तन। (उत्तरज्झयणाणि 15)
24. काय-क्लेश—आसन करना, साज सज्जा न करना।
25. ग्रामानुग्राम-विहार—एक जगह अधिक न रहना।
26. रूखा भोजन—रूखा आहार करना।
27. अनशन—यावज्जीवन आहार का परित्याग कर देना। (आयारो 5/83)
28. विषय की नश्वरता का चिन्तन करना (दसवेआलियं, 8/59)
29. इन्द्रियों का बहर्मुखी व्यापार न करना। (उत्तरज्झयणाणि 32/12)
30. भविष्य दर्शन—भविष्य में होने वाले विपरिणाम देखना (सूयडगो 1/1/3/4/13)
31. भोग में रोग का संकल्प करना (सूयडगो 1/1/3/2)
32. अप्रमाद—सदा जागरूक रहना (उत्तरज्झणाणि-अध्ययन 16)

कामभोग (स्त्री प्रसंग) : नामदेव—नामदेव परमात्मा के प्रति अपनी अनुभूति प्रकट करने के लिए स्त्री प्रसंग का आश्रय लेते हुए कहते है कि मुरारी के प्रति मेरी प्रीति ऐसी है जैसे पराए पुरुष में किसी नारी की अथवा कामी पुरुष कीं कामनी में होती है।[1] परनारी विष के समान है जो देखने मात्र से हृदय को विष युक्त कर देती है।[2]

नामदेव कहते हैं कि घर की नारी को त्याग कर परनारी के साथ रमण करने वाले की स्थिति उस तोते जैसी होती है जो सेमल की रूई देखकर प्रसन्न होता है किन्तु मुंह मारने पर रूई उसके मुंह से लिपट जाती है और वह मर जाता है। भ्रम के कारण ऐसा व्यक्ति अमृत के स्थान पर विष ही पाता है। वैश्या के अखाड का आकर्षण तथा उसका शृंगार आदि गले की फांसी है।[3]

नारी : कबीर—कबीर की दृष्टि में नारी सहवास का त्याग, कामोपभोग या काम चेष्टा आदि का निवारण ब्रह्मचर्य है। व्यक्ति के उत्कर्ष मार्ग के षट् शत्रुओं में काम का स्थान सर्व प्रथम है। ब्रह्मचर्य व्रत पालन के लिये आस्वाद की साधना की जाती है। कबीर ने विविध प्रकार के तामसिक भोजन को हानिकारक तथा स्वादसुख को कामबासना की श्रेणी में ही रखा है। जिह्वा-आश्वादन एवं नारी संग साधक को त्याग देना चाहिए। अन्यथा शरीर की हानि होती है।[4] सभी प्रकार

---

1. नामे प्रीति नाराइण लागी। सहज सुभाइ भइओ वैरागी।
   जैसी पर पुरखा रत नारी। लोभी नरु धन का हितकारी।।
   कामी पुरख कामनी पिआरी। ऐसी नामे प्रीति मुरारी।।
   —आदि ग्रन्थ-पान 1164
2. जिउ बिखई हेरै परनारी। —वही 876

   तथा

   जैसे बिखै हेत पर नारी। —वही 874
3. घरकी नारि यिआगै अंधा। परनारी सिउ घालै धंधा।।
   जैसे सिंबलु देखि सूआ गिसानी। अंत की बार मुआ लपटाना।।
   पापी का अगन माहि। जलत रहै मिटवै कब नाहि।।
   भूलहु घरु भूला आवै जाइ। अमृतु हारि लादि बिखु खाइ।
   जिउ बेस्वा के परै अरवारा। कामरू पहिरि करहि सींगारा।
   पूरे ताल निहाले सास। वाके गले जाम का है फास।। —वही 1164
4. नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
   वगि छांड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग।
   —कबीर ग्रन्थावली अंग 20, सा० 9

की विषय वासना-ब्रह्मचर्य व्रत में बाधक है, इसीलिए कबीर उन सबका परित्याग चाहते हैं। धन लिप्सा, स्त्री-संग सभी विषय विष के प्रदाता हैं। इनके देखने मात्र से इनका कुप्रभाव मनुष्य के मन पर होता है, इनका उपभोग तो सर्वनाश करने के समान ही है।[1]

कबीर ने काम वासना को विष की केंचुली कहा है। केंचुली से नाग अन्धा हो जाता है, इसी प्रकार काम-वासना से मनुष्य भी अन्धा हो जाता है। इनमें फंस-कर मनुष्य कभी नहीं सन्मार्ग पर रहता है और यातनाएं भोगता है।[2]

पर-स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्धों को आधार बनाकर कबीर ने व्यभिचार की निन्दा की है। कबीर ने यह कार्य दो प्रकार से किया है। प्रथम तो साधारण मानव जीवन में इसी प्रकार के सम्बन्धों की निन्दा और द्वितीय "आत्मा" को नारी मान, उसका इस जगत् के भोग-विलास में लिप्त हो जाना भी व्यभिचार के अन्तर्गत किया है। उन्होंने साधारणतः इन सम्बन्धों के लिए नारी को दोषी ठहराया है। इसके लिए नारी की निन्दा की है, पुरुष-वर्ग पर विशेष आक्षेप नहीं किया। सम्भवतः यह नारी और माया को परस्पर सम्बद्ध करने के कारण हुआ है।[3] लहसुन किसी भी कोने में बैठकर खाया जाए उसकी गन्ध आ ही जाती है। पराई स्त्री का सम्बन्ध भी चाहे कितना ही सावधानी से किया जाए, प्रगट हो ही जाता है।[4] पर नारी प्रत्यक्ष छुरी के समान है, इससे मनुष्य को अपनी रक्षा करनी चाहिए।[5] हरि और सब अवगुण क्षमा कर देता है, व्यभिचार को क्षमा नहीं करता किन्तु मनुष्य तो अन्धा है जो सावधान नहीं होता।[6] पर नारी में अनुरक्त व्यक्ति कुछ दिवस चाहे आनन्द कर ले, अन्त में समूल नष्ट हो जाता है।[7]

---

1. एक कनक अरु कामनी विषफल की ए उपाए।
   देखैं ही थैं विष चढ़ें, खाए सूं मरि जाइ ॥ —वही अंग 20, सा० 12
2. विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नर।
   सिर फोड़ै सूझै नहीं, को अगिला अभाग ॥ —वही अंग 20, साखी 21
3. तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन—पृ० 79
4. परनारी कौ राचनौ, जस लहसुन को खांनि।
   कौन बैठे खाइए, परगट होइ निदांनि ॥ —क०ग्र०पृ० 231
5. परनारी परतखि छुरी, बिरला बांचै कोई। —वही पृ० 232
6. अन्धा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
   और गुनह हरि बकसि है कामी डाल न मूल ॥ —वही पृ० 233
7. पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढता खाहि।
   दिवस चारि सरसा रहे, अन्ति समूला जाहि ॥ —वही पृ० 234

यदि नारी अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ काम सम्बन्ध स्थापित करती है तो पति के आदर की अधिकारिणी कैसे हो सकती है ?[1] किसी अन्य के साथ व्यभिचार उसे पति की दृष्टि में हीन बना देगा, उसका आदर नष्ट हो जायेगा ।[2] पर नारी पर सुन्दरी, बिरला बंचे कोइ ।[3] पर नारी के राचणें, औगुण है गुण नांहि[4] के मूल में कबोर का यही संदेश है कि खातां मींठी खांठ सी, अति काल विष होइ । नरनारी सब नरक है, जब लग देह सकाम के आधार पर चलने वाले कबीर सामाजिक मर्यादा को भंग करने वाली इस प्रवृत्ति तो पूर्णतया अस्वीकृत करते हैं ।

नारी : रविदास—रविदास जी कहते है कि काम आदि जीव को लूटने वाले हैं ।[5] संत साईं काम भोग से दूर है ।[6] वह निरन्जन निराकार है ।[7]

नारी : दादूदयाल—दादू ने नारी के साथ-साथ पुरुष को भी काम का प्रतीक माना है । उनका विश्वास है कि पुरुष के लिए जिस प्रकार नारी काम रूप है उसी प्रकार नारी के लिए पुरुष काम रूप है ।[8] एक दूसरा, एक दूसरे के पतन का कारण है किन्तु दोनों के ही खाली रह जाते हैं ।[9]

---

1. नारि कहावै पीव की, रहे और संग सोइ ।
   जार मीत हृदया बसै, खसम खुसी क्यों होई ।। —वही पृ० 175
2. कबीर जे कोई सुंदरी, जांनि करै बिभिचारि ।
   तहि न कबहुं आदरै, परम पुरिख भरतार ।। —वही पृ० 177
3. कबीर ग्रन्थावली—पृ० 30
4. वही पृ० 31
5. काम क्रोध माइआ मद मतसर इग पंचहु मिलि लूटे ।।
   —संतगुरु रविदास वाणी—डा० वी०पी० शर्मा 74
6. सीत न उस्न बउ नहीं सखत, काम कुटिल नहीं होई ।
   जोग न भोग रोग नहीं जाकै, कहौ नांव सत साई ।। —वही पृ० 73
7. निरंजन निराकार निरलेपी, निरबीकार निरासी ।
   काम कुटिल ताही कहि गावत हर हर आवै हांसो ।। —वही पृ० 73
8. दादू नारी बैरिणी पुरिख की पुरखा बैरी नारि ।
   अंतकाल दून्यौ मुए दादू देखि विचार ।
   नारी पीवै पुरिख कूं पुरिख नारी कूं खाइ ।
   दादू गुरु ज्ञान बिना दून्यों गए विलाय ।।
   —दादू बानी संग्रह, भाग 2, पृ० 132
9. नारी पुरिष कूं ले गई पुरिष नारी साथ ।
   दादू दून्यूं पचि मुए, कछु न आया हाथ ।। —वही पृ० 35

दादू कहते हैं कि सुन्दरी और उसका प्रेमी आदि तेज पुंज होने के कारण बसंत हैं। सेज पर सोई हुई सुन्दरी सदा एक रस होती है। यदि पीव से खेल रचा जाते यो अन्य गोण हो जाता है।[1]

दादू के अनुसार काम ऐसा चोर है जो हृदय में प्रवेश कर शरीर रूपी घर में तोड़-फोड़ करता है तथा सोते हुए मनुष्य का सब कुछ ले जाता है।[2] जिस प्रकार लकड़ी में घुन और लोहे में जंग लग जाता है उसी प्रकार काम हृदय को निर्बल कर देता है।[3]

स्त्री निन्दा के सम्बन्ध में दादू कहते है कि स्त्री-पुरुष सभी परमेन्वर के परिवार से है। पुरुष बेटा, नारी माता हो जाते हैं।[4] पतिव्रता गृह में पति की सेवा तब तक करती है जब तक साईं पास होता है।[5]

---

1. तेजपुंज की सुन्दरी, तेजपुंज का कंत,
तेजपुंज की सेज परि, दादू बन्या बसंत,
खाई सुन्दरि सेज परि, सदा एक रस होई।
दादू खेले पीव सौ, ता सभि और न कोइ ॥ —संत साहित्य पृ० 50
2. दादू काम कठिन घटि चोर है, घर फौडै दिन रात।
सोवत साह न जागई, तत्त बसत ले जात। —दादूदयाल पृ० 34
3. औं धुन लागै काठ कौ, लोहे लागै काट।
काम किया घट जजरा, दादू बाहर बाट। —वही पृ० 35
4. जाणे बूझै जीव सब, स्त्रिया पुरुष का अंग।
आपा पर भूला नही, दादू कैसा संग ॥
माया के घट साजढै, त्रिया पुरुष घरिनांउ।
बहणाबीर सबदेषि ये, नारी अरु भर्तार।
परमेसुर के पेट के, दादू सब परिवार ॥
परघर परिहरि आपणी, सब एकै अणाहार।
पशु प्राणी समझै नहीं दादू मुग्ध गंवार ॥
पुरिष पलठिबेटा भया, नारी माता होइ।
दादू को समझ नहीं, बड़ा अचंभा मोहि।
माता नारी पुरिष की, पुरिषनारि का पूत।
दादू ज्ञान विचारि करि, छांडि गये अवधूत ॥
—दादूदयाल की बानी 1, पृ० 120
5. बाबा-बाबा कहि गिलै, भाई कहिकहि खाइ।
पूत-पूत कहिपी गई, पुरिषा जिन पति याइ ॥ „ पृ० 124

(शेष पृ० 472 पर)

नारी : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी के अनुसार वास्तविक वंदना वही है, जो वासना रहित है। अतः वे आशा करते हैं कि उन की मति वासना से सदा दूर है।[1]

नारी : मलूकदास—मलूकदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नारी को नहीं देखना चाहिये क्यों कि ये नैनों की चोट से घायल करने वाली है। कोई एक हरिजन ही इस से मुक्त होकर परब्रह्म को पा सकता है।[2] मलूकदास ने नारी को अमल की छोंटी कहा है और उनके अनुसार सारा संसार अमली है। ऐसा कोई भी संत नहीं जो नारी के संग पार उतरा हो।[3] मलूक का कहना है कि काम राम से मिलाने वाला भी है।[4]

नारी : नानक—गुरु नानक ने नारी का प्रयोग जीवात्मा के प्रसंग में किया है। उन्होंने अपने निरंजन, निराकार की सहज एवं सुबोध अभिव्यक्ति के लिये दाम्पत्य-मलूक सम्बन्धों की सगुणात्मकता का आश्रय लिया है। इसके कारण उनका दर्शन सहज और रूचिकर हो गया है। बारहमासा में वर्णित सुहागिन नारी जीवात्मा का प्रतीक है और प्रीतम निर्गुण प्रभुकार विरह की तड़प, प्रेम-मिलन की उत्कण्ठा, विवाह, ससुराल गमन, साज शृंगार, सम्भोग आदि के प्रसंगों में वर्णित नारी उक्त रूप में ही प्रयुक्त हुई है।

नानक एक स्थान पर कहते हैं—उस प्रिय भगवान ने जीवात्मा रूपी प्रिया को अपने पास अपनी सेज पर ला धरी (अपने में लीन कर ली) इस प्रकार वह सारे

(पृ० 471 का शेष)

आज्ञा मांहें बेसे ऊबै, आज्ञा आवै जाइ।
आज्ञा माहि लेवै देवै, आज्ञा पहिरै खाइ॥ ,, पृ० 88
पतिहुता गृह आपणे करै खसम की सेव।
ज्यों राखै त्यों हीं रहै, आज्ञाकारी टेव। ,, पृ० 88
नारी सेवग तब लगैं, जब लग साईं पास।
दादू परसै आन कौं ताकी कैसी आस। ,, पृ० 89

1. वासना न कोऊ वाकी ऐसीमति सदा जाकी।
सुन्दर कहत ताहि वंदना हमारी है॥ —संतसुधासार-पृ० 627
2. नारी नाहि निहारिये, करै नैन की चोट।
कोई एक हरिजन ऊबरे, पारब्रह्म की ओट॥—मलूकदास की बानी-पृ० 35
3. नारी छोंटि अमल की, अमली सब संसार।
कोइ ऐसा सूफी ना मिला, जो संग उतरे पार॥—वही पृ० 35
4. काम मिलावे राम को जौ राखै यह जीव।—वही पृ० 40

बन्धनों से छूट गई। जीवात्मा का कहना है कि मेरा खसम बड़ा आनन्द विनोदी है। उसने मेरे हृदय रूपी मन्दिर में शब्द प्रकट किया। मैंने अपने प्रिय को अपने मस्तिष्क पर धारण कर लिया। जब से मैंने उसे प्राप्त कर लिया तब मेरा सौभाग्य स्थिर या अचल हो गया।[1]

नानक कहते है—जिस भांति कोई विधवा काम और धन के लिये अपना शरीर दुसरे को सौंप देती है किन्तु अपने पति के बिना वह कभी तृप्ति नही होती, उसी भांति मनमुख मायिक आकर्षणों में अपना चित्त वशीभूत कर देते हैं, किन्तु बिना परमात्मा के उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती।[2]

गुरुनानक की वाणी में प्रयुक्त नारी माया का भी प्रतीक है। उनके अनुसार नारी तथा कंचन के मोह से बचना कठिन है।[3] एक स्थान पर नानक ने माया को सास के रूप में भी चित्रित किया है।

मौन : महावीर

महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मनुष्य को बहुत नही बोलना चाहिये।[4] अर्थात आवश्यकता से अधिक नहीं बोलना चाहिये।[5] उन्होंने यह भी कहा है कि बिना बुलाए बीच में कुछ भी नहीं बोलना चाहिए।[6] जो मनुष्य विचार-पुरस्सर बोलता है, वही वास्तव में सच्चा निर्ग्रन्थ है।[7] क्रोध में मनुष्य बहुत बोलने लगता है।[8] अतः महावीर का उपदेश है कि मनुष्य सदा शान्त होकर ही वाचाल होने से

---

1. निकटि आनि प्रिअ सेजिधरी। काणि कढ़न ते छूटि परी।
   भंदरि मेरे सबद उजारा। अनद बिनोदी खसमु हमारा।
   भसतकि भाग मैं पिरू घिर आइआ। चिरू सोहागु नानक जन पाइआ।
   —आसा म० 5, पृ० 384
2. जिउ तनु बिधवा पर कउ देई। कामि दामि चितु पर वसि सेई।
   बिनु पर तृपति न कबहूं होई (6)—नानकवाणी 231
3. कंचनु नारी मपि जीउ लुभतु है, मोहु मीठा माइआ।
   —श्री गुरुग्रंथ साहिब, पृ० 167
4. बहुयं मा य आवले।—उत्त० 1/10
5. नाइवेलं वएज्जा—सूत्र० 1/14/25
6. (अ) नाऽपुट्ठो वागरे विंचि। उत्त० 1/4
   (ब) अपुच्छिओ न भासेज्जा—दश० 8/47
7. अणुवीइभासी से निग्गंथे।—आचा० 2/3/15/2
8. मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
   कालेण य अहिज्जित्ता, तओझाएज्जा।—उ० 1, 10

बच सकता है। ज्ञानी पुरुषों के समीप रहकर, अर्थयुक्त आत्मार्थ साधक पदों को सीखना तथा निरर्थक बातों को छोड़ देना चाहिए।[1] महावीर के अनुसार मित और दोषरहित, सोच-समझ कर बोलने को सत्पुरुषों में प्रशंसा प्राप्त होती है।[2] महावीर ने तो यहां तक कहा है कि यदि कोई पाप भी कर रहा हो तो भी मौन रहने में हानि नहीं।[3]

मौन : नामदेव—नामदेव कहते हैं कि कोई तो उस भगवान को समीप बताते हैं तो कोई दूर बताते हैं, किन्तु जल की मछली (जीवात्मा) यदि साधना करे तो वह खजूर तक चढ़ सकती है। अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर सकती है। यह तू क्या बकबास करता है, क्योंकि जिन्होने हरि को लिया है वे अपने आपको छिपाये रखते हैं (अपनी सिद्धि का डंका नही पीटते)। पंडित होकर लोग वेद का वर्णन करते हैं लेकिन नामदेव तो केवल राम को जानता है।[4]

मौन : (वाणी) कबीर—कबीर के अनुसार सज्जन व्यक्ति को कटु वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिच।[5] मनुष्य की वाणी उसके आन्तरिक भावों की द्योतक है। अतः सज्जन व्यक्ति की वाणी सदा मधुर और शुभ होगी। कटु वचनों का प्रयोग कठोर और असज्जन व्यक्ति ही करेगा। वाणी के आधार पर ही तो साधु और चोर का अन्तर ज्ञात हो जाता है।[6]

कबीर जानते हैं कि "बोलत बोलत तत नसाई", अतः वे कहते है "बोलनां का कहिये रे भाई।" अधिक बोलने से विकार बढ़ते हैं, "आधा घट" अधिक बोलना

---

1. निसंते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अंतिए सगा।
   अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा, निरट्ठाणि उवज्जए॥—उ० 1, 8
2. मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए।
   समाण मज्झे लहई पसंसणं॥—द० 7, 55 ग, घ०
3. जइ परो पडिसेवेज्ज पावियं पडिसेवणं।
   तुज्झ मोणं करेंतस्स के अट्ठे परिहायत्ति?—इति० 35· 15
4. कोई बोलै नीयश कोई बोलै दूरी। चल की मछली चरै खजूरी॥
   कांइ रे बक-वादु लाइउ। जिन हरि पाइउ तिनहि छिपाइउ॥
   पंडित होइ कै बेदु बखानै। मूरख नामदेउ रामहि जानै॥
   —संत नामदेव की हिन्दी पदावली—पृ० 102
5. साधु भया तौ क्या भया, बोलै नांहि विचारि।
   हतै पराई आतमां, जीभ बाँधि तरवारि। —क० ग्र० पृ० 187
6. बोलत ही पहिचानिए, साहु चौर का घाट।
   अन्तर घट की करणीं, निकसै मुख की बाट। —वही पृ० 187

है। मितभाषण का एक अन्य कारण यह भी है कि संत कम हैं और संत मिलैं, कछु कहिए कहिए तथा मिलै असंगत मुष्टि कर रहिये।" उनके अनुसार ज्ञानी व्यक्ति से वार्तालाप हितप्रद एवं अन्य आनन्द दायक है, पर "मूरिख सूं बोल्यो झष भारी।[1] लोकप्रसिद्ध उक्ति "अधजल गगरी छलकत जाए" को आधार बनाकर कबीर कहते है—कहै कबीर आधा घट डोलै, मरया हाइ तौ मुषा न बोलै।[2] कायर व्यक्ति ही बहुत अधिक बोलता है, शूरवीर कभी बहकता नहीं, वास्तविकता का ज्ञान तो अवसर आने पर होता है।[3] व्यक्ति का मल्यांकन तो उसके कर्मों से होता है, उसके कथनों से नहीं।[4]

मौन : रविदास—गुरु और चेला दोनों ही बोल-बोलकर उसे पाना चाहते हैं। किन्तु रविदास जी कहते हैं कि परमनिधि की प्राप्ति केवल व्यर्थ बोलने से होने वाली नहीं है वह तो मग्न हो जाने पर ही हो सकती है।[5] समझ न होने के कारण वे भी सामान्य जन के समान बोलते रहते हैं और बोलते-बोलते हुए ही मृत्यु हो जाती है, सब समाप्त हो जाता है।[9] मनुष्य बोल-बोलकर अपने ज्ञान, मान का बखान करता है, वेदों की बढ़ाई करता है। किन्तु जब मौन होकर, उसे मन में धारण करता है तब भूल का पता चलता है।[7] रविदास जी कहते हैं कि बोल-बोल कर हे मनुष्य तू अपनी भक्ति को प्रकट करता है, किन्तु वास्तव में अपने कष्ट ही बढ़ाता है अतः मौन रहकर भक्ति कर। मौन क्रोध पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।[7]

1. कबीर ग्रन्थावली—पृ० 85
2. वही 1
3. कायर बहुत पमावहीं, बहकि न बोलैं सूर।
   काम परे ही जांनिए, किसके मुख पर नूर॥ —वही पृ० 181
4. कथनीं कथी तौ क्या भया जो करनी नां ठहराय। —वही पृ० 241
5. बोलैं गुरु अरु बोलै चेला बोल-बोल परितित आई।
   कहत रैदास मनन भयो जब ही तब ही परमनिधि पाई॥
   —रैदास जी की बानी—पृ० 12
6. बोलि-बोलि औरहि सम झावो तब लगि समझ न आई।
   बोलि-बोलि जब बूझीकाल सहित सब खाई॥ —वही पृ० 11
7. बोले ज्ञान मान परि बौलैं-बोलैं बेद बढ़ाई।
   उर में धरी-धरी जब ही बोलैं तब हो भूल गंवाई॥
   —रैदास की बानी—पृ० 11
8. तेरा जन काहे को बोलै।
   बोलि-बोलि अपनी भगति को खोलें॥

(शेष पृ० 516 पर)

मौन : दादूदयाल—दादू के अनुसार वह मन में ही समाया हुआ है। मन की समझ से ही उसे समझा जा सकता है। अतः उसे मन में ही रखना चाहिए। बाहर जिभ्या से प्रकट नहीं करना चाहिए।[1] मौन धारण करने वाला जुग-जुग जीता है। झरने सा बोलने वाला मर-मर जाता है।[2]

मौन : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी लोक व्यवहार की दृष्टि से कहते हैं कि तभी बोलना उचित है, जब विषय का ज्ञान हो। यदि ज्ञान न हो तो मौन ही रहना चाहिए। काव्य के तत्वों तथा गायन योग्य कंठ होने पर ही काव्य रचना एवं गाना चाहिए। ऐसी कविता नहीं करनी चाहिए, जिसका प्रभाव मन पर न हो तथा जो तुक एवं छन्द रहित हो तथा भाव भी उदात्त न हो।[3]

सुन्दरदास जी ने वचन के तीन भेद बताए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। एक वचन सुनकर बहुत सुख होता है, लगता है मुख से फूल झर रहे हों। एक वचन ऐसे होते हैं जिन्हें सुनकर लगता है असि बरस रही हों और कानों को अप्रिय लगते हैं। एक के वचन कटु और विष रूप होते हैं, जो मरम पर आघात पहुंचा कर दुःख

(पृ० 515 का शेष)

बोलत-बोलत बढै बियाधी बोल अबोलै जाई।
बोलं बोल अबोल कोप करै बोल बोल को खाई ॥ —वही पृ० 11

1. दादू मन हीं माहैं समझि करि, मन ही माहिं समाइ।
मन ही माहै राखिए, बाहरि कहि न जनाइ ॥
—संतबानी संग्रह, भाग-1, पृ० 85

2. जरणा जोगी जुगि जुगि जीवै, झरना मारि मरि जाइ।
दादू जोगी गुरमुखी, सहजैं रहै समाई ॥ —वही पृ० 85

3. बोलिये तौ तब जब, बोलिबे की सुधि होइ।
न तौ मुख मौन गहि, चुप होइ रहिये ॥
जोरिये तौ तब जब, जोरिबे की जानि परै।
तुक छंद अरथ, अनूप जा में लहिये ॥
गाइये तौ तब जब, गाइबे को कंठ होइ।
स्रवण के सुनत ही, मन जाइ गहिये ॥
तुक-भंग छंद-भंग, अरथ मिलै न कछु।
सुन्दर कहत, ऐसी वाणी नहीं कहिये ॥
—संतबानी भाग 2, पृ० 101

देते हैं।[1]

सुन्दरदास जी कहते हैं कि बहुत से लोग पशु के समान बोलते हैं। उन्हें बोलने का ढंग ही नहीं आता। बहुत से ऐसे हैं जो कूंवे के मेंढक के समान रात-दिन टर-टर करते रहते हैं। इस प्रकार संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार से लोग बोलते हैं। वास्तव में बोलना तो वही है, जो विवेक से बोला जाये।[2] गधा और उल्लू आदि जब बोलते हैं तो किसी को भी उनके वचन नहीं सुहाते। किन्तु कोयल, सारिका तथा तोता जब बोलते हैं तो सभी ध्यान से उनकी वाणी सुनते हैं। अतः विवेक के साथ सुन्दर वचन ही बोलने चाहिये। यदि इस प्रकार नहीं बोल सकते तो मौन रह जाना श्रेष्ठकर है।[3]

---

1. एकनि के बचन सुनत, अति सुख होइ।
   फूल से झरते हैं, अधिक भनभावने ॥
   एकनि के बचन तौ, असि मानौ बरसत।
   स्रवन के सुनत, लगत अलखावने ॥
   एकनि के बचन, कुरक कहु बिश रूप।
   करम मरम छेया दुक्ख उपजावने ॥
   सुन्दर कहत घट-घट में बचन भेद।
   उत्तम मध्यम अस, अधम सुहावने ॥
   —संतबानी भाग 1, पृ० 100-101
2. और तो बचन ऐसे, बोलत हैं पसुं जैसे।
   तिन के तौ बोलिबै में, ढंगहूं न एक है ॥
   कोऊ रात दिवस, बकतही रहत ऐसे।
   जैसी बिधि कूप में, बकत मानो भेक है ॥
   बिबिध प्रकार करि, बोलत जगत सब।
   घर घर प्रतिमूरव, बचन अनेक हैं ॥
   सुन्दर कहत ता तें, बचन बिचारि लेहु।
   बचन तो वहै जा में, पाइये विवेक है ॥ —वही पृ० 100
3. काम अरु रास भ, उलूक जब बोलत हैं।
   तिन के तौ बचन सुहात कहु कौन कूं।
   कोकिला ससारी पुनि, सूवा जब बोलत हैं।
   सब कोउ कान दे, सुनत ख रौन कूं।
   ताहि में सुबचन, बिबेक करि घोलिये जू।

(शेष पृ० 518 पर)

आध्यात्मिक रूप में मौन के सम्बन्ध में सुन्दरदास जी कहते हैं कि जोगी, जैन, ऋषि, संन्यासी, वनवासी, उदासि आदि सभी उसको समझाते-समझाते थक गये, किन्तु कोई भी सम्पूर्ण रूप से उसे नहीं समझा सका किन्तु उसने मौन रहकर उसे पा लिया, उसके मुख से तो शब्द ही नहीं निकलते।[1] बहुत से उसे लेकर वाद-विवाद करते हैं और कुछ मौन रह जाते हैं। किन्तु अज्ञान के समाप्त हुए बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती।[2] जिस प्रकार तनमूरी खाने पर मुख से शब्द नहीं निकलते, उसी प्रकार मनुष्य की गति है।[3]

मौन : मलूकदास—लौकिक दृष्टि से मलूकदास कहते हैं कि अज्ञानी से वाद-विवाद नहीं करना चाहिये और त्याग देना चाहिये। अज्ञानी से हार स्वीकार करने में कोई हानि नहीं। व्यर्थ बोलने वाला तो स्वयं ही मारा जाता है।[4] मौन का महत्व बहुत कम जानते हैं।[5]

आध्यात्मिक पक्ष में मौन का महत्व बताते हुए मलूकदास कहते है कि

(पृ० 517 का शेष)

घूंटि आकषाक ब कि, तोरिये न पौन कूं।
सुंदर समुझि ऐसे, बचन उचार करौ।
नारै तो समुझि करि, बैंठो गहि भौम कूं। —संतबानी भाग 2, पृ० 67

1. जोगि थके कहि जैन थके ऋषि तापस थाकि रहे फल खावे।
सन्यास थके बनवासि थके जु उनासि थके बहुत फेर फिराते ॥
संखहु सालिक और हु लाइक थाकि रहैं मन मे मुसकति।
सुंदर मौन गही सिध साधन कौन कहै उसकी मुख बाते।
—सुन्दर विलास पृ० 155

2. कोउक बाद बिबाद करैं अति कोउक धरि रहै मुख मौना।
सुंदर एक अज्ञान गये बिन, सिद्ध भये नहिं दीसत कौना ॥ (12)
—वही पृ० 70

3. ज्यों ठगमूरी खाइ कै मुखति न बोलै बैं।
टुगर-2 देख्या करै सुन्दर बिरहा ऐन ॥ —संतबानी, भाग 1, पृ० 103

4. मलूक बाद न कीजिये, क्रोधैं देव बहाय।
हार मानु अनजान तें, बक बक गरै बलाय ॥
—मलूकदास की बानी पृ० 34

5. मानुष बैठो चुप करे कदर न जानैं कोय ॥
जबहीं मुख खोलै काली प्रगट बास तब होय।
—संतबानी संग्रह, भाग 1, पृ० 100

वास्तविक स्मरण वही है, जिसमें बोद्ध मौन रहते हैं।[1] हाथ में माला और मुख में जिव्हाह नहीं चलती।[2]

मौन : नानक—गुरु नानक कहते हैं कि बोलने से प्रतिष्ठा प्राप्त हो वही बोलना ठीक है। हे मूर्ख अज्ञानी मन सुनो—फीका बोलने से सिवाय विनाश के और प्राप्त नहीं होती।[3]

अस्तेय (चौर्यकर्म न करना) : महावीर

महावीर के अनुसार पर धन में वृद्धि का मूल हेतु लोभ है और यही चौर्य कर्म[4] अर्थात् अस्तेय है। जो व्यक्ति अस्तेय में निष्ठा रखता है वह बिना किसी अनुमति के कोई वस्तु नहीं लेता यहां तक कि दांत कुरेदने के लिये एक तिनका भी ग्रहण नहीं करता।[5] अतः महावीर का कहना है कि किसी भी चीज को आज्ञा लेकर ही ग्रहण करना चाहिये।[6]

दूसरों का धन हरण करने वाला मनुष्य निर्दय एवं परभव की उपेक्षा करने वाला होता है।[7] वह रूप में अतृप्त होता है उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है, इसलिए उसे सन्तोष नहीं होता। असन्तोष के कारण वह दूसरों की सुन्दर वस्तुओं का लोभी होकर उन्हें चुरा लेता है।[8] लोभ बढ़ जाने पर मनुष्य कार्याकार्य पर विचार ही नहीं कर पाता उसे अपनी मृत्यु की भी चिन्ता नहीं रहती और वह चोरी करने लगते है।[9] अन्य अपराध करने वालों को तो लोग अपने घरों में आश्रय दे भी

---

1. सुमिरन ऐसा कीजिए दूजा लखैं न कोय।
   ओठ न फरकत देखिये प्रेय सिखाय गोंय। —वही पृ० 95
2. माला जापों न कर जापों जिभ्या कहों न राम।
   सुमिरन मेरा हरिकरौ मैं पाया बिसराम ॥ —वही पृ० 95
3. जिन बोलि पति पाइयै सो बोल्या परवाण।
   फिक्का बोल विगुचणा सुमि मूरख मन अजाण।
   —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 80
4. परसंतिगऽभेज्जलोभमूलं—प्रश्न० 1/39
5. दन्तसोहणमाइस्स अनत्तस्स विवज्जणं—उत्त० 19/28
6. अणुन्नविय गेण्हियव्वं। —प्रश्न० 3/9
7. परदव्वहारा नरा निरणुकंपा निरवेक्खा। —प्रश्न० 1/3
8. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेह तुट्ठि।
   अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ —उत्त० 32/29
9. लोभे य वढिटये सुण कज्जाकज्जं णरोण चितेदि।
   तो अप्पणे बि मरणं अगंणितो चोरियं कुणइ ॥ —भग०आ० 857

देते हैं किन्तु चोरी करने वाले को तो उसकी अपनी मां भी आश्रत नहीं देती।[1]

जो मनुष्य असंविभागी, असंग्रहरुति तथा अप्रमाणभोगी हैं, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना कर ही नहीं सकता।[2] मृषावाद के पहले और पीछे तथा मृषावाद करते समय मनुष्य तुरन्त दुष्ट कर्म करता है और दुःखी होता है। उसकी चोरी तथा शब्दादि में प्रवृत अतृप्त आत्मा दुःख को प्राप्त होती है। उसकी कोई सहायता नहीं करता।[3]

महावीर का कहना है कि मनुष्य न तो स्वयं चोरी करे, न चोरी के लिये दूसरों को उत्प्रेरित करे तथा न ही चोरी करने वाले का अनुमोदन करे।[4]

चोरी : नामदेव—नामदेव कहते हैं कि मुख में परमेश्वर का नाम और हाथ से ताली बजाते हैं, पर दया कभी भी मन में न आयी। ऐसे गाने का क्या लाभ? ऐसे शर्मिंदा करने वाले झूठे आचरण को धिक्कार है। खुद को हरि का दास कहते हैं, सिर बार-बार हिलाते रहते हैं, पर एक कौड़ी के लिये दूसरों के प्राण ले लेते हैं। लोगों के बाल पकड़ कर गले काटते हैं और हरिदास के पैरों में पड़ते हैं। नामदेव के अनुसार ये सब चोर हैं।[5] इस संसार में मछली मार पक्षी मछली का हरण करता है और सुनार सोने का गहना बनाते हुए सोना चुरा लेता है।[6]

---

1. अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णियये धरम्मि आवासं।
   माया विय ओगासंण देइ चोरिक्क सीलस्स ॥ —वही 164
2. असंविभागी, असंगहरूई···अप्पमाणभाई···
   से तारिसए नाराहए वयमिणं। —प्रश्न॰ 2/3
3. मोसस्सं पच्छा य पुरत्थयो य पओगकाले य दुही दुरते।
   एवं अदत्ताणि समाययंतोसद्दे अतितो दुहिओ अणिस्सो ॥ —32 : 44
4. चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वाजइ वा वहुं।
   दन्त सोहणामित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥
   तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
   अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नरणुं जाणंति संजया ॥ —दश॰ 6/13/14
5. मुखी नाम होतीं टाली। दया नुपजे कोणें काली ॥
   काय करावें ते गाणें। धिक् धिक् तें लाजखाणें ॥
   हरिदास म्हणोनी हलवी मान। कबडी साठीं घेतो प्राण ॥
   हरिदासाचे पायीं लोले। केयीं घरोनीं कापी मले ॥
   नामा म्हणे अवघे चोर। हरिनाम हें थोर ॥ —श्री नामदेव गाथा—1804
6. जिउ मीना हेरै पसू आरा।
   सोना बढते हिरे सुनारा ॥ —आदि ग्रन्थ-पान 873

चोरी : कबीर—कबीर ने पंच विकारों को चोर माना है। जिस प्रकार लौकिक जगत् की सम्पत्ति को चोर चुराया करते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मि जगत् के सुकर्मों में ये चोर-काम, क्रोध, मद, लोभ एवं मोह-बाधा पहुंचाते रहते हैं। सुकर्मों के अभाव में व्यक्ति आध्यात्मिक जगत् के आनन्द से वंचित हो जाता है, अतएव साधक इन चोरों से सतर्क रहते हैं।[1]

कबीर कहते हैं कि जो वस्तु अपनी नहीं है, जिस पर दूसरे का अधिकार है बिना उसकी अनुमति से लेना चोरी है। चोरी-धन, वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों की नहीं, विचारों की भी नहीं होनी चाहिए। जीवन में अस्तेय धर्म का पालन करना उत्तम है। क्योंकि सभी पदार्थ विश्व नियन्ता के द्वारा सभी प्राणियों की आवश्यकता के अनुसार उनके अलग-अलग भाग में अनुपात से निर्धारित किये गए हैं। सबको अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार उनका उपभोग करना चाहिए। जिसके लिए जितना निर्धारित है उसे उसी के अनुपात से मिलता है।[2] जो चोरी का धन इकट्ठा करके खाता है वह केवल कुछ दिनों तक ही प्रसन्न और सुख से रहता है फिर अन्त में उसका समूल नाश हो जाता है।[3] अस्तेय धर्म का पालन करते हुए, कबीर तो अपने अभाव की कोई चिन्ता ही नहीं करते। ईश्वर के सामर्थ्य पर विश्वास रखते हैं, वही उनकी आवश्यकताओं का भी प्रबन्ध करता है।[4]

चोरी : रविदास—रविदास जी ने "चोर" शब्द का प्रयोग चित्त चोर के प्रसंग में किया है।[5]

चोरी : दादूदयाल—दादू ने अपने आपको सबसे बड़ा चोर स्वीकार किया

1. कबीर एक नव्य बोध—बैजनाथ प्रसाद शुक्ल—पृ० 149
2. जाको जेता निरमया, ताकों तेता होई।
   रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जो सिर फूटे वोई॥
   —कबीर ग्रन्थावली, अंग 35, सा० 8
3. परनारी रासा फिरै, चोरी बिढता खांही।
   दिवस चारि सहसा रहै अंहि समूला जांहि॥
   —कबीर ग्रन्थावली, अंग 20, साखी—4
4. च्यन्ता न करि अच्यन्त रहु, खाई है सम्रथ—वही अंग 35, साखी—9
5. षड ब्रह्मण्ड लोक सब जीते येहि बिधि तेज जनावै।
   सब ही का चित चोर लिया है वा के पीछे लागे धावै॥
   —रैदास जी की बानी—पृ० 17

है। वे कहते हैं कि मैं सांई का चोर हूं, मुझसे गन्दा कोई नहीं है।[1] दादू कहते हैं कि जो मनुष्य जागृत हैं उसके घर में चोरी नहीं होती। जो अज्ञान की नींद में सो जाते हैं, उनके घर में चोर प्रवेश कर जाते हैं। सभी पहरे भी व्यर्थ हो जाते हैं। चोरी हो जाने के बाद जगाने से क्या लाभ? रात्री बीत जाने के बाद पुनः नहीं आयेगी। पहरे से श्रेष्ठ तो स्वयं जागना है, स्वयं जागने से किसी वस्तु की चोरी नहीं होगी। दादू कहते हैं कि जो भी प्रयत्न करता है, तुरन्त कर ले अन्यथा पछताना पड़ेगा।[2]

चोरी : सुन्दरदास—सुन्दरदास ने मन का चोर कहा है।[3] जब इस मन पर कुबद्धि का प्रभाव पड़ जाता है तो तनुष्य अपने प्रभु से भी मन चुराने लगता है।[4] सुन्दरदास ने सांसारिक चोरी का कारण पेट बताया है। वे कहते हैं कि संसार में

---

1. सांई-सेवा चोर मैं, अपराधी बन्दा।
दादू दूजा को नहीं, मुझ सरीखा गन्दा॥
तिल-तिल का अपराधी तेरा, रती, रती का चोर।
पल-पल का मैं गुनही तेरा, बखसहु औगुन मेरा॥
—श्री दादू महिमा—पृ० 248

2. जागत कौं कदे न मूसै कोई।
जागत जानि जतन करि राखै, चोर न लागू होई॥
सोवत साह बस्तु नहिं पावै, चोर मुसे घर घेरा।
असि पासि पहरो कोउ नाहीं, बस्तैं कीन्ह निबेरा॥
वीछे कहु क्या जागे होई। बस्तु हाथ थैं जाई॥
बीती रैनि बहुरि नहिं आवै, तब क्या करिहै भाई॥
पहलै हीं पहरें जे जागै, बस्तु कछू नहिं छीजै।
दादू जुगति जानि करि ऐसी, करना है सो कीजै॥
—संतबानी संग्रह-भाग 2, पृ० 37

3. चोर कहूं बटयार कहूं ठग जार कहूं उपमा कहूं कैसी।
सुन्दर और कहा कहियें अब, या मन की गति दीसत ऐसी॥
—सुन्दर विलास—पृ० 53

4. कौन कुबुद्धि भई घट अन्तर,
तू अपने प्रभु सूं मन चोरै॥ —वही पृ० 15

मनुष्य पेट भरने के लिए क्या कुछ नहीं करता। कुछ लोग कृषि आदि करके पेट भरते हैं तो कुछ लोग इसके लिए चोरी तक करते हैं।[1]

चोरी : मलूकदास—मलूकदास जी पुकार-पुकार कर कहते है कि हम ही चोर हैं और हम ही बटयार हैं।[2] पांच सौ पच्चीस चोर शरीर रूपी दुकान को लूट रहे हैं किन्तु पुकार सुनने वाला कोई नहीं। हाकिम भी हैरान है।[2] इस संसार में साधु भी चोरी के काम करते हुए घूमते हैं।[3] मलूकदास जी कहते हैं कि जब अज्ञान का अंधेरा छाता है तो चोर घर में थक जत हैऔर जब मन्दिर में ज्ञान का दीपक प्रज्जवलित होता है तो वही चोर घर मोर हो जा है।[4]

चोरी : नानक—नानक ने सांसारिक चोरी के सम्बन्ध में कहा है कि मनुष्य हाट, नगर और पक्के महलों में सेंध लगाता है और चोरी करके अपने घर की ओर चल देता है। चलते हुए कभी आगे देखता है तो कभी पीछे। वह भयभीत रहता है कि कोई उसे देख तो नहीं रहा है? किन्तु सर्वद्रष्टा से वह कभी छिप सकता है।[5]

---

1. चोरि करै बटयारि करै,
   तिरषी बनिजी कर्रि पेट भरै है ॥ —वही पृ० 17
2. हम हीं चोर हम हीं बटयार।
   हम ऊंचे चढि करैं सुकार ॥ —मलूकदास की वाणी पृ० 21
3. पांच सौ पचीस चौर, लूटि हैं दुकनियां।
   सुनहि न गोहार कोउ, हाकिम हैरनियां ॥
   —मलूकदास की वाणी—पृ० 23
4. माया के गुलाम, गीदीक्या जनें बंदगी।
   साधुन से धूम धाम, करत चोरन के काम।
   द्विजन को पूजा देयं, गरीबन से रिन्दगी ॥
5. जो लागी थी अंधियारा घर मूस थके चोर।
   जब मंदित दीपक बरचो वही चोर घर मोर ॥
   —संतबानी संग्रह-भाग 1, पृ० 98
6. हट पटण बिज मंदर मंर्ण करि चोरी घरि आवै।
   अगहु देखै पिछहु देखै तुझ ते कहा छुपावे ॥
   —नानक वाणी—पृ० 214

गुरु नानक ने कड़ा विरोध किया है कि यदि किसी ने अधिक मेहनत से अधिक कमाया है तो उसे छीन लिया जाये। उनकी दृष्टि में परायी वस्तु हिन्दु के लिये गौ मांस और मुसलमान के लिये सूअर के मांस के समान है।[1]

गुरु नानक कहते हैं कि हे काया, तू स्वप्न में रह जायेगी जरा सोचो तुमने इस संसार में क्या कमाया है? मैंने चोरी करके जो कुछ पाया, वह मन को अच्छा लगा। किन्तु दुष्कर्मों से कहीं भी शरण नहीं मिलती। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ हो जाता है।[2]

आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु नानक ने रात्रि के चार पहरों की समता मनुष्य की आयु के चार भागों से की है। जिस प्रकार निन्द्रा में बेहोश व्यक्ति के घर में चोर बैठकर, उसका सारा सामान चुरा लेता है है। उसी प्रकार हरि स्मरण विहीन प्राणी के हृदय में कामादिक चोर प्रज्जवलित होकर उसके समस्त गुणों को चुरा लेते हैं। अत: गुरु नानक ने उनसे सदैव सचेष्ट रहने को कहा है।[3]

गुरु नानक के अनुसार हमारे भीतर पांच कामादिक चोर गुप्त रूप से बसे हुए हैं। ये चोर स्थिर नहीं रहते, ये सदैव विरक्त पुरुष की भाँति भ्रमण करते रहते हैं।[4] घर रूपी शरीर में परमात्मा अमृत रक्खा हुआ है, जिसे कामादिक चोर चुरा रहे हैं। कोई उन्हें रोकता नहीं। जो इसकी रक्षा करता है उसे परमात्मा बड़ाई

---

1. हक पराया नानक उस सूअर उस गाय।
—गुरु नानक व्यक्ति और विचार—पृ० 25

2. तूं काइआ रही अहि सुपनंतरि तुधुं किया करम कमाइआ।
करि चोरी मैं जा किछु लीआ ता मनि भला भाइआ॥
हलातं न सोभा पलति न ढोई अहिला जनमु गवाइआ॥
—नानक वाणी—210

3. नानक वाणी—पृ० 681-682

4. भीतर पंच गुपत मानि वासी पिरु न रहा हि जैसे भवहि उदासे।
मनु मेरा दइआल सेती थिरु न रहै॥
—नानक वाणी—पृ० 272

देता है ।[1]

गुरु नानक कहते हैं कि गुरु के वचनों को कोई चोर चुरा नहीं सकता ।[2] नानक के अनुसार सभी पाखंडी चोर हैं ।[3]

क्षमा : महावीर

क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण के प्रत्यक्ष में होने पर भी जरा भी क्रोध नहीं करना, इसका नाम क्षमा है । महावीर वाणी में क्षमा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है । यह दस लक्षण धर्मों में से एक है । महावीर ने कहा है कि क्षमा भाव में परिणत आत्मा स्वयं अपनी शरण होती है ।[4] महावीर के अनुसार क्षमा से यश,[5] जीवों पर विजय[6] तथा आत्मा में अपूर्व हर्षानुभूति प्रकट होती है ।[7] महावीर कहते हैं मैं आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, धार्मिक बन्धु, कुल सदस्यों[8] तथा समस्त धार्मिक जीवों के प्रति क्षमा प्रार्थी हूं । मेरा कोई विरोधी नहीं ।[9]

---

1. घर महि अंमृतु तसकरू लेई ।
   नैनाकारू न कोइ काई ।।
   राखै आपि वडि आई देई ।।—वही—पृ० 219
2. गुर के बचन बसैं जीव नाले, जलि नहिं डूबे तसकरि नहिं लेवें ।
   इहि बोकि पर लोकि संगि सषा है, जित तित मोहि रषवाले ।।
   —गुरुनानक वाणी (गु० क्र० सा० के0 अ०) पृ० 38
3. न्हव्ण चले त्रैंजणे, दिल षोटे मन चोर ।
   बाहरि धूनि तूंबडी, अंदरि बिसनि कोर ।
   त्रेह जा लगी न्हांदियां, दसन लगी होर ।
   साध भले अण-न्हांदियां, नानक चोर हि चोर (21)—वही पृ० 22
4. अप्पाणं पियसरणं खमादि-भावेहि परिणदो होदि ।—द्वा० अनु० 31
5. जसं संचिणु खंलिए—उत्त० 3/13
6. खतिएणं जीवे परिसहे जिणइ ।—उत्त० 29/46
7. खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयई । —उत्त० 29/17
8. आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणेय ।
   जे जे केइ कसाय, सव्वे तिविहेण खामेमि —पंच प्रति०
9. खामेमि सव्वेजीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
   मेसी मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणइ ।। —पंच प्रति०

मुनि एवं पंडित[1] वही है जो क्षमाशील है और इसकी आराधना करता है। साधक को पिटने पर भी क्रोध नहीं करना चाहिये तथा गाली दी जाने पर भी द्वेष नहीं करना चाहिये।[2]

महावीर ने जितना बल क्षमा माँगने पर दिया है, उतना ही क्षमा कर देने पर भी दिया है। उन्होंने कहा है कि धर्म में स्थिर चित्त होकर मैं सद्भावपूर्वक सर्व जीवों से अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।[3]

क्षमा: कबीर— क्रोध और धैर्य का फल क्षमा है। यह वैयक्तिक आधार की सुरभि है। किसी के अपराध को क्षमा करने की प्रवृति व्यक्तित्व का द्योतक है। कबीर ने क्षमा में ईश्वर का निवास मानते हुए कहा है कि तीर के समान तीक्ष्ण वचनों को सह लेना सहज नहीं है किन्तु सन्तो का हृदय गम्भीर, शीतल और उदार होता है। अतः वे इन के प्रभाव से सुरक्षित रहते हैं। समुद्र में बिजली आकर गिरे भी तो समुद्र को क्या वह जला सकेगी।[4]

क्षमा: रविदास— रविदास जी ने साधु के लिये निष्कपट और छलरहित होना आवश्यक माना है। उनमें क्षमाशीलता का गुण भी होना चाहिये।[5]

क्षमा: दादूदयाल—दादूदयाल ने क्षमा को अति अच्चय स्थान दिया है। उन्होंने क्षमा के मार्ग से मोक्ष तक प्राप्त करने की बात कही है।[6]

क्षमा: सुन्दरदास—सुन्दरदास जी ने क्षमा को अनाहदनाद के लक्षणों में से एक स्वीकार किया।[7]

---

1. कंति सेविज्ज पंडिए। — उत्त० 1/9
2. हम्ममाणो न कुप्पेज्जा बुच्चमाणो न संजले।—सूत्र० 9/31
3. सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहिअचित्तो।
   सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि॥—पंच प्रति
4. जहाँ दया तंह धर्म हैं, जहाँ छिमा तहं पाप।
   जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप॥—संतवाणी संग्रह पृ० 59
5. रविदास सोई साधु भलो जो निहकपट निरपच्छ।
   छमासील असू सरल मनह् बहार भीतर स्वच्छ॥
   —रविदास दर्शन-अजाद—पृ० 94
6. या बानी को खोजतां, क्षमाशील सन्तोष।
   यहिं विचारे बुहि व्है, या धारे जिव मोष॥— श्री दादूमहिमा, पृ० 12
7. धीरजवंत अडिग्ग जितेन्द्रिय, निर्मल ज्ञान गह्यो दृढ़ आढू।
   सील संतोष छिमा जिनके घट, लागि रह्यो सु अनाहद नादू।

(आगे पृष्ठ 527 पर देखें)

क्षमा: मलूकदास—मलूकदास जी ने पापियों के पापों को क्षमा कर देने की प्रेरणा दी है।[1]

क्षमा: नानक—गुरू नानक कहते है कि क्षमा रूपी धन का संग्रह करने वाला बकवास नहीं करता। वह तमोगुण को जला डालता है। ऐसा गृहस्थ, सन्यासी या योगी धन्य है।[2] उनके अनुसार क्षमा आदि व्रत ग्रहण करने वाला समस्त दोषों से तथा रोगों से मुक्त हो जाता है।[3]

क्रोध : महावीर

महावीर वाणी में क्रोध सम्बन्धित विचार दो रूपों में उपलब्ध होते हैं, प्रसंग रूप में और विशेष रूप में। प्रथम के अन्तर्गत महावीर ने माया, लोभ आदि के समान क्रोध को त्याग ने को योग कहा है।[4] स्त्री के प्रसंग में भी महावीर ने क्रोध का वर्जन करने का उपदेश दिया है।[5]

महावीर के अनुसार क्रोध प्रीति का नाश करता है।[6] क्रोध नरक की ओर

---

1. एते बदराहों की बदी करी थी माफ।
जन मलूक अजाती पर करी रिस का ॥ मलूकदास की बानी पृ० 27
2. सा संनिआसी जो सतिगुर सेवै विचहु आपु गवाए।
छादन भोजन की आस न करई अचितु मिलै सो पाए ॥
बकै न बोलै खिमा धनु संग्रहै तामसु नामि जलाए।
धनु गिरही संनिआसी जोगी, जि हरि चरणी चितु लाए ॥ (7)
नानक वाणी पृ० 597
3. खिमा गही ब्रतुसील संतोखं, रोगु न बिआपै ना जम दोखं।
मुकत भए प्रभ रूप न रेखं ॥ वही, पृ० 225
4. पलिउंचणं च भयणं च थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धुत्तादाणाणि लोगंसि तं विज्जं। परिजाणिया ॥ सू० 19 : 11
5. मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जातह-खगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्जा कोहं विणएज्ज मांणं मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥ उ० 4 : 12
6. कोहो पीइं पणासेइ। दश० 8/38

(पृष्ठ 526 का शेष)
भेष न पच्छ निरंतर लच्छ जु, और नहीं कछु बाद बिबादू।
ये सब लच्छन हैं जिन मांहि सु, सुन्दर के उर हैं गुरु दादू ॥
—सुन्दर बिलास—पृ० 1

ले जाने वाला[1] और सत्य, शील और विनय को नष्ट कर डालता है।[2] क्रोध मनुष्य की आयु को नष्ट करता है तथा इससे मानसिक दुःख होता है।[3] क्रोध के कारण अत्यन्त प्रिय मित्र भी पल मात्र में शत्रु बन जाता है तथा यश भी नष्ट हो जाता है।[4] जब मनुष्य क्रोध में होता है तो हिंसा, चोरी आदि करता है। उसका धन भी चुरा लिया जाता है।[5]

महावीर ने कहा है कि क्रोध आने पर मनुष्य दूसरों के गुणों को नहीं देखता दूसरों के गुणों की निन्दा करने लगता है। क्रोध में मनुष्य न कहने योग्य बात भी कह डालता है। क्रोध में मनुष्य रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारकीय जैसा हो जाता है।[6] महावीर का कहना है कि क्रोध वश हुए अकृत्य को कभी भी छिपाना नहीं चाहिए। किया हो तो "किया", न किया हो तो "नहीं किया" कहना चाहिए।[7]

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने हाथ में तप्त लोहे को लेकर दूसरे को मारने का विचार करता है, तो पहले स्वयं दग्ध होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि दूसरा दग्ध हो ही जाये। वह दग्ध हो भी सकता है और नहीं भी। उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य पहले स्वयं ही दग्ध होता है, फिर दूसरे को दुःखी कर सके या न भी कर सके।[8] अतः कोई तनिक भी क्रोध न करे, दुर्वचन कोई कह भी दे तो प्रज्वलित

---

1. पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे।
   कालं करेइ णेरइ एसु उव वज्जति॥ स्था० 4/2
2. कुद्धो ''सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज। प्रश्न० 2/2
3. इमं णिरूद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं य जाण अदु आगमेस्सं।
   पुढो फासाइं या फासे, लोयं य पास विफंद माण॥ आचा० 4/3/136
4. सुठ्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वसो जणस्स कोहेण।
   पधिदो वि जसो णस्सदिकुद्धस्स अकज्जकरणेण॥ भग० आ० 1370
5. हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्य रोस दोसेण।
   तो ते सव्वे हिंसालियचोज्जभुणवा दोसा॥ भग. आ. 1373
6. ण गुणे पेच्छादि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च।
   रोसेण रूद्दहिदओ णारगसीलोणरो होदि॥ भग. आ. 1366
7. आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
   कंड केडेत्ति भासेज्जा, अकंड जो कडेत्ति य॥ भग. 1 : 11
8. जइ कोइ तत्त लोहं गहाय रूट्ठो परं हणामित्ति।
   पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज वण वा परो पुरिसो॥
   तंघ रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव।
   अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रूट्ठो ण या करिज्जा॥ भग. आ. 1362-63

न हो। इन सब परिषहों को समभाव से सहन करे और हल्ला न करे।[1] इतना ही नहीं अपने आप पर भी कभी क्रोध न करे।[2] अपितु शान्ति से क्रोध को जीते।[3]

महावीर के क्रोध के चार कारण बताये हैं—(1) क्षेत्र-नरकादि आश्रित, (2) वस्तु-घर अथवा सचित्त, अचित्त मिश्र वस्तु आश्रित, (3) शरीर-कुरूपादि आश्रित, (4) उपाधि-उपकरण आश्रित।[4]

महावीर के अनुसार क्रोध चार प्रकार का है— (1) आत्म-प्रतिष्ठित (अपनी भूल पर होने वाला), (2) पर-प्रतिष्ठित (दूसरे के निमित्त होने वाला), (3) तदुभय प्रतिष्ठित (दोनों के निमित्त से होने वाला), (4) अप्रतिष्ठित (निमित्त के बिना उत्पन्न होने वाला)।[5]

आलोच्य संतकवियों की वाणी में "क्रोध" का स्वरूप

आलोच्य संत कवियों ने प्रायः स्वतन्त्र रूप में क्रोध को लेकर बहुत कम कहा है। शान्ति तथा क्षमा आदि के प्रसंग में क्रोध पर विचार किया है।

निन्दा : महावीर—

महावीर ने प्रशंसा और निन्दा के सम्बन्ध में कहा है कि अज्ञानियों द्वारा की गई प्रशंसा और विद्वानों द्वारा की गई निन्दा की इस छली संसार में कमी नहीं है।[6] उल्लू जिस की प्रशंसा करें और कौवे जिस की निन्दा करें, इस प्रकार की निन्दा या प्रशंसा में स्थायित्व नहीं होता, दोनों ही हवा की भाँति उड़ जाती हैं।[7]

महावीर ने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ भी कहने (निन्दा या प्रशंसा) के

---

1. हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा वुच्चमाणो ण संजले।
सुमणो अहियासेज्जा ण य कोलाहलं करे॥ सू. 1, 9, 31
2. अप्पाणं पि न कोवए। उत्त० 1/40
3. उवसमेण हणे कोहं। दश. 8/39
4. चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ति सिया, तं जहा—खत्तेपडुच्च, वत्थुं पडुच्च, सरीरं-पडुच्च, उवहिंपडुच्च। स्था. 4/1/249
5. चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते, तं जहा—आयपइट्ठिए, परपइट्ठिए, तदुभय-पइट्ठिए, अप्पइट्ठिए। स्था. 4/1/249
6. जं च वाला पसंसति जं वा णिदंति को विदा।
णिदा वा सा पसंसा वा पत्पाति कुक्कुए जगे॥—इसि० 4:19
7. जं उलूका पसंसंति जं वा निदंति वायसा।
विदा वा सा पसंसा वा वायुजालेवव्व गच्छति॥—इसि० 4:18

लिये स्वतन्त्र है। किन्तु इनसे अपने आपको उद्विग्न नहीं करना चाहिये और अमुक मुझसे सन्तुष्ट नहीं है, ऐसा जानकर कुपित भी नहीं होना चाहिये।[1] जिस प्रकार तेल की लघु बून्द जल पर पड कर विशाल रूप में फैल जाती है। इसी प्रकार सत्पुरुष दूसरे के अल्प गुण को पाकर इतने महान हो जाते हैं कि पर निन्दा से बहुत दूर हो जाते हैं।[2]

निन्दा : नामदेव—नामदेव कहते है कि मैं तो गुरु कृपा से परमेश्वर में लीन हो गया हूँ। अब लोग निन्दा भी करें तो परवाह नहीं है।[3] उनकी मान्यता है कि समस्त कलेस की जड निन्दा है।[4] सच्चा गुरु वही है जो परनिन्दा का परित्याग करता है।[5] परनिन्दा झूठी साक्षी एवं परस्त्री गमन के समान है नेम और व्रत दोनों का उल्लंघन करने वाली है।[6] नामदेव कहते हैं कि निन्दा त्याग कर हरि की सेवा करनी चाहिये।[7]

निन्दा : कबीर—कबीर आत्मश्लाघा और परनिन्दा दोनों को त्याज्य मानते

---

1. वदतु जणे जं से इच्छियं कि णु वलेमि उदिदण्णमप्णी।
भाविता मम णत्थि एलिसे इति संखाए न संजला महं ॥—इसि० 4:22
2. अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पाप बहुदरो होति।
उदर व तेल्लबिंदु किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥—भग० आ० 373
3. मैं बौरी मेरा रामु भतारू। रचिरचि ताकउ करउ सिगारू ॥
भले निंदउ भले विदंउ। लोगु तनुमनु राम पिआरे जोगु ॥
बादु बिबादु काहू सिउन कीजै। रसना राम रसाइनु पीजै ॥
अन जीअ जानि ऐसी बनि आई। मिलउ गुपाल नीसानु बजाई ॥
उसतति निंदा करै न रु कोई। नाम स्त्रीरंगु भेटल सोई ॥
—आदिग्रंथ-पान-1164
4. उसतति निंदा करै नर कोई। नामे स्त्री रंगु भेटल सोइ।
सगल कलेस निंदक भइआ खेदु। नामे नाराइन नाही भेदु ॥
—नामदेव की हिन्दी पदावली—पृ० 111
5. जउ गुरदेउसदाबैरागी जउ परनिंदा तिआगी।
जउ गुरदेउ बुरा भला एक। जउ गुरदेउ लिलाटहि लेख ॥—वही पृ० 111
6. परनिन्दा जो आप प्रकासे। झूठी साखी सहज ठारै।
परत्रिया सूँ रमै रैनदिन। नेमव्रत दोऊ हारे ॥—वही-पृ० 160
7. नाम कहै रे प्राणीया। निंदक को कुछ नाम।
कौन भांत हरि सेइये। राम सब नहीं माही ॥—वही पृ० 183

है क्योंकि इस विश्व में कब क्या हो जाय, कोई नहीं जानता।[1] मनुष्य अन्य के दोषों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है पर उसके अपने दोषों का न आदि हैं, अन्त ही, यह तथ्य उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।[2] संसार की कोई भी वस्तु चाहे वह कितनी ही निम्न क्यों न हो निन्दा के योग्य नहीं, क्योंकि पांवों तले रौंदी जाने वाली तुच्छ घास, आँख में पड़ जाने पर क्या रंग ला सकती है, यह सब जानते है।[3] दूसरों की निन्दा और अपनो की प्रशंसा भी कबीर उचित नहीं समझते।[4] साधु की निन्दा करने वाले पर संकट आता है, वह नरक में गिरता है और कभी भी मुक्त नहीं होता।[5]

कबीर यद्यपि "निन्दा" करना अनुचित मानते है, पर "निन्दक" को अपने आंगन में कुटी बनाकर देने का विचार प्रकट करते हैं क्योंकि यह हमारे दोषों को दिखाकर हमारे स्वभाव को निर्मल करने का महान् कार्य करता है।[4] निन्दा-विषयक कबीर की एक और दृष्टि भी है। निन्दक हमारे हृदय को शुद्ध करता है, हमारे दोषों को प्रत्यक्ष कर देता है, यही कारण है कि कबीर "निंदौं निंदौं मोकौ लोग निंदौं" की रट लगाते हैं। "निंदा होय त बैकुण्ठ जाइये" इसलिए निंदा करै सुह भरा मीत"। निन्दक तो हमारा धोबी है, "हमारे कपड़े निन्दक धोइ" और इस प्रकार निन्दा हमारा करै उद्धार"। जिससे हमारा उद्धार हो उसके प्रति आदर-भाव होना स्वाभाविक है। निन्दक द्वारा हमारे दोषों का उद्घाटन होता है, हम उन दोषों के प्रति जागरूक हो उनका निराकरण करते हैं, इस प्रक्रिया में होता है कि "निन्दक डूबा हम उतरे पार"।[6] एक अन्य स्थल पर भी कबीर ने इसी भाव को अभिव्यक्त किया है।[7] इस प्रकार के कथन कबीर की अपनी विशेषता है, जब सीधे कथन

---

1. आपनपौ न सराहिए, पर निंदिए न कोई।
   अजहूँ लंबै छौहड़े, नां जानौ क्या होई ॥—क० ग्र० पृ० 218
2. दोख पराए देखि करि, चला हंसत-हंसत।
   अपने चीति न आवई, जिनकी आदि न अंत ॥ क. ग्र. पृ. 217
3. कबीर घास न निंदिए जो पावां तलि होई।
   ऊड़ि पड़ै जब आंखि में, तोखरा दुहेला होई ॥ वही, पृ. 218
4. आपनपौ सराहिये और कहिए रंक ॥ वही
5. जो कोई निंदै साधु कौ संकटि आवै सोइ।
   नरक मांहि जांमै मरै मुकुति न कबहुहोई ॥ वही
6. निन्दक नेरे राखिए आंगनि कुटि बँधाई।
   बिन साबुन पांनी बिन निरमल करै सुभाई ॥ क. ग्र. पृ.
7. कबीर ग्रंथावली पृ. 229-30
   जैसे धुबिया रज मल धोवै, हर तप सब निन्दक खोवै।

(आगे पृष्ठ 532 पर देखें)

प्रभाव करने में असफल रहते हैं तो शैली व्यंग्य का आधार ग्रहण करती है।[1]

निन्दा : रविदास—रविदास जी के अनुसार निन्दा करने वाला पापी नरक में जाता है।[2] कोई चाहे तीर्थ में जाकर स्नान करे या पत्थर की पूजा करे किन्तु यदि वह निंदा करता है तो सभी कुछ व्यर्थ है।[3] निन्दा ऐसा अवगुण है कि अनेक गुणों को तुच्छ कर देता है।[4] जो मनुष्य निन्दा से दूर रहता है उसे सब अच्छे फल प्राप्त होते हैं। वह स्वयं दुख उठाकर दूरों का भला करता है। निन्दक व्यक्ति जन्म-जन्म भ्रमता फिरता है।[5]

निन्दा : दादूदयाल—दादूदयाल ने निंदक के सम्बन्ध में लिखा है कि निंदक निन्दा करके उपकार ही करता है। अपने आप तो निन्दा के मैल से मैला हो जाता है किन्तु जिसकी निन्दा करता है उसे उज्जवल कर देता है।[6] दादू ने निंदक के साथ भाई का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा है कि निंदक बिना पैसे लिए हुए ही हमारा

---

1. तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन— पृ. 76
2. निंदा कहा करहु संसारा, निंदक का परमटि पाहारा।
   निंदक सोधि साधि बीचारि आ, कहु रविदास पापी नरकि सिधरिआ।।
   संतगुरु रविदास वाणी — शर्मा 122
3. जे उहु अठसठि तीरथ नहावैं, जे उहु दुआदस सिला पूजावैं।
   जे उहु कूपतटा दवावें, करें निंद सम बिरथा जावें।
   साध का निंदक कैसे तेरे, सर पर जानहु नरक ही परें।। वही पृ. 122
4. जो उहु ग्रहन करें कुल खेति, अरपैं नारि सींगार समेति।
   सगली सिम्रित स्रवनी सुनैं, करें निंद कवमें नहीं गुनैं।। वही
5. जे उहु अनिक प्रसाद करावै, भूमि दान सोभा मंडपि पावै।
   अपना बिगारि बिरांना सांढे, करे निंद बहु जोनी हांढे।।
   संत गुरु रविदास वाणी—शर्मा
6. दादू निंदक बपुरा जिनि मरे, पर-उपगारी सोइ।
   हम कूं करता ऊजला, आपण मैला होई।।
   संत वाणी संग्रह, भाग-2, पृ. 93

(पृष्ठ 531 का शेष)

न्यंदक मेरे माई बाप, जन्म-जन्म के काटे पाप।।
न्यंदक मेरै प्रान अधार, बिन बेगारि चला वै भार।
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी।। वही, पृ. 153

काम करता है। बिना बदला लिए हुए ही का संवारता है।[1]

दादू ने स्पष्ट रूप में यह भी कहा है कि जिस घर में साधु की निन्दा होती है सो वह घर जीव सहित जड़मूल से धूल में मिट जाता है।[2]

निन्दा : सुन्दरदास—निन्दा करने वाला व्यक्ति उस मूर्ख के समान होता है जो अपने पैर के नीचे की अग्नि नहीं देखता और दूसरों को सिर की अग्नि दिखाता है। मन में घात करने की सोचता है और दूसरो को दुष्ट कहता है। अंगीठी जला कर, उस पर जल छिड़कता है। उसे अपने अवगुण स्वयं दिखाई नहीं देते।[3] सुन्दर दास जी कहते हैं कि कोई निन्दा करे या प्रसंशा करे, पहले आरसी में अपना मुख देख ले। शरीर का प्रत्येक व्यवहार मिथ्या है। आत्मा की दृष्टि से मूल्यांकन करना चाहिए।[4] जिस प्रकार राग-द्वेष रहित होता है उसी प्रकार मनुष्य निन्दा और प्रसंशा से दूर रहे।[5] पर निन्दा, दूसरे के धन अथवा दूसरे की स्त्री को अपने घर में रखने के समान पाप है।[6] किन्तु सुन्दर दास जी ने नारी को विष की भूमि कहकर उसकी

---

1. न्यंदक बाबा बीर हमारा, बिनहीं कौड़े बहै विचारा।
   कर्म कोटि के कुसमल काटै, काज सँवारे बिन हीं साठै। वही, पृष्ठ 89
2. दादू जिहि घर निंद्या साध की, सो घर गए समूल।
   तिन की नींव न पाइये, नांव न पांव न धूल॥ वही, पृष्ठ 92
3. पांव के तेरे की, नहीं सूझे आग मूरख कूं,
   और सूं कहत तेरे, सिर पें बरतु है। (1) पृ. 49
   घात अनेक रहै उर अंतर, दुष्ट कहै मुख सूं आति मीठी।
   लोटत पोटत व्याघ्रहि ज्यूं नित, ताकत है पुनि ताहि कि पीठी।
   ऊपर तें छिरकें जल जान सु हेत लगावत जारि अंगीठी।
   या महिं कूर मति जानहु' सुन्दर आपुनि आंखिनि दीठी। (2)
   सुन्दर विलास पृ. 49
4. भावे कोऊ निन्दा करें, भावें तो प्रसंशा करें।
   वो तो देखें आरसी मे थाप नांहि मुख है॥
   देह को त्यौहार सब मिथ्या करि जावत है।
   सुन्दर कहत एक आतमाही कख है॥ वहा पृ. 134
5. निंदा न प्रसंशा करैं, राग ही न द्वेष धरैं।
   वेवही न देन जाके, कछु न पसारो हैं॥ वही, पृ. 127
6. परधन हरै करै परनिन्दा, परतिय कूं राखै घर मांहि।
   ऐसी करै सु संत कहावे, सुन्दर आरै उपजिमरि जांहि॥ (16)

निंदा की है।[1]

निन्दा : मलूकदास—मलूकदासजी कहते है कि यदि मनुष्य स्वयं भला है तो उसे दूसरों को बुरा नहीं कहना चाहिए तथा जिस के मन में तनिक-सी भी बुराई हो तो, उससे दूर ही रहना चाहिये।[2] किसी के भी कहने-सुनने में आकर निन्दा नहीं करनी चाहिये।[3]

निन्दा: नानक—आत्म-निन्दा करते हुए गुरु नानक कहते हैं—हे मेरे निर्माता, मैं लालच रूपी कुत्ते, झूठ रूपी भंगी और मुर्दा खाने वाले की चालाकी जैसे दुर्गुणों से युक्त हूं। दूसरे की गन्दगी के समान पर निन्दा मेरे होठों पर विद्यमान रहती है। क्रोध रूपी चाण्डाल की अग्नि से मैं जल रहा हूं। इन सब के होते हुए भी मैं सदैव आत्म-प्रशंसा में निमग्न रहता हूं। यही मेरे कर्म हैं।[4]

गुरु नानक कहते हैं कि मैं सदैव निन्दा ही करता रहता हूं। मैं नीच श्रेणियों की तरह चोरी करने के लिये पराये घरों पर ही नजर जमाये रखत हूं। अपने में काम-क्रोध बसाये हुये मैं नीच सांसी हूँ।[5] गुरु नानक ने पर निन्दा आदि अपने अवगुणों

---

1. विषही की भूमि भावहिं विष के अंकुर भारो,
नारी विष बेढ़ी नखसिख देखिये।
बिषही के जर मूल बिषही के डार पात,
बिषही के फूल-फल लागे जु बिसेखिये॥
बिषं के तंतु पसार उपझाड आंटी मार,
सब नर बृच्छ पर तवेरही लेखिए।
सुन्दर कहत कोऊ संत तरू बीच गये,
तिनके तौ कहूं लता लागी नहिं पेखिये॥ (2) वही पृ. 47
2. आप भले तो सबहि भलो है, बुरा न काहू कहिये।
जो के मन कछु बसै बुराई, ता सों भागे रहिये॥—मलूकदास की वाणी—पृ० 18
3. रहम की नजर कर कुरहम दिल से दूर कर।
किसी के कहे सुने चुगली मत मानिये॥—वही-पृ० 27
4. लबु कुत्ता कूड चूहड़ा ठगि खाधा मुरदार।
पर निन्दा पर मलु मुख सुधि अगनि कोप चंडाल।
रसकस आयु सलाहणा ऐ कर्म मेरे करतार॥
—गुरुनानक व्यक्तित्व और विचार—पृ० 86
5. मुखि निन्दा आखा दिनु राति। परघरु जोही नीच समाति॥
काम क्रोध तनि बसहि चंडाल। धाणक रुपि रहा करतार (2)
—नानक बाणी-पृ० 127

को स्वंय स्वीकार किया है।[1]

गुरु नानक के अनुसार पर निन्दा मुह में निरी पराई मैल ही है।[2]

अपरिग्रह : महावीर

महावीर ने किसी वस्तु के प्रति ममत्व-भाव को परिग्रह कहा है।[3] अज्ञानी मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है, या जिसके साथ निवास करता है उस में ममत्व भाव रखता हुआ अपने से भिन्न वस्तुओं में इस मूर्च्छा भाव में अन्त में वह बहुत दुःखित होता है।[4] ज्ञानी पुरुष संयु साधक उपकरणों के लेने और रखने में ममत्व-वृत्ति का अवलम्बन नहीं रखते वे तो अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं रखते।[5]

महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार तालाब में गिरा हुआ पत्थर प्रशान्त पंक को क्षुभित कर देता है, उसी प्रकार परिग्रह जीव के प्रशान्त कषाय को क्षुभित कर देता है।[6] जाल से भयभीत न होने वाली मछलियां जिस प्रकार जाल के ही समीप खेलती रहती हैं, उसी प्रकार संसार-भय से रहित होकर परिग्रह में रमण करते हैं।[7]

धन-धान्यादि परिग्रह नरक का हेतु है।[8] इसके लिए कुद्ध मनुष्य कलह करता है, हल्ला मचाता है तथा ठौर करता है, हिंसा करता है अथवा स्वरं हिंसा का शिकार

---

1. पर दिया घटि चूहड़ी, मूँठा क्रोध चण्डाल।
   चौक- दित्तां का भया नानक, जे चारयूँ बैठा नाल (29)
   सबै सबी सुहागणी, हूँ र दुडागनी कित्त।
   मुझे मैं अवगुन अति धनै, षसम न फेरों चित्त।
   —गुरु नानक वाणी (गु० ग्र० के० अ०) डा० बी० पी० सि० पृ० 24
2. पर निन्दा पर मलु सुखसुधी अगदि क्रोधु चडाल ॥— नानक वाणी-पृ० 103
3. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।—दश० 6/20
4. जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संयरे मरे।
   ममाइ लुप्पई बाले, अन्ने-अन्नेहिं मुच्छिए ॥—सूत्र०1/1/4
5. सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, सरंक्खण-परिग्गहे।
   अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽयरन्ति ममाइयं ।:—दश० 6/21
6. जह पत्थरों पंडतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं।
   खोभेइ पसंत पि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥—भग० आ० 1914
7. जालस्स जहाँ अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता।
   तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥—भग० आ० 1275
8. आयाणं नरयं दिस्स नायएज्ज तणामति।—उ० 6:7 क, ख

बनना है।[1] महावीर के अनुसार रूप, शब्द गंध, रस, स्पर्श और भाव में अतृप्त और उनके परिग्रह में गहरी आसक्ति रखता है, वह कभी तुष्टि नहीं पाता।[2]

मुनि वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि संयम और लज्जा की रक्षा के लिये ही ग्रहण करते है। ऐसा समय भी आता है, जब वे इनका भी परित्याग कर देते है।[3] जो मुनि (साधु) मर्यादा के विरुद्ध कुछ भी ग्रहण करता है वह साधु नहीं, गृहस्थ है। वस्त्र त्यागने मात्र से, कोई मुनि नहीं होता।[4]

महावीर ने गृहस्थ को भी आवश्यकता से अधिक मक्खन, नमक, तेल, घृत, गुड़ आदि किसी भी वस्तु का संग्रह न करने का उपदेश दिया है।[5] इच्छा तो आकाश के समान अनन्त है।[6] विश्व के प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं है। जो परिग्रह में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति बैर की ही अभिवृद्धि करते हैं।[7]

महावीर ने परिग्रह के तीन प्रकार बताये हैं—कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह तथा बाह्य भण्ड-मात्र-उपकरण-परिग्रह।[8]

महावीर के अनुसार जो मनुष्य समस्त परिग्रह को छोड़कर सुख दुख देने वाले आत्म भावों का निग्रह करता है उसे आकिंचन्य धर्म प्राप्त होता है।[9]

---

1. संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरंवा।
पहणेज्ज व मारोज्ज व मोरेजेज्ज व य हम्मेज्जा।।—भग० आ० 1156
2. रुवे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं।—उ०32:29
3. जं पि वत्थं च पायं वा, कंबल पायपुंछाणं।
जं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहंरति य।।-दश० 9/19
4. (अ) जे सिया सन्निही कामे, गिही पव्वइए न से। दश० 5/18
(ब) ण य होदिसंजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहि।
तह्या आचेलक्कं चाओ सव्वेसिं होई संगाण।।-भग० आ० 1924
5. विडमुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पिं ज फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया।।-दश० 6/17
6. इच्छा हुआगास समा अणंतिया।-सूत्र० 9/48
7. परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई। उत्त० 1/9/3
8. तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, तं जहा-कम्म-परिग्गहे, शरीर-परिग्गहे, बाहिरमंडमत्त-परिग्गहे।-भग० 18/7
9. होऊण य णिस्संगो णिग्गहित्तु सुहदुहंद।
णिद्देदण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्ह।।-कुद० अ० 79

अपरिग्रही मनुष्य सर्वत्र स्वाधीन होता है। उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं होता। वह आरम्भ से ही निवृत्त होता है। सब जगह काम से मुक्त होता है।[1]

जब मनुष्य दैहिक और मानुषिक परिग्रह से विरक्त हो जाता है तो आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह को भी छोडकर आत्म साधना में जुट जाता है।[2]

परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। इसकी उत्तेजना के तीन कारण उन्होंने बताये है—1: अविमुक्तता 2. परिग्रह सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति। और 3. परिग्रह सम्बन्धी चिन्तन।[3]

अपरिग्रह: नामदेव—नामदेव का जीवन ही अपरिग्रह का उदाहरण है। "नामदेव ने व्यापार तो शुरु किया पर उतना ही कमाय जिससे उनका व उनके परिवार का गुजार चल सके। उनकी पत्नी राजाई इस बारे में कई बार शिकायत करती रहती थी।[4]

नामदेव के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, फिर उनका संग्रह करने का क्या लाभ। धन के लिए मनुष्य क्या कुछ नहीं करता और उसे पाकर जमीन में गाड़ देता है। धन संचय करने में बिवेक भी त्याग देता है। किन्तु अन्त में धन व स्वयं धरती में समा जाता है।[5]

अपरिग्रह: कबीर—कबीर धन सम्पदा को जीवन-यापन के लिए अनिवार्य मानते हैं, परन्तु अत्याधिक संचय करने के पक्ष में नहीं हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भली प्रकार हो सके तथा आतिथ्य-सत्कारादि कर्तव्य का पालन किया जा सके और साधुजन की सेवा की जा सके, इतना पर्याप्त धन प्रत्येक व्यक्ति के पास होना चाहिए।[6]

---

1. सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ।
   होदि य णिरपरियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वतथ॥-भग० अ० 1177
2. जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणु से।
   तया चयइ संजोगं, सब्भिंतर-बाहिरं॥—दश० 4/17
3. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा-पृ 528
4. संत नामदेव-राधास्वामी सत्संग व्यास-पृ० 3
5. आइआ कारन स्तमु अति करै। सो माइआ लगाडै धरै॥
   अति संचै समझै नहीं मूढ। धनु धरती तनु हुइ गइओ धुडि॥-
   आदि ग्रन्थ-पान 1252
6. साँई इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।
   भूखा मैं भी न रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

अपनी दूसरी अभिव्यक्ति में कबीर कहते है-हे मघव ! तुम्हारे साथ बात कैसे निभेगी ? तुम तो कुछ दोगे नहीं लो मैं ही माँग लू । मुझ से भूखे पेट भक्ति तो होगी नहीं, अतः अपनी माला सम्भालो । मुझे किसी का कुछ लेना देना नहीं, मैं केवल यह माँगता हूँ कि मैं सन्तों का आदर कर सकूं । केवल दो सेर आटा चाहता हूँ और पाव भर घी चाहता हुं । मैं आधा सेर दाल चाहता हूँ, जिससे दोनों समय भर पेट भोजन कर सकूँ । एक चारपाई माँगता हूं, तकिया तथा ओढने का वस्त्र, बिछाने का गद्दा चाहता हूं । क्योंकि मैं बहुत लम्बा नहीं, इसलिए ये वस्तुएं छोटी ही होगी ।[1]

"हम मांगउ संतन देना" कबीर का आदर्श था । उनका सिद्धान्त था "पेट समाता लेई" । धन संचय के सम्बन्ध में कबीर का मत है कि धन की प्रवृत्ति स्थिर नहीं होती । अतः ऐसा धन नहीं जोड़ा जा सकता, जो फिर मिल सके । कोई भी धन बाँधकर संसार से नहीं जाता । सब यहीं छूट जाता है । अतः जो धन साथ जा सके, वही संचय करो ।[2] साथ जाने वाला धन शुभ कर्म ही हो सकते हैं । संचित धन को परहित में लगाना चाहिए । क्योंकि मृत्यु के बाद उस का कोई उपयोग नहीं है । यदि कृपणता से वह धन परहित में व्यय नहीं करता है तो उसका संचित धन मधुमक्खी के संचित मधु के समान दूसरा ग्रहण कर लेता है ।[3] संचित धन या अर्जित धन का उपयोग त्याग बुद्धि से करने का आदर्श कबीर का है ।

वैभव संचय के लिए धन-लिप्सा प्रेरक भाव है । अतएव कबीर ने संतोष के

---

1. भूखे भजन न कीजै । यह अपनी माला लीजै ।।
टउ मांगत सन्तन देना । मैं नाही किसी का देना ।।
माधो कैसी बनें तुम संगे । आपि न देहु त लेवहु मगे ।।
दुइ सेर मांगउ चूना । पीउ घीउ संगि लूना ।।
अध सेर मांगउ दाले । माकउ दोनउ बखत जिवाले ।।
खाट मांमउ चरपाई । सिरहाना अबर तुलाई ।।
ऊपर कउ मागउ खीधा । तेरी भगति करै जन बीधा ।।
मैं नाही कीता लबो । इकु नाउ तेरा मैं फबो ।।-

संतकबीर-पृ० 140-41

2. सन्त बाँधइ गड्डी, पेट समाता लेइ ।
सोई सूं सन्मुख रहैं, जंह माँगे तंह देई-कबीर ग्रन्थावली-अंग 35, सा० 10

3. ज्यूं माखी मधु संचि करि, जोरि-जोरि धन कीन्हों ।
मूए पीछे लेहु-लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनूं ।।-

कबीर ग्रंथावली-पृ० 241

साथ जीवन यापन की शिक्षा दी है। सन्तोष से ईर्ष्या और द्वेष का बहिष्कार हो जाता है। कबीर कहता है—अपनी मोटी छोटी, टेढ़ी-मेढ़ी और विभिन्न अनाजों के मिश्रण से बनी लिट्टि खाकर चैन के साथ रहना चाहिए।[1] सन्तोषी स्वभाव से ही अस्तेय धर्म का पालन किया जा सकता है। कबीर के अनुसार त्याग बुद्धि से प्राप्त धन का उपभोग करना और भविष्य के लिए संचित करके न रखना, समय पर आवश्यकता होगी, भगवान अवश्य उस आवश्यकता की पूर्ति करेंगे। यह अटल-विश्वास ही अपरिग्रह है।[2]

अपरिग्रहः रविदास—रविदास के अनुसार धन का संग्रह दुख का कारण है और इस का त्याग सुख देने वाला है। अतः रविदास ने धन संचय का निषेध किया है।[3] धन तो वास्तव में दुखों की खान है।[4] जिसे पारस मणि प्राप्त हो जाती है उनकी रुचि स्वर्ण संचय में नहीं रमती।[5]

अपरिग्रहः दादूदयाल—स्वामी जीवानन्द जी ने लिखा है कि दादू जी राज्य का अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करते थे। अकबर ने उन्हें कुछ न कुछ भेंट देने की इच्छा से स्वर्ण पिंजड़े में बन्द एक तोता यह कहकर भिजवाया कि यह तोता कुरान की आयतें उच्चारित करता है अतः इसे स्वीकार कर लें। किन्तु दादू जी ने यह कहकर तोता वापस कर दिया कि यह शरीर ही पिंजरा है और इनमें मन रूपी तोता है, जो यदि अल्लाह का नाम लेना सीख जाये तो हाफिज हो सकता है।[6]

अपरिग्रहः सुन्दरदास—सुन्दरदास जी का कहना है कि लोक के व्यवहार को

---

1. मीठा खांण मधूकरी, भाँति-भाँति का नाज।
   दावा किस की का नही, बिन बिलाइति बड़राज।।-वही-अंग० 35
   साखी-13
2. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन-डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी-पृ० 78
3. धन संचय दुख देता है धन त्यागे सुख होय।
   रविदास सीख गुरुदेव की धन मति जोरे कोय।—रविदा दर्शन-
   आजाद-पृ० 166
4. सच्चा सुख धरम मंहि धन संचय सुख नांहि।
   धन संचय दुख खान है, रविदास समुझि मन मांहि ।।—वही पृ०167
5. माधवे ! पारस मनि लै जाउ, मोंहि सोने का नहिं चाऊ।
   जड़ मां पैराम दयाता, दैड चून लून धीड दाता ।।—वही पृ० 100
6. दादू यहु तन पिंजरा, मांही मन सूवा।
   एकै नाव अल्लाह का, पढ हाफिज हुआ ।।
   —श्री दादू महिमा—पृ० 33

ध्यान में रखते हुए ही संचय करना चाहिए। वास्तव में वही ज्ञानी है जो दूसरों की सुख सुविधा को महत्व देता है।[1]

अहरिग्रह: नानक—गुरु नानक कहते है कि इतना ऐश्वर्य हो कि पृथ्वी हीरों और लालों से जड़ी हो और पंलग भी लाल जडित हों। मन को मोहित करने वाली अति सुन्दर स्त्री हो, जिसके मुख पर मणियां सुशोभित हों। हाव-भाव से पूर्ण हो किन्तु इतना होते हुए भी मैं कभी भुलावे में न पड़ूं तेरा नाम चित्त से न हटे।[2]

गुरु नानक के अनुसार पक्षियों की गाँठ के पल्ले धन नहीं है, वे प्रभु के बनाए हुए वृक्षों और पानी का ही आसरा लेते हैं। उन्हें रोजी देने वाला वही प्रभु है।[3]

अहिंसा : महावीर—

महावीर की "अहिंसा" से पूर्व "हिंसा" पर विचार करना उचित होगा। महावीर ने कहा है कि जब आत्मा रागी, द्वेषी या मूढ़ हो जाती है तो हिंसा करती है।[4] शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव की तृष्णा के पीछे चलने वाला अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के कारण विभिन्न प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। वह उन्हें परिताडित कर पीड़ा देता है।[5] कुछ प्राणियों के द्वारा हिंसा करने के लिये घातक मंत्रों का प्रयोग किया जाता है।[6] हिंसा करने वाला मनुष्य अल्प आयु, रोगी, कुरुप, अंधा, बहरा, गूंगा, दुर्बल, मूर्ख और अशुभ होता है।[7] महावीर ने तो

---

1. ज्ञानी लोक संग्रह कूं करत ब्योहार विधि-1-सुन्दर विलास--पृ० 151
2. धरती त हीरे लाल जडती पलघि लाल जड़ाउ।
मोहणी मुखि मणी सोहै करे रंगि पसाउ।
मतु देखि बीसरै तेरा चिति न आवै जाउ (2)—नानकवाणी-पृ० 100
3. परंदर न गिराह जर। दरखत आब आस कर।
दिहंद सुई। एक तू ही एक तू ई।।—वही-पृ० 187
4. रत्तो वा दुठ्ठो वा मूढो जं पयुंज दि परओगं।
हिंसा वि तत्थ जायदि तह्या सो हिंसगो होई।। - भग० आ० 802
5. सुद्दाणुमासापुयए य जीवे चराचरे हिंसइऽणेगरूवे।
चित्तीहि ते परियावेश बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे।।
—उ० 32 : 40
6. सत्थमेगे सुसिक्खंति अविवाताय णाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति पाण भूयविहेडिणो ।। — भू० 1, 8 : 4
7. अप्पाउगरोगिदया विरुवदा विगलदा अबल्दा य।
दुम्मेहवण्णरसगंधदाय से होइ परलोए ।।— भग० आ० 798

यहां तक कहा है कि जो मनुष्य स्वयं जीवों की हिंसा करता है या दूसरों से करवाता है या हिंसा का अनुमोदन भी करता है, वह अपने बैर में ही वृद्धि करता है।[1] गोहत्या, ब्राह्मण हत्या तथा स्त्री वध ही नहीं जीव मात्र पर दया करना उनका उत्कृष्ट धर्म है।[2]

महावीर के अनुसार क्योंकि हिंसा पाप है तथा दया का सम्बन्ध धर्म से है अतः देव या गुरु के निमित्त हिंसा करना उचित नहीं है।[3] जीवघात, आत्मघात के समान ही है।[4] हिंसक को कोई शरण नहीं है।[5] महावीर ने तो यहां तक कहा है कि मन, वचन तथा काया से किसी त्रस और स्थावर प्राणी पर घातक शस्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[6] हे प्राणी जैसा तू अभय की कामना करता है, वैसे ही तू दूसरों को अभय क्यों नहीं देता? इस अनित्य जीव लोक में तू हिंसा में इतना आसक्त क्यों है?[7] स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर ने कहा है कि कुछ लोग प्रयोजन से तो कुछ बिना प्रयोजन के हिंसा करते है तथा[8] कुछ लोग क्रोध के कारण और कुछ लोभ व अज्ञान के कारण हिंसा करते हैं।[9] किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होना है।[10]

---

1. सयं तिवातए पाणे अदुवा अण्णे हिं घायए।
   हणंत वाणुजाणइ तेरे वड्ढए अप्पणों॥—सू० 1, 1 (1) ·3
2. गोबंभणित्थिव धमेत्तियत्ति जदि हवे परमधम्मो।
   परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया॥—भग० आ० 792
3. हिंसारंभेण मुहो देव-णिमित्तं गुरुण कज्जेस।
   हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो॥—द्वा० अ० 406
4. जारभे पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो।
   अप्पा ण हु हंतव्वहो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो॥—मू० 921
5. असंखयं जीविय मा पमामए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
   एवं वियाणाहि जणेयत ते कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति॥—
   उ० 4 1 1
6. जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनमेहिथावरेहिं च।
   नो तेसिमारभे दडं मणसा वयसा कायसा चेव॥—उ० 8 : 90
7. अभओ पत्थिवा! तुब्भं अभयदाया भवाहि य।
   अणिच्चे जीवलोगम्मि किं सिसाए पसज्जसि? उ० 18/91
8. अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणन्ति।—सूत्र० 1/10/7
9. कुद्धा छांति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंसि।—प्रश्न 1/1
10. एवं खु नाणिणो सांर, जं न हिंसइ किंचण।—सूत्र० 1/11/10

तीर्थंकर महावीर ने अठारह धर्म-स्थानों में प्रथम स्थान अहिंसा को प्रदान किया है। इसे उन्होंने सूक्ष्मता से देखा है। उनके अनुसार सब जीवों के प्रति संयम रखना ही अंहिसा है।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों में समभाव की दृष्टि रखना अहिंसा है।[2] अहिंसा त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का कुशल-क्षेम, मंगल करने वाली है।[3] आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। अप्रमत्त अर्थात प्रमाद रहित आत्मा को महावीर ने अहिंसक और प्रमादसहित को हिंसक कहा है उनका यह निर्णय आगम पुष्ट है।[4] जिस प्रकार इस संसार में अणु से छोटी कोई अन्य वस्तु नहीं है तथा आकाश से बड़ी कोई दूसरी वस्तु नहीं है उसी प्रकार अहिंसा व्रत से अधिक सूक्ष्म या विशाल कोई व्रत नहीं है।[5]

सभी जीव जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता।[6] अतः समस्त जीवों पर मैत्रीभाव रखना चाहिये।[7] महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि खून से सना वस्त्र खून से धोने से शुद्ध नहीं होता।[8] जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही तो है। अर्थात् उसकी और तेरी आत्मा एक समान ही तो है।[9]

महावीर ने देखा है कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भावनहीं होते। इन की उद्भाव भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। जितनी अपेक्षाएं हैं, उतने ही कहने के तरीके

---

1. तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
   अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥—दश० 6/8
2. समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।—उत्त० 19/25
3. अहिंसातस-थावर-सव्वभूअखेमंकरी।—प्रश्न 2/1
4. अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये।
   जोहोदि आपमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥—भग० आ० 803
5. णत्थि अणूदो अप्प आयासादो अणूणयं णत्थि।
   जह तह जाऽ महल्लंण वयमहिंसासमं अत्थि ॥—भग० आ० 784
6. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।—दश० 6/10
7. मेत्तिं भूएसुकप्पए।—उत्त० 6/2
8. रूहिरकयस्स वरयस्स रूहिरेण चेव,
   पक्खालिज्जमास्स णत्थि होही।—ज्ञाता० 1/5
9. तुमंसिनाम सच्चेव, जं हंतव्वं तिमन्नसि। —आचा० 5/5

हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा परिक्रमा लगाती है।[1]

दूसरों के प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को भी समझने की चेष्टा करनी चाहिये। इसे ही महावीर ने बौद्धिक अहिंसा कहा है। मुनिनथमल के अनुसार बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में महावीर से जो अनेकान्त दृष्टि मिली वही खास कारण है कि जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।[2] डॉ० महेंद्र कुमार जैन ने भी अहिंसा का आधार भूत तत्वज्ञान अनेकान्तदर्शन माना है।[3]

अहिंसा: नामदेव—नामदेव कहते हैं कि कसाई जब पशु की हत्या करने के लिये उस का गला घोंटता है और गलती से अगर पशु के मुख में आकर उसकी अंगुली कट जाती है, तो वह दर्द से "मर गया", "मर गया" चिल्लाता है। पर जब पशुओं के गले काटता है तब उसे इसका भान नहीं रहता। अपने दुख से चिल्लाता है, पर दूसरों के दुःख पर खिलखिला कर हँसता है। डाकू जब उसका पूरा घर लूट लेते हैं और उसकी सारी कमाई और धन ले जाते हैं, तो वह दुःख से रोता चीखता हैं, पर जब वह दूसरे को ठगता या लूटता है तब उसे इसकी याद नहीं आती। सुनार के घर जब डाका पड़ता है और उसका अपना और दूसरों से ठगां हुआ सोना भी लूटा जाता है, तब गया हुआ सोना अपना समझ कर छाती कूट-कूट कर रोता है, उस समय वह भूल जाता है कि उसने भी माता-बहिनों को उसी तरह लूटा है। भिखारी जब खाना मागने घर पर आता है, तब वह सिर ठोक कर कहता है, "हे देव, मैं क्या करूँ" ? लेकिन दूसरों से लेने में सुख मानता है। देते समय उसका कलेजा फट जाता है। जन्म से खुद के बच्चे की तरह बकरे को पालता है, लेकिन समय पर उसी को मांस के लिये काटता है। जब खुद के गले में फांसी का फंदा पडता है, तो वह चिल्लाता है कि मेरा क्या कसूर है ? लेकिन उसने कितने जीवों को मारा है, यह भूल जाता है। नामदेव का कहना है कि ऐसे निर्लज्ज लोग अपने को भगवद्-भक्त कहलाते हैं, उन्हें परमेश्वर कैसे प्राप्त हो सकता है ?[4] नामदेव ने पशुबलि का भी

---

1. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा—पृ० 328-329
2. वही
3. जैन मेंशन—पृ० 43
4. आपुली करणी न विचारी मनीं। वायां करय ठेवूनि बोल देवा ॥
   खाटकी जो चेपी पशची नरडो। अवचिता करंगली सापडली ॥
   मेलों मेलों म्हणनि घडवडां लोले। परि कापी गले आठवीना ॥

(आगे पृष्ठ 544 पर देखें)

विरोध किया है। निर्जीव के सामने सजीव को बलि चढाने का कोई औचित्य नहीं है।[1]

मनुष्य हलाल की आड़ लेकर बकरी, मृगी और मुर्गी का बध करता है किन्तु मुर्गी के पेट से निकला अंडा हलाल है या हराम ?[2]

अहिंसा : कबीर—कबीर ने जीव-हिंसा तथा उन्हें कष्ट देने वालों की घोर भर्त्सना की है। तामसिक साधकों के प्रति व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा है कि जीव-हिंसा धर्म हैं और जीव-हिंसा करने वाले धार्मिक हैं, मुनि हैं तो फिर अधर्मी और कसाई कौन है ?

कबीर का स्पष्ट मत है कि जिस प्रकार मनुष्य का मांस है, उसी प्रकार का पशु का है। एक ही समान दोनों में रक्त प्रवाहित होता है। हत्या होने पर जिस वेदना और पीड़ा की प्रीतति मनुष्य को होती है, उसी प्रकार पशु को भी होती है।[3]

कबीर का कहना है कि पशु हिंसात्मक आचार को जीवन में कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। कबीर की अहिंसा सचेतन प्राणी के प्रति पालन करने की ही वस्तु

---

1. निरजीव आगें सरजीव मारै। देषत जनम आपनो हारै।

—हिन्दी पदावली 47

2. नामा तू हि बकरी काटी। मृगी काटी हलाल कीया कहता है।
मुरगी में सो अंडा निकला। हलाल कैसा होता।।

—संत नामदेव पृष्ठ 121

3. जस मांस नरकी तस मांस पसु की, रूधिर-रूधिर इक सारा जी।

—कबीर बीजक, शब्द 55

(पृष्ठ 543 का शेष)

आपुलें म्हणवुनि विव्हलत से। खदखदां हांसे दुसन्यासी।।
वाटपाड्याने घर खाणोनि घेतलें। जितुकें मेलविलें तितुकें नेले।।
आपुले नेले म्हणवनि खलखला रडे। परि छेतां दखडे आठवीना।।
सोनाराचे घरीं पडिलें सें खाण। चोरिलें सवर्ण तेहि नेलें।।
आपुलें नेलें म्हणवूनि मोकलितो छाया। ठकविल्या आयाबाता तो आठवीना।
तरालाचे घरी असें आला जैवा म्हणत से देवा काय करूं।।
दुसन्यासी मागतां परम सुख वाटे। आपण देता फुटें कालीज तें।।
जन्मवरी पोशिलें लें कुराचेपरि। हातीं घेऊनि सुरी उभा राहे।।
गर्दन सुलीं देतां म्हेण काय केलें। पुढिल्यासी मारिलें आठवीना।।
नामा म्हणे विष्णुदास ऐसे ते निर्लज्जा। त्यासी पंढरिराज केवि भेटे—

—श्री नामदेव गाथा-1639

नहीं है, वरन् वे उसका अचल एवं निर्जीव कहे जाने वाले पेड़ पौधों, उनकी पत्तियों के प्रति भी मानते हैं।[1] कबीर ने प्रेम के साथ सभी के व्यवहार करना मानव का परम कर्त्तव्य माना है।[2] प्रेम अथवा प्रीति भाव अहिंसा धर्म के मूल हैं। प्रीति का अर्थ होता है प्रतीत अर्थात् सहानुभूति। कबीर के अनुसार इसे दर्शिता कह सकते हैं।[3]

अत: कबीर का यह कहना उचित ही है कि यदि हम किसी का गला काटेंगे तो, एक दिन वह भी हमारा गला काटेगा।[4]

पशुओं को मार कर उनका मांस बेचने वाले कसाई कहलाते हैं। पशुओं के प्रति इनकी क्रूरता के कारण इनके प्रति सन्तों का भाव उपेक्षा का होना स्वभाविक ही है। सन्तों ने जीव दया पर बल दिया है। कबीर काल को कसाई के रूप में मानते हैं। उन्होंने कसाई की छुरी का भी उल्लेख किया है।[5]

अहिंसा : रविदास—रविदास कहते हैं कि सभी जीवों की आत्मा समान है अत: किसी भी जीव को नहीं मारना चाहिए।[6] सभी जीव उस ब्रह्म के ही अंश हैं। जीव हत्या का कोई प्रायश्चित नहीं है। कितना भी दान करने पर भी इसके पाप से मुक्त होना सम्भव नहीं है।[7] रविदास जी कहते हैं कि इस स्वार्थ मनुष्य ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिये हिंसा के विभिन्न मार्ग खोज लिए हैं। किन्तु उन्हें मालिक के द्वार पर पहुंचने पर कड़ी सजा भुगतनी ही पड़ेगी।[8] मूर्ख मनुष्य हिंसा को हलाल

---

1. भूली मालनि पाती तोई, पाती तोड़े, पाती पाती जीव।
—कबीर ग्रन्थावली, पद 198
2. जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
—वही, अंग 2, सा० 17
3. जावा पर सम्मि चीनियें, तब मिलै आतमराम। —वही, पद 300
4. कहता हों, कहि जात हौ, कहा जो मान हमार।
जाका गर तुम कारिहों, सो फिरि काटि तुम्हार॥
—संतबानी संग्रह—भाग-1, पृष्ठ 61
5. सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि —डा० ओमप्रकाश शर्मा—पृष्ठ 157
6. रविदास जीव मत मारहिं इक साहिब सम मांहि।
सभ माहिं एकउ आतमा दूर रह कोउ नाँहि॥
—रविदास दर्शन—आज़ाद, पृष्ठ 186
7. प्रानी बध नाँहि कीजियहि जीवह ब्रह्म समान।
रविदास पाप नंह छूटक करोर उऊन करि दान॥ वही, पृष्ठ 185
8. रविदास जो अपन हेत ही पर कूं मारन जाई।
मालिक के दर जाइ करि भोगहिं कड़ी सजाई॥
—रविदास दर्शन—आज़ाद, पृष्ठ 184

का नाम देकर जीव बध करता है, किन्तु नहीं जानता कि जब किसी अन्य वधिक की छुरी उसकी अपनी गर्दन पर रखी जायेगी तो वह उसे क्या नाम देगा ?[1]

रविदास जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कोई भी पीर, पैगम्बर या औलिया नहीं मानता कि जीव हिंसा करने से खुदा मिलता है।[2]

अहिंसा : दादूदयाल—दादू जी ने केवल जंगम प्राणियों से ही नहीं वरन् स्थावर प्राणियों से भी एकात्मपूर्ण समत्व की भावना का उपदेश दिया है। उनका कहना है कि स्थावर प्राणियों को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए। पतंग से लेकर हाथी तक सभी समान हैं।[3]

दादू जी कहते हैं कि इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि जो जीव हिंसा करते हैं उन्हें नर्क में जाना पड़ता है।[4] जो दूसरों को मारता है वे भी उसे मारते हैं। जो दूसरों को तारता है, दूसरे उसे भी तारते हैं।[5] पशुओं का गला काटने से कोई लाभ नहीं। यदि काटता ही है तो क्रोध को काट। मारना ही है तो मान, मोह आदि को मार और सब जीवों का उद्धार कर।[6]

अहिंसा : सुन्दरदास—सुन्दरदास जी कहते हैं कि अन्य पापियों के समान मुर्गी मारने वालों तथा बकरी का मांस पकाने वालों का भी हिसाब अवश्य होगा। अपने

---

1. रविदास मूंड्ह कारि करि मूरख कहत हलाल।
   गला कटवाउ अपना तउ का हांइहि हाल॥ —वही, पृष्ठ 183
2. रविदास जीव कूं मारि कर कैसो मिलंहि खुदाय।
   पीर, पैगम्बर, औलिया कोउ न कहइ समुझाय॥ —वही, पृष्ठ 182
3. (अ) दादू सूका सहजैं कीजिए, नीला भानैं नांहि।
   काहे कौं दुख दीजिये, साहिब है सब मांहि॥
   —स्वामी दादू दयाल की बानी 24/9
   (ब) दादू सम करि देखिये, कुन्जर कीट समान।
   दादू दुविध्या दूर करि, तजि आपा अभिमान॥ वही, पृष्ठ 25
4. दादू कोई काहू जीव की, करै आतमा घात।
   सांच कहूं संसा नहीं, सो प्राणी दो जगि जात॥
   —संतबानी संग्रह, भाग-2, पृष्ठ 107
5. दादू जा कौ मारण जाइये, सोई फिर मारै।
   जा कौं तारण जाइये, सोई फिर तारै॥
   —संतबानी संग्रह—भाग-2, पृष्ठ 109
6. गला गुसे का काटिये, मिया मनी कौं मारि।
   पंचों बिसमिल कीजिये ये सब जीव उबारि॥ —वही, पृष्ठ 110

गुनाह का उन्हें जवाब देना होगा और वे नरक के भागी होंगे।[1] गंगा का पवित्र जल भी हत्यारों के पाप नहीं धो सकेगा।[2] सुन्दर दास जी खेद पूर्वक कहते हैं कि आज जीव हिंसक तर रहे हैं और दयावंत डूब रहे हैं।[3]

अहिंसा : नानक—नानक के अनुसार मन, वचन और कर्म से अहिंसा का तात्पर्य है—किसी के लिए बुरा मत सोचो, किसी को बुरा मत कहो और किसी के मार्ग में बाधक न बनो।[4] बुगलों के पंख सफेद होते हैं और वे तीर्थ स्थानों के जलाशयों में रहते हैं किन्तु फिर भी घोंट-घोंट कर उनकी मछलियों को ही खा जाते हैं। इस हिंसक वृत्ति के कारण उन्हें निर्दोष नहीं कहा जा सकता है।[5]

आचार : महावीर (आचरण, दुराचार, सदाचार, चरित्र)

महावीर ने कहा है कि केवल आचार को जान लेने मात्र से जीव दुःखों से

---

1. (अ) दुनिया कूं दौड़ता है औरत कूं लोढता है,
औजूद कूं मोड़ता है बटोही सराय का।
मुरगी को मोसता है बकरी कूं रोसता है,
गरीब कूं खोंसता है बेमिहर माइ का।
जुलम कूं करता है धनी सूं न डरता है,
दो जख कूं भरता है खजाना बलाइ का।
होयगा हिसाब तब आवैगा न जवाब कछू
सुन्दर कहत गुन्हेगार है खुदाई का॥
—सुन्दर बिलास—पृष्ठ 18

(ब) कोऊ परदारा परधन कूं तकत जार।
कोऊ हिंसा करि-करि उदार भरतु है॥ —वही, पृष्ठ 118

2. आपही की रच्छा करैं, आप ही की घात करै।
आप ही हत्यारो होइ, गंगा जाइ नहाई है॥
सुन्दर कहत ऐसे, देह ही कुं आप मानि।
निज रूप मूल के, करत हाइ हाई है॥ —सुन्दर बिलास 106

3. निर्दय होइ तरै पसु-घातिक दया वंत बूडैं भव माहिं।
लोभी लगैं सबन कूं प्यारो, निर्लोभी कूं गौहर नाहिं॥ वही, पृष्ठ 80

4. गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार।
(गुरु नानक का शाश्वत संदेश—इन्द्र कुमार गुजराल)—पृष्ठ 57

5. बगा बगे कपड़े तीरथ भक्ति बसंन्हि।
घुटि-घुटि जीआ खावणे बगे ना कही अन्हि॥ —नानक वाणी पृष्ठ 436

मुक्त नहीं हो सकता, पापों का त्याग भी आवश्यक है।[1] जो आचरण रहित है वह बहुत से शास्त्रों को भी पढ़ ले तो भी क्या लाभ ? जैसे अंधे के हाथ में दीपक की कोई विशेषता नहीं होती उसी प्रकार आचरणहीन के ज्ञान की कोई विशेषता नहीं होती।[2] जो व्यवहार धर्म से अनुमोदित है और ज्ञानी पुरुषों ने जिस का सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करने वाला पुरुष कभी भी निन्दा का पात्र नहीं होता।[3] महावीर का कहना है कि दुराचार से अधिक अनिष्ट करने वाला शत्रु भी नहीं होता।[4] मनुष्य से यदि अनाचार हो भी जाये तो उस पर पर्दा डालने का प्रयत्न न करें और न उसे अस्वीकार करे, अपितु सदा पवित्र, प्रगट, अनासक्त तथा जितेन्द्रित रहे।[5]

चरित्र की परिभाषा करते हुए महावीर ने कहा है कि इन्द्रियों के व्यापार को रोकना, क्रोधादि कषायों के प्रचार को रोकना और समिति गुप्ति—यह सब संक्षेप में चरित्र है।[6]

जो मनुष्य चरित्र से पूर्ण है वह यदि कम पढ़ा-लिखा भी है तो भी बहुश्रुत को जीत लेता है। जो चरित्र हीन है उसके पढ़ने-लिखने का क्या लाभ ?[7] जिस प्रकार चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल बोझ का भागी होता है, चन्दन का अधिकारी नहीं, उसी प्रकार चरित्रहीन भी केवल ज्ञान का बोझा ही ढोता है, सुगति

---

1. इहमेगे उ मन्नंति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्वदुक्खा विमुच्चई॥ —उ० 6 : 8
2. बहुगंपि सुदमधीदं किं काहदि अजाणमाणस्स।
दीवविसेसो अंधे णाणविसेसोवितह तस्स॥ —मूल० 10 : 65
3. धम्मजिजयं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायंर तो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई॥ —उ० 1 : 42
4. न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा॥ —उ० 20 : 48 क, ख
5. अणायारं परक्कमनेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे असंसत्ते जिइंदिए॥ —द० 8 : 32
6. इंदियकसाय पणिहाणंपिय गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो॥ —मू० 369
7. थोवाह्म सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणेकि तस्स सुदेण बहुएगा॥ —मूल० 9 : 6

का अधिकारी नहीं होता।[1] चरित्र का पालन करना अत्यधिक कठिन कार्य है। सांप जिस प्रकार एकाग्र-दृष्टि से चलता है, उसी प्रकार एकाग्र होकर चरित्र-पालन कठिन है। यह लोहे के चने चबाने के समान है।[2] प्रायः सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य चरित्र पालन नहीं कर पाता।[3]

सदाचार : नामदेव—लोक संग्रह की भावना से प्रेरित होकर नामदेव ने सदाचार का उपदेश दिया है। वे कहते हैं, हे मन ! तू विषय वासनाओं के बीहड़ बन में क्यों फंसता जा रहा है। तू संसार में इसी प्रकार उलझा हुआ है जैसा जाल में मछली।[4]

आचरण : कबीर—श्री विलियम ड्रायर के मतानुसार कबीर ने बाह्याचरण की शुद्धता और सात्विकता पर बल दिया है। यह आचरण स्वतः सामाजिक वस्तु है। यह दुहराना आवश्यक नहीं कि कबीर को सब प्रकार के बाह्याडंबर और ढोंग से हार्दिक घृणा है। कबीर का धर्म अपने आस-पास रहने वाले लोगों के प्रति निरपेक्ष और निःसंग बने रहने का उपदेश नहीं देता। वे असामाजिक व्यवहार का निषेध करते हैं। इस प्रसंग में उनके द्वारा वाचालता के वर्जन को उल्लेख किया जा सकता है।[5]

मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्पर्क का माध्यम वाणी है। बोलने में दुराव छिपाव कबीर की दृष्टि में सामाजिक अपराध है।[6] कबीर वाणी में निषेधात्मक धारणाएँ ही नहीं है, उसमें रचनात्मक सामाजिक विचार भी है। कबीर के अनुसार जहाँ लोग एक-दूसरे की त्रुटियों को क्षमा करते हैं वहां भगवान का वास होता है। ड्रायर के अनुसार कबीर की दृष्टि में आचरण की शुद्धता मुख्यतः भ्रातृभाव पर आधारित है'

---

1. जहा खरो चंदण मारवाही भारस्स भागी णहु चंदणस्स।
एव खु णणी चरणेण होणी नाणस्स भागी णहु सुग्ग ईए॥
—वि०आ०मा० 1158
2. अहोतैगन्तदिट्ठीए चरित्ते पुत्त दुच्चरे।
जवा लोहमया पेव चावेयव्वा सुदुक्करं॥ —उ० 19 : 38
3. सम्मत्ते वि यलद्धे चरित्तणेव गिण्हदे जीवो।
अहकह नितंपि गिण्हादि, तो पालेदुं ण सक्केदि॥ —द्वा०अ० 295
4. काहे रे मन विषया बन जाइ, मूलों रे तग मूरी खाई।
जैसे मीन पानी में रहे॥ —संत सुधासार पृष्ठ 46
5. कबीर की भक्ति भावना — विलियम ड्रायर, पृष्ठ 178
6. जैसी मुख ते निकसे, तैसी चालै नाँहि।
मानुख नहीं ते स्वप्न गति, बाँधे जमदुर आँहि॥ —सा० 339

यद्यपि उन्होंने (कबीर) ने सामाजिक नैतिकता पर बहुत कम विचार किया है फिर भी उनमें भ्रातृभाव सम्बन्धी जो उक्तियां मिलती हैं, उनका महत्व कम नहीं है।[1]

अरे मूर्ख तू हाथ से तो माला जप रहा है, तेरे हृदय में आंधी चल रही है, तेरा पैर तो दलदल में फँसा है, इसीलिये तुझे भागने में कठिनाई हो रही है।[2]

कबीर कहते हैं कि काठ की माला तुझे समझाकर कहती है कि तू अपने मन को तो फिराता नहीं है फिर मुझे क्यों फिराये जा रहा है।[3]

सब लोग शरीर को योगी बनाते हैं, मन को कोई नहीं बनाता। यदि मन योगी हो जाये, तो सारी सिद्धियाँ सहज में ही मिल जाये।[4]

जब मन में शील और क्षमा उत्पन्न होती है, तभी अलख दृष्टि होती है। चाहे कोई लाख कहता रहे किन्तु बिना शील के वहाँ पहुँच नहीं होती।[5]

जो शीलवान पुरुष है, वही सबसे बड़ा है और सारे गुणों की खान है। क्योंकि शील में ही तीनों लोकों की संपदा रहती है।[6]

संसार में ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, दाता, शूर, जप करने वाले, और तपस्वी तो बहुत हैं, लेकिन उनमें शीलवान कोई बिरला ही निकलता है।[6]

शील ही सुख का समुद्र है, जिसकी थाह कोई नहीं पा सकता। ऐसे ही, भगवान का नाम न लेने वाला साधू नहीं होता और धन के बिना कोई महाजन नहीं होता।[8]

---

1. कबीर की भक्ति भावना पृष्ठ 179-180
2. कर सेती माला जपै, हिरदौ बहै डंडूल।
   पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० 35
3. कबीर माला काठकी, कहि समझावे तोहि।
   मन न फिरावै आपणों, कहा फिरावै मोहि॥ —वही
4. तन कौ जोगी सब करै, मन कौं बिरला कोइ॥
   सब सिधि सहजैं पाइए, जे मन जोगी होइ॥ —कबीर ग्रन्थावली
5. सील छिमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
   बिना सीश पहुँचै नहीं, लाख कथै जो कोय॥ —संतों की बानी—पृष्ठ 111
6. सीलवंत सब ते बड़ा, सर्व रतन की खानि।
   तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि॥ —वही
7. ज्ञानी ध्यानी संजमी, दाता सूर अनेक।
   जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोइ एक॥ —वही
8. सुख का सागर सील है, कोइ न पावै थाह।
   सबद बिना साधू नहीं, द्रब्य बिना नहिं साह॥ —वही

अतः कबीर ने आचरण में शील को अत्यधिक महत्व दिया है।

आचार : दादू दयाल—जब मनुष्य शान्त और अशान्त दोनों प्रकार की मानसिक अवस्थाओं में विशेष प्रकार का ऐसा आचरण या व्यवहार करता है जिससे किसी दूसरे को कोई हानि नहीं पहुँचती उस आचरण को आचार कहते हैं इस आचार के सम्बन्ध में व्यापक रूप से यह माना गया है कि सज्जन पुरुषों और महापुरुषों में अनेक सम और विषम परिस्थितियों में जिस प्रकार का आचरण उचित प्रमाणित कर दिया है वही सामान्य जनता के लिए भी सर्व मान्य आचार होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार का आचरण करता है वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं क्योंकि अपने व्यवहार से वह जिस आचरण को प्रमाणित अर्थात् उचित सिद्ध कर लेता है उसी का अनुसरण अन्य लोग भी करते रहते हैं।[1] यह सत्पुरुषों का आचार या सदाचार ही वास्तविक आचार है।

इस प्रकार दादू ने हंस का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि जैसे नीर-क्षीर का विवेक करता है और जल को अलग करके दूध को ग्रहण करके वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति को नियमपूर्वक वही आचरण करना चाहिए जो सबके लिए हितकर हो।[2]

आचार : मलूकदास—मलूकदास के अनुसार आचार आदि कर्म के समान जीव को संसार में फंसाने वाला फंदा है किन्तु मनुष्य तो अंधा है जो फंदा नहीं देखता।[3] मलूकदास जी कहते हैं, पहला पद यदि देई देना है तो दूसरा नेम आचार है और तीसरा जग का बंधन है और चौथे की कोई सीमा नहीं है।[4]

---

1. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त देवेतरो जनः।
   स य प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुर्त्तते॥ —गीता
2. (अ) पहिली न्यारा मन करै, पीछे सहज सरीर।
   दादू हंस विचार सौं, न्यारा कीया नीर॥ —दादू दयाल—पृष्ठ 84
   (ब) मन हंसा मोती चुणें, कंकर दीया जारि।
   सतगुरु कहि समझा इया, पाया भेद बिचारि॥ —वही, पृष्ठ 84
   (स) दादू जैसे माहैं जिव रहै, तैसी आवै बाग।
   मुखि बोलैं तब जाणिये, अंतर का परकास॥ —वही पृष्ठ 87
3. किरिया करम अचार भरम है, यही जगत का फंदा।
   माया जाल में बाँधि अंड़ाया, क्या जानैं नर अंधा॥
   —मलूक दास की बानी—पृष्ठ 18
4. पहिला पद है देई देवा, दूजा नेम अचारा।
   तीजे पद में सब जग बंधा, चौथा अपरम्पारा॥ —वही, पृष्ठ 21

आचार : नानक— नानक कहते हैं कि हम बड़ी-बड़ी बातें तो बहुत करते हैं किन्तु आचरण बुरे करते हैं। यद्यपि हमारा बाह्य रूप गोरा अर्थात् निष्कलंक है पर अन्तःकरण काला अर्थात् बुराइयों से भरा है।[1]

सत्य : महावीर

जैसा हुआ हो वैसा ही कहना सत्य है। महावीर ने सत्य को चौथा धर्म स्वीकार किया है।[2] हे पुरुष! तू सत्य को पहचान।[3] उनके अनुसार अपनी आत्मा के द्वारा सत्य की खोज हो सकती है।[4] सत्य ही भगवान है।[5]

संसार में सत्य ही सार तत्व तथा समुद्र से भी अधिक गंभीर है।[6] सत्य मृत्यु के प्रवाह से भी पार उतारने वाला है।[7] महावीर ने इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किया है कि कोई मनुष्य झूठ क्यों बोलता है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि मनुष्य लोभ से प्रेरित होकर ही झूठ बोलता है।[8] अतः किसी के पूछने पर भी अपने स्वार्थ के लिए या दूसरों के लिए पाप युक्त निरर्थक नहीं बोलना तथा न ही मर्म-भेदक वचन बोलना चाहिए।[9]

महावीर का कहना है कि अपने स्वार्थ के लिए या दूसरों के क्रोध से भयभीत होकर तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए सत्य या असत्य वचन न तो स्वयं बोलना चाहिए और न बुलवाना चाहिए।[10] सदा हितकारी सत्य बोलना चाहिये।[11]

---

1. गल्ली असी चंगियाँ आचारी बुरिआह।
   मनहु कुसुधा कालिया बाहरी चिट बीआह॥
   —गुरु नानक व्यक्तित्व और विचार, पृष्ठ 82-83
2. जो वदादि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥ —कुंद०अ० 74
3. पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि। —आ० चा० 1/3/3
4. अप्पणा सच्चमेसिज्जा —उत्तरा० 6/2
5. तं सच्चं खु भगवं। — प्रश्नावली 2/2 वही, पृ० 620
6. सच्चं लोगम्मिसारभूयं···गम्भीरतरं महासमुद्दाओ। —प्रश्ना० 2/2
7. सच्चस्स आणए उवट्ठिए मेहावी मार तरइ। आचा० 1/3/3
8. लुद्धो लोलो मणेज्ज अलियं। —प्रश्ना० 2/2
9. न लवेज्जा पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं, न मम्मयं।
   अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥ —उत्त० 1/25
10. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
    हिंसगं न मुसं बूया, नोवि अन्नं वयासए॥ —दश० 6/11
11. भासियव्वं हियं सच्चं। —उत्त० 19/26

सत्यवादी पुरुष लोगों के लिए माता के समान विश्वसनीय तथा गुरू के समान पूजनीय और निकटतम बंधु के समान प्रिय होता है।[1] महावीर के अनुसार यदि शिखाधारी, जटाधारी, मुंड, नग्न या वस्त्रधारी यदि असत्य बोलता है तो वह विडम्बना मात्र है।[2] विश्व के सभी संतों ने असत्य की निन्दा की है क्योंकि यह अविश्वसनीय है अतः परित्याग योग्य है।[3]

जैन आगम के अनुसार वही सत्य है जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।[4] असत्य बोलने के तीन कारण हैं—राग, द्वेष और मोह। जो दोषों से मुक्त हो चुका है वह कभी असत्य नहीं बोलता।[5]

जो है वही सत्य है, जो नहीं है वह असत्य है। वह अस्तित्व-सत्य, वस्तु सत्य, स्वरूप-सत्य या ज्ञेय-सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज शुद्ध रूप है, वह सत्य हैं। परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा, आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य है। एक वर्ण गन्ध, रस और स्पर्शवाला अभिभाज्य पुद्गल—यह परमाणु का सहज-रूप सत्य है। बहुत सारे परमाणु मिलते हैं, स्कन्ध बन जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण सत्य (त्रैकालिक-सत्य) नहीं है। परमाणु दशा में परमाणु सत्य है। भूत-भविष्यत् कालीन स्कन्ध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नहीं है।[6]

एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेकरूपता ही सत्य है। सत्य एक और अनेक भाव का अविभक्त रूप है। सत्य अपने आप में पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरू है, वही दूसरे के लिये लघु, एक के लिये जो दूर है, वहीं दूसरे के लिए निकट, एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिये जो

---

1. माया व होइ विस्ससणिज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स।
   चुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियल्ल ओव्व पिओ।।
   —भग०आ० 840
2. होदु सिहडी व जडी मुंडो वा णग्गओ व चीवरधरो।
   जादं भणादि अलियवयणं विलंबण तस्स सा सव्वा। भग० आ० 894
3. मुसाबाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहियो।
   अविस्सासोय भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए।। —दश० 6/12
4. तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहि पवेइयं। —भगवती, जैं०द०म० और मी०
5. जैन दर्शनः मनन और मीमांसा —पृष्ठ 142
6. वही पृष्ठ 411-412

सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के बिना इनकी व्याख्या नहीं हो सकती।[1] मुनि नथमल जी ने सत्य वचन की दस अपेक्षाएं बताई है।[2]

1. जनपद, देश या राष्ट्र की अपेक्षा सत्य।
2. सम्मत या रूढ़ि-सत्य।
3. स्थापना की अपेक्षा सत्य।
4. नाम की अपेक्षा सत्य।
5. रूप की अपेक्षा सत्य।
6. प्रतीत्य सत्य-दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य।
7. व्यवहार सत्य-औपचारिक सत्य।
8. भावसत्य।
9. योगसत्य।
10. औपम्य सत्य।

सत्य : नामदेव—सत्य-व्यवहार वह व्यवहार है जिसमें कोई बात दो बार नहीं कही जाती अर्थात् एक ही बात दो ढंग से नहीं कही जाती। भौंरा फूल का रस जब लेता है तब वह फूल झूठा हो जाता है अर्थात् जब तक कोई वस्तु अपने वास्तविक रूप में रहती है तब तक वह शुद्ध रहती है इसी प्रकार सत्य भी अधिक अथवा निर्दोष होता है यदि उसमें किसी प्रकार की मिलावट हुई तो वह सत्य नहीं रह पाता यहीं सत्य की चरम सीमा बतायी गयी है कि उसमें किसी प्रकार का छल नहीं होना चाहिए।[3]

सत्य : कबीर—कबीर के अनुसार सत्य वही है जो स्थिर है, परिवर्तनशील पदार्थ तो असत्य ही होते है।[4] कबीर वैयक्तिक आचार में सत्य को महत्पूर्ण मानते हैं क्योंकि सत्य शील मनुष्य का हृदय निर्मल रहता है। सत्य धर्म का पालन करने वाला निर्भीक होता है। सत्य व्रतधारी वही है जो सत्य ही बोलता है, सत्य ही ग्रहण करता है तथा असत्य का परित्याग कर सत्य का पालन करता है। ऐसा व्यक्ति अमर पद पा

---

1. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा —पृ० 352-353
2. वही—पृ० 607, 608, 609
3. (अ) पहिली बास भुअंगम लीन्हीं। झूठन मेला काइ करूं।
   पहिली बास जु भवरै लीन्हीं। झूठन मेला काइ करूं॥
   — संतनाम देव की हिन्दी पदावली-पृ० 151

   (ब) सत्यं न तद्यच्छल मभ्युपैति॥
4. संतबानी संग्रह-भाग—पृ० 61

लेता है।[1]

कबीर का वैयक्तिक जीवन सत्य की पृष्ठभूमि पर विकसित हुआ था। उन्हें सत्य ही सर्वश्रेष्ठ और मूल्यवान प्रतीत होता है। क्योंकि सत्य के अभाव में सुखानुभूति नहीं हो सकती।[2] कबीर अपने हृदय से सत्य का मोल-तोल करने की बात करते हैं। सत्य के द्वारा ही हीरा प्राप्त होता है। झूठ तो मूल भी नष्ट कर देता है।[3]

कबीर कहते हैं कि सत्य वस्तु में स्थिर सत्य वक्ता को किसी का पाप नहीं लगता और न ही वे काल का भोग बनते हैं।[4] उनके मतानुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है अन्यथा सब कुछ मिथ्या है। जो साधक सर्वत्र सत्य ही को जानता है उसे असत्य मार्ग पर नहीं चलना चाहिये। सत्य से बढ़ कर कोई तप नहीं तथा झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं। जिस हृदय में सत्य है, वही ईश्वर का वास है।[5] अतः सत्य कबीर के वैयक्तिक आचार का मूल आधार है।

सत्यः रविदास—रविदास जी के अनुसार सत्य ईश्वर एवं शक्ति रूप हैं। सत्य आचरण से शरीर के समस्त पाप समाप्त हो जाते है।[6] जब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता, तब तक ही भ्रम में लोग रहते है।[7] रविदास जी कहते हैं कि जब तक

---

1. साच ही कहत और सांच ही गहत हैं, कांच कूं त्याग कर सांच लागा।
कहै कबीर यूं भक्त निर्भय हुआ, जन्म और मरन का मर्म भागा॥
—कबीर बीजक, साखी—248
2. सबहों ते सांचा भला, जो दिल सांचा होय।
सांचा बिना सुख नाहि है, कोटि करै जो कोय॥
वही—साखी-67
3. सांचा सौदा कीजिये, अपने दिल में जानि।
सांचा हीरा पाइए, झूठे मूली हानि॥-कबीर बीजक-साखी-68
4. कबीर जिनि-जिनि जोगिया, करता केवल सार।
सो प्राणी कहूँ चलै, झूठे जग की सार॥—कबीर ग्रंथावली, अंग 22
साखी—16
5. साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥—कबीरबीजक, सा० 349
6. सत्त ईश कहु रूप है, सत्त सक्ति अत अपार।
रविदास सत्तं कूं धारणा, देहहिं पाप निबार॥—रविदास दर्शन—
आजाद—पृ० 26
7. (अ) आंग यहु सांच न जानौं, लोगनि इहै भरमाई।
स्यंहा रूप मेषी जब पहरी, बोली सब सुध पाई॥—संतगुरु
रविदास वाणी—डॉ० बी० पी० शर्मा-77

(आगे पृष्ठ 556 पर देखें)

प्राण शेष हैं तब तक सत्य नहीं त्यागना चाहिये। असत्यवादी का सदा अपमान ही होता है।[1]

सत्य: दादूदयाल—जी के अनुसार भगवान को सत्य प्रिय है। सत्य को सत्य ही अच्छा लगता है।[2] अत: मिथ्या नहीं बोलना चाहिये।[3]

सत्य: सुन्दरदास—सुन्दर दास जी कहते हैं कि झूठ और सत्य स्वप्न और जाग्रत्त के समान हैं। सच्चा ज्ञान प्राप्त होते ही झूठ और सत्य का भ्रम समाप्त हो जाता है।[4] सत्य और असत्य की भूल के कारण उत्पन्न भ्रम मात्र है।[5]

सत्य नानक—गुरु नानक ने सत्य का चरम परमात्मा को बताया है और उसे जनता के सामने रखा। उस समय भारत में दार्शनिक तो परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप मानते थे, किन्तु अपढ़ों के सम्मुख अनेक देवी देवताओं की उपासना का स्वरूप था।[6]

गुरु नानक का मत है कि परमात्मा को जानकर तथा उसकी रजा (मर्जी) मे चलकर ही हम सत्य का अनुसरण कर सकते हैं।[7]

गुरु नानक का कहना है जो मनुष्य झूठ बोलकर दूसरों के अधिकार का हनन करता हैं, वह हराम का खाता है किन्तु दूसरों से कहता है ऐसा मत करो। ऐसे व्यक्तियों की बहुत जल्दी कलई खुलती है। वह स्वयं तो अपने असत्य से ठगा ही

---

1. रविदास सततमति तिआगिग, जौ लौं घट मंहि प्रान।
   सतत भ्रिस्ट करि जगत मंहि, सदा होत अपमान॥—रविदास दर्शन—आजाद-पृ० 26
2. दादू दरसने सांचा पावे, झूठे दरसन न देवे।—दादू बानी-भाग-2 पृ०82
3. मिथ्या मुनि बोले नहीं सर। —संतबानी संग्रह—भाग-2, पृ० 92
4. यह झूठ वह झूठ जाग्रत सुपन दोऊ।
   सुन्दर कहत ज्ञानी सब भ्रम भस्यो है॥—सुन्दर विलास-पृ० 135
5. कोऊ तो कहत सत, कोऊ तो कहै असत।
   सुन्दर कहत भ्रम ही को, मन भूल है॥—वही पृ० 57
6. ट्रंसफारमेशन आव् सिक्खिज्म—फोरवर्ड-जोगेन्दर सिंह-पृ० 3
7. किव सचिआरा होइऐ कि कूड़ै तुडै पालि ?-श्रीगुरु ग्रंथ साहिब-पृ० 1
   हुकमि रजाई चलणा नालक लिखिआ नालि। —वही-पृ० 1

(पृष्ठ 555 का शेष)

(ब) भाई रे! भ्रम भगति सूं जानि।
    जौ लौं नहीं सांच सूं पहिचानि॥—वही पृ० 71

जाता है किन्तु अपने साथियों को ठगता है ।[1]

तीर्थंकर महावीर जी ने तथा उनके परवर्ती अनेक संतों ने, नीतिकारों ने तथा महापुरुषों के नैतिक जीवन को बहुत अधिक महत्व दिया । शील, सदाचार, सदासेवी मानव जीवन के आदर्श स्तम्भ रहे हैं । इसी लिये समाज में उनही लोगों की प्रतिष्ठा अधिक रही, जिनकी करनी एक रही । जिन्होंने सदाचरण के द्वारा, जहां कीर्ति अर्जित की और लोगों के श्रद्धाभाजन बने, वहीं उन्होंने अपने चरित्र, व्यवहार और वाणी से जनता को शुद्ध आचरण का शाश्वत उपदेश भी दिया ।

---

1. कूड़ बोलि मुरदारू खाइ । अवरी नो समझावणी जाइ ।
मुठा आपि सुहाइ साथै । नानक ऐसा आगू जापै ।।—नानक वाणी—
पृ० 171

———

अध्याय—8

महावीर वाणी की हिन्दी संत वाङ्मय को देन

महावीर वाणी लगभग 500 वर्ष बाद लिपिबद्ध होने के उपरान्त भी बूंद-बूंद आगम साहित्य में लुप्त प्रायः रही। अब महावीर वाणी के विभिन्न संकलनों का वैज्ञानिक रूप में प्रकाशन हो जाने के कारण इन के आधार पर शोध मार्ग कुछ सरल हो गया है।

संतो की वाणियों में व्यक्त दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक विचारों की संगति पूर्वगत विचार धाराओं से लगाने के प्रयास प्रायः नगण्य रहे हैं। इस शोध प्रबन्ध में पहली बार तीर्थंकर महावीर से संतों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस का कारण भी यही है कि बहुत दिनों तक संतों की वाणियाँ भी अव्यवस्थित, अस्पष्ट व क्रमहीन रही हैं। अतः, संत परम्परा, संत वाणी तथा संत सम्प्रदाय प्रायः उपेक्षित सा रहा है। किन्तु संतों की वाणियों के संग्रह आदि प्रकाशित होने से अब स्थिति में परिवर्तन आया है। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।[1]

महावीर वाणी की हिन्दी सन्त वाङ्मय को सबसे बड़ी देन सुदृढ़ दार्शनिक, सामाजिक और नैतिक पृष्ठ भूमि है, जो उन्हें अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों से प्राप्त हुई थी। संतों की वाणी पर तीर्थंकर महावीर की विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में पड़ा है।

डॉ० प्रभाकर माचवे[2], डॉ० रामगोपाल शर्मा दिनेश तथा डॉ० महेन्द्र सागर

1. हिन्दी में निर्गुण संप्रदाय—पृ० 22-23
2. हिन्दी और मराठी का निर्गुण काव्य—पृ० 426

प्रचंडिया[1] आदि विद्वानों ने भी संत साहित्य पर जैन दर्शन के प्रभाव को स्वीकार किया है। डॉ० प्रचंडिया का मत है कि सन्त काव्य का मूल उद्गम नाथों और सिद्धों का साधना-जन्यवाङ्मय ही रहा है। इन पर जैन मुनियों और आचार्यों का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। डॉ० सन्त नारायण उपाध्याय ने भी दादू पर महावीर के प्रभाव को स्वीकार किया है।[2]

प्रभाव की परम्परा महावीर से पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समान में भी विद्यमान रही है। विद्रोह या क्रान्ति सहसा नहीं फूट निकलती। वैराग्य और सन्यास की प्रवृत्ति जैन और बौद्ध धर्मकी एक विशेषता है, इसका साक्षात्कार हमें उपनिषदों में हो जाता है। जैन धर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्त भारतीय जीवन में घुल मिल गए हैं। पार्श्वनाथ का चातुर्याम-अहिंसा, असत्य, स्तेय और अपग्रिह का त्याग हिन्दू धर्म में यम के रूप में मनुस्मृति में ग्रहण कर लिया गया है। ये तत्व भारतीय और हिन्दू धर्म में ऐसे अविभाज्य अंग बन गए हैं कि सामान्य पाठक इन्हें जैन धर्म की देन मानने को तैयार नहीं होता।[3]

प्राय: यही स्थिति महावीर और हिन्दी के हमारे आलोच्य सन्तों के दार्शनिक, सामाजिक और नैतिक विचारों आदि की है। दोनों में कोई विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है।

तीर्थंकर महावीर और हिन्दी के संतों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य दार्शनिक प्रकाश मे आये है—

1. महावीर ने अपने युग की जनभाषा में अर्द्धमागधी में उपदेश दिये और सन्तों ने भी अपने विचार अपने युग की जनभाषा सधुक्कडी में प्रकट किये।
2. महावीर की वाणी में आत्मा का जितना सूक्ष्म विवेचन हुआ है उतना हमारे आलोच्य सन्तों में कबीर को छोडकर किसी संत की वाणी में नहीं हुआ है।
3. संसार की रचना महावीर एवं कबीर[4] दोनों ने वृक्ष के आकार की बताई है।

---

1. कबीर और जायसी एक मूल्यांकन (में प्रकाशित सन्त कबीर पर नाथों और सिद्धों का प्रभाव—डॉ० प्रचंडिया)-पृ० 30
2. दादूदयाल
3. भा० दे और म० हि० साहित्य – पृ० 158, 159, 160
4. तरुवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूला फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाके, अष्टगगन मुख बागा॥—कबीर वाणी
तरुवर एक अनत मूरति सुरता लेहु पिछाणी।

आगे पृष्ठ 560 पर देखें

4. ईश्वर का अस्तित्व महावीर और आलोच्य सभी सन्तों ने भी स्वीकार किया है, किन्तु लघु अन्तर के साथ वह अन्तर यह है कि ईश्वर की सत्ता में तो महावीर ने विश्वास प्रकट किया है किन्तु उस पर कर्तृत्व का आरोप वे नहीं मानते जबकि संतों ने इसे स्वीकार किया है।
5. महावीर एवं सन्तों ने युद्ध का उल्लेख अपनी वाणियों में आध्यात्मिक प्रसंग में किया है किन्तु नानक इसके अपवाद हैं। उन्होंने युद्धों का प्रत्यक्ष रूप में भी वर्णन किया है। सम्भवतः इस का कारण यह है कि नानक को स्वयं राज्य सत्ता का प्रकोप भाजन होना पड़ा था।
6. महावीर वाणी में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग भी सन्तों की वाणी में हुआ है "निर्वाण" तथा "गंगोदक" आदि शब्द इसके उदाहरण है किन्तु गंगोदक शब्द महावीर वाणी में तीर्थंकर मूर्ति के प्राक्षालन जल के रूप में हुआ है किन्तु सन्तों की वाणी में इसका अर्थ गंगाजल है।
7. महावीर और सन्तों के अनुसार संसार दुःखमय है। दुःख का कारण अज्ञान है, इन्होंने दुःख और सुख में साम्यभाव स्थापित किया है।
8. महावीर और सन्तों ने समन्वय से शान्ति का मार्ग बताया है। जब तक देह से ममता बनी रहती है तभी तक अशान्ति रही है। मोह भंग होते ही शान्ति मिल जाती है।
9. नरक और स्वर्ग दर्शन के महत्पूर्ण विषय हैं। महावीर के अनुसार पाप ही नरक का कारण है। नामदेव ने नरक का स्थान इस संसार को ही बताया है।
10. महावीर ने साधना और साधक का स्वरूप स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है। नामदेव का साध्य तो ब्रह्म है। कबीर का सम्पूर्ण जीवन ही साधना था। दादू का साधना मार्ग अन्तर्मुखी है। रविदास भी इसी मत के हैं। सुन्दर दास के साधना में भक्ति पर विशेष बल दिया है। मलूकदास के साधना सम्बन्धी विचारों पर महावीर का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। नानक इस सम्बन्ध में अनिश्चतता की स्थिति में हैं।
11. महावीर ने पापः पुण्य के प्रकारों सहित उसे परिभाषित किया है। नामदेव ने संसार के साथ पाप-पुण्य को भी मैला बताया। कबीर ने

पृष्ट 559 का शेष

साखा पेड़ फूल फल नाहिं, ताकी अमृत वाणी।
पहुप बास भँवरा एक राता बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझे पवन झकोरै आकासे फल फलिया।
सहज समाधि बिरिष यह सींचा, धरती जलहू सोष्या ॥—कबीर वाणी

दोनों को संघाती कहा है। रविदास ने इसे माया के समान कहा है। सुन्दरदास ने तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण के अन्तर्गत इस पर विचार किया है। मलूकदास के अनुसार पाप-पुण्य का फल भोगना पड़ेगा। महावीर और कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्तों की वाणी में इस का विवेचन सामान्य रूप में ही हुआ है।

12. मन पर महावीर एवं संत वाणी में विस्तार से चर्चा हुई हैं। महावीर के अनुसार सब अर्थों को जानने वाला मन है। नामदेव ने संसारिक अर्थों में मन को संसार में भ्रमण करने वाला कहा है। कबीर मन के हर रूप से परिचित है। रविदास ने मन साधने की प्रेरणा दी है। दादू ने मन की पवित्रता के लिये शरीर की पवित्रता पर बल दिया है। सुन्दरदास के अनुसार संकल्प-विकल्प करना मन का स्वभाव है। मलूकदास को मन पर कोई भरोसा नहीं है। गुरु नानक ने मन की उत्पत्ति पंच तत्व आकाश आदि से मानी है।

अत: महावीर वाणी में मन की तात्विक विवेचना हुई है। कबीर और नानक की विवेचना महावीर जैसी गहरी तो नहीं है किन्तु इसके निकट है—ऐसा कहा जा सकता है। महावीर तथा सन्तों ने मन की स्थिति स्पष्ट करने के लिए जड़ व चेतन का प्रयोग किया है। महावीर ने इस के लिए अश्व और अन्य संतों ने इसके लिये मछली, बाजीगर, भुवंग, हाथी, सूवा, मसकरा, मींडका, साधु, चोर, दादुर, रथ, गुड्डी एवं रस्सी शब्दों आदि का प्रयोग किया है। संतवाणी में महावीर वाणी से अधिक इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग है।

13. महावीर के अनुसार भ्रम मृग-मारीचिका के समान है। आलोच्य सन्तों ने भी इसे महावीर के अनुसार ही माना है।

14. महावीर ने निन्दा को कुतर्क कहा है। मलूकदास ने कुतर्क का विरोध किया है।

15. महावीर के अनुसार अन्तरंग से विरक्त ही वास्तव में वैरागी है। सन्तों ने भी वैराग्य को इसी रूप में माना है।

16. महावीर के अनुसार ज्ञान का ही दूसरा नाम आत्मा है। सन्तों ने ज्ञान के लिये गुरु को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

17. महावीर के अनुसार तप, मोक्ष देने वाला है। सन्तों ने भी तप को इसी रूप में स्वीकार किया है।

18. भक्ति पर महावीर वाणी एवं सन्तवाणी में गहरा विवेचन हुआ है। सब सन्तों का मूल स्वर यही है कि 'भय, माया, मिथ्यात्व रहित भक्ति ही वास्तविक भक्ति है।

19. मृत्यु के सत्य कौन नकार सका है ? न महावीर न कबीर, न नानक। महावीर ने दो प्रकार की मृत्यु बताई है—अकाममरण और सकाम मरण। महावीर एवं सन्तों ने सकाममरण पर ही बल दिया है।

20. पुर्जन्म की मान्यता भारतीय दर्शन की अपनी एक विशेषता है। महावीर के अनुसार पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के होते हैं। कर्म श्रृंखला समाप्त होने पर पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है। महावीर ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी महत्व की बात कही है कि पुनर्जन्म में लिंग परिवर्तन नहीं होता। हाँ, पुनर्जन्म में सभी को विश्वास है।

21. योग की सूक्ष्म चर्चा महावीर और सन्त वाणी दोनों में ही हुई है। सभी ने भावना योग को महत्त्वपूर्ण बताया है।

22. महावीर वाणी में जीव का अति सूक्ष्म विवेचन हुआ है। जीव की परिभाषा से लेकर उसके भेद आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। महावीर के अनुसार जीव प्रकाश-पुंज है और विभिन्न रूप धारण करता है। सन्तों के अनुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है। कबीर के अनुसार जीव का सम्बन्ध संसार से है, वह अज्ञानी है। दादू की मान्यता है कि जीव कर्मों के वश में है। मलूकदास की जीव-सम्बन्धी धारणा महावीर के समान ही है।

23. महावीर एवं सन्तों ने माया के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। महावीर के अनुसार आत्मा का कुटिल भाव माया है। कबीर ने माया को महा ठगनी बताया है। रविदास ने माया की चर्चा निषेधात्मक रूप में की है। दादू का विचार है कि माया का वास्तविक रूप तो दीखता नहीं, जो दिखता है वह माया है नहीं। सुन्दर दास ने इसे डायन कहा है। नानक के अनुसार माया कंचन, धन आदि रूप में है।

अतः स्पष्ट है कि माया-सम्बन्धी महावीर एवं सन्तों के विचारों में अनूठा साम्य है।

24. संसार का कोई भी ऐसा दर्शन नहीं है, जिस में आत्मा पर विचार न हुआ हो। महावीर एवं इस शोध प्रबन्ध के आलोच्य सभी सन्त भी इस के अपवाद नहीं हैं। महावीर के अनुसार जो आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता हैं, वही आत्मा है। कबीर ने आत्मा पर विस्तार से कहा है। उनके अनुसार आत्मा अन्त तम सत्य है। रविदास का राम या ब्रह्म अर्थात आत्म रूप है। दादू ने प्रेम, ब्रह्म, राग, गोविन्द आदि के माध्यम से आत्मा के, स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सुन्दर, दास का "आत्मा" चैतन्यरूप है। जहाँ मलूक दास कहते हैं कि हाथी

चींटी, पशु और मनुष्य की आत्मा एक जैसी है वहां उन पर महावीर के विचारों की झलक दृष्टि गोचर होती है ।

अतः आत्म-चिन्तन में महावीर और सन्तों में कहीं पर भी विरोध नहीं है । महावीर के आत्म-चिन्तन को ही सन्तों ने उदाहरणों एवं प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट रूप में समझाया है ।

25. महावीर वाणी में कर्म-चिन्तन अत्यधिक विस्तार से अति सूक्ष्म रूप में उपलब्ध होता है । मनुष्य जन्म में ही जीव कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो सकता है । नामदेव के अनुसार "नाम" ही कर्म बन्धन से मुक्त कर सकता है । कबीर ने निष्काम कर्म करने का सन्देश दिया है । कबीर की कर्म-सम्बन्धी दृष्टि भौतिक वादी भी है । यही दृष्टि नानक की भी है । रविदास, दादू एवं सुन्दर दास के कर्म सम्बन्धी विचार आध्यात्मिक है और महावीर के अधिक निकट है । कर्मों की स्थिति को महावीर से ले कर नानक तक सभी ने स्वीकार किया है । कर्म बन्धन से मुक्ति के साधन पृथक हो सकते हैं ।

26. महावीर वाणी में ध्यान पर बहुत कुछ कह कहा गया है । महावीर एवं संतवाणी में ध्यान के प्रसंग में "अनाहतनाद" जैसे शब्दों का प्रयोग समान रूप से उपलब्ध होता । महावीर के अनुसार बाह्य संकल्पों से रहित चिन्तन ही ध्यान है । कबीर का मत है कि मन को ध्यान द्वारा केन्द्रित किया जा सकता है । दादू ने ध्यान के लिये मन की निर्मलता पर बल दिया है । रविदास ने ध्यान में तान्त्रित षट्कर्म आदि को बाधक बताया है । सुन्दरदास के ध्यान सम्बन्धी विचारों पर महावीर का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । उनके द्वारा ध्यान के जो रूप पिण्डस्थ ध्यान की विधि में जीव अनेक प्रकार की धारणाओं द्वारा अपने उपयोग को एकाग्रह करने का उद्यम करता है । पिंडस्थध्यान आदि बताये गये हैं उन से इस धारणा की की पुष्टि होती है । ध्यान के लिये सन्त वाणी में "सुरति" शब्द का भी प्रयोग किया गया है ।

27. महावीर के अनुसार धर्म का मूल विनय और मोक्ष है । उन्होंने धर्म के दो रूप श्रुत धर्म और चरित्र धर्म का उल्लेख अपनी वाणी में किया है । नामदेव ने धर्म की उत्पत्ति मन से मानी है । कबीर ने धार्मिक पाखड़ों का विरोध किया है । रविदास पर महावीर के विचारों की छाया है । उन्होंने धर्म द्वारा जीव की कर्म बन्धन से मुक्ति मानी है । नानक ने अपने द्वारा संस्थापित धर्म की विशेषताओं का उल्लेख किया है । किन्तु इसकी मूल धारणा महावीर और अन्य सन्तों के विचारों पर ही आधारित है ।

19. मृत्यु के सत्य कौन नकार सका है ? न महावीर न कबीर, न नानक । महावीर ने दो प्रकार की मृत्यु बताई है—अकाममरण और सकाम मरण । महावीर एवं सन्तों ने सकाममरण पर ही बल दिया है ।

20. पुर्जन्म की मान्यता भारतीय दर्शन की अपनी एक विशेषता है । महावीर के अनुसार पुनर्जन्म कर्म-संगो जीवों के होते हैं । कर्म शृखंला समाप्त होने पर पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है । महावीर ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी महत्व की बात कही है कि पुनर्जन्म में लिंग परिवर्तन नहीं होता । हाँ, पुनर्जन्म में सभी को विश्वास है ।

21. योग की सूक्ष्म चर्चा महावीर और सन्त वाणी दोनों में ही हुई है । सभी ने भावना योग को महत्वपूर्ण बताया है ।

22. महावीर वाणी में जीव का अति सूक्ष्म विवेचन हुआ है । जीव की परि-भाषा से लेकर उसके भेद आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है । महावीर के अनुसार जीव प्रकाश-पुंज है और विभिन्न रूप धारण करता है । सन्तों के अनुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है । कबीर के अनुसार जीव का सम्बन्ध संसार से है, वह अज्ञानी है । दादू की मान्यता है कि जीव कर्मों के वश में है । मलूकदास की जीव-सम्बन्धी धारणा महावीर के समान ही है ।

23. महावीर एवं सन्तों ने माया के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है । महावीर के अनुसार आत्मा का कुटिल भाव माया है । कबीर ने माया को महा ठगनी बताया है । रविदास ने माया की चर्चा निषेधात्मक रूप में की है । दादू का विचार है कि माया का वास्तविक रूप तो दीखता नहीं, जो दिखता है वह माया है नहीं । सुन्दर दास ने इसे डायन कहा है । नानक के अनुसार माया कंचन, धन आदि रूप में है ।

अतः स्पष्ट है कि माया-सम्बन्धी महावीर एवं सन्तों के विचारों में अनूठा साम्य है ।

24. संसार का कोई भी ऐसा दर्शन नहीं है, जिस में आत्मा पर विचार न हुआ हो । महावीर एवं इस शोध प्रबन्ध के आलोच्य सभी सन्त भी इस के अपवाद नहीं हैं । महावीर के अनुसार जो आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता हैं, वही आत्मा है । कबीर ने आत्मा पर विस्तार से कहा है । उनके अनुसार आत्मा अन्त तम सत्य है । रविदास का राम या ब्रह्म अर्थात आत्म रूप है । दादू ने प्रेम, ब्रह्म, राग, गोविन्द आदि के माध्यम से आत्मा के, स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । सुन्दर, दास का "आत्मा" चैतन्यरूप है । जहाँ मलूक दास कहते हैं कि हाथी

चींटी, पशु और मनुष्य की आत्मा एक जैसी है वहाँ उन पर महावीर के विचारों की झलक दृष्टि गोचर होती है।

अतः आत्म-चिन्तन में महावीर और सन्तों में कहीं पर भी विरोध नहीं है। महावीर के आत्म-चिन्तन को ही सन्तों ने उदाहरणों एवं प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट रूप में समझाया है।

25. महावीर वाणी में कर्म-चिन्तन अत्यधिक विस्तार से अति सूक्ष्म रूप में उपलब्ध होता है। मनुष्य जन्म में ही जीव कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। नामदेव के अनुसार "नाम" ही कर्म बन्धन से मुक्त कर सकता है। कबीर ने निष्काम कर्म करने का सन्देश दिया है। कबीर की कर्म-सम्बन्धी दृष्टि भौतिक वादी भी है। यही दृष्टि नानक की भी है। रविदास, दादू एवं सुन्दर दास के कर्म सम्बन्धी विचार आध्यात्मिक है और महावीर के अधिक निकट है। कर्मों की स्थिति को महावीर से ले कर नानक तक सभी ने स्वीकार किया है। कर्म बन्धन से मुक्ति के साधन पृथक हो सकते हैं।

26. महावीर वाणी में ध्यान पर बहुत कुछ कह कहा गया है। महावीर एवं संतवाणी में ध्यान के प्रसंग में "अनाहतनाद" जैसे शब्दों का प्रयोग समान रूप से उपलब्ध होता। महावीर के अनुसार बाह्य संकल्पों से रहित चिन्तन ही ध्यान है। कबीर का मत है कि मन को ध्यान द्वारा केन्द्रित किया जा सकता है। दादू ने ध्यान के लिये मन की निर्मलता पर बल दिया है। रविदास ने ध्यान में तान्त्रित षट्कर्म आदि को बाधक बताया है। सुन्दरदास के ध्यान सम्बन्धी विचारों पर महावीर का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके द्वारा ध्यान के जो रूप पिण्डस्थ ध्यान की विधि मे जीव अनेक प्रकार की धारणाओं द्वारा अपने उपयोग को एकाग्रह करने का उद्यम करता है। पिंडस्थध्यान आदि बताये गये हैं उन से इस धारणा की की पुष्टि होती है। ध्यान के लिये सन्त वाणी में "सुरति" शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

27. महावीर के अनुसार धर्म का मूल विनय और मोक्ष है। उन्होंने धर्म के दो रूप श्रुत धर्म और चरित्र धर्म का उल्लेख अपनी वाणी में किया है। नामदेव ने धर्म की उत्पत्ति मन से मानी है। कबीर ने धार्मिक पाखंडों का विरोध किया है। रविदास पर महावीर के विचारों की छाया है। उन्होंने धर्म द्वारा जीव की कर्म बन्धन से मुक्ति मानी है। नानक ने अपने द्वारा संस्थापित धर्म की विशेषताओं का उल्लेख किया है। किन्तु इसकी मूल धारणा महावीर और अन्य सन्तों के विचारों पर ही आधारित है।

सामाजिक—

1. महावीर और सन्तों ने आचरण पर अत्यधिक बल दिया है। उनके अनुसार शीलवान, देवताओं को भी प्रिय होते हैं।
2. महावीर और सन्तों ने उच्च और नीच के भेद को अपनी-अपनी वाणियों में स्वीकार नहीं किया है।
3. महावीर और सन्त वाणी में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। महावीर के अनुसार ब्रह्मचर्य तथा सत्य का पालन कहने वाला ब्राह्मण होता है। महावीर की "ब्राह्मण" की परिभाषा में वे सभी मनुष्य आते हैं, जो सत्कर्म करने वाले है। रविदास, दादू तथा सुन्दरदास आदि का भी यही मत है।

महावीर के अनुसार क्षत्रिय वह है, जो प्राणियों का हनन नहीं करता। रविदास के अनुसार क्षत्रिय वह है, जो धर्मयुद्ध लड़ता है। सुन्दरदास ने आध्यात्मिक क्षेत्र में कुप्रवृत्तियों से युद्ध करने वाले को माना है अर्थात् व्यर्थ में दूसरो का रक्त बहाने वालों को न तो महावीर और न ही सन्तों ने माना है।

महावीर तथा सन्तों ने वास्तविक श्रमण (जैन) का उल्लेख अपनी वाणियों में किया हैं। गुरू नानक ने तो जैन की बड़ी कटु आलोचना की है। ऐसा प्रतीक होता है कि नानक को जैन परम्परा का तात्विक परिचय नहीं था। उन्होंने जो कुछ कहा वह राजनीति से प्रभावित होकर कहा अथवा ऊपर से देखी सुनी बातो के आधार पर कहा है। कबीर और नानक की जैन सम्बन्धी आलोचना में मौलिक अन्तर यही है कि कबीर की आलोचना सुधार परक है और नानक की निन्दा परक।

वैश्य पर भी दोनो पक्षों में समान रूप से चर्चा हुई है।

4 महावीर ने भिक्षाचारी के अन्तर्गत द्वार-द्वार पर भीख मांगने वालों की चर्चा तो अपनी वाणी में नहीं की है किन्तु भिक्षुक नीति पर अवश्य प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि भिक्षुक को एक ही गृहस्थ पर आश्रित नहीं रहना चाहिये। संतों ने द्वार-द्वार पर भीख मांगने वालों की कटु आलोचना की है।

5. महावीर ने साधु को उपाध्याय परमेष्ठी का स्थान दिया है। उनके अनुसार मोक्ष मार्ग में रत मनुष्य ही साधु है। नामदेव के अनुसार अहंकार को नष्ट कर देने वाला साधु है। कबीर ने सब के साथ समता-भाव रखने वाले को साधु कहा है। रविदास ने सामाजिक दृष्टि से कहा है कि साधु वह है जो अन्य की पीडा जाने। मलूक दास ने बाह्य वेश धारण करने

वाले साधु की कटु आलोचना की है। महावीर तथा संतवाणी में साधु के आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों पक्षों को लेकर विचार किया गया है।

6. महावीर के अनुसार नियमपूर्वक गृहवास करने वाले को पुनः मानव योनि प्राप्त हो सकती है। नामदेव ने गृहवास को कूप बताया है। कबीर पर महावीर की विचार छाया दृष्टि गोचर होती है कबीर ने भी उदारता रहित गृहस्थ जीवन को व्यर्थ बताया है। रविदास ने भी गृह त्याग कर, बन जाने को नकारा है। अतः स्पष्ट है कि महावीर एवं सन्तों की गृहस्थ को लेकर सामाजिक दृष्टि भी रही है।
7. सत् संगति के महत्व पर महावीर एवं सन्तों ने समान रूप से कहा है। यह उच्चय समाज के निर्माण में बहुत सहयोगी है।
8. आहार, समाज का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। आहार के कारण ही समाज में बहुत से अपराध होते हैं। अतः महावीर और सन्तों ने सामाजिको, साधु और सन्तों के लिये आहार के नियम अपनी-अपनी वाणियों में निश्चित किये हैं। रात्रि भोजन का त्याग न केवल महावीर वाणी में उपलब्ध होता है अपितु वैदिक साहित्य में भी इसका निषेध किया गया है।
9. महावीर एवं सन्तों की वाणी में जुवा एक सामाजिक बुराई घोषित किया गया है।
10. महावीर तथा सन्तों ने विनय की स्थापना सामाजिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में की है।
11. गुरु-शिष्य को लेकर महावीर एवं संतवाणी में विस्तार से सूक्ष्म चर्चा हुई है। यह चर्चा आध्यात्मिक रूप के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टि से भी हुई है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।
12. आगम साहित्य में वेश्या का उल्लेख प्राप्त होता है, जो कथाओं के रूप में है। महावीर वाणी इस सम्बन्ध में प्रायः मौन है। संतों की वाणी में इसका उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है।
13. महावीर और सतथा संतों ने बौद्धों पर भी विचार किया है।
14. महावीर और संतों ने विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त पाखंडों पर विस्तार से विचार करके उन्हें दूर करने का मार्ग प्रदर्शित किया है।
15. जातिवाद का महावीर और संतों ने खुला विरोध किया है।

राजनैतिक एवं आर्थिक

महावीर ने जनसामान्य के अतिरिक्त राजाओं एवं उनके परिवार के सदस्यों को भी उपदेश दिये थे। अतः उनकी वाणी में "राजन्" सम्बोधन का उपयोग अनेक बार हुआ है। इसके अतिरिक्त राजभवन एवं उनकी व्यवस्था का उल्लेख भी आगम

साहित्य में हुआ है। कर व्यवस्था पर भी फुटकर सामग्री प्राप्त होती है। महावीर ने न्याय पक्ष में शास्त्र-अध्ययन पर बल दिया है। महावीर के अनुसार युद्ध-शास्त्र का अध्ययन बुरा नहीं है, लेकिन इसका प्रयोग ठगने के उद्देश्य से नहीं किया जाना चाहिए। आगम साहित्य में युद्ध सामग्री का भी उल्लेख प्राप्त होता है। महावीर ने कहा है कि योद्धा के अस्त्र-शस्त्र क्षमा आदि होते हैं।

संतों की वाणी में राजभवन शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है जैसे मलूकदास ने "प्रासाद" के अर्थ में किया है। कर, न्याय आदि की चर्चा भी संत वाणी में उपलब्ध होती है। कबीर ने महावीर के समान जीव-बध को अन्याय कहा है। नानक का युद्ध आदि वर्णन राजनैतिक स्तर का है। अन्यथा अन्य संतों ने इसका उपयोग आध्यात्मिक रूपक के रूप में किया है।

महावीर वाणी में धन (द्रव्य) की तात्विक विवेचना हुई है। उसके अनुसार धन में आसक्त मनुष्य मूढ़ है। नामदेव रविदास, दादू आदि ने माधव, राम आदि को सबसे बड़ा धन माना है। कबीर का धन सम्बन्धी चिन्तन समाज परक है। धन संचय का महावीर ने ही नहीं सभी संतों ने भी विरोध किया है। महावीर ने व्यापार में सदाचरण पर जोर दिया है। संतों ने भी इस विचार की पुष्टि की है।

नैतिकता—

1. महावीर वाणी में सभी प्रकार के अहंकारों का निषेध किया है क्योंकि यह अनेक भवों में भटकाने वाला है। नामदेव ने कहा है कि अहंकारी अपनी आत्मा तक को भूल जाता है। कबीर के अनुसार अहंकार एक रोग है, खजूर की तरह अहंकारी होने से क्या लाभ। दादू अहंकारी मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि जीवन बीता जा रहा है, अब भी समय है, अहंकार त्याग दे। रविदास कहते हैं कि अहंकार अपने पराये का विवेक समाप्त कर देता है। अन्य संतों ने भी महावीर के समान अहंकार का विरोध किया है।
2. महावीर के अनुसार अभयदान सब दानों से महान् है। कबीर ने दान में हर्ष पर बल दिया है। नामदेव ने भगवान के भजन को दान कहा है। नानक ने कहा है कि सबसे बड़ा दान देने वाला तो परमात्मा है। अतः महावीर एवं संतों के विचार से सांसारिक वस्तुओं का दान महत्त्वहीन है।
3. शौच पर महावीर एवं संतों ने बहुत कुछ कहा है। दोनों के अनुसार शरीर शुद्धि के साथ अन्तःकरण की शुद्धि भी आवश्यक है।
4. महावीर और संतों के मतानुसार दुष्प्रवृत्तियाँ अड़ियल घोड़े के समान है। इन्हें लगाम में रखना चाहिए।

5. महावीर का दया का क्षेत्र बहुत व्यापक है वह चीटी से लेकर वनस्पति तक फैला हुआ है। नामदेव तथा कबीर को छोड़कर शेष सभी संतों की दया प्राणी मात्र तक सीमित है।
6. महावीर और संतों के अनुसार आत्म-संयम से सभी संयमों की साधना हो जाती है।
7. महावीर और संतों ने सम्यक्त्व पर समान रूप से बल दिया है।
8. महावीर ने कहा है कि सन्तोष से ही लोभ को जीता जा सकता है। कबीर ने भी कहा है कि "जो आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।" सुन्दर दास ने तो इसे ईश का ईश कहा है।
9. नारी तथा काम भोगों का महावीर तथा संत वाणी में विरोध हुआ है। इस विषय पर दोनों वाणियों में विस्तार से विवेचन हुआ है। दोनों में ही ब्रह्मचर्य पर बल दिया है। दादू ने नारी ही नहीं पुरुष को भी काम का प्रतीक कहा है। नानक आदि कुछ संतों ने नारी का प्रयोग जीवात्मा के रूप में भी किया है।
10. महावीर वाणी में मौन के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य को बिना बुलाए या क्रोध की अवस्था में तथा अधिक नहीं बोलना चाहिए। नामदेव, कबीर आदि संतों की वाणी में भी महावीर की उक्त वाणी की झलक मिलती है।
11. महावीर ने चोरी का कड़ा विरोध किया है। नामदेव ने संसार में सभी को चोर बताया है। कबीर पंचविकारों को चोर मानते हैं। दादू तो अपने से बड़ा चोर किसी को नहीं मानते। सुन्दर दास ने मन को चोर कहा है। मलूकदास के अनुसार पाँच सौ पच्चीस चोर शरीर की दुकान को लूट रहे हैं।
12. महावीर के अनुसार क्रोध न करना ही क्षमा है। कबीर ने भी अक्रोध के फल को क्षमा माना है। दादु के अनुसार क्षमा मार्ग द्वारा मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है।
13. महावीर ने निन्दा करने वालों की परवाह न करने का उपदेश दिया है। नामदेव कहते हैं कि जब मैं परमेश्वर में लीन हो गया हूँ, तो निन्दकों की चिन्ता क्यों करूँ। कबीर तो निन्दक की ओर से इतने निश्चिन्त हैं कि उसे आंगन में कुटिया बना कर देने तक के लिए तैयार है। दादू निन्दक को उपकारी कहते है। नानक स्वयं अपने निन्दक होने पर पछताते हैं।
14. अपरिग्रह महावीर वाणी का महत्त्वपूर्ण अंग है। महावीर के अनुसार धन आदि का परिग्रह नरक का कारण है। नामदेव का तो जीवन ही अपरिग्रह का जीवंत उदाहरण है। वे व्यापार में आवश्यकतानुसार ही

कमाते थे। कबीर भी अधिक धन संचय के पक्ष में नहीं है। रविदास के अनुसार भी परिग्रह दु:ख का कारण है।

15. अहिंसा भी महावीर वाणी का महत्त्वपूर्ण अंग है। जिसका उसमें सूक्ष्म विवेचन हुआ है। उसके अनुसार सब जीवों के प्रति संयम रखना ही अहिंसा है। महावीर की अहिंसा का क्षेत्र प्राणी मात्र तक विस्तृत है। अहिंसा के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख उनकी वाणी में हुआ है। उनमें से एक भाव अहिंसा है अर्थात् विचारों तक में हिंसा की भावना जाग्रत न होवे। संतों की वाणियों में अहिंसा जीवों तक ही सीमित रह गई है। सभी ने अहिंसा से पशु-पक्षियों की रक्षा की बात की है।

16. सत्य पर भी महावीर एवं संतों ने विचार प्रकट किये है। महावीर ने सत्य को चौथा धर्म माना है। उनके अनुसार जो जैसा हुआ हो वैसा ही कह देना सत्य है। नामदेव के अनुसार एक बात दो प्रकार से नहीं कही जाती। कबीर के अनुसार सत्य वह है, जो स्थिर रहता है। रविदास का सत्य ईश्वर रूप है। नानक का भी सत्य के सम्बन्ध में यही विचार है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर तथा संत नामदेव से लेकर गुरु नानक तक सभी संतों ने व्यापक रूप से दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक दृष्टि से अपनी वाणियों में जहाँ एक ओर स्वकालीन सामाजिक स्थितियों का परिचय कराया है वही उन्होंने अनेक माध्यमों से अपनी वाणियों के द्वारा यथा अवसर तथा यथोपयुक्त उपदेश देकर स्वकालीन जनमानस का संस्कार भी किया है। विचित्र बात यह है कि तीर्थंकर महावीर तथा नामदेव से प्रारम्भ होने वाले निर्गुणि संत युग के बीच लगभग डेढ हजार वर्ष का बड़ा लम्बा अन्तराल होने पर भी इन सबकी वाणी का स्वर मानवीय जीवन के सभी पक्षों के सम्बन्ध में लगभग एक जैसा ही रहा। इसलिए भी इस शोध प्रबन्ध का महत्त्व बढ़ जाता है कि जैन आगमों मे बिखरी हुई तीर्थंकर महावीर की वाणियों से कोई परिचय न होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी संत उसी स्वर में अपनी वाणियों के द्वारा उपदेश दे रहे है, जिस स्वर में तीर्थंकर महावीर ने दिया है।

———

उपसंहार

महावीर चरित्र एवं वाणी के सूत्र जैन आगम साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में बिखरे पड़े हैं। आधुनिक भारतीय अन्य भाषाओं के साहित्य में भी इसके सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। जिस समय तीर्थंकर महावीर का प्रादुर्भाव हुआ उस समय धार्मिक स्थिति बड़ी विकृत थी धर्म के नाम पर रक्तपात हो रहा था। सामाजिक क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था के नियम कड़े थे। जातिवाद का बोल बाला था। देश में धन-धान्य की कमी नहीं थी किन्तु धन संचय की प्रवृत्ति तेजी से विकसित होती जा रही थी। राजनैतिक दृष्टि से यह युग उथल-पुथल का युग था। महावीर तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम थे।

महावीर का जन्म चैत्र सुदी (शुक्ला त्रयोदशी) 30 मार्च सन् 599 ई०पू० कुन्दपुर में तथा मोक्ष ई०पू० 527 में पावा में हुआ। उनकी वाणी अर्द्ध मागधी में मुखरित हुई, जिसे उनके मोक्ष के लगभग 500 वर्ष उपरान्त लिपिबद्ध किया गया। उनकी देशना के मुख्य विषय दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक हैं। कुछ वाणियाँ राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों को भी आलोकित करती हैं।

इस शोध प्रबन्ध के आलोच्य संत प्रायः सभी अनपढ़ थे। उनकी वाणियाँ भी प्रायः उनके बाद ही लिपिबद्ध की गई। महावीर वाणी के आलोक में संतों की वाणियों का अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संतों की वाणी में दार्शनिक एवं नैतिक मूल्य प्रायः वही हैं जो महावीर वाणी में अभिव्यक्त हुए हैं। सामाजिक मूल्यों में आमूल-चूल परिवर्तन अवश्य दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण दोनों के युग के समाजों के मध्य हजारों वर्षों का अन्तराल है। अपने-अपने युग के समाज को उन्होंने आवश्यकतानुसार अपनी-अपनी वाणियों में व्यवस्था दी है।

महावीर राजकुमार थे किन्तु राजनीति उनका उद्देश्य नहीं था। आर्थिक रूप से समृद्धिशाली होते हुए भी अर्थ भोग उन्हें प्रिय न था अतः उनकी वाणी में इनका रूप दार्शनिक आवरण में ही प्रकट हुआ है। इसके विपरीत सभी आलोच्य संतों ने नीची जाति से सम्बन्धित होते हुए भी कभी राजनैतिक सत्ता अथवा सांसारिक धन

सम्पदा की कामना नहीं की। अतः उनकी वाणियों में ये पक्ष विरोधी रूप में ही प्रकट हुए।

इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध में व्यापक रूप से मानव जीवन के सभी पक्षों की दृष्टि से संतों की वाणियों पर विचार किया गया है और उन पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला गया है कि मानव सभी युगों में भावनात्मक और व्यवहारात्मक दृष्टि से सदा एक ही प्रकार का रहा है और इसलिए संतों ने अपनी वाणियों में मानव जीवन के इस विभिन्न पक्षों पर अवसर के अनुकूल अपनी वाणियाँ कही हैं। जिससे उनकी वाणियों में विभिन्न युगों की आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक व आर्थिक तथा सांस्कृतिक भावनायें स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई हैं, जिनके आधार पर विभिन्न युगों के समाजों का स्पष्ट चित्र प्राप्त हो जाता है।

———

परिशिष्ट–1

आधुनिक साहित्य में महावीर चरित्र के स्रोत

ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	महावीर चरित्र सम्बन्धी सामग्री के संकेत
1. महावीर नो रास (सं० 1609)	पद्म कवि	राजस्थानी	भगवान् महावीर के जीवन का सविस्तृत काव्य निबद्ध वर्णन।
2. वर्द्धमान रास (1665)	वर्द्धमान कवि	राजस्थानी	भगवान महावीर का काव्यात्मक वर्णन।
3. वर्द्धमान पुराण (1691)	नवलराय	राजस्थानी	भगवान महावीर का काव्यात्मक वर्णन।
4. वर्द्धमान चरित	केशरीसिंह	राजस्थानी	भगवान महावीर का परिचयात्मक वर्णन।
5. वर्द्धमान सूचनिका	बुधजन	राजस्थानी	—
6. महावीर पुराण	मनसुखसागर	राजस्थानी	भगवान महावीर का चरित्र
7. महावीर नो विनती	शुभचन्द्र	राजस्थानी	भगवान महावीर का गुणानुवाद।
8. महावीर छन्द	—	राजस्थानी	भगवान महावीर के गर्भ कल्याण और 16 स्वपनों का वर्णन।
9. महावीर रास	श्री कुमुदचन्द्र	राजस्थानी	—
10. श्री महावीर स्वामी चरित्र	नन्दलाल लल्लू	गुजराती	श्रेणिक, उनके पुत्र व रानियों का परिचय के लिए अन्तकृद्सांग।
11. महावीर कथा (1941)	गोपालदास जीवनभाई पटेल	गुजराती	प्रामाणिक महावीर चरित्र।

ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	महावीर चरित्र सम्बन्धी सामग्री के संकेत
12. भगवान महावीर	चन्द्रराज भण्डारी	हिन्दी	भगवान महावीर काल निर्णय, जन्म भूमि, माता-पिता, जन्म आदि ।
13. श्री महावीर चरित्र	हर्षचन्द्रजी	गुजराती	भगवान महावीर पर संक्षेप में प्रकाश।
14. श्री वर्द्धमान चरित्र	श्री आत्मा राज जी	—	प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित महावीर चरित्र ।
15. भगवान महावीर का आदर्श जीवन	चौथमल जी	—	भगवान महावीर पर सविस्तार वर्णन।
16. श्रमण भगवान महावीर	कल्याण विजय	—	भगवान महावीर के केवल ज्ञान के बाद का वर्णन आदि ।
17. तीर्थंकर वर्द्धमान	श्रीचन्दराम पुरियाँ	हिन्दी	प्रमाणित महावीर चरित्र एवं महावीर वाणी ।
18. तीर्थंकर महावीर	विजयेन्द्र सूरि	हिन्दी	शोधात्मक महावीर चरित्र ।
19. आगम और त्रिपटक ! एक अनुशीलन	मुनि नगराज	हिन्दी	बुद्ध और महावीर का तुलनात्मक अध्ययन ।
20. जैन धर्म का मौलिक इतिहास	श्री हस्तीमल	हिन्दी	मौलिक सूझ-बूझ युक्त महावीर चरित्र ।
21. सन्मति महावीर	श्री सुरेश मुनि	हिन्दी	—
22. महावीर सिद्धान्त और उपदेश	अमर मुनि	हिन्दी	—
23. विश्व ज्योति महावीर	अमर मुनि	हिन्दी	विचार प्रधान महावीर चरित्र ।
24. चार तीर्थंकर	पं० सुखलाल संघवी	हिन्दी	शोधात्मक महावीर चरित्र ।

ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	महावीर चरित्र सम्बन्धी सामग्री के संकेत
25. महावीर वाणी	पं० बेचनदास दोशी	हिन्दी	महावीर व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।
26. वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्ध-मान महावीर	डॉ० नेमिचन्द जैन	हिन्दी	महावीर व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।
27. काल्पनिक अध्यात्म महावीर	बुद्धिसागर	हिन्दी	ऐतिहासिक पात्रों के आधार पर महावीर का आध्यात्म रूप ।
28. महावीर . मेरी दृष्टि में	रजनीश	हिन्दी	महावीर को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत करना ।
29. भगवान महावीर	कान्ताप्रसाद जैन	हिन्दी	महावीर पर शोधपरक दृष्टि ।
30. निर्गन्थ महावीर	जयभिक्खु	गुजराती	शोधपरक दृष्टि से महावीर चरित्र ।
31. युग पुरुष महावीर	शरद कुमार	—	—
32. जगदुद्धारक महावीर	अम्बेलाल नारायणजी जोशी	गुजराती	महावीर के जीवन प्रसंग ।
33. कुण्डलपुर के राजकुमार भगवान महावीर	जयप्रकाश शर्मा	हिन्दी	महावीर चरित्र प्राचीन ग्रन्थों से मेल नहीं खाता ।
34. प्रभु महावीर जीवन चरित्र	अम्बाजी स्वामी	गुजराती	—
35. वर्द्धमान (महाकाव्य)	अनूपकवि	हिन्दी	—
36. ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर	हीरालाल रसिकदास	गुजराती	महावीर संबंधी लेखों का संग्रह ।

ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	महावीर चरित्र सम्बन्धी सामग्री के संकेत
37. त्रिशलानन्दन महावीर	रतिलाल मफा भाईशाह	गुजराती	संक्षिप्त महावीर चरित्र ।
38. महावीर वर्द्धमान	डा० जगदीश चन्द्र जैन	हिन्दी	शोध परक महावीर चरित्र ।
39. वीरायण महाकाव्य	रघुवीरशरण मित्र	हिन्दी	--

परिशिष्ट—2

तीर्थंकर महावीर के महत्वपूर्ण सन्दर्भ

	दिगम्बर सन्दर्भ ग्रन्थ			श्वेताम्बर सन्दर्भ ग्रन्थ			
सन्दर्भ	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोयपण्णत्ति	समवायांग	सत्तरिसंयद्वार	प्रवचनसारोद्धार	आवश्यक नि०
पिता का नाम	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ
माता का नाम	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी	त्रिशला	त्रिशला	त्रिशला	त्रिशला
जन्म भूमि	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	—	कुण्डपुर	—	—
जन्म तिथि	चैत्रसुदी 13	चैत्रसुदी 13	चैत्रसुदी 13	—	चैत्रशुक्ला 13	—	—
वर्ण	स्वर्ण के समान पीले	—	—	—	तपे सोने की तरह गौर	तपे साने की तरह वर्ण	—
लक्षण	—	—	सिंह	—	सिंह	सिंह;	—
राज्यकाल	नहीं किया	नहीं किया	नहीं किया	—	नहीं किया	—	नहीं किया
कुमार जीवन	30 वर्ष	30 वर्ष	30 वर्ष	—	30 वर्ष	—	30 वर्ष

सन्दर्भ	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोयपण्णति	समवायंग	सत्तरिसंयद्वार	प्रवचन सरोवर	आवश्यक नि०
दीक्षा-तिथि	मार्गशीर्ष कृ०10	मार्गशीर्ष कृ०10	मार्गशीर्ष कृ०10	चैत्रसुदी 10	चैत्रसुदी 10	—	—
केवल ज्ञान	वैशाख सुदी 10	वैशाख सुदी 10	वैशाख सुदी 10	—	वैशाख सुदी 10	—	वैशाख सुदी 10
प्रथम शिष्य	इन्द्रभूति	—	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	—
प्रथम शिष्या	चन्दना	चन्दना	चन्दना	चन्दनबाला	चन्दनबाला	चन्दना	—
श्रवण जीवन	42 वर्ष	—	—	—	42 वर्ष	—	42 वर्ष
आयु प्रमाण	72 वर्ष	72 वर्ष	72 वर्ष	—	72 वर्ष	72 वर्ष	72 वर्ष
निर्वाण तिथि	—	कार्तिक कृष्ण 14	कार्तिक कृष्ण 14	—	कार्तिक कृष्ण 30	कार्तिक कृष्ण 30	—
निर्वाण स्थल	—	—	पावापुरी	—	पावापुरी	पावापुरी	—

परिशिष्ट—3

त्रिपिटक साहित्य में महावीर व्यक्तित्व-कृतित्व एवं सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख*

सिंह सेनापति—विनयपिटक महावग्ग खन्धक, 6-4-8 के आधार से ।[1]

गृहपति उपालि—मज्झिम निकाय, उपालि सुत्तन्त, 2-1-6 के आधार से ।[2]

---

1. सिंह सेनापति और उसके प्रकार के उदन्त का आगम साहित्य में कहीं आभास नहीं मिलता । इसका विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में भी नहीं मिलता । इसका नामोल्लेख अंगुत्तर निकाय में बुद्ध से की गई दान सम्बन्धी चर्चा में आता है । उक्त प्रकरण में महावीर को क्रियावादी व्यक्त किया गया है । बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए मांसाहार का स्पष्ट विधान इसी घटना-प्रसंग से बना है । निगठों ने यहाँ उद्दिष्ट मांस का विरोध किया है ।

—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० 407-408

2. डा० जकोबी ने उपालि के घटना प्रसंग पर समीक्षा करते हुए लिखा है—"महावीर का कायिक पाप को बड़ा बताना आगम सम्मत ही है । सूत्र कृतांक (2, 4 तथा 2, 6) में इस अभिप्राय की पुष्टि मिलती है ।

—S.S.E. Vol XLV Introduction. p. XVII.

किन्तु मुनि नगराज जी के अनुसार डा० जकोबी की यह समीक्षा यथार्थ नहीं है क्योंकि वहाँ जो कहा गया है, इसका हृदि इससे अधिक नहीं है कि काय-दण्ड भी एक पाप बन्ध का निमित है ।

—वही, पृष्ठ 417

* इस शीर्षक के अन्तर्गत त्रिपिटक साहित्य में भगवान् महावीर के व्यक्तित्व-कृतित्व एवं उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं एवं व्यक्तियों का संक्षिप्त विवरण एवं समीक्षा प्रस्तुत की गई है । इस तालिका का आधार मुनि नगराज जी का ग्रन्थ "आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन है ।"

अभय राजकुमार—मज्झिम निकाय, अभय कुमार सुत्तन्त, 2-1-8 के आधार से ।[1]

कर्म चर्चा—मज्झिम निकाय, देव दह, सुत्तन्त, 3-1-1 के आधार से ।[2]

निर्गन्थों का तप—मज्झिम निकाय, चूलदुक्खक्खन्ध सुत्तन्त, 1-2-4 के आधार से ।[3]

असिबन्धक पुत्र ग्रामणी—संयुत्त निकाय, संख सुत्त, 40-8 के आधार से ।[4]

नालन्दा में दुर्भिक्ष—संयुत्त निकाय, कुल सुत्त, 40-1-9 के आधार से ।[5]

चित्र गृहपति—संयुत्त निकाय, निगंठ सुत्त, 39-8 के आधार से ।[6]

कौतूहलशाला सुत्त—संयुत्त निकाय, कुतूहल शाला सुत्त, 42-9 के आधार से ।[7]

---

1. वहाँ अभय राजकुमार अपने अतीत जीवन की गाथा में महावीर से विलग होकर बुद्ध की शरण में जाने की बात कहता है। उल्लेखनीय यह है कि बुद्ध की स्तुति में भी वह वहाँ "कित्तयित्वा जिनवरं, कित्तितो होमि सव्वदा" ही कहता है। —वही, पृष्ठ 419
2. उक्त प्रकरण में सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का वर्णन है। सभी प्रश्नों का उत्तर निगंठों से निषेध की भाषा में दिलाया गया है। —आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, पृष्ठ 424
3. यहाँ सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह जैन मान्यता से प्रतिकूल नहीं है। अन्य वितर्क तो साम्प्रदायिक पद्धति के हैं ही। —वही, पृ० 426
4. आगम साहित्य में आसिबन्धक पुत्त ग्रामीण नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता। —वही, पृ० 428
5. आगम साहित्य में नालन्दा की दुर्भिक्ष-स्थिति का कोई उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत प्रकरण से इतना तो स्पष्ट होता है कि महावीर और बुद्ध एक ही काल में अपनी-अपनी भिक्षु-परिषद् सहित नालन्दा में थे। —वही—पृष्ठ 430
6. चित्र ग्रहपति मच्छिका खण्ड ग्राम का रहने वाला था। धर्म गाथा में वह बहुत कुशल था। बुद्ध ने उसे धर्म कथिकों में अग्रण्य कहा है। वही, पृष्ठ 432
7. जैन धारणा के अनुसार मृत की गति को जान लेना बहुत साधारण बात है। महावीर तो केवल सम्पन्न थे। मृत की गति तो अवधि ज्ञान से भी जानी जा सकती है। —वही, पृ० 433

अभयलिच्छवी—अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, 74 पृ० 227-28 के आधार से।[1]

लोकसान्त-अनन्त—सुतपिटके, अंगुत्तर निकाय पालि, नवक निपातो, महावग्गो. लोकयतिक सुत्त 9-4-7 के आधार से।[2]

वप्प जैन श्रावक—सुत्तपिटके, अंगुत्तर निकाय पालि, चतुक्कनिपात, महावग्गो, वप्पसुत्त 4-20-5 पृ० 188-192 के आधार से।[3]

सकुलउदायी—मज्झिम निकाय, चूलसुकुलदायिसुत्तन्त, 2-3-9 के आधार से।[4]

विग्यशक्ति प्रदर्शन—विनयपिटक, चुल्लवग्ग 5-1-10 धम्मपद अट्ठकथा 4-2 के आधार से।[5]

छः बुद्ध—संयुत्त निकाय अट्ठकथा 3-1-1[6]

---

1. प्रस्तुत प्रकरण में तप विषयक जो चर्चा की गई है, वह जैन धारणा के सर्वथा अनुकूल है। निर्जरा शब्द का उपयोग बहुत सार्थक है। —वही, पृ० 430
2. पूरण काश्यप के साथ "अनन्त" और निगंठ के साथ "अन्तकान्त" पाठ है। वही सही लगता है, क्योंकि महावीर की लोक-सम्बन्धी धारणा के वह नितान्त अनुकूल बैठता है। महावीर ने लोक को सान्त और अलोक को अनंत माना है। —आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० 436
3. वप्पशाक्य राजा था और स्वयं बुद्ध का चूल पिता था। हालांकि जैन परम्परा में इस सम्बन्ध से कोई उल्लेख नहीं है। बुद्ध के पितृत्व का निर्ग्रन्थ-धर्म में होना, महावीर की ज्येष्ठता और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारों में निर्ग्रन्थ-धर्म का यत्किंचित प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है। —वही—पृ० 440-441
4. इस प्रकरण में "कर्म-चर्चा" प्रकरण की तरह सर्वज्ञाता की ही कुछ प्रकार भेद से चर्चा है। —वही—पृ० 442
5. यह सारा उदन्त अतिशयोक्ति भरा है पिण्डोल भारद्वाज का चन्दन-पात्र के लिए ऋद्धि-प्रति हार्यकर दिखलाना बुद्ध के द्वारा ग्रह्य बताया गया है। यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है कि निगण्ठ नातपुत्त उस चन्दन-पात्र को लेने के लिए ललचाये होंगे और इस कौतुक में प्रयत्नशील हुए होंगे। जैन परम्परा में तो किसी भी ऋद्धि-प्रदर्शन का सर्वथा वर्जन है। —वही, पृ० 447
6. एक अतिरंजित कथा के अतिरिक्त इस अट्ठ कथा का कोई महत्व नहीं लगता। —वही, पृ० 448

निगण्ठ नातपुत्र की मृत्यु का कारण—मज्झिमनि का अट्ठकथा, समगाम सुत्त बण्णना खण्ड 4, पृ० 34 के आधार से ।[1]

मृगार श्रेष्ठी—धम्मपद अट्ठकथा—4-4 के आधार से ।[2]

गरहदिन्न और सिरिगुत्त—धम्मपद अट्ठकथा 4-12 के आधार से ।[3]

श्रामण्यफल—दिघनिकाय, सामञ्जफलसुत्त 1-2 के आधार से ।[4]

बुद्ध : धर्माचार्यों में कनिष्ठ—संयुत्तनिकाय, दहरसुत्त 3-1-1 के आधार से ।[5]

---

1. जैन-कथावस्तु में तो उस प्रकार की घटना का उल्लेख है ही नहीं, मूल मज्झिमनिकाय के उपालि सुत्त में भी इस घटना को महावीर की मृत्यु से नहीं जोड़ा गया है। यह नितान्त अट्ठकथा का ही परिवर्द्धन है। जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह से निर्वाह कर पावा जाते हैं। वहां के वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते हैं। इतनी प्रलम्ब अस्वस्था उनकी रही होती, तो अवश्य उनका वही उल्लेख मिलता, इस अवधि में उनकी अस्वस्था का कही उल्लेख नही है।
—आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, पृ० 445
2. यह सारा प्रसग धम्मपद अट्ठकथा का है, अतः अतिरंजित होना तो सहज है ही। आगमो में किसी भी मृगार नामक गृहपति के निगण्ठ-श्रावक होने का उल्लेख नही मिलता। मूल त्रिपिटकों में भी उक्त घटना-प्रसंग का कोई विवरण नही है। —वही, पृ० 450
3. लगता है, साम्प्रदायिक मनोभावों से अनेक कथाएँ गढ़ी जाती रही है। उनमें से एक यह भी है। ठीक इसी प्रकार की कथा जैन-परम्परा में भी बहुत प्रचलित है। उसके अनुसार राजा श्रेणिक बौद्ध मत को मानने वाला था और रानी चेलना जैन मत को मानने वाली थी। दोनों एक-दूसरे को अपने धर्म में लाने के लिए प्रयत्नशील थे। —वही, पृ० 451
4. महावीर को चातुर्याम धर्म का निरूपक बतलाना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्ध-भिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से सपृक्त रहे हैं और महावीर के धर्म को भी उन्होंने उसी रूप में देखा हो जबकि वह पचशिक्षात्मक था। चार याम जो यहाँ बताये गये हैं, वे यथार्थ नही है तथा महावीर का नाम अजातशत्रु को किसी मंत्री ने सुझाया, वह उक्त प्रसंग में नहीं है, पर महायान परम्परा के अनुसार उक्त सुझाव अभयकुमार ने दिया था।
5. सब धर्म-नायकों मे बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। महावीर और बुद्ध की समसामयिकता के निर्णय में डा० जेकोबी आदि ने इस प्रसंग को छुआ तक नही है। यह उन्हे सुलभ हुआ होता, तो सम्भवतः वे भी महावीर की ज्येष्ठता निर्विवाद सिद्ध करते।
—आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, पृ० 456-457

सभिय परिव्राजक—सुत्तनिपात, महावग्ग, सभियसुत 3-1-1 के आधार से।[1]
सुभद्र परिव्राजक—दीर्घ निकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त 2-3 के आधार से।[2]
राजगृह में सातों धर्म नायक—मज्झि निकाय, महासकुलदायिकसुत्तन्त के आधार से।[3]

निगण्ठ उपोसथ—अंगुत्तर निकाय ठिकनिपात 70 के आधार से।[4]
छः अभिजातियों में निर्ग्रन्थ—अंगुत्तर निकाय 6;6-57 के आधार से।[5]
सच्चक निगण्ठपुत्र—मज्झिमनिकाय, महासच्चक सुत्तन्त 1-4-6 के आधार से।[6]

---

1. उक्त प्रसंग महावीर की ज्येष्ठता का अनन्य प्रमाण है। यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्म नायकों को जीर्ण, वृद्ध, वयस्क आदि कहा गया है। यह समुल्लेख सुत्तनिपात का है, इस दृष्टि से भी अधिक प्राचीन और प्रमाणिक है।
—वही, पृ० 459
2. यहाँ बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक महावीर के वर्तमान होने की बात निकलती है, पर यह यथार्थ नही है। —वही, पृ० 460
3. इस उदन्त मे उल्लेखनीय अभिव्यक्ति यही है कि सातों धर्म नायकों का एक साथ राजगृह में वर्णावास बताया गया है। —वही, पृ० 462
4. कुल मिलाकर ये सब आपेक्षित कथन है। संगत अपेक्षा मे सोचने से ये सब संगत हैं और असंगत अपेक्षा में सोचने से ये सब विरूप लगते हैं। बौद्धों ने प्रस्तुत सुत्त में असंगत अपेक्षाएँ सामने रखकर निगण्ठ उपोसथ का उपहास किया है। —वही, पृ० 468
5. डा० बाशम का अभिमत है—पूरण काश्यपवयोवृद्ध धर्मनायक था। गोशालक उस समय तरुण था। पुरणकाश्यप ने अपने मत का ह्रास और गोशालक के मत का उदय देखकर उसके नवोदित मत की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। वह छः अभिजातियों का समुल्लेख भी करने लगा।
The Book of Gradual Saying, Vol III p. 273
डा० बाशम की यह धारणा यदि सही है, तब त्रिपिटक-साहित्य मे पुरण काश्यप के नाम से अभिजातियों का उल्लेख होना स्वाभाविक है ही, जैसा कि प्रस्तुत प्रकरण में हुआ है। —वही, पृ० 470
6. जैन परम्परा मे इस नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता, मज्झिम निकाय मे बताया गया है—सच्चक निगन्ठपुत्त प्रलापी, पण्तिमानी और बहुत लोगों से सम्मानित था। इस स्थिति में बुद्धघोष की धारणा किंवदन्ती से अधिक महत्त्व नहीं रखती। —आगम और त्रिपिटक : एक अनुशालन—पृष्ठ 475-476

अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य वास—मज्झिमनिकाय सन्दक सुत्तन्त . -3-6 के आधार से ।[1]

विभिन्न मतों के देव—संयुत्तनिकाय, नामातिस्थिय सुत्त, 1-3-10 के आधार से ।[2]

पिंगल कोच्छ ब्राह्मण—मज्झिमनिकाय, चूलसरोपस सुत्तन्त 1-3-10 के आधार से ।[3]

जटिलसुत्त—संयुत्तनिकाय, जटिल सुत्त, 3-21 के आधार से ।[4]

धम्मिक उपासक—सुत्तनिपात, चूलवग्ग, धम्मिक सुत्त पृ० 75, 77 के आधार से ।[5]

---

1. यहाँ अजितकेशकम्बल आदि चार को अब्रह्मचर्य वास में माना है । अब्रह्मचर्य वास का अभिप्राय है—असंन्यास । महावीर को अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य वास में माना है अर्थात् वह सन्यासी तो है, पर निर्वाण का आश्वासन देने वाला नहीं । कुल मिलाकर यह तो कहा जा सकता है, बुद्ध की दृष्टि मे निगण्ठ नातपुत्त अन्य धर्मनायकों की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही थे । —वही—पृ० 478
2. देवों के धर्म-चर्चा में रस लेने का उल्लेख आगमों में भी यत्र-तत्र मिलता है । कुण्ड को किल से चर्चा करने वाला देव गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को मानने वाला था, जबकि गुण्ड कोलिक महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति मे विश्वास करता था । शकडाल पुत्र को सन्देश देने वाला देव महावीर का अनुयायी प्रतीत होता है, जबकि तब तक शकडाल पुत्र गोशालक का अनुयायी था ।
—वही, पृ० 479
3. पिंगल कोच्छ गौतम से पूछते हैं कि निगण्ठ नातपुत्त क्या तीर्थंकर है ? बुद्ध कहते हैं—ब्राह्मण इस प्रसंग को यहाँ रहने दो । यह बुद्ध की अपनी विशेष शैली रही है कि उलझन भरे प्रश्नों को वे बड़ी चतुरता से टाल देते । अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसा किया है । —वही, पृष्ठ 479-80
4. यह प्रसंग तात्कालिक राज-व्यवस्था का बहुत ही गूढ़ परिचय देता है । गुप्तचर विभिन्न मतों के साधु बनकर गुप्तचरता करते, यह एक अद्भुत-सी बात है । —वही, पृष्ठ 481
5. यह महाबोधि जातक तथा इस प्रकार के अन्य कथानक यही अभिव्यक्त करते हैं कि बौद्धों ने अपने प्रतिपक्षियों को हीन व तुच्छ प्रमाणित करने के लिए अनेकों अनगढ़ कथानक रचे हैं ।
—आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन पृ० 491

मयूर और काक—जातक अट्ठकथा, बावेरुजातक 339 भा० 3 पृष्ठ 189-291 के आधार से ।[1]

मांसाहार चर्चा—जातक अट्ठकथा, तेलोवाद जातक सं० 246 के आधार से ।[2]

चार प्रकार के लोग—अंगुत्तरनिकाय, भाग--2, पृ० 197-199 के आधार से ।[3]

निर्ग्रन्थों के पाँच दोष—अंगुत्तरनिकाय, 5.18-8.17 भाग—2, पृष्ठ 452 के आधार से ।[4]

वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ—धम्मपद अट्ठकथा 22.8 के आधार से ।[5]

---

1. कथा नितान्त आक्षेपात्मक और गर्हा-सूचक है और परिपूर्ण साम्प्रदायिक मनोभावों से गढ़ी हुई है । यह कथा मूल त्रिपिटकों की नहो है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व नहीं है । मूलजातक में भी गुणी की वर्तमानता में अवगुणी की पूजा का उल्लेख है । यह उदन्त जातक अर्थ कथा का है, इस लिए भी काल्पनिक कथानक से अधिक इसका कोई महत्त्व नहीं दीख पड़ता ।
—वही, पृ० 493
2. विनयपिटक और अंगुत्तर निकाय में जहाँ सिंह सेनापति की घटना का उल्लेख हैं, वहां चौराहों पर मांसाहार की निन्दा करने के प्रसंग में निगण्ठनातपुत्त का नाम न होकर केवल निगण्ठों का ही नामोल्लेख है, अट्ठकथाकार ने जातक गाथाओं के साथ पूर्व जन्म की घटनाओं को जोड़ने के लिए निगण्ठ नातपुत्र को ही नगर चर्चा का पात्र बना दिया है । अन्य अट्ठकथाओं की तरह इस अट्ठकथा का भी काल्पनिक कथानक से अधिक महत्त्व नहीं लगता ।
—वही, पृ० 495
3. जैन साधुओं के मांसाहार के विपक्ष में यह एक अच्छा प्रमाण बन सकता है ।
—वही, पृ० 497
4. यह उल्लेख "उपसम्पदा वर्ग" का है । इसमें आजीवन, जटिलक, परिव्राजक आदि के लिए भी पाँच बातें कही गई है । —वही, पृ० 497
5. इस घटना-प्रसंग में निगण्ठों के वस्त्र-धारण की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र धारण करते थे और उनका क्या प्रयोजन था, पर इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्ध परम्परा को सचेलक और अचेलक—दोनों ही प्रकार के निगण्ठों का परिचय है ।
—आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, पृ० 498

मौद्गल्यायन का वध—धम्मपद अट्ठ कथा 10/7 के आधार से ।[1]
मिलिन्द प्रश्न—मिलिन्द प्रश्न पृ० 4 से 6 के आधार से ।[2]
लंका में निर्ग्रन्थ—महावंश, परिच्छेद 10, श्लोक 77 से 79 व 91 से 102 के आधार से ।[3]
वैशाली में महामारी—Mahavastu, Vol I, p. 208 to p. 209 के आधार से ।[4]

---

1. "अजातशत्रु ने 500 निगण्ठों का वध करवाया : इसलिए ही निगण्ठों का अभिप्राय अजातशत्रु के प्रति अच्छा नहीं रहा ।"
(Dictionary of Pali Proper Names—Vol, p. 35)—मलाल शेखर
(Enceyelopaedia of Buddhism—एच०जी०ए० वाण झेयन्ट)
यह लिखना यथार्थ नहीं है । वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध परम्परा अजात शत्रु को बहुत स्थलों पर उपेक्षा करती है, जबकि जैन परम्परा मुख्यतया उसे सम्मानिक स्थान देती है । निगण्ठों का वध कराये । यह जरा भी सम्भव नहीं लगता । —वही, पृ० 499
2. राजा मिलिन्द बुद्ध निर्माण के 500 वर्ष पश्चात् हुआ, ऐसा बताया गया है । जहां भी बुद्ध के अतिरिक्त छहों धर्मनायकों के नाम गिनाये गये हैं । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य में ऐसी एक प्रथा रही है कि निर्गण्ठ, आजीवन प्रभृत्ति भिक्षुओं के सम्बन्ध से भी कुछ कहना हो, तो उनके प्रवर्तक निगण्ठनातपुत्त, मक्खलिगोशाल के नाम से ही कह दिया जाये । निगण्ठ नातपुत्त की वर्तमानता में भी जहां-तहां उनका नाम आया है, अनेक स्थलों पर घटना का सम्बन्ध निर्गण्ठ भिक्षुओं से ही हो सकता है ।
—वही, पृ० 500
3. इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ-धर्म समुद्रों पार विदेशों में भी गया था । पाण्डुकामय (ई०पू० 370-300) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग 100 वर्ष पूर्व होता है । महेन्द्र और संघमित्रा से बहुत पूर्व की यह घटना है कि जैन साहित्य मे इन निगण्ठों की कोई चर्चा नहीं है । उक्त घटना-प्रसंग से यह भी स्पष्ट नहो होता कि ये निर्गण्ठ गही थे या भिक्षुक जोतिय निर्गण्ठ को महावंश टीका में नगरवधिक कहा गया हैं ।
—वही, पृ० 501
4. सारी कथा बुद्ध श्लाघा में गढ़ी गई है । जहां बुद्ध रहते हैं, वहां महामारी आदि रोग नहीं होते । ऐसी ही मान्यता जैन परम्परा में है ।
—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० 503

नमोबुद्धस्स, नामो अरहन्तानं—धम्मपद अट्ठकथा 21 से 5 के आधार से।[1]

निर्ग्रन्थों का दान—धम्मपद अट्ठकथा 8 से 5 के आधार से।[2]

नालक परिव्राजक—Mahavastu, Vol. III, p. 379 से 388 के आधार से।[3]

जिन श्रावकों के साथ—Mahavastu, Vol. II p. 114 से 117, के आधार से।[4]

भद्रा कुण्डलकेश—धम्मपद अट्ठकथा 8/3, थेरीगाथा अट्ठकथा पृ० 99 के आधार से।[5]

ज्योतिर्विद्नगण्ठ—चीनी धम्मपद कथा Beal Dhammapada p. 103 से 104 के आधार से।[6]

---

1. दोनों परम्पराओं का वन्दन-सूक्त बहुत ही समन शैली से प्रसूत हुआ है। प्रस्तुत घटना प्रसंग का शेष महत्त्व एक दन्तकथा के रूप में ही रह जाता है। —वही, पृ० 503
2. लगता है, दोनों परम्पराओं की दान विषयक धारणा बहुत कुछ समान रही है। अपने-अपने भिक्षुओं को दिया गया दान ही दोनों परम्परा में पत्रदान माना गया है, फिर भी निर्ग्रन्थों को देने से ब्रह्म लोक ही मिले ऐसा कोई विशेष उल्लेख निर्ग्रन्थ परम्परा में नहीं मिलता। —वही, पृ० 504
3. यह प्रसंग महायान परम्परा का है। हीनयान परम्परा में भी नालक सुत्त में यही कथा प्रसंग उपलब्ध होता है, पर वहां बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्म-नायकों का उल्लेख नहीं है। —वही, पृ० 504
4. इस प्रसंग में विशेष रूप से स्पष्ट होता है कि बुद्ध ने जिन श्रावकों के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा व पाया। —वही, पृ० 505
5. प्रसग बहुत ही सरल व घटनात्मक है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगण्ठ सघ मे दीक्षित होना, एक विशेष बात है। कुश-लुंचन व श्वेत वस्त्र-धारी निगण्ठों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है। —वही, पृ० 507
6. इसमे निगण्ठों की पूर्ववर्तिता स्पष्टतः व्यक्त होती है। बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है। —वही, पृ० 507

परिशिष्ट—4

प्रमुख संत कवियों का विवरण

	संत	जन्म/ ई०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
1.	अंगद	1561	सरायगांव	1609	वाणी	पंजाबी	पंजाब
2.	अमरदास	1536	धसरका गाँव	1631	वाणी	पंजाबी	पंजाब
3.	अर्जुन	1620	गोयन्दवाला	1663	सुखमनी बावन अखरी बारामासा	पंजाबी	पंजाब
4.	कबीरदास	1456	काशी	1575	वाणी	बनारसी	उ०प्र०
5.	कामता प्रसाद साहिब	—	—	1971	वाणी	(राधा स्वामी)	
6.	कमाल (संत)	—	—	—	वाणी	—	—
7.	कुमार साहब	—	—	1936	वाणी	(बावरी पंथ)	—
8.	खेमदास	—	—	1830	वाणी	(सत्तनामी सम्प्रदाय से सम्बन्ध)	

	संत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
9.	गरीबदास	1632	घुडानी गांव	1693	वाणी	पंजाबी	पंजाब
10.	गुरू तेग बहादुर	1679	—	1732	वाणी	पंजाबी	पंजाब
11.	गुरू नानक	1526	तलबन्ड़ी	1595	वाणी	पंजाबी	पंजाब
12.	गुरू रामदास (नानक पंथी)	1591	—	1638	वाणी	पंजाबी	पंजाब
13.	गुरू हरकृष्ण राय	1713	—	1721	वाणी	पंजाबी	पंजाब
14.	गुरू हर राय	1687	—	1718	वाणी	पंजाबी	पंजाब
15.	गुलाल साहब	—	सदियाबाद	1830	वाणी	भोजपुरी	उ०प्र०
16.	गोविन्द साहब	—	(बावरी पंथ से सम्बन्ध, भीखा साहब के शिष्य)				
17.	गोविन्दसिंह	1723	पटना	1765	वाणी	पंजाबी	पंजाब
18.	गोसाईंदास	1727	—	1833	वाणी	—	पंजाब
19.	घासीदास	1827	—	1907	वाणी	—	—
20.	चतुरदास	—	—	1888	वाणी	(रामसनेही सम्प्रदाय से संबंध)	
21.	चतुर्भुज साहब	—	—	1875	वाणी	(बावरी पंथ से सम्बन्ध)	

	संत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रवेश
22.	चरनदास	—	जेसयागांव	—	वाणी (बूला साहब के समकालीन)	राजस्थानी	राजस्थान
23.	चंनराम बाबा	1740	—	1841	वाणी	—	—
24.	जगजीवन साहाब	1727	सरहवा गांव	1818	वाणी	अवधी	उ०प्र०
25.	जंभनाथ जी	1508	—	1580	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान
26.	जयदेव	1236	—	1262	वाणी	—	—
27.	जोगीदास	1725	के लगभग वर्तमान		(साध सम्प्रदाय से सम्बन्ध)	—	--
28.	तुलसीदास निरंजनी	1745	—	1680	ग्रन्थ चोअक्षी कारणी सरजोग साध मुलच्छिन ग्रन्थ, ग्रन्थ तत्व-गुण भेद आदि		
29.	तुलसी साहाब	—	हाथरस	—	वाणी	ब्रजभाषा	उ०प्र०
30.	तुलसी साहाब	1817	—	1899	वाणी	(साहिब पंथ)	—
31.	त्रिलोचन(संत)	1324	—	—	वाणी	—	—
32.	दयाबाई	—	डेहरागांव	1830	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान

(सं० 1750 से 1775 तक सत्संग किया)

	संत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
33.	दरिया	1691	धरखेया गांव	1837	वाणी	बिहारी	बिहार
34.	दसरथा	—	जैतरन गांव	—	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान
35.	दादूदयाल	1601	अहमदाबाद	1660	हरडेवाणी अंगबंधू	राजस्थानी गुजराती	राजस्थान
36.	दीनदरवेश	(18वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं श० तक विद्यमान रहे)					
37.	देयालदास	1892 के निकट वर्तमान निरंजन सम्प्रदाय से सम्बन्ध)					
38.	देवकीनंदन	1980	—	—	वाणी	(बाबरी पंथी)	
39.	देवीदास	1735	—	—	वाणी	—	—
40.	दूल्हाराम	—	—	1885	वाणी	(रामसनेही पंथी)	
41.	दूलनदास	—	समेसी	—	वाणी	सधुकड़ी	उ०प्र०
42.	दूलनदास	1717	—	1835	वाणी	—	—
43.	धर्मदास	(कबीर पथ की छत्तीस गद्दी शाखा से सम्बन्ध रहा)					
44.	धरनीदास	—	मांझीगाव	—	वाणी	बिहारी मगही	बिहार
		(सं० 1713 में इन्होने वैराग्य लिया, धरनीश्वरी सम्प्रदाय से सम्बन्ध)					
45.	धरमदास	—	बांधोगढ़	—	—	—	—
46.	धन्ना	—	धुवनगांव	—	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान

	संत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
47.	धन्नाभगत	—	—	—	वाणी	—	—
		(16वी शताब्दी से प्रथम अथवा द्वितीय चरण के पूर्व विद्यमान)					
48.	नरसिंहसाहब	—	—	1906	वाणी	(बावरी पंथी)	
49.	नामदेव	1327	नरसीबमनी (जि० सतारा)	1407	वाणी	हिन्दी मराठी	महाराष्ट्र
50.	निपटनिरंजन स्वामी	1593	—	1539	वाणी	—	—
51.	परमहंस पानप	1776	—	1830	वाणी	(पानप सम्प्रदायी)	
52.	पलटूसाहाब	—	जलालपुर	—	वाणी	भोजपुरी	उ०प्र०
		(सं० 1827 के लगभग वर्तमान, बावरी सम्प्रदाय से सम्बन्ध)					
53.	पानपदास	—	धरमपुर	—	वाणी	खड़ीबोली	उ०प्र०
54.	प्रागदास	—	—	1688	वाणी	—	—
55.	प्राणनाथ	1685	जामनगर	1751	वाणी	गुजराती	कठियावाड
56.	पीपा	—	काशी	—	वाणी	बनारसी	उ०प्र०
57.	ब्रह्मशंकर मिश्र	1917	—	1964	वाणी	(राधास्वामी सम्प्रदायी)	
58.	बाबा किना राम अघोरी	1684	—	1628	वाणी	—	—

	सत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
59.	बाबालाल	1647	—	1712	वाणी	—	—
60.	बावरी साहिबा	1599	—	1662	वाणी	—	—
61.	बुल्लेशाह	1760	—	1810	—	—	—
62.	बुल्लासाहब	1689	भुडकुडा	1766	वाणी	भोजपुरी	—
63.	भगवान गोसाई	(कबीर पंथ की धनौती शाखा से सम्बन्ध)					
64.	भगवानदास	(सं० 1728-40 में वर्तमान थे) निरंजनी सम्प्रदाय से सम्बन्ध)					
65.	भीखनजी	1630	—	1931	वाणी	—	—
66.	भीखासाहब	—	खानपुर	1848	वाणी	—	—
67.	मलूक	1631	कडागाव	1739	ज्ञानबोध रतनखान आदि	—	उ०प्र०
68.	महर्षि शिवव्रत लाल	—	—	1996	वाणी	(राधास्वामी)	
69.	मारवाड़ी दरिया साहब	1773	—	1815	वाणी	—	—
70.	मीराबाई	1555	—	1603	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान
71.	यारी	—	भुडकुड़ा	—	वाणी	—	—
72.	रज्जब	1624	सांगानेर गांव	1746	अंगबधू सर्व्बंगी वाणी	राजस्थानी	राजस्थान

	सत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
73.	राघोदास	—	—		(निरंजन सम्प्रदाय से सम्बन्ध)		
74.	रामचरण या संतराम	1706	सीडीगांव	1855	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान
75.	रामजन	—	—	1866	वाणी	(रामसनेही सम्प्रदायी)	
76.	रामदास	1391	लाहौर	1638	वाणी	—	पंजाब
77.	रामानंद	1356	काशी	1437	ज्ञानलीला ज्ञानतिलक	पूर्वीभोजपुरी	उ०प्र०
78.	रामानंद	1356	—	1467	वाणी	—	—
79.	राय सालिगराम	1885	—	1935	वाणी	(राधास्वामी सम्प्रदाय)	
80.	रैदास	1471	काशी	1507	वाणी	बनारसी बोली	उ०प्र०
81.	लालदा	1697	—	1705	वाणी	—	—
82.	लालदेव(लल्ला)	1380	—	—	वाणी	—	—
83.	लालाशिवदयाल	1875	—	1935	वाणी	—	—
84.	बषना	—	सांभर	—	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान
85.	वीर बंदा बहादुर	1727	—	1776	वाणी	पंजाबी	पंजाब
86.	वीरभान	1600	(साध संप्रदायी)				

	संत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
87.	वीरूसाहब	(ये बावरी साहिबा के शिष्य थे उनकी मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठे थे)					
88.	वेणी	(अनुमानतः कबीर से पूर्ववर्ती)					
89.	श्रीमतिमाहेश्वरी देवी	1913	—	1969	(राधास्वामी)		
90.	शेखफरीद	—	कोटीवाला	1609	वाणी	पंजाबी	पंजाब
91.	शिवनारायण	—	—	1830	वाणी	(शिवनारायण संप्रदायी)	
92.	सर आनंद स्वरूप	1938	—	1994	वाणी	(राधास्वामी)	
93.	सहजोबाई	1740	डेहरागांव	1820	वाणी	राजस्थानी	राजस्थान
94.	संत डेढ़राज	1828	—	1900	वाणी	—	—
95.	संत गरीब दास	1774	—	1835	(गरीब पंथ से सम्बन्धित)		
96.	संत बुल्लेशाह	1737	—	1810	वाणी	—	—
97.	सिंगाजी	1579	खजूरगांव	1616	हट उपदेश, आत्म ध्यान, दोष बोध, नरद, शरद, देश की बाणी, वाणावली, पंद्रहतिथि, सतावार, बारहमासी, भजन आदि ।		

	संत	जन्म/ जी०का०	जन्मस्थान	स्वर्गवास सं०	कृतित्व	भाषा	प्रदेश
98.	सेननाई	1505	के निकट विद्यमान		वाणी	—	—
99	सेना	--	बांधोगढ़	—	वाणी	राजस्थानी	राजस्थानी
100.	सेवादास	—	—	1992	वाणी	—	—
101.	सुन्दरदास	1663	घौस	1746	सुन्दर ग्रंथावली सुन्दरविलास, ज्ञानसमुद्र	राजस्थानी	राजस्थान
102.	सुरतगोपाल	1616	में कबीर पंथ की काशी शाखा की गद्दी पर बैठे।				
103	हरगोविंद सिंह	1652	बंडाली गाँव	1701	बाणी	पंजाबी	पंजाब
104.	हरिदास निरंजनी	1670	—	1700	वाणी	—	—
105.	हरिदास निरंजनी	1512	कापडोद (जि० नागौर)	1600	अष्टपदी, योग ब्रह्यस्तुति, हरिदास ग्रन्थ माला, हंस प्रबोध, निरपरब मूल, राजगढ़, पूजा-योग्य, संग्र मयोग आदि	राजस्थानी	मारवाड
106.	हरिपुरुष	—	कापड़ोद गाँव	---	वीणी	राजस्थादी	राजस्थान

उपकरण तालिका

अंगसुत्ताणि: खण्ड 1, 2, 3—जैन विश्व भारती लाडनूं (राजस्थान)
अणुव्रत दर्शन—मुनि नथमल
अनुत्तरयोगी: तीर्थंकर महावीर—वीरेन्द्र कुमार जैन
अनुत्तरौपातिक दशासूत्र—आत्माराम
अन्तगढ़ सूत्र—आत्माराम
अभिधर्म कोश—देव नरेन्द्र
अर्थ विकास की दृष्टि से हिन्दी सन्त साहित्य के दार्शनिक और धार्मिक शब्दों का अध्ययन—राजदेव सिंह
आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन—मुनिनगराज
आगम युग का जैन दर्शन—दलसुख मालवणिया
आचारांग के सूक्त—श्री चन्द राम पुरिया
आचारांग सूत्र प्रथम भाग—आत्मा राम
आचारांग सूत्र द्वितीय भाग—हीरा कुमारी न्यायतीर्थ
आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ—सं० अक्षय कुमार जैन
आदिपुराण-आचार्य जिनसेन—सं० पं० पन्नालाल जैन
आदि पुराण—भाग 1, 2—पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
आदिपुराण में प्रतिपादित भारत—डॉ० नेमि चन्द शास्त्री
आवश्यक चूर्णि भाग—2,—जिनदास गणि
आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु मलयगिरि
आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्र बाहु हरिभद्रीय
आवश्यक निर्युक्ति दीपिका भाग-3—डॉ० माणिक्य शेखर
इतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर—आचार्य हस्तीमल जी
उत्तरपुराण भाग 1-2 (साहित्य हिन्दी) पन्नालाल साहित्याचार्य
उत्तराध्ययन सूत्र—सं० दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
उत्तराध्ययन सूत्र—सं० प्रो० आर० डॉ० वाडेकर

उत्तराध्ययन सूत्र: एक परिशीलन—डॉ० सुदर्शनलाल जैन
उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन—सं० मुनि नथमल
उदासी-संप्रदाय के संत की उनकी काव्य साधना—सच्चिदानन्द शर्मा मैथिल
उपदेश प्रसाद (चार खण्ड) लक्ष्मी विजयसूरि
उपदेश माला (सटीक)—धर्मदास गणि—टीकाकार रामविजय गणि
उपासक दशाँग सूत्र—आत्माराम
उपासकदसांग सूत्र—सं० जैन आगम—एन० ए० गोरे
उववाई सुत्त – हिन्दी अनु०) --मुनि उमेशचन्द अणु
कबीर—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
कबीर—विजयेन्द्र स्नातक
कबीर—पुष्पकुंमारी
कबीर—पटियाला हाउस, नई दिल्ली
कबीर और कबीरपंथ—डॉ० केदारनाथ द्विवेदी
कबीर और कबीर-वाणी—सुरेश चन्द
कबीर और दादू के साधनात्मक सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन—देवनाथ
कबीर: कल्पनाशक्ति और काव्य सौन्दर्य—ब्रह्मदत्त शर्मा
कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा
कबीर काव्य का भाषा शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० भगवत प्रसाद दुबे
कबीर का सहज दर्शन—जय बहादुर लाल
कबीर का सामाजिक दर्शन—डॉ० प्रहलाद मौर्य
कबीर की भक्ति भावना—विलियम द्वायर
कबीर की भाषा—डॉ० महेन्द्र
कबीर की विचारधारा—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत
कबीर के काव्य रूप—डॉ० नजीर मोहम्मद
कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचनात्मक अध्ययन
—गिरिशचन्द्र तिवारी
कबीर ग्रंथावली—सं० श्याम सुन्दर दास
कबीर ग्रंथावली—डॉ० पारसनाथ तिवारी
कबीर ग्रंथावली—डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र
कबीर ग्रंथावली—पुष्पपालसिंह
कबीर ग्रंथावली की भाषा—डॉ० विन्दुमाधव मिश्र
कबीर: जीवन और दर्शन—डॉ० रामनिवास चंडक
कबीर दर्शन—डॉ० रामजीलाल सहायक
कबीरदास—डॉ० कान्तिकुमार

कबीर बीजक—डॉ० शुकदेवसिंह
कबीर वचनामृत सार—डॉ० मुंशीराम शर्मा
कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"
कबीर वाणी—पन्नालाल जैन
कबीर वाणी—डॉ० पारसनाथ तिवारी
कबीर साधना और साहित्य—डॉ० प्रताप सिंह चौहान
कबीर साहब—गंगाशरण शास्त्री, डॉ० शुकदेव सिंह
कबीर साहित्य और सिद्धान्त—यज्ञदत्त शर्मा
कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तमलाल श्री वास्तव
कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी
कबीर साहित्य की परख—डॉ० परशुराम चतुर्वेदी
कबीर साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर
कबीर साहित्य चिन्तन—परशुराम चतुर्वेदी
कतरनो के शिलालेख—सं० सुरेश सरल
कड़ावली-भद्रेश्वर—सं० डॉ० यू० पी० शाह
कुन्डलपुर के राजकुमार भगवान महावीर—जयप्रकाश शर्मा
गुजरात के कवियों की हिन्दी काव्य-साहित्य की देन—डॉ० नटवरलाल
गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी—डॉ० अम्बाशंकर नागर पाठक
गुजरात के सन्तों की हिन्दी साहित्य को देन—डा० रामकुमार गुप्ता
गुरुग्रंथ दर्शन—डा० जयराम मिश्र
गुरुग्रंथ साहिब का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन—जयराय मिश्र
गुरुनानक और उनका काव्य—महीपसिंह तथा नरेन्द्र मोहन
गुरु नानक: जीवन और दर्शन—नारायणदत्त सिद्धांतालंकार
गुरु नानक वाणी—डा० बी० पी० शर्मा
गुरु नानक: व्यक्तित्व एवं कृतित्व—महेन्द्र सिंह प्रभाकर
गुरु नानक: व्यक्तित्व और विचार—सं० सीता, हांडा
गुरु रविदास—आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद
गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन—डा० हरीश शुक्ला
गोम्मतसार-नेमिचन्द्राचार्य—पं० मनोहरलाल कृतवृत्ति
चउपन्न महापुरिस चरियं—शीलाचार्य
चरनदास (चरणदास सुन्दरदास और मलूकदास: दार्शनिक विचार—त्रिलोकी नारायण दीक्षित
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
चौबीस तीर्थंकर—डा० गोकुल चन्द्र जैन

चौबीस तीर्थंकर—डा० देवेन्द्र कुमार
चित्रकल्प सूत्र—सं० साराभाई मणिलाल नवाब
जयधवला-वृत्ति—वीरसेनाचार्य-सं० पं० मूलचन्द, पं० कैलाशचन्द
जिनवाणी (पत्रिका)—सं० डा० नरेन्द्र मानावत
जिनेन्द्र महावीर—डा० निजामउद्दीन
जैन आगम पाठ—अखिलेश मुनि
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—जगदीश चन्द जैन
जैन कला एवं स्थापत्य (तीन खण्ड)—सं० अमलानन्द घोष
जैन कवियों के ब्रजभाषा प्रबन्ध काव्यों का अध्ययन—डा लाल चन्द जैन
जैन गूर्जर कवि और उनकी रचनाएं—सं० अगरचन्द नाहटा
जैन धर्म—मुनि सुशील कुमार
जैन धर्म के प्रभावक—आचार्य साध्वी संघमित्रा
जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि—डा० प्रेमसागर जैन
जैन लक्षणावली—पं० बालचन्द्र
जैन साइकलोजी—डा० मोहनलाल मेहता
जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी
जैनागमों में शब्द संग्रह—पं० मुनि रत्न चन्द
जैनागमों में अष्टांग योग—आत्माराम
जैनागमों में परमात्मवाद—आत्माराम
जैनागमों में स्याद्वाद द्वितीय भाग—आत्माराम
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (4 खण्ड)—क्षु० जितेन्द्र वर्णी
तंत्र और संत—डा० राममूर्ति त्रिपाठी
तत्त्वार्थ भाष्य--उमास्वामी
तपागच्छ पट्टावली—धर्मसागर गणि
तांत्रिक वाङ्‌मय में शाक्तदृष्टि—डा० गोपीनाथ कविरत्न
तितीयपव्वाति भाग-1—डा० ए० एन० उपाध्ये
तित्तथोगाली पइन्नय (जैन ग्रंथ)—अप्रकाशित
तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन—रवीन्द्र कुमार सेठ
तिलयपण्णत्ति—आचार्य यति वृषभ, सं० हीरालाल जैन व ए० एन उपाध्ये
तीर्थंकर जीवन दर्शन—डा० प्रद्युमन कुमार जैन
तीर्थंकर भगवान महावीर (काव्य)—श्री वीरेन्द्र प्रसाद जैन
तीर्थंकर महावीर भाग 1-2,—विजयेन्द्र सूरि
तीर्थंकर महावीर—श्री मधुकर मुनी रत्न मुनि श्री चन्द्र सुराना सरना
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ—डा० हुकमचन्द भारिल्ल

तीर्थंकर भगवान महावीर—डा० हुकम चन्द भारिल्ल
तीर्थंकर महावीर और उनकी अहिंसा—पं० हीरालाल जैन "कौशल"
तीर्थंकर महावीर और धर्मतीर्थ--दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर (मेरठ)
तीर्थंकर वर्द्धमान (हिन्दी)—मुनि श्री विद्यानन्द
तीर्थंकर वर्द्धमान—श्री चन्द रामपुरिया
त्रिलोकसार—आचार्य नेमिचन्द
त्रिषष्टिशला का पुरुषचरित्रम्—आचार्य हेमचन्द्र
दरिया ग्रंथावली – डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
दर्शन सार—देवसेनाचार्य—सं० प० नाथूराम प्रेमी
दसवेआलियं—सम्पादन मुनि नथमल
दशवैकालिक सूत्र—आचार्य श्री जवाहर
दशवैकालिक सूत्र—आत्माराम
दशवैकालिकः एक समीक्षात्मक अध्ययन—सं० मुनि नथमल
दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन—जैन विश्व भारती लाडनू (राजस्थान)
दशवैकालिकः वर्गीकृत—मुनि नथमल
दादूदयाल जीवन, दर्शन और काव्य—डा० सन्तनारायण उपाध्याय
दादूदयाल—परशुराम चतुर्वेदी
दादू पथ एवं उनके साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन—केशव प्रसाद सिंह
दादू पंथी काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन—कैन्हैयालाल सिनहर
देवगढ़ की जैन कला—भागचन्द जैन
धर्मरत्न प्रकरण—श्री शान्ति सूरि
नन्दी सूत्र—आत्मा राम
नाथपथ और निर्गुण सन्तकाव्य—डा० कोमलसिंह सोलंकी
नानक योग—शिवव्रत लाल
नानक वाणी—जयराम मिश्र
नामदेव—माधव गोपाल देशमुख
निमाड़ के संत कवि सिंगाजी—डा० रमेशचन्द गंगराडे
निरयावलिका—अनु. घासीलाल
निर्गुण काव्य दर्शन श्री सिद्धिनाथ तिवारी
निर्गुण सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य—सावित्री शुक्ल
निर्ग्रन्थ महावीर—डा० इन्द्र चन्द शास्त्री
नीति वाक्यामृत—ज्ञान पीठी, दिल्ली
नेपाली और हिन्दी का भक्तिकाव्य—मथुरादत्त

पंचकल्प-भाष्य—सूरदास गणि
पंच वस्तुक—आचार्य हरिभद्र सूरि।
पद्मपुराण भाग 2-3—पन्नालाल साहित्याचार्य
परम ज्योति महावीर—कविवर सधेश
परिशिष्ट पर्व—आचार्य हेमचन्द्र
पुष्कर अभिनन्दन ग्रंथ में जैन राजनीति
प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं—ज्योतिप्रसाद जैन
बीजक—सं० गंगाशरण शास्त्री पाठा० डा० शुकदेव सिंह
बीजक ग्रंथ—स्वामी श्री हनुमानदास
बुद्ध और महावीर (गुजराती)—कि० घ० मशरूवाला अनु० काशीनाथ द्विवेदी
बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन—कोमल चन्द्र जैन
बौद्ध न्याय शेखारस्की, उफ.टी.
भगवान पार्श्वनाथ व भगवान महावीर याचे चरित्रे-सेठ परीचन्द नेमचन्द दोशी
भगवान महावीर—आचार्य तुलसी
भगवान महावीर—आत्माराम
भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ में—डा० नरेन्द्र भानावत
भगवान महावीर एक अनुशीलन—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर और उनका उपदेश—कमल कुमारशास्त्री
भगवान महावीर और उनका तत्त्वदर्शन सम्पादन—आचार्य श्री देशभूषणजी
भगवान महावीर और उनकी अहिंसा—प्रेम रेडियो, चांदनी चौक दिल्ली
भगवान महावीर और बुद्ध की समसामयिकता—मुनि श्री नगराज
भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध-कामता प्रसाद जैन
भगवान महावीर का जीवन चरित्र—पं० कैलाश चन्द शास्त्री
भगवान महावीर का जीवन सन्देश: युग के सन्दर्भ में—काका कालेलकर
भगवान महावीर (काव्य)—वीरेन्द्र कुमार जैन
भगवान महावीर की विश्व को देन—जैन साहित्य प्रकाशन समिति, दिल्ली
भगवान महावीर के रेखा चित्र—श्री सुशील मुनि
भगवान महावीर हजार उपदेश—सम्पादक गणेश मुनि
भगवान महावीर कैसे बने—आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
भगवान महावीर जीवन और दर्शन—चिमनलाल सी० शाह
भगवान महावीर: जीवन और सिद्धान्त—डा० प्रेमसागर जैन
भगवान महावीर—पं० दलसुख मालवीया

भगवान महावीर—राजकुमार जैन
भगवान महावीर व उपदेश परम्परा—डा० विद्याधर जोहरापुरकर
भगवान महावीर वर्द्धमान—डा० कामता प्रसाद जैन
भगवान महावीर, व्यक्तित्व उपदेश व आचार मार्ग—भारत जैन महामंडय, बम्बई
भगवान महावीर—श्रीमती रामा देवी जैन
भक्त शिरोमणि नामदेव की नई जीवनी—डा० मोहनसिंह
भक्तिकालीन काव्य में राग और रस—दिनेश चन्द गुप्त
मातेश्वर बाहुबली वृत्ति (2 भाग)—शुभशील गणि
भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय
भारतीय दर्शन परम्परा और आदिग्रंथ—हरवंशलाल शर्मा
भारतीय दर्शन—राधाकृष्ण
भावसंग्रह-आ० देवसेन—सं० पन्नालाल सोनी
मध्यकालीन काव्य - डा० विनय कुमार
मध्यकालीन काव्य—कुमार एवं श्रीवास्तव
मध्यकालीन कवि और काव्य—राजनाथ शर्मा
मध्यकालीन प्रमुख सन्तों के काव्य में अप्रस्तुत योजना—माया श्रीवास्तव
मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी
मध्यकालीन बोध का स्वरूप—हजारी प्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन रोचक आख्यान—नित्यानन्द तिवारी
मध्यकालीन संत: विचार और साधना—डा० केसनी प्रसाद
मध्यकालीन संत कवियों एवं जैन धर्मी कवियों का तुलनात्मक अध्ययन—मंजु वर्मा
मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—कपिलदेव पाण्डेय
मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रभाव—कमल भंडारी
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां—डा० सावित्री सिन्हा
मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य का लोक-तात्विक अध्ययन—डा० सत्येन्द्र
मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि—विशम्भरनाथ उपाध्याय
मध्ययुगीन काव्य साधना—डा० रामचन्द्र तिवारी
मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति—डा० यूसुफ हुसैन
मध्ययुगीन साहित्य में नारी भावना—डा० उषापाण्डेय
मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्ति-धारा और चैतन्यसम्प्रदाय—डा० मीरा श्री वास्तव

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में संतनामदेव का योगदान—सुरेन्द्र कुमार अ,यं
मराठी भक्ति-साहित्य—गो० देशपाण्डे
मराठी संतों की हिन्दी वाणी—सं० डा० यू० म० पठान
मलूकदास की बानी—बेलवीडियरप्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद
महावीर चरित—अनु० ब्र० शीतल प्रसाद जी
महावीर का तत्व दर्शन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
महावीर चरियं—गुणचन्द्र
महावीर-कथा—गोपालदास जी व भाईपटेल
महावीर चरियं—नेमिचन्द
महावीर स्वामी नो संयम धर्म—अनु० गोपाल
महावीर वचनामृत—स० धीरजलाल शाह शतावधीनी
महावीर गीतिका—राम भारद्वाज
महावीर सिद्धान्त और उपदेश—उपाध्याय अमर मुनि
महावीर वाणी—डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री
महावीर युग और जीवन दर्शन—डा० हीरालाल जैन और डा० आ० ने० उपाध्ये
महावीर श्री चित्रशतक—कमलकुमार शास्त्री एवं फूलचन्द पुष्पेन्दु
महावीर: जीवन में ?—भनकचन्द कटारिया
महावीर-वाणी—बेचरदास दोशी
महावीर श्री चित्रशतक—कमलकुमार शास्त्री एवं फूलचन्द पुष्पेन्दु
महापुराण भाग-1—जिनदास नाचार्य
महावीर न मानुगलु (महावीर वाणी)—अजीत कुमार मिजि
महावीर वाणी—चन्दनमन "चाद"
महावीर, मार्ग और गांधी—मुनिमधुकर
महावीर युग की महिमामयी महिलाये—हरीबाई पोरदिया
महावीर ने कहा—आचार्य तुलसी
महावीर क्या थे—मुनि नथमल
महावीर की साधना का रहस्य-भाग-2—मुनि नथमल
महावीर के सिद्धांत—मुनि नथमल
महावीर और बुद्ध की समसामयिकता—श्री सहेन्द्र कुमार
महावीर वाणी—पं० बेचरदास दोशी
महात्मा कबीर और महात्मा गांधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन—रामजीलाल सहायक

मलूकदास एवं वाणी—बेलवेडियर प्रेस प्रयाग
मैं से जहावीर तक—सुरेश सरल
युग दृष्टा कबीर—डा० तारकनाथ बाली
युगवीर निबन्धावली (द्वितीय खण्ड)=श्री जुगलकिशोर मुख्तार
योग आसन एवं साधना—डा० सत्यपाल
रविदास दर्शन—आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद
राजस्थानी का जैन साहित्य—अगरचन्द नाया
राजस्थान के जन्त सन्त: व्यक्तित्व एवं कृतित्व-महावीर भवन-जयपुर
राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन संत एवं भक्तकवि—मदन कुमार
रामानंद की हिन्दी रचनायें—स्वर्गीय डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल
रैदास जी की बानी—बेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद
वड्ढमाणचरित्र (अपभ्रंश-हिन्दी)—डा० राजाराम जैन
वर्द्धमान (काव्य)—अनूप शर्मा
वर्द्धमान कथा—श्रीमती कन्था जैन
वर्द्धमान चरित्र—डा० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
महावीर चरित्रम् (कन्नड़)—सं० प्रो० बी०एस० सन्नैया
वर्द्धमान पुराणम् (कन्नड़)—सं० प्रो० टी०एस० शामराव
वर्द्धमान महावीर—निर्मल कुमार
वंगूचलिया—यशोभद्र
विचार श्रेणी—आ० मेरुतुंग
विपाक सूत्र—आत्माराम
वर्द्धमान महावीर—श्री कृष्णदत्त भट्ट
विविध तीर्थकल्प—जिनप्रभ सूरि
विशेष आवश्यक भाष्य (सटीक गुजराती)—अनु० चुन्नीलाल हुकुमचन्द
विशेषावश्यक भाष्य (सटीक)—जिनभद्रगणि
वीर निर्माण सम्वत् और कालगणना—मुनिकल्याणविजय
वीर प्रभु—मुनि विद्यानन्द
वीर महावीर—श्री विरेन्द्र प्रसाद जैन
वीरजिणदचरिऊ (अपभ्रंश-हिन्दी)—सं० हीरालाल जैन
वीरायण महाकाव्य—रघुवीर शरण मित्र
वीर वर्द्धमान चरित्र (संस्कृत-हिन्दी)—सं० पं० हरीलाल जैन शास्त्री
वीर शासन के प्रभावक आचार्य—डा० विद्याधर जोहरापुरकर
वैशाली के विभु: वर्द्धमान—डा० प्रचण्डिया
शेखावटी में दादू सम्प्रदाय के सन्त कवि—हरफूलसिंह

शोध संदर्भ—डॉ० गिरीराज अग्रवाल, डॉ० नीना अग्रवाल
श्रमण महावीर—मुनि नथमल
श्रमण भगवान महावीर—मुनि कल्याणविजय
श्रमण भगवान महावीर—अभय कुमार
श्री गुरू ग्रन्थ साहब : एक परिचय—डा० धर्मपाल सैनी
श्री दादू गिरार्थ प्रकाशिका—स्वामी लक्ष्मी राम चिकित्सालय-जयपुर
श्री दादू चरितामृत—संत स्वामी नारायणदास
श्री सुन्दरदास जी और उनकी वाणी—स्वामी लक्ष्मीराम चिकित्सालय—जयपुर
श्री सुन्दरवाणी स्तवसप्तक—वेद्य स्वामी कान्हदास जी, भिवानी (हरियाणा)
षट्खण्डागम (धवला टीका)—आ० वीर सेन—सं० हीरालाल जैन
हरिवंश पुराण—जिनसेन सूरि—सं० पं० पन्नालाल जैन
हरिवंश पुराण—पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
हरिवंश कथा—आचार्य जिनसेन (रूपान्तर माईदयाल जैन)
हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची—डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी और कश्मीरी निर्गुण संत काव्य तुलनात्मक अध्ययन—डा० कृष्ण रेणा
हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आंदोलनों का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्यमय
हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० के० रामनाथन
हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य—डा० प्रभाकर माचवे
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—स्व० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि—डा० गोविन्द
हिन्दी को मराठी संतों की देन—आचार्य विनय मोहन शर्मा
हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव—डा० सरला त्रिगुणायन।
हिन्दी जैन-साहित्य परिशीलन—डा० नेमिचन्द शास्त्री
हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि—डा० प्रेमसागर जैन
हिन्दी में उपलब्ध महावीर साहित्य : एक पर्यालोचन—डा० कस्तूचंद
हिन्दी लावनी-साहित्य पर हिन्दी सन्त-साहित्य का प्रभाव—डा० मानव
हिन्दी निर्गुण-काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता—डा० आडकर

हिन्दी निर्गुण काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता—आडंकर
हिन्दी संत काव्य के दार्शनिक स्रोत—अशरफी झा
हिन्दी संत काव्य में प्रतीक विधान—डा० देवेन्द्र आर्य
हिन्दी संत काव्य संग्रह—गणेश प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी संत साहित्य पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव—डा० विद्यापति मालविका
हिन्दी सन्तों का उलटबाँसी साहित्य—डा० रमेशचन्द्र मिश्र
हिन्दी साहित्य (तृतीय खण्ड)—डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि
हिन्दी साहित्य आलोचना ग्रन्थ सूची—सं० यशपाल महाजन
हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-4—नागरी प्रचारिणी सभा
हिन्दी साहित्य कोष, भाग-2—ज्ञानमण्डल, रामचन्द्र तिवारी
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भरनाथ
स्वामी दादूदयाल—वियोगी हरि
स्थानांग सूत्र—आत्माराम
समणसुत्तं—पं० कैलाशचन्द शास्त्री व मुनि नथमल
सन्त रैदास—डा० योगेन्द्र सिंह
सन्त रैदास—संगमलाल पाण्डेय
सन्त रविदास—रत्नचन्द्र
सन्त रविदास और उनका काव्य—गोपालजी स्वर्ण किरण
सन्त रविदास और उनका काव्य—स्वामी रामानन्द शास्त्री
सन्त रैदास और उनका पंथ—भगवतव्रत मिश्र
सन्त कबीर—डा० रामकुमार वर्मा
सन्त कबीर और बनारसीदास, आनंदघन तथा श्रीमद राजचंद्र का तुलनात्मक अध्ययन—साधवी तरूलता स्वामी
सन्त कबीर और रैदास का तुलनात्मक अध्ययन—चंद्रदेव राय
सन्त कबीर दर्शन—राजेन्द्र सिंह गौड
सन्त कवि दादू—कृष्णवल्लभ देव
सन्त कवि दादू और उनका पंथ—वासुदेव शर्मा
सन्त कवि मलूकदास—त्रिलोकीनारायण दीक्षित
सन्त कवि रज्जन—डा० ब्रजलाल वर्मा
सन्त कवि : जीवन और काव्य—मणिशंकर केसरी
सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी
सन्त काव्य का लोकसांस्कृतिक अध्ययन—जीवनलाल शर्मा

सन्त काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप—डा० बाबूराम जोशी
सन्त काव्य का दार्शनिक विश्लेषण—डा० मनमोहन सहगल
सन्त गुरु रविदास—डा० बी०पी० शर्मा
सन्त चरनदास—त्रिलोकी नारायण दीक्षित
सन्त दादूदयाल—काशीनाथ उपाध्याय
सन्त दादू और उनका काव्य—भगवत व्रत मिश्र
सन्त दादू दयाल के दार्शनिक विचारों का अनुशीलन—शरदकुमार
सन्त नामदेव—कृ० गो० वान खड़े गुरु जी
सन्त नामदेव—राधा स्वामी सत्संग ब्यास
सन्त नामदेव और हिन्दी साहित्य—डा० रामचन्द मिश्र
सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली—डा० भगीरथ मिश्र
सन्त नामदेव और उनका साहित्य—सं० गृ० गो० बानखड़े
सन्त पलटूदास और उनका पथ—डा० राधा कृष्ण सिंह
सन्त वाणी संग्रह, भाग-2—बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद
सन्तमत—प्रतापसिंह चौहान
सन्त मत का आचार दर्शन—नंदकिशोर राय
सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
सन्तमत में साधना का स्वरूप—डा० प्रतापसिंह चौहान
सन्त परम्परा और साहित्य—सं० आचार्य नलिन विमोचन शर्मा
सन्तमत प्रकाश—हुजूर महाराज सावन सिंह
सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव—डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
सन्त साहित्य—डा० सुदर्शन सिंह मजीठिया
सन्त साहित्य—श्री भुवनेश्वर मिश्र माधव
सन्त साहित्य—डा० प्रेमनारायण शुक्ल
सन्त साहित्य और साधना—डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव
सन्त साहित्य का सामाजिक अध्ययन—डा० ओमप्रकाश शर्मा
सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि—डा० सावित्री शुक्ल
सन्त साहित्य पुनर्मूल्यांकन—डा० राजदेव सिंह
सन्तों का भक्तियोग—डा० देवराज सिंह
सन्तों की बाणी—दास चरणसिंह
सिक्ख गुरुओं का पुण्य-मरण—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
सुन्दर ग्रन्थवली—सं० पुरोहित हरिनारायण शर्मा
सुन्दरदास : तत्वदर्शन और सृजन—श्री हरि
सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दिक्षित

सुन्दर विलास—डा० किशोरी लाल गुप्त
सुन्दर विलास--लाला श्याम लाल हीरालाल मथुरा
सुन्दर सार—सं० हरिनारायण शर्मा
सूरदास और नामदेव : एक अध्ययन—एन० सुशीला देवी
सेन प्रश्न—शुभ विजय गणि
सेवादास—निरंजनी व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक अनुशीलन—डा०एच०एच० मोरे
सौभाग्यपंचम्यादि पर्व कथा संग्रह—क्षमाकल्याण कोपाध्याय
ऋषि मण्डल वृत्ति—धर्म घोष सूरि

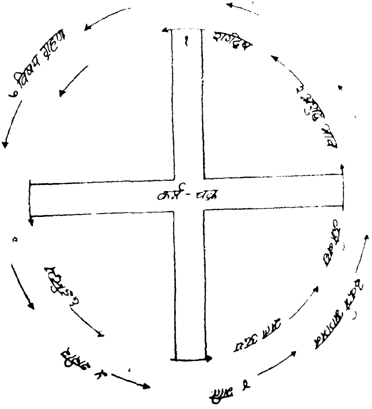
———

Antagaddasao — L.D. Barnett
Avasyaka Erzeulang (German Translation of Avasyaka Kotha Tr.— Ernst Leumann Leipzig, 1897
Gaina Sutras Part-II (Sutrakitang Sutra & Uttaraehyagang Suthra) Tr. — Dr. Nermann Jacobi, Sacred Books of the East Series, Vol. XLV Oxford 1899
Gaina Sutras, Part I (Acharanga Sutra Kulpa Sutra) Tr.— Hermann Jacobi, Pub. Sacred Books of the East serires, Vol. XXII Oxford, 1884
Lief & Legasy of Mahavlr—Dr. Vilas Sangney
Lord Mahavir—Dr. Bool Chand
Lief & Teaching of Lord Mahavir—Dr. Kailash Chand Jain.
Lord Mahavir—Muni Nathmal.
Lord Mahavir & His Times—Dr. Kailash Chand Jain.
Lord Mahavir—Muni Nathmal.
Load Mahavir & His Times—Dr. Kailash Chand Jain.
Mahavir—Dr. Amar Chand.
Mahaxir : His Times His Physolopy of Life—Bhartiya Gyan Pith— New Delhi
Trisastisalakapurusacaritra (4 Vol.) Tr.—H.M. Johnson. Pub. by Gaekvad Oriental Series, Baroda, 1930.
Uvasagdasao (2 Parts)-Tr.—4 El. A. F. Rudolf Hoernle Pub. Bibliotheca Indica Calcutt 1888-1890.



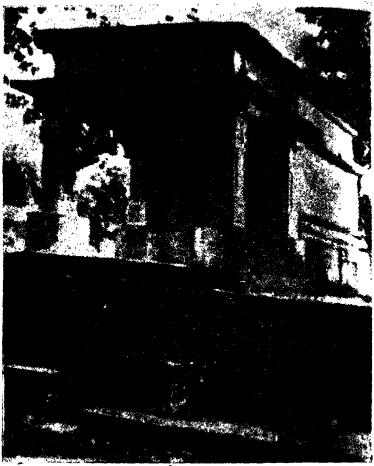
चित्र सं० 1-तीर्थंकर महावीर, पन्ना (मध्य प्रदेश) छठी शती ई० ।

कर्म-चक्र

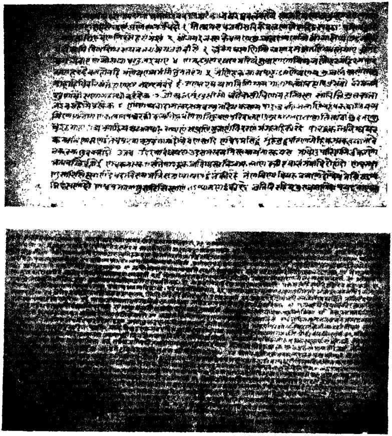




चित्र सं० 3 तीर्थंकर महावीर की जन्म कुण्डली
1-श्री देवेन्द्र मुनि तथा डा० नेमिचन्द शास्त्री के अनुसार।
2-श्री बल भद्र के अनुसार। i महादशा बृहस्पति।
ii दशा शनि। iii अन्तर्दशा बुध।
iv कन्या राशि। v नक्षत्र उत्तरा फाल्गुनी।



चित्र सं० 4 कुण्डपुर मन्दिर ।



चित्र सं० 5-जयधवला (महावीर वाणी) का प्रथम और अन्तिम पृष्ठ।



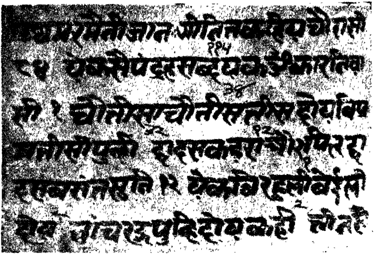
चित्र सं० 6-नामदेव ।

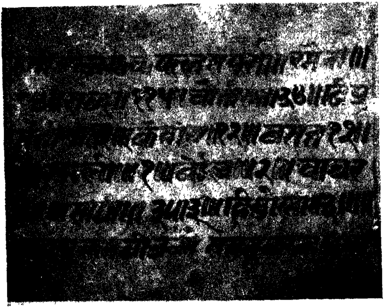


चित्र सं० 7-नामदेव के आराध्य पंढरपुर के विठोबा (इसे जैन मूर्ति भी कहा जाता है)।



चित्र सं० 8-कबीर चौरा वाराणसी में कबीर के चित्र, चरण पादुका तथा लोटे सहित महंत अमृतदास जी तथा शोधार्थी ।





चित्र सं० 9-कबीर चौरा में स्थापित बीजक के दो पृष्ठों का छाया चित्र।



चित्र सं० 10-रविदाम की छतरी, चितौड़ ।



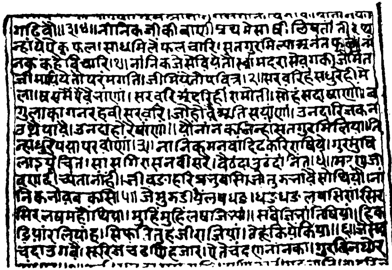
चित्र सं० 11-दादूदयाल ।



चित्र सं० 12-मध्य में मलूकदास और दोनों तरफ उन के चेले ।



चित्र सं० 13-गुरू नानक अपने शिष्यों के साथ। (धर्मशाला में एक दीवार पर बने चित्र का छाया चित्र)



चित्र सं० 14-गुरू ग्रन्थ साहिब के अतिरिक्त, नानक वाणी की पाण्डुलिपि के एक पृष्ठ का छाया चित्र।

नामानुक्रमणिका

टिप्पणी —तारांकित नामो का इस शोध-प्रबन्ध मे अधिकता के साथ प्रयोग हुआ है अत उनके लिए पृष्ठ-सख्या नही दी गयी है ।